

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द भास्त्रमाला

# रणसार प्रवचन

मूल रचयिता-

श्रीमद्भगवद्कुन्दकुन्दाचार्य

प्रवचनकार-

अध्यात्मयोगी सिद्धान्त न्याय साहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ  
पूज्य श्री गुरुवर्य मनोहर जी वर्णी

“श्रीमत्सहजानन्द महाराज”

प्रकाशक-

सुनील कुमार जैन

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

185-ए रणजीत पुरी, सदर, मेरठ (उ० प्र०)

(द्वितीय संस्करण 1100)

सन् 2004

(लागत मूल्य : 60 रुपये)

## संपादकीय

प्रिय आत्मजिज्ञासु पाठको! आपके करकमलों में रयणसार प्रवचन ग्रन्थ सौंपते हुए मझे अतीव प्रसन्नता है। इस ग्रन्थ के मूलरचयिता कलिकाल सर्वज्ञ, पंचमकाल में भगवान तुल्य श्रीमद्भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का नाम दिगम्बर जैन समाज में प्रत्येक मंगल अवसर पर बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ स्मरण किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कुल 84 ग्रन्थों की रचना की थी। जैसे समयसार, प्रवचनसार, रयणसार आदि। रयणसार का शाब्दिक अर्थ होता है—रत्नसार। यह ग्रन्थ वास्तव में रत्नों का समूह है। आचार्य श्री द्वारा रचित यह ग्रन्थ मुनि व श्रावक दोनों के लिये ही हितकारी है।

इस ग्रन्थ में अनगार व सागार धर्म का विस्तृत वर्णन है। आचार्य श्री ने बड़ी ही करुणा के साथ धर्म के दोनों स्तंभ मुनि व श्रावक को पंचमकाल में धर्म साधना के प्रति सावधान किया है। सर्वप्रथम साधुओं को सावधान करते हुए समझाया कि इस दुःषम काल में यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि का प्रचार करने वाले तथा इनमें ही धर्म मानने वाले साधुओं की प्रचुरता रहेगी, लेकिन हे साधुजनो ये मन्त्र, तन्त्र आदि मोक्ष के हेतु नहीं हैं। आगे स्पष्ट करते हैं कि शिवपथ नायक योगी कौन हैं? उत्तर में कहते हैं कि बाह्य आभ्यंतर परिग्रह से रहित शुद्धोपयोगी तथा मूल व उत्तरगुणों से समृद्ध योगी ही शिवगति पथ गायक हैं।

ग्रन्थ की गाथा 152 में रयणसार ग्रन्थ की उपलब्धि का वर्णन है। यह रयणसार ग्रन्थ सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तप, भाव, निरीहवृत्ति, चारित्र गुण, शील और स्वभाव को उत्पन्न करता है।

यथार्थ ज्ञान हुए बिना आत्मरक्षा असंभव है ऐसा कहकर आचार्य श्री ने सप्ततत्त्व अस्तिकाय, षटकाय, छह आवश्यक आदि का परिचय कराया है। अधिक कहने से क्या लाभ, रयणसार (रत्नसार) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र रूप रत्नों का पिण्ड है। जो भी आत्मकल्याणार्थी इसका अध्ययन एकाग्र मन से करेंगे वे निश्चय ही मोक्षमार्ग के पथिक होकर शिवपुर में वास करेंगे।

पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज (वर्तमान में स्वर्गस्थ) जैन जगत में आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कठिन से कठिन विषय पर सरल भाषा में आपके प्रवचन पिछले कई वर्षों से प्रकाशित होते रहे हैं। यह प्रवचन भी उसी श्रृंखला में है। पूज्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने छोटे-बड़े लगभग 500 ग्रन्थों की रचना की। जिसमें 300 के लगभग ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन पूज्य श्री ने 1976 में सरधना (जिला मेरठ) में वर्षायोग प्रवास में किये थे। अब लगभग 22 वर्ष बाद इन प्रवचनों को जन सामान्य के लाभ के लिये प्रकाशित किया गया है। आशा है कि सुधी पाठक इन प्रवचनों का स्वाध्याय कर निश्चय ही स्वतत्त्व को प्राप्त करेंगे।

### धन्यवाद!

अनन्त चतुर्दशी  
ज्वैलर्स  
वर्ष 1999

पवन कुमार जैन  
सदर, मेरठ।

## आत्मरमण एवं मंगलतंत्र

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ। टेक ॥  
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहजज्ञान घन स्वयंपूर्ण। हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं०॥१॥  
हूँ खुदका ही कर्ता भोक्ता परमें मेरा कुछ काम नहीं। परका न प्रवेश न कार्य यहां, मैं०॥२॥  
आऊँ उतरूँ रमलूँ निजमें, निजकी निजमें दुविधाही क्या। निज अनुभव रससे सहजतृप्त, ॥३॥  
मैं० दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ।

ओम् नमः शुद्धाय, ओम् शुद्धं चिदस्मि  
मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूपमें अन्य का प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ  
मैं ज्ञानघन हूँ, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूँ।  
मैं सहज आनन्दमय हूँ, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयंतृप्त हूँ  
ओम् नमः शुद्धाय, ओम् शुद्धं चिदस्मि  
ज्ञानघन सहजानन्दमय सहजात्मस्वरूप। जयवन्त होओ

## परमात्म आरती

ऊँ जय जय अविकारी।  
जय जय अविकारी, ऊँ जय जय अविकारी।  
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥टेक॥  
काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी।  
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥१॥ ऊँ  
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी।  
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥२॥ ऊँ  
परसम्बन्ध बन्ध दुख कारण, करत अहित भारी।  
परम ब्रह्मका दर्शन, चहुंगति दुंखहारी ॥३॥ ऊँ  
ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी।  
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगण भण्डारी ॥४॥ ऊँ  
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी।  
टलैं टलैं सब पातक, पर बल बल धारी ॥५॥ ऊँ

## आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी  
“श्रीमत्सहजानन्द” जी महाराज द्वारा विरचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आत्म राम।।टेक।।  
मैं वह हूँ जो हे भगवान। जो मैं हूँ वह मैं भगवान।।  
अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहाँ रागवितान।।1।।  
मम स्वरूप है सिद्ध समान। अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।।  
किन्तु आशवंश खोया ज्ञान। जना भिखारी निपट अजान।।2।।  
सुख दुख दाता कोइ न आन। मोह राग रुष दुख की खान।।  
निज को निज परको पर जान। फिर दुख का नहिं लेश निदान।।3।।  
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम। विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।।  
राम त्यागि पहुँचूँ निजधाम। आकुलता का फिर क्या काम।।4।।  
होता स्वयं जगत परिणाम। मैं जग का करता क्या काम।।  
दूर हटो परकृत परिणाम। “सहजानन्द” रहूँ अभिराम।।5।।

## आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण, ब्रह्म प्यारे।  
तेरी भक्ति में क्षण जाये सारे।टेक।  
ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो।  
भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी०।1।  
सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे।  
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे।तेरी०।2।  
सिद्धि जिनने भि जब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई।  
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे।तेरी०।3।  
देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे।  
नित्य अन्तःअचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे।तेरी०।4।  
आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है।  
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे।तेरी०।5।

## रयणसार प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी

“सहजानंद” महाराज

णमिरुण वड्ढमाणं परमघाणं जिणं तिसुद्धेण।

वोच्छामि रयणसारं सायारणयारधम्मीणं ।।1।।

**ग्रन्थ में वक्तव्य**—वर्द्धमान परमात्मा को नमस्कार करके, जिनेन्द्र परमात्मा को नमस्कार करके मन वचन काय की शुद्धि से अब सागार और अनागार धर्मियों का रयणसार कहता हूँ। सागार धर्म और अनागार धर्म मायने प्रयोग करने वाले व्यक्त पुरुषों की बाह्य चर्या। जिस पुरुष ने अपने अंतस्तत्त्व का निर्णय किया है और जाना है कि यह है मेरा शरण, इसका आश्रय ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जिसने निर्णय किया वह पुरुष इस अंतस्तत्त्व की धुन में अपने आपकी चर्या में बढ़ता है तो ऐसे दो तरह के योग हैं। एक तो घर बसाने वाले और दूसरे गृह त्याग करने वाले। तो उनका प्रयोग चर्या क्या होना चाहिए जो अध्यात्म साधना में सहायक बने या विरोधक न करने उस चर्या का इस में वर्णन होगा।

**आन्तरिक तत्त्व निर्णय के साधनभूत नयविभाग में व्यवहारय की**

**उपयोगिता**—देखिये इस मुमुक्षु ने तत्त्व निर्णय किस ढंग से किया। जानने के उपाय नय और प्रमाण है, यह ही नय जब परस्पर सापेक्ष विधि से बोला जाता है सो प्रमाण का रूप रख लेता है तब नयों की बात समझना चाहिए। अध्यात्मत्व को जानने के लिए उपाय आपको इन नयों में प्राप्त होगा। शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय व व्यवहारनय उपचार नय नहीं है, वह तो लोक रूढ़ि हैं। यह जीव प्रथम व्यवहार नय से ही समझ पाता है। वस्तु तो अखण्ड अवक्तव्य है। जो है सो है उसको समझने का उपाय व्यवहारनय है। उस अखण्ड वस्तु को उसके गुण पर्याय भेद बात कर हम उसको समझते हैं। यहाँ एक बात जान लें कि पदार्थ जितने होते हैं। वे द्रव्य पर्यायात्मक होते हैं मायने बने रहें ऐसा तत्त्व और बने बिगड़े ऐसा तत्त्व बनना बिगड़ना यह तो है पर्याय, लेकिन बना रहना यह है उसका द्रव्यपना। तो द्रव्य जैसे अखण्ड है, जो है सो है पूर्णसत्, इसी प्रकार प्रतिक्षण जो भी परिणम है वह उसी क्षण में अखण्ड है। तो जैसे हम व्यवहार नय से द्रव्य को समझने के लिए गुण भेद करते हैं, व्यवहार नय से भेद तो किया गया मगर आर्षपरम्परा से सही सही सत्य विधि से हुआ है याने इन भेदों के द्वारा हमने वस्तु स्वरूप को पहिचाना है। अब मैं इनमें लिप्त नहीं हूँ, इस कारण ये गुण भेद बहुत आवश्यक है ज्ञातव्य। जैसे बताया व्यवहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं वध प्रत्यय के कारण भेद की बात मलिनता की बात तो दूर रहो पर इसमें दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है आनन्द है। यह भी भेद प्रतिपादक व्यवहार नय से कहा गया है। जानने का यही उपाय है, तो व्यवहार नय से हम क्या-क्या समझ पाते हैं—गुण के भेद, पर्याय के भेद, एक दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध ये सब विषय व्यवहार नय से चलते हैं और उनके समझने पर व्यवहार नय के विषय को समझने से हम फायदा भी उठाते हैं आगे बढ़ने के लिए।

**निमित्तनैमित्तिक के परिचय की वस्तुस्वातंत्र्य के परिचय की**

**उपयोगिता**—व्यवहारनय के विषय में एक बहुत ज्ञातव्य बात निमित्त नैमित्तिक योग की है। बात क्या गुजरती है कि अनुकूल निमित्त के सन्धिान में योय उपादान अपनी कला से अपनी परिणति से अपने में विकार भार की सृष्टि करता है। इतनी बात में हमको कितनी प्रेरणा मिली है स्वभाव का परिचय करने के लिए? ये जो विकारभाव हैं, क्रोधादिक विषय है,

ये परभाव हैं, ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं ये अनुकूल निमित्त सन्निधान में हुए हैं इसलिए ये निरपेक्ष भाव नहीं, आत्मा के स्वभाव भाव नहीं, याने आत्मा ही इन विकारों का ही निमित्त हो जैसे कि आत्मा ही उपादान है, ऐसा भाव नहीं, इनमें क्यों रमूँ, इनसे मैं अलग हटूँ, आगे बढ़ूँ उपादान ने अपनी परिणति से यह परिणमन किया है। इसके परिचय में हमको यह उमंग मिलती है कि इसको करने वाला दूसरा पदार्थ नहीं। कर्म ने नहीं किया यह परिणमन। यदि दूसरा मेरे विकार परिणाम को करे याने मैं विकार रूप न परिणमूँ और दूसरा ही किया करे तब तो बड़ी विवशता हो जायगी, दूसरा करेगा, हम क्या कर पायेंगे? दूसरा वैसे गम खाये कि मैं विकार न करूँ। तो यहाँ जानना वस्तु स्वरूप, दूसरे ने परिणमन नहीं किया। साथ ही जानना निमित्त नैमित्तिक योग याने विकार आत्मा में स्वभाव से नहीं जगा विकार आत्मा का स्वभाव नहीं, यह दृढ़ता तो दिखायी निमित्त नैमित्तिक योग के परिचय ने और उस विकार को किसी दूसरे ने नहीं किया, सो यह कायरता छुटायी वस्तु स्वातन्त्र्य के परिचय ने।

**अशुद्धनिश्चय के विशय के परिचय की उपयोगिता**—व्यवहार नय सब ओर की बात एकदम सामने सब बताता है। इससे बात कुछ पायी, पर इसमें दो द्रव्यों का सम्बंध, दो पर दृष्टि, द्वै दृष्टि से यह बात बनी। अब उमंग कीजिए एक दृष्टि की। एक पर दृष्टि देना निश्चयनय कहलाया। अच्छा एक पर दृष्टि दो अशुद्ध निश्चय पर आइये। अशुद्ध निश्चय का विषय है एक को ही तो देखना मगर अशुद्ध पर्याय परिणत देखना। जीव में राग है जीव रागी है, जीव की परिणति से राग हुआ है, बस जीवराग, एक ही द्रव्य दिख रहा, अशुद्ध परिणाम दिख रहा, उसी में कर्ता कर्मादिक कारकों का सम्बंध दिख रहा, दूसरे पर दृष्टि नहीं है। अच्छा तो ऐसा अशुद्ध निश्चय नय का प्रयोग बनाने में हम पर क्या प्रभाव पड़ा। प्रभाव यो पड़ा कि इस अशुद्ध निश्चयनय में यह नियंत्रण है कि हम एक को देखें दूसरे को देखें ही मत। न विधि रूप में देखें दूसरे को, न निषेध रूप में देखें दूसरे को। जीव रागी है, जीव का राग परिणाम है, बस यह ही यह निरखे, दूसरे पर दृष्टि न दें, नहीं तो निश्चयनय के मूड से बाहर बन जायगा। इस जीव का राग कर्म ने नहीं किया इतना भी मत बोलें निषेध रूप से भी दूसरे का नाम न लें। इस जीव का राग कर्म ने किया यह भी मत बोलें, वह तो मिथ्या ही है। तो इस में नियंत्रण है कि एक द्रव्य को देखना, एक पर ही दृष्टि होना, परिणाम यह निकलता है कि जब आश्रयभूत पदार्थ पर भी दृष्टि नहीं निमित्तभूत पदार्थ पर भी दृष्टि नहीं, तो रागद्वेष ये पर को आश्रय बनाये बिना, परको जाने बिना जिन्दा नहीं रह पाते। इनकी परम्परा नहीं चल पाती। यह जब किसी दूसरे को देखे ही नहीं तो ऐसा अवसर मिलता है कि वह रागशान्त होता है और चूँकि यह आत्मा स्वभाव रूप ही तो है सो यह पर शुद्ध निश्चयनय का पात्र बन जाता है।

**शुद्धनिश्चयनय के विशय के परिचय की उपयोगिता**—अच्छा यह तो अशुद्ध परिणति का प्रयोग बना। शुद्ध परिणाम के प्रयोग से देखो, शुद्ध निश्चयनय इसका विषय है एक को ही देखना, मगर शुद्ध पर्याय देखना, दूसरे को न देखना, जीव केवल ज्ञानी है, जीव में केवल ज्ञान हुआ, जीव से हुआ, जीव में तन्मय, सब कुछ देखते जावो, दूसरे का नाम न लेना। यह केवल ज्ञान ज्ञानावरण के क्षय से हुआ, यह दृष्टि नहीं देना है नहीं तो शुद्ध निश्चयनय के मूड से पृथक् हो गए। तब क्या दिखता कि यह जीव केवल ज्ञानी है, जीव के केवलज्ञान है। अच्छा ऐसा देखने का नतीजा क्या निकलेगा वही नतीजा यहाँ भी निकलेगा जो अशुद्ध निश्चयनय में निकला था, पर दोनों में एक फर्क है। अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में उस नतीजे पर देर में न आया था। कुछ दुर्गम था, पर इस शुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत सहज ज्ञान भाव को सुगमतया पा लेता है

तो उसमें मददगार कौन बना? शुद्ध पर्याय की दृष्टि है ना और वह पर्याय स्वभाव के समान है तो इस समानता के कारण स्वभाव के समान है तो इस समानता के कारण स्वभाव की ओर पहुँचने में कुछ और सुगमता हुई।

**परमशुद्ध निश्चयनय के विशय के परिचय की उपयोगिता**—अब यह जिज्ञासु स्वभाव दर्शन सीधा (Indirect) ही करने चला इसे कहते हैं परम शुद्ध निश्चयनय। स्वभाव को निरखिये जीव चैतन्य स्वभावी है, जीव का चैतन्य स्वभाव भाव है दूसरी बात नहीं देखी जा रही है। न सम्बंध, न प्रवृत्ति, है सब, रहे आये, जैसे है, एक भीट को देख रहे है सामने वाली भीट को तो पीछे की भीट नहीं है ऐसा तो नहीं है, है, रहो पर देख रहे हम केवल उसी भीट को, अगर पीछे वाली भीट का निषेध करके हम सामने वाली भीट की बात कहें तो वह अपपट बात बनेगी। दूसरी भीट प्रतीति में है, मगर प्रयोजनवश हम सामने वाली ही भीट को देख रहे। ऐसे ही प्रयोजनवश निश्चयनय में जिस निश्चयनय का जो विषय है वही देखा जा रहा है।

**भुद्धनयकी उपयोगिता**—अच्छा परमशुद्ध निश्चयनय तक अभी अखण्डता नहीं आ सकी, थोड़ा स्वभाव का भेद विकल्प चला तो उसके प्रताप से जो समझा उसी को ही जब संकल्प विकल्प जाल से रहित हो कर निरखेंगे तो शुद्धनय का आलम्बन करेंगे। यह शुद्धनय अनुभूति के निकट का साधन है, जिसके विषय में बताया गया कि शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रकट करता है, तो परभाव से भिन्न है, रागादिक भावों से जुदा है वह है औपाधिक, यह है निरुपाधि स्वभाव। इतने पर भी यह मति श्रुत आदिक रूप नहीं। वह है अपूर्ण और यह स्वभाव है परिपूर्ण। इतने पर भी केवल ज्ञान रूप नहीं। परिपूर्ण होने पर भी केवलज्ञान किसी दिन से हुआ। आत्मस्वभाव अनादि है, इतने पर भी इसको भेद दृष्टि से परखें तो विदित न होगा, वह तो एक रूप है और एक रूप का विकल्प भी तब तक है जबतक कि वह आत्म स्वभाव बुद्धि में न आये। वस्तु का वाह्य परिचय आगया, मगर प्रयोगिक नहीं बना, तो जब संकल्प विकल्प इतना भी छूट गया है, एक है इतना भी विकल्प न रहे तो वहाँ आत्मस्वभाव का अभ्युदय है। एक मोटी सी बात देख लो आपने कोई खाना बनाया, आटा, घी, शक्कर आदि इन को यों मिलायें, यों करें, यों बनायें, ऐसे बहुत से विकल्प करके बनाया और जब खाने बैठे और उसका अगर एकतान होगा एक रस का स्वाद लेंगे तो उस समय आप इतना भी विकल्प नहीं करते कि इस में घी खूब पड़ा, शक्कर ड़खीक डाली, उसे तो आँखें मीच कर एकरस होकर उस रस का आसक्त स्वाद लेता है। जब विषय सुखों में यह विधि है। उसके मौज के लिए अन्य विकल्प बाधक हैं, अन्य विकल्पों को नहीं करता, केवल उस ही में रत होता, तो फिर अध्यात्म की बात तो विलक्षण ही है, यह संकल्प विकल्प जाल से नहीं पाया गया।

**नयों की प्रक्रिया से आगे बढ़कर अन्तिम निर्णीत उद्देय की धुन**—यों व्यवहार से सीखा, अशुद्ध निश्चयनय में अभ्यास बना, शुद्ध निश्चयनय के अभ्यास का प्रयोग बना, परमशुद्ध निश्चयनय का प्रयोग किया, अन्त में ये सब विकल्प छूटे और ऐसे धाम में आ कि जिसको कौन सा नय कहें। शुद्धनय। शुद्धनय और निश्चय नय में अन्तर है। निश्चयनय तो एक के विकल्प को लेकर उठता है, शुद्धनय एक के विकल्प को भी नहीं स्वीकार करता, ऐसा प्रयोग करके जिस भव्य पुरुष ने अपने अंतस्तत्त्व को पाया, अब उसकी धुन यह बनती है कि यह ही शरण है, यह ही आश्रय है, इसे ही ग्रहण करना है, इस ही में निरन्तर रमना है, एक ही काम है, दूसरे काम में हित नहीं।

**अन्तस्तत्त्वकी धुन वाले की प्रयोगिक प्रगति में गुजरने वाली गृहस्थचर्यावमुनिचर्या का निर्देश**—स्वभावाराधना की सारता का निर्णय और धुन रखकर अब बढ़ें तो यहीं खुद का प्रयोग करके देख लो कहाँ टिक पाते हैं, कहाँ रह पाते हैं, क्या कारण है, विषय वासना, विकार योग्यता सब पड़ी हुई है। कभी भी ये उमड़ जाते हैं। और फिर मोटे रूप से देखिये—जो धर में रह रहा, परिवार के प्रसंग में है उसके लिए कितनी जल्दी जल्दी बाधाएँ आती हैं, कहाँ कहाँ शल्य, कहाँ कहाँ चिन्ता, कहाँ कैसी बात... ....ते ऐसी गृहस्थावस्था में रहने वाले लोग अपनी चर्या विधि कैसे बनायें कि वे स्वानुभव के पात्र रह सकें इसका नाम है गृहस्थ धर्म, जिसमें और सामर्थ्य प्रकट हुई है, राग हट गया है, गृहस्थी छोड़ दी है द्वि निर्ग्रन्थपद में रहता है, जिसमें और विशेष सुविधा है कोई चिन्ता नहीं, कोई शल्य नहीं। ध्यान कीजिए इस आत्मस्वभाव का, जिसमें अब दूसरे से कुछ मतलब नहीं जैसा कि गृहस्थी में नहीं निभ पाता था, न दुकान जाय, न कुछ करे, जो भी विकल्प करते, जो भी ढंग बनता उस ढंग से गृहस्थी में रह पाता कोई। गृहस्थी में बहुत बाधाएँ हैं। इन गृहस्थी की बाधाओं को भी जिन्होंने त्याग दिया, जो निर्ग्रन्थ पद में आये तो उनके भी अभी वासना वहाँ भी सताती है, किसी भी प्रकार चित्त वहाँ भी नहीं टिक पाता, टिके तो पार हो जाय। जिन मुनियों का चित्त टिक गया वे पार होते ही हैं। पर जो नहीं टिक पाते तो वे अपने बाकी समय में कैसी चर्या बनायें जिस व्यवहार में रहकर जिस चर्या को करके उस स्वानुभूति के पात्र रह सकें। उसका नाम है मुनिधर्म।

**निचय धर्म के लाभ की धुन में रहने वाले भव्य का व्यवहार चारित्र से संगम**—धर्म तो एक ही है—सहज स्वभाव का आश्रय करना, पर उसके लिए जब कोई तैयार हो कि मैं अन्तस्तत्त्व का आश्रय करूँगा, अपनी ऐसी ज्ञान की भीतरी वृत्ति बनावें तो उस पर क्या गुजरता है, कैसा ढंग बनता है वे तो सब उस पर प्रयोग आर्येंगे। तो हममें कहीं अपात्रता न बन जाय ऐसी राग की चर्या न बनावें बस उसके सावधानी है इन धर्मा में, जिसे संक्षेप में आप ऐसा कह सकते हैं कि कोई सुभट युद्ध में उतरता है लड़ने के लिए तो अपने पास वह दो प्रकार की चीजें रखता है। शत्रु के आक्रमण को रोक सके एक ऐसा साधन और शत्रु को मार सके एक ऐसा साधन। जिन के नाम कहो आप ढाल और तलवार। आज के समय में और ढंग की बात हो गई मगर ये दो चीजें रहेंगी युद्ध में सभी के, शत्रु के वार का रोक सके ऐसा साधन ढाल और शत्रु का संहार कर सके, ऐसा साधन तलवार, कोई सुभट ढाल लिए बिना युद्ध में उतरे तो उसकी खैर नहीं और और कोई योद्धा युद्ध में बिना तलवार लिए चल देता उसकी खैर नहीं। तो हम आप सब इस परिस्थिति में हैं कि यह कर्मानुभाग, कर्मविपाक, में उदित होते हैं, पूर्वबद्ध और हो रहे हैं, बीत रहे, चल रहे हैं और वहाँ भाव खोटे राग में भी जा सकता, व्यसन आदिक में भी जा सकता, कोई खोटा भाव भी हो सकता। पुराणों में एक जगह यह चर्चा आयी है कि किसी ने समवशरणा में जाकर पूछा किसी मुनि के बाबत कि महाराज उसकी कैसी गति है? तो उत्तर मिला कि अभी एक सेकेण्ड पहले तो ऐसे भाव थे कि वह नरक ही जाता और अब उसके ऐसे भाव हैं कि वह स्वर्ग जायगा। भला बतलाओ इतनी जहाँ चंचलता है, परिवर्तन है वहाँ अपना कर्तव्य क्या? अपात्र खोटे राग में न पहुँचे यह जीव, इस पर व्यसन आक्रमण न कर जोयं। स्वानुभव का अपनी न बन जाय, ऐसी स्थिति है व्यवहारचारित्र की। वह ढाल की तरह काम देता कि तुम योग्य रहो, स्वानुभव के पात्र रहो तुम्हें उठाना तो पड़ेगा तो कैसे उठो, खाना तो पड़ेगा तो कैसे खावो बोलना तो पड़ेगा तो कैसे बोलो, बस यह ही उसका व्यवहार धर्म है उसके प्रताप से हम कुमार्ग में नहीं लग पाते, हम पर व्यसनों का आक्रमण नहीं हो पाता। हम एक स्वानुभव में पात्र रहे और फिर करें क्या? व्यवहार चारित्र



से सुरक्षित होकर अपने में करें क्या? यही तैयारी का प्रयोग, इस ज्ञानाश्रय का प्रयोग। अपने आप में यह अनुभव बनायें कि मैं सहज ज्ञान मात्र अंतस्तत्त्व हूँ। बस तारीफ इसकी है। जो अपने आप में अभ्यास बनायेगा उसका कल्याण होगा।

### **निर्नाम भुद्ध चैतन्य स्वरूप के परिचयी की प्रवृत्ति गृहस्थ धर्म व मुनि**

**धर्म**—देखो नाम जिसका जो कुछ है वह अपने नाम में कैसा राग बनाये हुए है, संस्कार बनाये हुए है कि वहनाम लेकर अगर कोई गाली दे तो यहाँ इस के क्रोध जग जाता। यह बात चित्त में नहीं बैठती कि इसने मुझे गाली नहीं दी। मैं तो एक चैतन्य स्वरूप हूँ। इसमें शब्द ही क्यों अडेंगे? इसने मुझ को गाली नहीं दी यह बात नहीं बैठती चित्त में नाम लेकर किसी ने निन्दा की तो इसको झट बुरा लग गया, विह्वल हो गया। तो जिस नाम से लगाव है वह तो व्यग्रता का कारण है, यदि इस चैतन्य स्वरूप में लगाव हो और अपने को निर्नाम अनुभव करें, अगर कोई नाम भी है तो वही सबका नाम है, फिर बुरा क्या? मानों सभी प्राणियों का अगर एक ही नाम होता है, भिन्न भिन्न नाम नहीं हैं, मानो एक ऐसी व्यवस्था बनायी जाय कि सभी पुरुषों का एक ही नाम रखा जाय, भिन्न-भिन्न न रहे तो फिर न धनी बनने की होड़ मन में आयगी, न किसी तरह का श्रमक रने की बात मन में आयगी। न नामचाहने की बात मन में आयगी। सभी का एक ही नाम है। ये जो विभिन्न नाम है ये नाम प्रत्यय कहलाते हैं। बौद्ध सिद्धान्त ने आश्रव के कारण में सबसे पहला नाम है ये नाम प्रत्यय कहलाते हैं। बौद्ध सिद्धान्त ने आश्रव के कारण में सबसे पहला नाम लिया है नाम का, जिसके आधार पर सारी बातें आती हैं। तो नाम रहित चैतन्य स्वरूप निर्नाम शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, ऐसा बहुत अभ्यास करना पड़ेगा। बराबर यह दृष्टि अपने अंतस्तत्त्व में लानी पड़ेगी। यह अभ्यास करें, अन्य सब बातों की उपेक्षा करके भीतर में इस अंतस्तत्त्व की आराधना का अभ्यास बनायें। ऐसा अभ्यास बन सके तो, और न बन सके तो प्रवृत्ति के समय क्या करना? मन, वचन काय की प्रवृत्ति चलेगी तो किस तरह करना, उसकी भी तो कोई एक सम्मत बात होनी चाहिए। बस वही है चरणानुयोग। वह एक गुजारा है किस तरह से हम अपना गुजारा करके चलें कि हम शुद्ध नय के विषय को दृष्टि में रख सकें। धर्म के लिए बात तो एक है 'हेयः शुद्धनयो नहि', शुद्धनय कभी भी न छोड़े, पर न छोड़ सकें तो यह तो सर्वोत्तम बात ही है, मगर जिनको छूट जाता, पा ही नहीं पाते उनका और कैसा कर्तव्य है बस वही चर्या गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म में बतायी जा रही है।

**दुर्लभ नरजन्म की संयम से सफलता**—यह नरभव बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। इसमें अपने शरीर की अनुराग आराम, प्रीति, राग, ममता, ये न आने चाहिए और जितना सम्भव है उतना अपना समय संयम में गुजारें और भीतर में काम करें इस ज्ञानतत्त्व की आराधना का। मैं ज्ञान मात्र हूँ ढाल को सुरक्षित बनावें, तलवार से शत्रु का संहार करें, सदाचार बनावें और आराधना उपासना उस सहज ज्ञान तत्त्व की करें। ऐसे इस ज्ञान स्वभाव का परिचय कर लेने वाले अभ्यास के इच्छुक जन अपने प्रयोग में आते हैं तो ऐसे प्रयोगी पुरुष दो प्रकार के हैं—गृहस्थ और मुनि। तो उनकी प्रवृत्ति कैसी हो, उस चर्या का यहाँ वर्णन है।

**बाह्य विकल्पों को त्याग कर सब में परम विश्राम लेने का एक प्रयोग**—भैया एक अभ्यास और बने जो सर्व साधारण कर सकते हैं, न भी ज्यादा ज्ञान हो, विशेष बात न भी बोल सके, वह कर सकते हैं और ज्ञानी भी करते हैं। वह प्रयोग ऐसा है कि कम से कम इतना तो बोध हो कि संसार में जो दृष्य पदार्थ हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं, असार है। उनसे मेरा कुछ काम नहीं बनता, ये सब मिट जाते हैं, इतना थोड़ा बहुत बाह्य पदार्थों के बारे में बोध हो और कभी एकान्त में एक आसन से बैठकर सामायिक में या अन्य किसी समय

ऐसा एक निर्णय बनावें कि जब बाह्य पदार्थ भिन्न हैं, बाह्य पदार्थ असार हैं तो मैं तो एक भी पदार्थ को अब सोचूँगा नहीं, मैं किसी पर पदार्थ में ध्यान दूँगा नहीं, अच्छा इस तरह तो चले मगर किसी पर ध्यान तो गया। हाँ तो उसी से निपट लें पहले जिस बाह्य वस्तु का ध्यान बना उससे बात करें हे बाह्य पदार्थ तू मेरा मददगार बनेगा क्या? मुझे कष्ट से बचायगा क्या? तू मेरा साथ निभायगा क्या? तो वहाँ उत्तर मिलेगा कि ध्यान छोड़ो बाह्य पदार्थों का और एक इस आग्रह से बैठ जावो कि मुझे चाहिए कुछ नहीं, मैं करूँगा कुछ नहीं, जो हो सो हो, स्वयं हो, तथ्य क्या है? तो अपना भगवान आत्मा स्वयं उत्तर देगा कि बाह्य विकल्प न करो, अपने आप में एक विश्राम से बैठे रहो, तो बाह्य को तो छोड़ा, खुद छूटता नहीं तो स्वयं ही अपने आप में से कोई अनुभूति बनती है और उसमें कोई अलौकिक आनन्द जगता है। वह आनन्द हमेशा बना रहे उसके कारण है शान्त का अनुभव। सहज आनन्द का अनुभव बने, यहाँ दृढ़ता आती है कि धर्म इस स्थिति में है और हम को ऐसी स्थिति बनाना है, यह ही अभ्यास बनाना है। तो आत्महित के लिए हमें इस सहज स्वरूप का ही आलम्बन, आश्रय रखना है, उसका प्रयोग करें, केवल बात ही बात से काम नहीं चलता। उसका प्रयोग करने के लिए अपने में इतनी साधना चाहिए कि सर्वजीवों में समता का परिणाम हो। किसी के प्रति रंच भी विरोध की बात न हो, यह अपनी दया है, यह अपने को प्रगति के पथ पर ले जाने का उपाय है, ऐसी तैयारी वाला गृहस्थ कैसी चर्या से चलता है उसका वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। 25/1/76

**पुवं जिणेहिं भणियं जहट्ठियं गणहरेहिं वित्थरियं।**

**पुव्वाइरियक्कमजं तं वोल्लइ जो हुसदिदट्ठी।।2।।**

**जिनोपदिष्ट का गणधर देव द्वारा ग्रन्थन**—इस ग्रन्थ में जो उपदेश होगा वह उपदेश मूल में जिनेन्द्र देव के द्वारा दिव्य ध्वनि में उपदिष्ट है और उसको उस ही प्रकार से गणधर देव ने द्वादशांग रूप में विस्तृत किया है। ऐसी ही परम्परा से चला आया जो उपदेश है सो ही ग्रहण करने योग्य है ना। उसी के बारे में कह रहे हैं कि ऐसे जो वचन बोले सो सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि का लक्षण नहीं कह रहे किन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसा बोलता है तो पहले जिनेन्द्रदेव ने वहाँ बतलाया, वे आँठ मुख कुछ नहीं चलाते और उन सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि चलती है ऐसा वचन योग और भव्य जीवों का पुण्य योग है कि, दिव्य ध्वनि होती है और भव्य जीवों को सुनने को मिलती है। जैसे कहते हैं—‘निरअक्षरमय महिमा अनूप’, उस दिव्य ध्वनि में अक्षर नहीं और निरक्षर मय का दूसरा अर्थ है समस्त अक्षरमय है, तो जहाँ सारे अक्षर भरे हों उसकी कैसी आवाज कोई अक्षर नहीं ऐसी आवाज किस प्रकार है वह उसको सुनकर गणधर देव उसका विस्तार करते हैं। वहाँ तो अक्षरात्मक नहीं, पर सुनने वाले के कर्ण में आकर उनकी योग्यता से सुनने वालों के क्षयोपशम के अनुसार वे अक्षर रूप परिणमते हैं। एक ऐसा ही अतिशय है कि वहाँ कुछ ज्ञान का एक संस्कार जगता है, सुनने वालों की बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिए ग्रहण विशेष हो जाता है तो दिव्य ध्वनि में जो बात कही गई उसी का ही विस्तार गणधर देव ने किया।

**स्याद्वादका प्रतीक गणेशमूर्ति**—गणधर मायने गणेश, गण के ईश, गणधर कहो, गणेश कहो, गणपति कहो एक ही बात है। किसी समय गणेश की ऐसी मूर्ति बनने लगी कि चूहा तो सवारी पर है और उस पर हाथी के सूँढ़ का मुख है, ऐसा कोई बैठा है, ऐसी मूर्ति तो आप लोगों ने शायद देखी ही होगी। वह मानो कभी एक अलंकार के रूप में था। किसका? जिनवाणी का, क्या अलंकार था? दुनिया को उस मुद्रा ने यह दिखाया कि निश्चयनय तो अभेद करता है और व्यवहारनय भेद करता है सो अभेद ऐसा है कि जैसे मनुष्य के धड़ में हाथी की सूँढ़ ऐसा अभेद बन गया कि वह एक शरीर कहलाता, और भेद ऐसा करता जैसे

चूहा करता, किसी कागज वाले के घर में चूहा घुस जाय तो वह कागजों के इतने बारीक टुकड़े कर देता है कुतर-कुतर कर कि जितने बारीक आप कतरनी या चाकू या अन्य किसी औजार से नहीं कर सकते। तो चूहा है एक व्यवहार का अलंकार और उस धड़ में जो सूँढ़ अभेद है वह मानो निश्चय का अलंकार है। कभी कोई अलंकार रूप में ऐसी मुद्रा बनी होगी बहुत से देवी देवताओं के रूप इस तरह प्रचलित हुए हैं कि जब कभी मूल में मुद्रा बनायी गई तो कोई वहाँ तत्व का चित्रण था पर बाद में लोग उस बात को तो भूल गए और देवी देवता का एक रूप ले लिया।

**सम्यग्दृष्टि के यथागम वचन वक्तृत्व**—जैसा किसी आगम में आर्ष में कहा आया उस ही प्रकार से जो बोले सो सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि पुरुष अन्यथा प्ररूपण नहीं करता और उसी की परम्परा चली आयी। कभी कदाचित किन्हीं लोगों ने अपने विषय स्वार्थवश या अन्य किसी कारण अपनी ख्याति आदि के वश उसमें कुछ मिलाया हो तो वह मिलावट बहुत दिन नहीं चलती, क्योंकि जिज्ञासु जन उसकी खोज करते हैं, युक्ति पूर्वक निर्णय करते हैं और वह चीज बहुत दिन नहीं टिकपाती, यही कारण है कि आप्त वाणी अपने निर्मल प्रवाह से चली आ रही है। वाणी के अनुसार वचन जो बोले सो सम्यग्दृष्टि है याने सम्यग्दृष्टि आर्ष वचन बोलता है।

**आगम के सर्व वचनों में सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा**—वचनों को तो छाँटा जाता है जो युक्ति और अनुभव पर उतरता है मगर कितने ही वचन ऐसे हैं कि जिनमें युक्ति काम नहीं देती फिर भी सम्यग्दृष्टि को वे सब वचन मान्य होते हैं। जैसे 7 तत्व 9 पदार्थ का वर्णन, वस्तु के स्वरूप का वर्णन, सामान्य विशेषात्मक का वर्णन यह सब युक्ति से, अनुभव से सिद्ध हो जाता है और इसका ज्ञाता फहर यह जानता है कि लो जो आगम में लिखा सो मेरे ठीक समझ में आया और कभी यों भी निरख ता कि जो मैंने समझा देखा वह आगम में लिखा मिल गया सो समझ में आया तो जो युक्ति गम्य है, अनुभव गोचर है वह बात आगम में हैं और यहाँ एक मिलन हो गया तो वह इससे इतना प्रमुदित होता है कि उसको आगम के सब वचनों में श्रद्धा जगती है। जो वीतराग है, निर्दोष है, सर्वज्ञ है अथवा उस वाणी की परम्परा में चलने वाले जो ऋषिजन हैं, निर्गन्थजन हैं वे असत्य क्यों बोलेंगे? असत्य का वहाँ कुछ काम नहीं। असत्य बोलेगा वह जिसको कुछ स्वार्थ है। जैसे बहुत पहले से अहिंसा धर्म चला आ रहा और बड़े-बड़े लोग उसके पंडा जन उसके प्रतिष्ठापक रहे और उनमें से जिस किसी को इच्छा हुई खोटे भक्षण की, मांस मदिरा भक्षणपान की, तो वहाँ एक ऐसी समस्या आयी कि कैसे मांस मदिरा का प्रयोग किया जाय? लोग हमें पूज्य मानते हैं। बड़ा समझते हैं, अगर यों खाने पीने लगे तो लोगों की दृष्टि में हम गिर जायेंगे, सो एक युक्ति आधार बनाया कि उसको धार्मिक रूप दे दिया, यज्ञ का रूप दे दिया, बकरी, बकरा, भेड़ घोड़ा आदि को अग्नि में होतना, मंत्र पढ़ना और लोगों में इस प्रकार की श्रद्धा पैदा कराना कि इसमें धर्म है, यह काम चल उठा। उसमें यह बात बसी रही कि पका पकाया माँस प्रसाद के रूप में मिलता रहेगा, यों विषयों का पोषण भी चलता रहेगा और लोगों में पूज्यता भी बनी रहेगी, यों भीतर में कोई स्वार्थ साधना हो तो अन्यथा प्ररूपण चलता है, दर जो विषयों की आशा से रहित है, निर्गन्थ है, निराम्भ हैं, जो आत्म साधना में ही रत हैं उनको जीवों पर करुणा जगी और ज्ञान की बात लिखी तो उसमें असत्य की गुंजाइस नहीं है। एक विशेषता आचार्यों में यह पायी गई कि बड़ा प्रखर पांडित्य पाकर भी अपनी पंडिताई उन्होंने पचा जी याने अपना पांडित्य मग्न कर दिया जिनवाणी की भक्ति में अपना तत्वज्ञान, निबंध लेखन रचना ऐसी आर्ष परम्परा के अनुसार की कि सब उसमें अन्तर्गत हुआ। कभी किसी आचार्य ने यह भावना नहीं की कि मेरा कथन कुछ अलग जचे,

लोगों को कुछ आश्चर्यजनक लगे, उन्होंने अपना नाम अपना पाण्डित्य, अपना गौरव सब कुछ जिनवाणी की भक्ति में धो दिया। उनके वचनों में कोई वचन असत्य नहीं हो सका। उस वचन को सम्यग्दृष्टि ज्ञानी बोलता है। यह अभी गृहस्थधर्म और मुनि धर्म जो कहा जायगा उसकी प्रस्तावना में यह सब वर्णन चल रहा है।

**मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं वोल्लइ जिणुत्तमिदि ।**

**जो सो होइ कदिट्ठी ण होइ जिणमगलगरवो ।।३।।**

**ज्ञानगारववश स्वच्छंद बोलकर जिनोक्त की घोशणा करने वाले की**

**कुदृष्टिता**—जो मनुष्य अपने मतिज्ञान श्रुतज्ञान के बल से स्वच्छंद होकर बोलता है और यह घोषित करता है कि वह जिनेन्द्र देव का कहा हुआ वचन है वह पुरुष कुदृष्टि है ऐसी कभी सुरुवात तो करते हैं जैन कुल में उत्पन्न होकर उस जैन शासन की बात पर पीछे इस शासन को ही बिल्कुल छोड़ देते हैं और अन्य—अन्य किस रूप में अपने को उपस्थित करते हैं। वे सत्य के पुजारी हैं या अपने में बहुत ऐसे व्याख्यान के बल पर लोगों को आश्चर्य चकित करके अपने को कैसा भगवान का रूप प्रकट कर देते हैं। और इस प्रकार फिर उस वाणी में जो लेखन करें उस में स्वच्छंद विचार लिखे वह कुदृष्टि है। ऐसे पुरुष सत्यथ से एकदम अलग हो जाते हैं शुरुवात तो करते हैं जैन से और हो होकर जैसे ही प्रतिष्ठा मिली, कुछ मिला और फिर उनकी लेखनी चलती है भगवान महावीर वाणी के नाम से या और और प्रकार, तो कितने ही लोगों को भ्रान्त किया जाता है। सम्भोग से समाधि इतने विपरीत अर्थ तक चले जाते हैं और युक्तियाँ भी देते हैं और फिर भी यह पोषण किया जाय कि ये जिनेन्द्र देव के वचन हैं जो कह रहा हूँ, और और प्रकार की बातें भी उनके वचनों में आयी लेकिन वे खप नहीं सकती। जो अनेकान्त शासन से, स्याद्वादशासन से अर्थात् आर्ष परम्परा में आयी हुई बात से बहुत अलग होकर बोलने लगे उनके वे वचन खप नहीं सकते और ज्ञानीजन विवेकी जन उसमें छॉट कर लेते कि ये वचन परम्परागत हैं, ये वचन परम्परागत नहीं हैं।

**प्रभुवचनों में विकार से हटने की व स्वभाव में लगने की शिक्षा**—सीधी सी बात जिस उपदेश से विकारों से हटने की प्रेरणा मिले, स्वभाव में लीन होने की उमंग जगे वह उपदेश प्रभु वचन परम्परा से आया हुआ समझिये। जिन वचनों में स्वच्छंदता मिले, विषय भोगों में प्रेरणा मिले वे वचन जिनोक्त वचन नहीं है। तो ऐसे वचन कह क्यों दिए जाते हैं? तो अपनी ही प्रतिष्ठा का लोभ होता तब ऐसे वचन कहे जाते। तो ऐसे किसी मति ज्ञान श्रुतज्ञान के बल से पायी है विद्वत्ता, पाया है पाण्डित्य तो उसके कारण स्वच्छंद होकर जो बोले और बताये कि यह जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट है तो कहते हैं कि वह मार्ग में नहीं है। मार्ग से बहिर्भूत हैं।

**प्रस्तावना का उद्देश्य श्रोताओं को विपर्यासरहित आख्यान होने का**

**आश्वासन**— यह बात इस प्रस्तावना में क्यों कही जा रही है कि यहाँ श्रावक धर्म और मुनि धर्म के कहने की प्रतिज्ञा की, संकल्प किया उससे पहले यह इसलिए कहा जा रहा कि यह विश्वास बने श्रोताओं को और पाठकों को कि जो कुछ ग्रन्थ में कहा जा रहा है वह प्रामाणिक है। वह स्वच्छंदता से नहीं बनाया गया है और उसका आचरण करें, प्रयोग करें तो हित होगा, ऐसा विश्वास पाने के लिए यह प्रस्तावना कही जा रही है, जितने विपरीत कथन हुए हैं उनका आधार है स्वरूप, भेदाभेद और कारण इन तीनों के विपरीत विषय का आख्यान, इसे कहते हैं स्वरूप विपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और कारणविपर्यास अथवा दूरी प्रकार देखो: वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव

से असत् है जैसा कि समय सार के परिशिष्ट अधिकार में बताया बस इस की भूल से समस्त अन्य मतों का निर्माण हुआ, खींच करेंगे कोई न कोई बोलेंगे पर खोज कर लेना इसमें ही कोई भूल हुई है। सत्ताद्वैत हुआ, ब्रह्माद्वैत हुआ, ज्ञानाद्वैत हुआ, क्षणिक वाद—अपरिणामवाद, इनमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव में से कोई भूल है और इसके जो ड़्खीक करले उसके फिर कोई भूल नहीं।

### **अनेकान्तोपदेश में सीमित कल्पनावश एकान्त ग्रहण में अद्वैतग्रहण का**

**एक चित्रण**—एक चित्रण खींचो—किसी बन में कोई आचार्य उपदेश कर रहे थे और मुनिजन, संन्यासी जन सब उसे सुन रहे थे, व्याख्यान हुआ, उसमें स्याद्वाद अनेकांत से वर्णन चला तो आखिर जब निष्कर्ष पर पहुँचता है कोई वर्णन शुरू करके तो वह वर्णन इस ढंग का होता है कि जहाँ कुछ ख्याल न रहे विकल्प न रहे और शून्य तत्व जैसा भासें क्योंकि व्याख्यानों का उद्देश्य आखिर स्वतत्त्व में मग्न होने का है। आत्मा नित्य है अनित्य है खूब समझमें आ रहा आत्मा अखण्ड है, बहुत गुण भेद से समझ में आत्मा में ये गुणभेद किये गये हैं वह तो जो है सो ही है, अखण्ड है, वर्णन करते गए। आखिर जो वर्णन में आया अन्त में उसको सुनके कुछ लोगों ने यह ग्रहण किया—ओह ध्यान में आयाकि शून्य ही तत्व है, याने कुछ ख्याल में न रहा, कुछ ग्रहण में न रहा, ऐसी स्थिति का विवेचन सुना, कुछ बाह्य तत्व ग्रहण में न रहा तो ध्यान में आया ओह शून्य ही तत्व है। कुछ लोगों ने विचार किया कि कुछ समझ में तो आया कुछ प्रतिभास तो रहा शून्य कैसे कहा जाय? तो सोचा कि प्रतिभास ही तत्व है उसका द्वैत अन्य कुछ नहीं। किसी ने सोचा कि प्रतिभास निराश्रय तो नहीं किसी में तो जगा तो उनका मंतव्य बना कि ब्रह्माद्वैत ही तत्व है।

### **अनेकान्तोपदेश में बुद्धिभ्रमवश एकान्तग्रहण में विभिन्न द्वैतवाद के ग्रहण**

**का चित्रण**—कल्पना में कुछ सीमा तक तो अद्वैत चला, पर यह सोचा कि दिख तो रहे हैं क्रोध राग द्वेष मोहादिक और बात वही शुद्ध तत्व के चिन्तन में हैं तो ध्यान जमा कि वह है तो दो—पुरुष और प्रकृति मगर खेल प्रकृति का है। पुरुष तो अपरिणामी है। ऐसा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत् इसकी ही भूल में मतमतान्तरों का निर्माण हुआ है। तो जो चलते चलते कुछ भेद और समझ में आया तो पर्याय नजर में आयी क्षणिक है वही किसी का तत्व बन गया तो एक बन गया क्षणिक वाद परिशिष्ट अधिकार में 14 विकल्प किए गए अभी 8 विकल्पों की बात कही थी यहाँ 3 जोड़े और हैं—एक अनेक, नित्य अनित्य और तत् अतत्। इन 14 जोड़ों की भूल में ही ऐसा निरखा गया, मतमतान्तर निरखे गए, समयसार का यह परिशिष्ट अधिकार बड़े महत्व का है। इसको कहा गया चूलिका। जो बात नहीं कही गई उस को कहना और जो बात कही गई हो उसे भी दुहराना यह चूलिका है। तो और भेद डाल कर चले तो कहा किसी ने कि हमको तो यह नजर आता कि द्रव्य अलग पदार्थ है, गुण अलग पदार्थ है, कर्म जिसे अपनी पर्याय कहते वह अलग पदार्थ हैं। सामान्य पृथक् है, विशेष पृथक् है। एक समवाय भी है। 6 तो हैं भावात्मक पदार्थ और एक होता है अभाव पदार्थ। 7 पदार्थ हैं। देखो 7 बातें कही जाये तो उनमें कितनी बात आयी? सिर्फ एक बात। सिर्फ द्रव्य आया। 7 नहीं सिर्फ एक ही द्रव्य है, जिसकी तिर्यक् विशेषता है गुण, ऊर्ध्व विशेषता है पर्याय तथा साधारणता है सामान्य और असाधारणता है विशेष और समवाय की जरूरत नहीं। सब कुछ तन्मय है। और अभाव होता है पर के सद्भाव रूप तो कई पदार्थ नहीं रहते, सिर्फ एक द्रव्य को ही कहा, मगर भेद का एकान्त कर के 7 पदार्थों को मानो तो ऐसी कुछ भूलों में, 14 भंगों की भूलों में मतमतान्तरों का निर्माण हुआ।

**चौदह भंगों की भूल से हुए विपरीत कथन का आय लेकर अयथार्थ वचन बोलने में कुदृष्टिता का परिचय**—दृष्टि वस्तु स्वरूप को देखने वाले जितने अन्य दर्शन हैं एकान्त दर्शन वे इन 14 की गड़बड़ी से सम्बंधित हैं। जो दार्शनिक लोग हैं वे भले प्रकार इसकी खोज कर सकते। सो स्याद्वाद नीति को छोड़ कर यह विडम्बना बनती और स्याद्वाद शासन को लेकर जो वचन बोला जाय तो उस की विडम्बना नहीं बनती है। आप्र प्रभु की जो दिव्य ध्वनि खिरी उसे गणधर देव ने झेला और उसको आचार्यों ने परम्परा से चलाया और उस परम्परा में सत्य विशुद्ध ही वचन कहा जायगा, ऐसा आश्वासन देने के लिए इस प्रस्तावना में कहा जा रहा है कि जो यथार्थ वचन बोलता है वह सदृष्टि है औश्र जब ज्ञान पाया, मतिज्ञान का बल, श्रुत ज्ञान का बल, पाण्डित्य पाया और इस अभिमान में आकार स्वच्छंद वचन व्यवहार किया वह सुदृष्टि नहीं है।

**स्याद्वाद भासन से निर्णीत तत्व का यथार्थ वचन बोलने से सुदृष्टिता का परिचय**—स्याद्वाद जैन शासन की प्रमुख विशेषता है जिसको अन्य कोई न पा सके। वस्तु की परीक्षा अपेक्षा से होती, पर निर्णयात्मक होती, इसकी मुद्रा है, स्यादस्ति एव। कोई कोई लोग कह बैठते कि स्याद्वाद संशय वाद है मगर एव के प्रयोग से यह बताया आचार्यों ने कि यह निर्णयात्मक है। 'ही' और 'भी' में लोग समझते हैं कि 'ही' एकान्त है और 'भी' अनेकान्त है, पर आचार्यों ने भी को नहीं अपनाया। किसी भी ग्रन्थ में देखो सप्तभंगी स्याद्वाद में 'अपि' शब्द नहीं आया, 'एव' शब्द आया, निश्चयात्मक आया, संदेहरूप नहीं, फिर यह भंग बना क्यों? तो अपेक्षा साथ में लगी है और स्याद्वाद ग्रन्थों में क्या, सब शब्दों में स्याद्वाद भरा है, जिना बोल चाल है, जितने लोग हैं, जो भी कहते हैं वचनों में स्याद्वाद पड़ा है क्योंकि प्रत्येक शब्द अन्ययोग व्यवच्छेदी होता है। आपने कहा कि मैं मंदिर जाऊँगा। अर्थ निकल आया कि मैं और दूसरी जगह न जाऊँगा। आपने कहा चौकी तो अर्थ निकल आया कि चौकी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। प्रत्येक शब्द अपने विधि अर्थ के साथ निषेध अर्थ को लिए हुए है, तो जिन आगम अगर स्याद्वाद के द्वारा आख्यात है तो उसमें आश्चर्य क्या? ऐसे स्याद्वाद शासन के अनुसार जो वचन बोलता है सो सम्यग्दृष्टि है और जो अयथार्थ बोलता है वह कुदृष्टि है, ऐसा कहकर आगे अब रयणसार सम्बंधी विषय को कहा जा रहा है।

**सम्पत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।**

**तं जाणिज्जइ गिच्छयववहार सरुवदो भेदं ।। 4 ।।**

**व्यवहार सम्यक्त्व के तीन प्रकार**—सम्यक्त्वरत्न सार अर्थात् सम्यकरूप सार रत्न है, जो कि मोक्ष रूपी महान वृक्षका मूल है, जैसे मूल के बिना, जड़के बिना व नहीं उहरता, होता ही नहीं, ऐसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष वृक्ष बनता ही नहीं। चारित्र नहीं, मोक्ष भी नहीं, उस सम्यक्त्व को निश्चय और व्यवहार के स्वरूप से भेद जाना। यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व का संकेत किया है। व्यवहार सम्यक्त्व तीन तरह की अवस्थाओं के बारे में प्रयुक्त होता है, सम्यग्दर्शन के पूर्व सम्यग्दर्शन के अनुकूल होने वाली तैयारियाँ, जैसे कहा है—'हेतु नियत को होई', एक वह व्यवहार सम्यक्त्व, एक सम्यक्त्व के काल में ही तो सम्यग्दृष्टि की चर्या होती है अंग रूप अन्य रूप जो सम्यक्त्व भाव बिना नहीं बनना ऐसे व्यवहार को भी व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। इसे कहा जाता है निश्चय सम्यक्त्व के साथ होने वाला व्यवहार, उसे कहियेगा निश्चय सम्यक्त्व से पूर्व होने वाला व्यवहार और किसी जीव का सम्यक्त्व छूट गया, छूट भी जाता है, प्रथमो पशम सम्यक्त्व भी तो कितनी ही बार छूटता, कितनी ही बार बनता, इस विषय को कोई न

समझ सके, मुनि महाराज हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, समिति तप आदिक के पालन में रत हैं। कभी सम्यक्त्व छूट भी गया तो उनके इस क्रियाकाण्ड में अन्तर नहीं पड़ता, वह चलता ही रहता है और कुछ संस्कार और ख्याल के कारण वह वहाँ प्रवृत्ति चलती भी रहती है, सम्यक्त्व छूट गया, फिर भी जो व्यवहार बन रहा वह चूँकि सम्यग्दृष्टि यों के व्यवहार जैसा ही है वह भी कहलाता है व्यवहार सम्यक्त्व। तो व्यवहार सम्यक्त्व की तीन प्रकार की अवस्थाओं में अनुकूल व्यवहार पालन करने का उपदेश है।

**व्यवहार सम्यक्त्व के तीनों प्रकारों का संक्षिप्त निर्देशन**—तत्त्वार्थ श्रद्धान कर रहा, स्वाध्याय में चल रहा, चर्चा कर रहा, बात चल रही, परिणाम अच्छा है, मंद कषाय है, आत्म हित की अभिलाषा है, ऐसी प्रवृत्ति को देखकर लोग कहते हैं सम्यक्त्व और है नहीं अभी सम्यक्त्व, पर सम्यक्त्व के कारण क्यों कहें जाते थे कि ऐसा विशुद्धभाव सम्यक्त्व घातक कर्मों के उपशम आदिक का निमित्त भूत है और सम्यक्त्व घात प्रकृतियों का उपशम आदिक होने पर सम्यक्त्व होता, तो यों निमित्त का निमित्त होने से उसे कारण कहा है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त क्या है? 7 प्रकृतियों का उपशम आदिक। और उन 7 प्रकृतियों के उपशम आदिक का निमित्त क्या? उस प्रकार के विशुद्ध परिणाम। तो इन विशुद्ध परिणामों को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। यह हुई सम्यक्त्व से पहले होने वाली अवस्था। अब सम्यक्त्व होगा, पर वह सम्यग्दृष्टि पुरुष मन वचन काय की प्रवृत्ति से दूर हो गया है। भले ही सम्यक्त्व हो गया, पर अभी यह प्रवृत्ति से दूर नहीं हो पाता। मन से कौन सोचता है? सम्यग्दर्शन होते सन्तों की बात कही जा रही है और ऐसा जीव जब बोलता है जैसा काय प्रवृत्ति करता है, जैसा उसका विचार बनता है, उनका जोरूप होता है वह व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय के साथ साथ वाला है, वह भी व्यवहार सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व भी पैदा किया, था, मिट गया, पर प्रवृत्ति में अन्तर नहीं पाया जा रहा बाह्य बातों में। वैसा ही आधार, वैसा ही व्यवहार, वैसी ही बात तो वह है निश्चय सम्यक्त्व के मिटने के बाद का व्यवहार मग रवह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

**व्यवहार सम्यक्त्व के सम्यक्त्व कारणत्व के कथन में प्राप्त व्य िक्षा**—तीन अवस्थाओं में विभिन्न स्वरूप व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है, पर अपना प्रयोजन कहाँ है, शुद्धपना कहाँ बनाना है, उपाय कहाँ बनाना है तो वह है सम्यक्त्व पूर्व भावी व्यवहार जो हेतु नियत को होई। व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व का कारण है, साक्षात् कारण नहीं, व्यवहार सम्यक्त्व के योग में ऐसी विशुद्धता है कि उस सान्निध्य में कर्मों का उपशम आदिक चलता और कर्मों का उपशम आदिक के सन्निधान में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती। हो रही इन सब की स्वयं की स्वयं में बात, पर सारी विश्व व्यवस्था यह सब निमित्त नैमित्तिक योग पर चल रही है मगर है वस्तु सब अपने आप में अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त। ऐसे वर्णन से प्रयोजन क्या निकला कि उस प्रकार का हम व्यवहार बनायें, विचार बनायें, ज्ञान बनायें, मनन बनायें, यह अपना कर्तव्य है यह उससे शिक्षा निकली।

**सम्यक्त्व के प्रयोजक अनेक भेदों में भी सहज स्वरूप के दर्शन का संदेश**—और वास्तव में सम्यक्त्व तो परमार्थतः जो है सो ही है, एक है। राग सहित जीव के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कह दिया, वीतराग जीव के सम्यक्त्व को वीतराग कह दिया। सम्यक्त्व के पूर्व हुए व्यवहार को व्यवहार सम्यक्त्व कह दिया, सम्यक्त्व के साथ होने वाली प्रवृत्ति को व्यवहार सम्यक्त्व कह दिया। सम्यक्त्व मिटने पर भी सम्यक्त्व के साथ जो संस्कार बना, जो परिणति बनी वह परिणति अब भी चल रही। व्यवहार सम्यक्त्व के कितने ही नाम लें सब किसी न किसी प्रयोजन को लिए हुए हैं और सम्यक्त्व जो है सो

ही है। तो ऐसे निश्चय और अभेद स्वरूप सम्यक्त्व को जानों, बात उसमें एक ही है। सहज स्वरूप का अनुभव करो, पहिचान जावो।

### **आत्महिताभिलाषी को जिनोपदिष्ट विधि से हितोपाय करने का**

**संदेहा**—सहज स्वरूप को जानो, श्रद्धा करो, आचरण करो, इस क्रम से उपदेश किया है, क्योंकि यह प्रयोग की बात है। समयसार में भी इसी क्रम को लेकर बात आयी हैं कि राजा को पहले धनार्थी जानता है फिर श्रद्धा करता है, फिर आचरण करता है, याने जानने का काम तो करे कुछ उससे बनेगी श्रद्धा और श्रद्धा के साथ ज्ञान है ही सम्यग्ज्ञान, पर प्रयोग करने के लिए, शिक्षा के लिए जब बात कही जाती तो यह ही ढंग चलता है। कुछ जाने बिना श्रद्धा किसकी? यद्यपि वह ज्ञान श्रद्धाशून्य होने से सम्यक् नाम नहीं पाता, पर जैसे किसी कार्य का प्रस्ताव तो कर दिया पर कार्य करने को जब तैयार होते तब मालूम पड़ती बात। वह तो एक प्रस्ताव है, श्रद्धा करे पर ऐसा अगर कोई बोलता है तो उसका ढंग यह ही बनता कि कुछ तो जाना, किसी के बारे में पढ़ा सो तत्त्व ज्ञान के पौरुष में तो लगे ही रहना चाहिए, सच्चे मन से संसार से सम्वेग पाकर संसार में नहीं रहना है ऐसा अपना दृढ़ निश्चय करके जो आत्महित की अभिलाषा रखता है अपने आप पर दया करता है उसको तो मार्ग मिलकर ही रहेगा वह न भटकेगा। हाँ जिसको वस्तुतः सम्वेग नहीं होता या आत्महित की बात चित्त में नहीं जगी, रह रहा है पर्याय में आत्म बुद्धि करता हुआ, मगर सनक आयी है धर्म की, ज्ञान की, चर्चा की, चलो यह भी थोड़ा अच्छा है, वहाँ अभी मोक्षमार्ग नहीं मिला। सबसे पहला गुण होना चाहिए 'कि कुशलं ममेति विमृशन्' मेरा हित क्या है बस यही चिन्तन यह ही मनन, दूसरा मेरा कर क्या देता है? दूसरों में चापलूसी करना, मायने प्रेम करना स्नेह करना, उनका आराम रखना, अपने उपयोग पर उनका बोझ रखना, यह अगर करते रहे तो इन विकल्पों से वहाँ मिलेगा क्या? जैसे अनादि से चलते चले आये ऐसा ही रूलना मिलेगा, उसमें उसका कोई हित नहीं है। यह भावना यदि ऐसी दृढ़ भरी हुई हो कि इस भावना से कोई वातावरण चिगा न सके, तारीफ है उसकी वह पुरुष सब कुछ कर सकेगा, आत्महित करके ही रहेगा, क्योंकि बुरा चाहे तो बुरा भी इसका खूब होता।

### **निष्कल अन्तस्तत्त्व की सिद्धि की अभिलाषा होने पर निकट काल में**

**आत्मोपलब्धि**— यह स्वयं आत्मा तो ईश्वर है, मानो कल्प वृक्ष है, जो चाहे सो मिलता है इस आत्माको। एक मोटी बात सोचो—यह जीव शरीर चाहता है तो यह ईश्वर इससे शरीर ही शरीर देता रहता कि नहीं खूब लेते जावो शरीर, टोटे न पड़ेंगे, और यदि यह शरीर रहित अपनी स्थिति चाहता है तो क्यों न होगी शरीररहित स्थिति। अपनी स्थिति चाहता है तो क्यों न होगी शरीररहित स्थिति? यह भगवान आत्मा तो ऐश्वर्य सम्पन्न है, जो चाहे सो इसमें से मिल जाय। अगर बुराबुरा चाहे तो बुरा बुरा ही मिलेगा और अगर हित की वाञ्छा होगी तो हित होकर ही रहेगा। वेदान्त की एक जगदीशी टीका में कथा आयी है कि गर्मी के दिनों में कोई मुसाफिर कहीं जा रहा था तो तेज गर्मी के संताप से वह बहुत हैरान हो गया। उसके मन में आया कि यदि कोई छायादार वृक्ष मिलता तो उसके नीचे बैठकर कुछ विश्राम करता, तो थोड़ी ही दूर चलकर सड़क के किनारे एक छायादार वृक्ष दिखा। वह था कल्पवृक्ष पर उस मुसाफिर को इसका क्या पता? खैर वह उस वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करने लगा। उसके मन में आया कि छायादार वृक्ष तो मिल गया, पर यदि थोड़ी हवा चल जाती तो आनंद आ जाता। लो हवा भी चल पड़ी फिर उसके मन में आया कि हवा तो चल पड़ी, अब तो यदि ठंडा पानी पीने को मिलता तो आनन्द आता। लो एक लोटा ठंडा पानी भी हाजिर हो गया। फिर उसके मन में आया कि पानी तो मिल गया



पर यदि कुछ फल खाने को मिल जावें तो आनन्द आ जाता। लो फलों से भरा सजा सजाया थाल हाजिर हो गया। फिर उसके मन में आया कि यह सब क्या हो रहा है, कौन ऐसा कर रहा, कहीं भूत तो यहाँ नहीं है, लो भूत भी सामने हाजिर हो गया, फिर उसमें मनमें आया कि अरे लो यह भूत ही आ गया, कहीं यह मुझे खा न जाये, तो खा भी गया तो जैसे वहाँ जैसा जैसा विचारा वैसा ही वैसा हुआ ऐसे ही यह भगवान आत्मा जैसा जैसा विचारे भला अथवा बुरा, वैसा उसको क्यों न मिलेगा? बल्कि यह समझो कि बुरे पर तो इसका अधिकार नहीं पर भले पर इसका स्वतंत्र अधिकार है। तो हम यहाँ वहाँ कुछ भी बुद्धि न भ्रमाकर शुद्ध आत्मा को अपने आप के हित के प्रयोजन से लगाये रहें चर्चा में, ज्ञान में, वार्ता में।

**सत्त्वेशुमैत्री की भावना से आत्म पात्रता की परीक्षा**—भैया जैसी चार भावनायें कहीं ऐसी चर्चा बनावें—सब जीवों में मैत्रीभाव, करने से काम बनेगा और करना क्या केवल एक उपयोग की बात है, सर्व जीव हमारे स्वरूप के समान नहीं हैं क्या? चाहे निगोद हों चाहे बड़े मनुष्य हों, चाहे पशु हों, मूल स्वरूप देखो तो सब का स्वरूप समान है, पर यह क्या अन्तर पड़ गया कि जो भी मनुष्य दिखते उनके दोषों पर पहले दृष्टि जाती। अरे जब उसमें स्वरूप है, स्वभाव है, गुण है तो फिर गुण पहले क्यों नहीं नजर आते? दोष तो कुछ जानबूझ कर नजर आते, गुण सहज नजर आना चाहिए। यह इसलिए है कि जिसकी दोष ग्रहण करने में रुचि है उसे दोष त्वरित दीखेगा, जिसकी गुणग्रहण में रुचि है उसे त्वरित गुण दीखेगा। तो अब देखो दूसरे का दोष किसी ने अपने उपयोग में लिया तो उसने सबसे पहले अपना उपयोग दोषाकार बनाया कि नहीं बनाया? बनाया तो उसमें उसे फायदा क्या मिला? क्या खराबी हुई और बजाय इसके यदि गुणों में उपयोग को लगाते तो खुद का उपयोग गुणाकार बनता कि नहीं? बनता। तो अपना उपयोग दोषाकार बनाने में भलाई कुछ नहीं। अब बतलाओ अपने हाथ की ही दोनों बातें हैं, दोष सब में, गुण सब में, निरख करके दोषों पर दृष्टि जाय, निरख करके एक दम गुणों पर दृष्टि जाय, यह अपनी रुचि की परीक्षा है कि कहाँ रुचि जग रही? सब बात अपने अपने भीतर समझना है, और कमियाँ तो हैं। जो कमी है उसे दूर करें यह एक प्रवृत्ति की बात कह रहे, सत्त्वेषु मैत्री सब जीवों में मित्रता का व्यवहार हो प्रथम तो यह ही कलंक है कि जो प्रयोजनवश ऐसा समझते हैं कि ये मेरे धन के, परिवार के ये सब मेरे हैं और ये गैर, यह कलंक उतना बड़ा नहीं है जितना बड़ा हम धर्म के नाते उस धर्म प्रचार के नाते यह कल्पना कर बैठते कि यह मेरा, यह गैर। यह उससे बड़ा कलंक है। अनन्तानु बंधी कषाय का प्रयोग या परीक्षा धर्म प्रसंग के सम्बंध में होती है। तो ऐसे जो आचार्यों के उपदेश वचन हैं उनके प्रयोग में ले। अपना ऐसा प्रयोग बने कि दूसरे को दूसरा जानें, जिसका जैसा है सो है, वह खुद के लिए अपनी प्रकृति बने, उस उपदेश का कुछ आचरण खुद में होना ही चाहिए 'सत्त्वेषुमैत्री'।

**गुणिप्रमोद, क्लिष्ट कृपापरत्व व विपरीत बुद्धि माध्यस्थ्य भावना से आत्मपात्रता की परीक्षा**— गुणिषु प्रमोदं, गुणी जीवों को देखकर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी संयम गुणियों को देखकर उनमें प्रमोद भावना जगना, जितना आपको अपने लड़के को देखकर प्रमोद जगता उससे अधिक प्रमोद जगना, तब ही तो यह सिद्ध होगा कि हमको अपने परिजन या संतति में रुचि है या धर्म में रुचि है। तीसरी भावना क्लिष्ट जीवों को देखकर उनमें दयापरता का भाव। पहली दया तो यह कि बेचारा अपने को न समझ कर, विकल्पों में उलझ कर कैसा दुःखी हो रहा इसे ज्ञान प्राप्त हो ऐसी भावना होना, और फिर आखिर पर्याय है। किसी भूखे दुखी से कहो कि तुम बड़ा कष्ट पा रहे हो, तुम माला लो और गमोंकार मंत्र पढ़ो, तो उस को धैर्य तो नहीं होगा। उसका दुख दूर हो ऐसी सेवा

करो, भोजनादि दो और फिर उसे वास्तविकता बताओ तो अपने में जितनी सामर्थ्य है, सामर्थ्य के अनुसार उसकी सेवा करना, उसका दुःख दूर करना। चौथी भावना है विपरीत वृत्तौ माध्य स्थ्यं, उल्टा कुमार्गगामी, विपरीत बुद्धि वाला, जिसको देखकर डर लगता कि क्या करें, तो उसके लिए न राग न द्वेष माध्यस्थ भाव रखें तो ऐसी हमारी प्रवृत्ति कुछ है या नहीं है? अगर नहीं है तो करें और है तो उसको बनायें रहें। भैया स्वानुभूति कर लो कहने को सब कहते हैं, वह बस ज्ञान द्वारा प्राप्त कर लिया जाता, पर उसके साथ अपने आप पर कितना नियंत्रण चलता है, भीतर कितना संयमन, कितना अपना कंट्रोल होता, तब हम उस स्वानुभूति को पाते हैं कहने को तो सहज ज्ञान द्वारा पाया मगर उस पाने के अनुकूल जो आचरण है उस बिना नहीं पाया। जो किसी चीज को प्राप्त करना चाहता है वह उसके प्रयत्न में सब कुछ करता और प्राप्त कर लेता है। यहाँ लोक में तो उसके लिए ऐसा ही करते हैं सब, तो यहाँ भी पहिले क्या उपाय करना है कौन पीछे वाला उपाय है। बाह्य उपाय अन्तर उपाय कैसा भी हो, सबका प्रयोग बनाये तो अपने जीवन में सदाचार यथाशक्ति संयम, ज्ञानाभ्यास, स्वभाव दृष्टि पौरुष, स्वभावाश्रय का यत्न भावना, बाह्य आरयंतर आचार विचार सभी का प्रयोग बनावें। एक स्वानुभूति का ध्येय तो रखना ही है फिर भी परिणतियाँ ऐसी हैं कि परिणतियाँ होती हैं तो वे कैसी हों, विवेक करें और न मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ उठें तो वह तो बड़ी अच्छी बात है। पर, यह मिलती तो नहीं किसी को यह नैष्कर्म्य दशा, तो सभी का प्रयोग करें, आगा पीछा कुछ नहीं सोचना, जैसे इष्टोपदेश में कहा कि जैसे जैसे सम्विति में यह ज्ञान आता है वैसे ही वैसे सुलभ विषय भी अरुचिकर हो जाता है और जैसे जैसे सुलभ विषय भी अरुचिकर हो जाता है वैसे ही वैसे सम्विति में ज्ञान आता है इसलिए क्या करना कमेटी करके, निर्णय करके बताओ कि पहले विषय अरुचिकर बने कि ज्ञान में ज्ञान आये? कुछ निर्णय नहीं है जो बने तो बने मगर आगे पीछे का कुछ नहीं। जिस शुद्धत्व पर दीवाने हुए हैं उसके लिए हर प्रयत्न में चलना, सहज स्वरूप के लिए, उसके लाभ के लिए, तो होने दो उचित सब, बाह्य आचारों में से गुजरें, भीतर में अपने ज्ञान की एक गति बनावें, सब उपाय करें, दृष्टि में एक है ज्ञानमात्र अंतस्तत्व ऐसा ध्यान ज्ञान में रखकर इस भावना में प्रवेश तो करें। निकट में ही होगा कोई क्षण ऐसा कि यहाँ वहाँ की सब सिट्टी वह भूल जायगा और वही एक ज्ञान में रहेगा। करें तो सही प्रयत्न। विधि सही बने और काम न बने, यह कैसे होगा? एक अंजान भी नाना उपाय रचता है तो उसे भी कभी गैल मिल जायगी, पर जो जानकार हैं, जिसको उपाय दीखा, वह इस उपाय से भीतर से चलें तो उनको लाभ कुछ न होगा? उसे तब सहज आनन्द का अनुभव होगा जिस स्थिति में उससे परिचय होता है कि ओह यह है आश्रयपद तो ऐसा अपने आप में अपने सहज स्वरूप के दर्शन के हम योग्य रहें, कुछ प्रयास में रहें, पाये भी उसके वास्ते। इसका शेष सम्बन्ध का व्यवहार भी ऐसा उचित रहना चाहिए कि कभी अशान्ति और कषाय न बढ़ें, किसी के प्रति जिससे हम अपने लक्ष्य पूर्ति के पात्र रह सकें।

**भयविसणमलविवज्जिय संसारंारीरभोगणिव्वण्णो ।**

**अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ।। 5 ।।**

**सम्यग्दृष्टि के इहलोक भयका अभाव**—सम्यग्दर्शन से विशुद्ध कौन है, जिसके बारे में बताया गया ना, प्रथम नरक विनष्टभूज्योतिष बान भवन षंड नारी, थावर विकलत्रय प्शु में नहीं उपजत सम्यक् धारी। समन्तभद्राचार्य ने रत्न करण्ड में भी यह ही बताया जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है याने सम्यग्दृष्टि है वह ऐसी कुगतियों में नहीं उत्पन्न होता, याने सम्यग्दर्शन सहित होते हुए में यदि मरण होता है, तो इन कुगतियों में उत्पन्न नहीं होता।

वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव कैसे होता है। सम्यग्दृष्टि जीव 7 भयों से रहित है, निःशंक है, क्यों नहीं उसे सप्त भय हैं? इहलोकभय, क्या होगा इसभव में, इस लोक में सरकार बदलती है, नये नये कानून बनते हैं और अनेक प्रकार के टैक्स लादे जाते, मानो कानून बन गया कि कोई सोना नहीं रख सकता और रखे तो जेल जायगा, तो लोग क्या करेंगे, सोना को उठाकर नाली में डाल देंगे, नहीं तो प्राण घात का भी दण्ड रखते, ऐसी कल्पनायें जगती, उसमें भय पैदा होता, और सम्यग्दृष्टि को, यह भय नहीं है क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वरूप निर्वाध है, उसमें कोई कष्ट ही नहीं, इसमें कोई कुछ विघ्न ही नहीं डाल पाता, स्वरूप है मेरा, मेरे में है यही हूँ, अमर हूँ, शाश्वत् हूँ, उसके भय क्या? भय वहीं तो होता जहाँ पर वस्तु में अपना लगाव बनाया, जो अपराध करता है वह भय मानेगा ही अपनी राधा से विमुख हो गए, अपनी राधा है आत्मोपलब्धि, उससे दूर हो गए, जो यह अपराध करेगा वह शंकित रहेगा और भयशील रहेगा। सम्यग्दृष्टि को भय नहीं है। बच्चे को कोई डराये तो बच्चा माँ की गोद में मुख छिपाकर चिपटकर रह जाता और अपने को निर्भय अनुभव करता है कोई बाहरी बाधायें आ जायें इस ज्ञानी को तो यह ज्ञानी अपने स्वरूप की गोद में गुप्त होकर रहता चिपटकर रहता और निर्भय हो जाता। बाहर के लोग कुछ भी उपद्रव करें, कुछ भी ढायें, यह अपने में समा गया, करते रहो जो करो, उसे क्या भय। सम्यग्दृष्टि पुरुष इहलोक भय से रहित है।

**सम्यग्दृष्टि जीव के परलोकभय का अभाव—** सम्यग्दृष्टि को लोक का भी भय नहीं। लोग का भी भय नहीं। लोग कहते कि पर लोक का भय तो करें याने अच्छे आचरण से रहें। परलोक का भय रहेगा तो उससे जरा व्यवस्था भी ठीक रहती है, लोग धर्म में भी रहते और यहाँ तो यह कह रहे कि ज्ञानी के परलोक का भय नहीं, उसका अर्थ यह है कि उस की दृष्टि में है अपना स्वात्मा सदा, उसको अपने आप है निगाहमें वह जानता है कि यहाँ होऊँ तो यह मैं अन्य पर्याय में होऊँ तो यह मैं और यह मैं बस इतनी मेरी दुनिया सब जगह यह ही मैं। सब कालों में यही मैं। ऐसा उसका निर्बाध दर्शन है और यही मैं अपनी निगाह में हो वहाँ कहीं कुछ डर नहीं परलोक का भय उन्हें होता जो अनाचार में रहते और थोड़ा ख्याल आ जाता कि परलोक में क्या होगा। जो अपने स्वरूप की प्रतीति में रहते उन्हें परलोक का भय नहीं।

**सम्यग्दृष्टि के वेदना, अरक्षा, व अगुप्ति भय का भी अभाव—**वेदनाभय शरीर में वेदना हुई उसका भय, जिसने शरीर को आत्म रूप माना ही नहीं उसको वेदना भय क्या? इसके अगर कभी बुखार रोग और थोड़ा उसे कष्ट भी हो तो उसको भी वह जानता है। उसके अन्दर भय नहीं है कि अब क्या किया जायगा? अब न जाने क्या होगा ऐसी उसके किर्तव्यविमूढता नहीं है। यह मैं हूँ, यही रहूँगा, अभी यह पर्याय है, यह जायगी, मैं रहूँगा और नवीन पर्याय आयगी शरीर में जिन्होंने आपा माना है उनको वेदना भय सताता है शरीर को आत्मा रूप स्वीकार करने वाले शरीर का जरा भी कष्ट नहीं स्वीकार करना चाहते। कितने ही लोग तो इतने व्यामो ही होते कि रास्ता चलते में किसी ने कहा कि भाई हमारा यह बोझ उठा देना सिर पर, तो वे यह सोचते कि मैं क्यों उठाऊँ, याने देह में इतना तीव्र राग है कि अपने आराम के खिलाफ कुछ करना ही नहीं चाहते वेदना भय सताता है मोहियों को ऐसे ही अरक्षाभय, मेरी रक्षा होगी या नहीं होगी, यह भय सम्यग्दृष्टि के इस कारण नहीं कि वह जानता है कि मैं शाश्वत सुरक्षित हूँ। जो सत् है वह कभी मिटेगा क्या? मैं सत् हूँ तो मैं मिटूँगा क्या? कोई ऐसी गड़बड़ी हो जाय कि इस शरीर में न रहें, इससे विदा होना पड़े तो उससे मेरे लिए क्या नुकसान? यहाँ न रहा और कहीं रहा, उसका कुछ विकल्प ही नहीं, ऐसी प्रखर दृष्टि रहती है। यहाँ आपने किसी से कह दिया

कि आप वहाँ न बैठो यहाँ आ जाओ तो वहाँ बैठने में आप कोई कष्ट मानते क्या? ऐसे ही मानो इस आत्माराम से किसी ने कहा कि आप इस शरीर में न रहो यहाँ आ जावों, तो ठीक है वहाँ चलो, जहाँ हो वहाँ सही। व्यग्रता तो तब हो जब उसी पर्याय से मोह हो जाय। उसे अरक्षा भय भी नहीं। मेरा स्थान ठीक नहीं, यह भी भय नहीं, अगुप्तिभय भी नहीं।

**सम्यग्दृष्टि के मरणभय व आकस्मिक भयका भी अभाव**—मरणभय भी नहीं। मरण का भय तो बहुत बड़ा भय है और इस भय से सब आतंकित हैं। मरण का नाम सुन कर सभी लोगों को डर लगता। एक घर एक घर में कोई एक बुढ़िया रहती थी। वह बहुत वृद्ध हो गई थी। उसके नाती पोते भी उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं रखते थे, सो वह बुढ़िया बहुत बहुत रोती थीं, बड़ा कष्ट मानती थी और प्रति दिन भगवान से यह प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान मुझे उठाले, मायने में मर जाऊं....., यही बात वह रोज रोज कहा करती थी। एक दिन उस बुढ़िया के पास एक बड़ा भयंकर जहरीला साँप निकल आया तो उसे देखकर वह बुढ़िया डरी, चिल्लायी और अपने नाती पोतों का नाम ले लेकर बोली अरे दौड़ो, बचाओ, साँप निकल आया है, तो वहाँ कोई नाती बोला अरी बुढ़िया माँ तू घबड़ा मत, मेरी प्रार्थना को भगवान ने स्वीकार कर लिया है। तू रोज रोज जो यह कहा करती थी कि हे भगवान मुझे उठाले तो भगवान ने तेरी प्रार्थना सुनकर काल को इस सर्प के रूप में तुझे उठाने के लिए भेजा है तो यहाँ मरने से सभी डरते। अभी शरीर में कोई रोग हो जाय या कोई तेज कष्ट आ पड़े तो कह उठते कि मेरा मरण हो जाय तो अच्छा है पर मरण की आशंका होने पर देखो तो वहाँ फिर बदल जाता है चित्त। मरण नहीं चाहता। इस तरह लोग मरण से भय मानते पर सम्यग्दृष्टि को मरण का भय नहीं याने उसने जगत के सर्व अर्थों से अपना ऐसा पूरा कटाव बना लिया कि उसके लिए मरण भी कुछ नहीं है। यहाँ न रहे वहाँ रहे। अपने निज स्वरूप पर उसकी दृष्टि है और जगत में कोई आकांक्षा नहीं। मोहवश लोगों को बड़ी बुरी मौत मरना पड़ता। मर रहे, ख्याल आ रहा। सारा जीवन परिश्रम कर के हवेली बनाया, अब यह छूट रही, सब कुछ कष्ट करके अपने को सुखी रोटियाँ खिलाकर बच्चों का इतना पढ़ाया लिखाया, बड़े किया, अच्छे बनाया, अब ये सब मुझ से छूट रहे हैं यों सारे ख्याल हैं और बुरी मौत मरना पड़ता और निर्मोह पुरुष बड़ी शान्ति से मरण करता। तो यह मरण भय भी इस स्वरूप पर दृष्टि रखने वाले के नहीं होता। अनाप सनाप भय हुआ करते इन दुनियावी लोगों को। आकस्मिकभय में अटपट सोचविचार होते। जैसे कहीं बादल नहीं है फिर भी यह भय मानते किन्हीं बिजली न गिर जाय, कहीं बिजली गिरने से मेरा मरण न हो जाय, कहीं छत ही न गिर जाय यों कुछ से कुछ सोच बैठते। कोई आकस्मिक उपद्रव न आ जावे यह भय भी उस सम्यग्दृष्टि के नहीं होता, क्योंकि आकस्मिक कुछ है नहीं मेरे लिए दुनिया में जो है सो बर्त रहा। हूँ और परिणमता रहता हूँ अपनी ही परिणति से परिणमता हूँ सारी बात मुझ में दृढ़ दुर्ग की तरह है। किसी प्रकार के भय सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं है और खुद में ही परख लें, अगर ऐसी निर्भयता की बात है तो हाँ ठीक है, सम्यक्त्व है। बात कुछ और हो तो कहने से कुछ नहीं बनती बात।

**सम्यग्दृष्टि की सप्तव्यसन रहितता**—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वह सप्त व्यसनों से रहित है। इससे पहले यह जाने कि 7 व्यसनों में जो हो किसी भी व्यसन में उसके सम्यक्त्व नहीं। जुवा खेलने का व्यसन सम्यग्दृष्टि के होगा क्या? उसमें बड़ी अधीरता चंचलता, दिल ठिकाने भी नहीं और ऐसी ही बातों में उपयोग जाय। मांस भक्षण कितना एक निंद्य काम है। दूसरे जीव के घात से होता है मांस, वह स्वयं खराब है, कुछ दिन

पहले के लोग तो इस मांस का नाम भी न लेते थे अगर किसी के बारे में बताना होता था कि वह मांस खाने लगा तो यों कहते थे—अरे कुछ पता है वह तो मिट्टी खाने लगा। और नाम लेकर मांस शब्द बोलने में भी उन्हें बुरा लगता था। जो बहुत बूढ़े पुराने लोग हों वे समझ सकते उस समय की हालत। यह मांस इतना निन्द्य पदार्थ है कि उसका नाम लेने में भी बुरा लगता, और उसे कोई खाये तो क्या उसे कह सकते सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि के व्यसन नहीं होते। मदिरापान करना यह भी एक बड़ी दूषित बात है। सम्यग्दृष्टि के ऐसी गंदी प्रवृत्ति नहीं होती। चोरी करना, शिकार खेलना, परस्त्री गमर करना, वेश्यागमन करना, ये भी सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं होते। वे तो एक सहज विरक्त भाव को लिए हुए होंगे। कर्मोदय आता, चारिय मोहका उदय है तो अणुव्रत में रहकर जैसी प्रवृत्ति वहाँ होती है वैसी प्रवृत्ति चलेगी। भले ही नियम न किया हो व्रती हो फिर भी उसकी प्रवृत्ति ऐसी शुद्ध होगी जो सप्त व्यसनों से रहित है।

**सम्यग्दृष्टि के अष्टाङ्गदोशरहितता**—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वह सम्यक्त्व के दोष से रहित है जैसे सम्यक्त्व के 8 गुण न होकर उसके विपरीत 8 दोष हैं वे दोष नहीं होते किन्तु सम्यग्दृष्टि के अंग ही होंगे। जिन वचन में शंका करना, अपने स्वरूप में शंका होना, भोग विषयों की इच्छा रखना, धर्म पालन के एवज में भोग साधन। चाहना यह दोष नहीं होता। व्रती साधु संत पुरुषों की सेवा में ग्लानि रखना यह सम्यग्दृष्टि के न होगा। क्यों न होगा? माता पिता अपने छोटे बच्चे की सेवा करने में ग्लानि क्यों नहीं करते। नाक आ जाये तो उसे अपनी धोती से पोंछ देते, ग्लानि क्या नहीं होती? तो उस बच्चे के प्रति उन्हें प्रीति है, उमंग है या जो कुछ समझ रख कि यह हमारा कुल चलायेगा बुढ़ापे में यह हमारी मदद करेगा। जो कुछ भी जितनी प्रीति है उस प्रीति के कारण उसे ग्लानि नहीं। तो एक सम्यग्दृष्टि को भी धर्मात्मा साधु संत के प्रति प्रीति होती है। जो कुछ वह चाहता है वह वहाँ मौजूद होता तो इस प्रीति के अतिरेक में ग्लानि आने का सवाल ही नहीं आता। कभी दूसरे धर्म वालों को या किन्हीं जादूगरों का चमत्कार देखकर ऐसा भाव करना कि वाह तत्व तो यह है धर्म तो यहाँ है। सच्ची बात, सार बात तो यहाँ है, ऐसा कुछ निरखना यह दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होता। दूसरे किसी भी व्रती में, साधु में कोई दोष भी हो जाय कभी तो उसको वह जनता में प्रकट नहीं करता, यह तो गुण है और प्रकट करे, स्वच्छंद हो तो यह उसका दोष है। ऐसा दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होता, क्योंकि उसे धर्म के प्रति प्रीति है और जिसके प्रति प्रीति है उसके बारे में यह चाह होती कि इसकी निन्दा न हो, धर्म की निन्दा न हो, बस इस उद्देश्य से उसका उपगूहन चला धर्मात्माजन कोई विचलित हो जाये तो उनको और आनन्द माने, उमंग करे, होने दो विचलित अच्छा हुआ, ऐसा भाव दोष है, सम्यग्दृष्टि के ऐसा दुर्भाव नहीं होता, किन्तु अपनी सामर्थ्य माफिक उसको इस धर्म में स्थिर करने का ही उसका भाव और यत्न है। धर्मात्मा जनों में सम्यग्दृष्टि को वात्सल्य होता, द्वेष नहीं, घृणा नहीं, जैसे घर में 2-4 लड़के हैं, कोई तनिक खोटा भी है तो भी माता का सब पुत्रों पर प्रेम रहता है। चाहे किसी के प्रति कुछ कम प्रेम रहे किसी से अधिक मगर माता प्रीति सब पुत्रों से रखती है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष इतना उदार होता है कि चाहे नाम जैन हो, स्थापना जैन हो, चाहे द्रव्य जैन हों, चाहे भाव जैन हो, वात्सल्य उसका सब से रहता है। इतनी बात परखकर ये जैन होकर भी इस को ऐसा करना नहीं आता, इसको ज्ञान नहीं है इन्हें, इतनी बात से वे जुदा न कर देंगे उसे। यह तो गैर है कुछ नहीं है, पापी है, इससे मेरा कुछ मतलब नहीं, विरोध मान ले, यह बात सम्यग्दृष्टि में नहीं होती। तो उदार हृदय है, सबसे मिलकर चलता है भले ही विभिन्नतायें होती ही हैं रहे मगर उस विभिन्नता के नाते उसके भीतर घृणा नहीं जगी, अनादर नहीं हो गया, क्योंकि

उस सम्यग्दृष्टि को तो अपनी पड़ी है कि मेरा कैसे आत्महित हो वह व्यर्थ के बखेड़े में क्यों पड़ेगा। उसकी प्रवृत्ति तो धर्म प्रभावना की होती है, उसका कोई कार्य ऐसा नहीं जो प्रभावना में विघ्न डाले।

**सम्यग्दृष्टि की अष्टमदरहितता**—सम्यग्दृष्टि के किसी प्रकार का घमंड नहीं होता। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को परिचय है कि वह किस प्रकार से शुद्ध होता है, उसे कुलका घमंड नहीं। मैं बड़े ऊंचे कुल में पैदा हुआ इसका भी उसे घमंड नहीं मेरे मामा, नाना ऐसे कुल के हैं इसका भी घमंड नहीं। ज्ञान का भी उसे घमंड नहीं वह तो जानता है कि केवलज्ञान के समक्ष यहाँ का कितना ही बड़ा चढ़ा ज्ञान हो वह समुद्र में बिन्दु बराबर है। इतने में ही तुष्ट होना है क्या? केवलज्ञान हो तो स्वभाव दशा होगी अन्य बीच की स्थिति की चाह नहीं, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि के पूजा मद नहीं है और बढ़कर मानो संयमी है तो उसने किसी से हाथ जुड़ाने के लिए अपना घर छोड़ने जैसा कठिन काम किया क्या? उसे कोई परवाह नहीं। जिसका जैसा चल रहा उसका उसके लिए, वह अपने में विह्वल नहीं होता, लोग न माने तो ठीक है, चल रहा। अनन्तानन्त जीव मिथ्या दृष्टि हैं, ये दो चार और उन में शामिल होने लगे कुछ पलड़ा थोड़े ही डूब जायगा। विकल्प नहीं रखता वह कि हाय ये लोग यो क्यों नहीं करते, उसे अपनी पूजा प्रतिष्ठाका भाव नहीं रहता और मानलो हो भी पूजा प्रतिष्ठा तो उसका उसे मद भी नहीं रहता। भैया, विभुग्धो को एक बार, ऐसा तो लगता होगा कि इस संसार में इस सम्यग्दृष्टि को कुछ सुख नहीं, यह तो बेकार है, इससे भले तो ये मिथ्यादृष्टि लोग हैं। कैसे कि जब ये मिथ्यादृष्टि लोग अपने बच्चे को गोद में लेकर खिलाते तो कैसा खुश होते, खूब हँस हँसकर उसे अपनी छाती से चिपका चिपका कर मुख से चूम चूमकर खिलाते, प्यार दिखाते, बड़ा मौज मानते और ये सम्यग्दृष्टि लोग तो अपने बच्चों को गोद में लेकर भी उसे अपने से भिन्न निरखते, उसके प्रति अन्दर से उदासीन रहते, उसको खिलाकर हर्ष नहीं मानते, तो सम्यग्दृष्टियों से तो ये मिथ्यादृष्टि लोग भले हैं ऐसा लोगों को लगने लगता पर ऐसी बात नहीं है ये मिथ्यादृष्टि जन जिन्हें अज्ञान है, जो विषयों में मस्त हो रहे, उनकी दशा तो बड़ी दयनीय है सम्यग्दृष्टि पुरुष तो विवेकी है, पुण्य पाप फल मांही न हर्ष है न विषाद। चिंतन है, मनन है, आत्मस्पर्श भी कभी होता। उसका एक स्थिर आनन्द है, जब है तब सहज आनन्द भोग रहा, नहीं है तो स्मरण है। उसे कोई मद नहीं। उसे बलका भी मद नहीं ऋद्धि ऐश्वर्य का भी मद नहीं तपश्चरण का भी मद नहीं। सुन्दरता, सुरूपता आदि कोई प्रकार का अभिमान उसे नहीं है जो पूरा है भीतर उसके ऐसा रूप नहीं बनता जो लोक में एक अपवाद फँसे। सम्यग्दृष्टि जीव किसी विसम्वाद में नहीं पड़ता लौकिक लोग क्या कर रहे, उसे देखकर यह बदल नहीं होती कि मैं भी यह ही करूँ। ऐसे ये जो दोष बताये जाते हैं, उन दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है।

**दर्शनशुद्धजीवकीदेवमूढतावर्जितता**—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वह जीव कैसा होता है उसका वर्णन चल रहा है। अभी तक बताया है कि दृष्टिशुद्ध जीव भयों से रहित है, 7 व्यसनों से रहित है और शंका आदि दोषों से रहित 8 मदों से रहित है, अब सम्यग्दृष्टि तीन मूढताओं से रहित है इस विषय में बात चल रही है मूढता मायने मूर्खता मूग्धता, अज्ञानवश होने वाली प्रवृत्तियां वे तीन हैं (1) देवमूढता, (2) लोकमूढता और (3) पाखण्डिमूढता। देवमूढता जो देव नहीं है उसको देव मानकर उसकी आराधना पूजन आदिक प्रवृत्तियों में रहना यह देवमूढता है। देव तो सभी जीव नहीं है, पर उनमें देवत्व का खकाल बन जाए तो वे कुदेव कहलाते हैं। जो देव नहीं है वह कुदेव है, ऐसा अर्थ नहीं है, देव तो यहां के सभी जीव नहीं एकेन्द्रिय से लेकर हम आप मनुष्यों तक, पर कुदेव नहीं

कहलाते, जो देव नहीं है और उनकी ओर से या भक्तों की ओर से जिसमें देवत्व की ख्याति की जाय उसे कहते हैं कुदेव। जो रागादिक सहित है, परिग्रह सहित है, और देवत्व की प्रसिद्धि बन रही हो तो उस प्रसिद्धि में नहीं बहता यह सम्यग्दृष्टि जीव।

**सद्दृष्टि की लोकमूढतावर्जितता**—लोकमूढता—दुनियावी प्राणी किस किस बात में धर्म मानकर प्रवृत्तियाँ किया करते हैं। उन बेचारों को स्वरूप की खबर नहीं, नदी में स्नान करना, समुद्र में नहाना, पहाड़ में गिरना, और—और भी अनेक बातें। रास्ते में कही पत्थरों का ढेर लगा हो तो वहाँ एक पत्थर और डालना, उसका वंदन करना अन्य अनेक प्रकार की मूढतायें चलती हैं। कोई ऐसा संन्यासी होगा सो कहीं भिक्षा से लड्डू ले आया। वह लड्डू लिए जा रहा था सो एक जगह रास्ते वह लड्डू गिर गया और गिरा खराब जगह पर, सो उसे झट उठा तो लिया, पर साथ ही अपनी पोल छिपाने के लिए वहाँ 10—5 फूल उसने डाल दिया, इसलिए कि देखने वाले लोग कहीं पहिचान न जायें कि यहाँ से इसने लड्डू उठाया। वहाँ लोगों ने देखा कि इतने बड़े महाराज यहाँ फूल डाल रहे हैं नम्र होकर सो वहाँ और लोगों ने देखा तो दो—दो फूल उन्होंने भी चढ़ाया। अब तो जो भी उस रास्ते से जाय वही दो चार फूल चढ़ाये। इस तरह से वहाँ पर फूलों का एक बहुत बड़ा ढेर लग गया। उसका नाम भी लोगों ने रख दिया फुल्वा देवी। अब दो एक विवेकी पुरुषों ने सलाह किया कि देखना चाहिए कि इस जगह कौन सी देवी है, क्या है कुछ स्वरूप तो देखना चाहिए। सो वे डरे नहीं फूलों को अलग किया और देखा तो उन्हें असली देवी दिख गई (हँसी) मायने जो गंदी चीज पड़ी थी वह दिख गई। तो लोक मूढता की बात कहे रहे कि जिस ओर लोग बहे जा रहे धर्म समझकर उस ओर बहना यह लोकमूढता है। सम्यग्दृष्टि के इसकी तो गंध ही कहीं से आ सकती।

**दर्शनबुद्धि की पाखण्डमूढता वर्जितता एवं अनायतनोपासनावर्जितता**—जिसने अपने सहज स्वभाव का अनुभव पाया हो सहज आनन्द का अनुभव किया हो और इसके प्रसाद से दृढता हुई कि ऐसी आत्मा की स्थिति बनना यह धर्म है उसके हृदय में कैसे फैलेगी पाखण्डिमूढता। सग्रन्थ सारम्भ ऐसे कुभेषी साधुजनों में गुरुत्वबुद्धि करना, उनकी सेवा करना पाखण्डिमूढता है। लोग तो हुक्का भरकर ऐसे साधुओं को देते, यह उनकी सेवा मानते हैं पाखण्डिमूढता वाले अफीम लादें, गॉजाला दें और और क्या क्या बातें करते और वे खुश हो रहे हैं। कैसे पटती है उनकी गुरुशिष्यता यह बात कुछ समझ में नहीं आती है। सो मूढता की बात विचित्र है। मूढताओं से रहित ज्ञानी पुरुष होते हैं। छानायतनों में इस सम्यग्दृष्टि को आस्था नहीं, कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म, कुगुरु और इनके सेवक ऐसे इन दोषों से रहित जो हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं।

**सम्यग्दृष्टि की संसार भारी भोगनिर्विण्णता**—ये सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर भोगों से विरक्त हैं। चाहे अभी विरक्त का नियम नहीं किया, मगर यथायोग्य सहज विरक्त होती है। ज्ञानी के होती ही है संसार से विरक्त। रागद्वेष भाव का नाम संसार है और उन भावों से इसकी विरक्त है। यह संसार भाव अनर्थकारी है। यह कलंक है, यह मेरा आश्रेय नहीं है। यह दृढ प्रतीति है ज्ञानी के, संग होते हुए भी हँसकर भी, वैसी प्रवृत्ति करके भी इसके भीतर उदासी रहती है। शरीर से उदासी, शरीर को बहुत पोषना, सफाई में रखना अनेक बार खाना आदिक बातें ये जो शरीर पोषक हैं शरीर की ममता करने वाली हैं अभक्ष्य खाना आदिक का ये वृत्तियाँ कहीं से होंगी। यह संसार से विरक्त है। देह जुदा, पुदगल अचेतन में चेतन ज्ञानस्वरूप जिसकी दृष्टि में यह भेद पड़ा है वह गुजारे माफिक शरीर की सेवा करेगा जैसे कि एक मालिक अपने नौकर की सेवा करता है क्योंकि उससे अपना काम निकालना है। इस शरीर के टिकाये रहने से थोड़ा जीवन चलता है। इसलिए इस

शरीर की थोड़ी सेवा करनी होती है। खान पान करना होता, करता है, मगर उसमें आशक्ति नहीं है और इसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि पुरुष इन भोगों से विरक्त है। अब देखिये निमित्त नैमित्तिक योग वश उसे करनी पड़ती है विषय प्रवृत्ति फिर भी वह उदास होता है ऐसी स्थिति जिसके नहीं है और यों ही मान लें कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ तो केवल एक मान लेने से बात न बनेगी। वह प्रभाव आना चाहिए स्वयं में जो सम्यग्दर्शन का प्रभाव है, संसार, शरीर, भोगों से वह विरक्त है।

**सम्यग्दृष्टि का निःशंकित व निःशंकित अंग**—दर्शशुद्ध भव्यात्मा सम्यग्दर्शन के 8 अंगों से समग्र है। 8 अंग हैं अंग मायने अवयव। जैसे शरीर के अंग और शरीर है अंगी। पैर आदि अंग न रहा तो जो शरीर की दशा है, अंग न रहे तो वही सम्यक्त्व की दशा है। अथवा यहाँ थोड़ा बहुत शरीर का काम चला भी लेंगे किसी अंग बिना मगर वहाँ न चल सकेगा। सम्यक्त्व है अंग सहित। जैसे शरीर में 8 अंग होते हैं और उन 8 शरीरों के में अंगों से जिस विधि से बात बनती है उस विधि का दिग्दर्शन सम्यक्त्व के 8 अंगों में दिख सकता है। शरीर के 8 अंग कौन से? 2 पैर, 2 हाथ, एक पीठ, एक हृदय, एक मस्तक और एक नितम्ब। अब प्रवृत्ति की विधि देखिये मनुष्य चलता है तो एक पैर आगे रखता है और पीछे का पैर उठाता है, तो जो एक पैर आगे रखता है और पीछे का पैर उठाता है तो जो पैर आगे रखता है वह कितना निःशंकता से रखता। सड़क है चल रहे हैं तेजी से चलते हैं पैर को निर्भय बढ़ाते जाते हैं। कहीं कोई शंका आती क्या? यह सड़क कहीं रूई की तरह पोली न हो कि पैर धस जाय, ऐसी कोई कल्पना करता क्या? तो जैसे अगला पैर निशंक रखते हैं और पिछला पैर बड़ी उपेक्षा से हटाते हैं, कहीं राग होता है क्या उस जमीन से अरे जहाँ पिछला पैर रखा था उसकी ओर दृष्टि ही नहीं रखता, उपेक्षा करता, ऐसी ही निःशंक और निःशंकित अंग की बात है। अगले पैर की तरह निशंकित अंग है। जो अपना कदम है और गंतव्य स्थान है उसकी ओर उसकी दृष्टि कैसे निशंक रहती है और वहाँ निःशंकितगति की ओर उमंग है, पर भोग साधनों की ओर ऐसी उपेक्षा है जैसे पिछला पैर बड़ी वेग से अपेक्षा करके चलने वाला उठाता है।

**सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सित व अमूढदृष्टि अंग**—निर्विचिकित्सा—शरीर के बाँये हाथ से सभी लोग भंगी जैसे रोज काम करते हैं, शौच के बाद शुद्धि करते हैं। तो शौच के बाद क्या कभी किसी ने सोचा सा कि यह मेरा बाँया हाथ बड़ा खराब है, इसको काटकर फेंक देना चाहिए अरे ऐसा तो कोई नहीं सोचता। दोनों ही हाथों से कोई घृणा नहीं करता। ऐसे ही मुनिजन कदाचित् बीमार हों और कुछ मल मूत्रादिक निकले या लार निकला किसी प्रकार की अशुचिता आये तो भी धर्मात्माजन उनके प्रति घृणा नहीं करते क्योंकि उन्हें प्रीति है धर्म से और वे धर्म की मूर्ति हैं। दाहिना हाथ जैसे किसी भी बात के निर्णय में यह दाहिना हाथ अमूढता का धोतन करता है ऐसा ही है वह तत्त्वनिर्णय यथार्थ यह ही है याते जैसे यह दाहिना हाथ एक अमूढता की बात बताता है इसी तरह यह अमूढ दृष्टि अंग खोटे मार्ग में जाने वाले पुरुषों के प्रति वह मुग्ध नहीं होता और यथार्थ निर्णय रखता है कि मोक्ष मार्ग तो यही है।

**सम्यग्दृष्टि का उपगूहन और वात्सल्य**—उपगूहन अंग—जैसे शरीर का नितम्ब भाग, इस को हर एक कोई ढके रहता, कोई चड्ढी पहिनता, कोई धोती पहिनता कोई पायजामस, कोई कुछ। उपगूहन करते हैं, ढके रहते हैं इस भाग को तो सम्यग्दृष्टि जीव किसी अशक्त जीव के आश्रय कोई दोष हो जाय धर्मी से किसी साधर्मी भाई से, ज्ञानी से तो उस दोष का उपगूहन करता, ताकि जनता में धर्म की निन्दा न हो। भले ही उसके प्रति क्या करना समझाना बुझाना वह सब होता है, मगर जनता में वह दोष प्रकट नहीं



करता जैन उसका उपगूहन करता। सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य देखो जैसे हृदय में प्रेम बताया जाता इसी प्रकार साधर्मी जनों के प्रति धर्मी का हृदय है वात्सल्य है। जैसे एक मित्र का किसी दूसरे मित्र से निष्कप वात्सल्य होता है जैसा कि गाय और बछड़े का निष्कपट वात्सल्य होता है ऐसा वात्सल्य एक साधर्मी का दूसरे साधर्मी से होता है।

**सम्यग्दृष्टि का स्थिति करण वात्सल्य एवं प्रभावना अङ्ग**—स्थिति करण—पीठ, इस पर कितना ही बोझ लाद दिया जाय, जो बोझ सिरपर भी नहीं उठाया जा सकता वह बोझ पीठ पर उठाया जा सकता। तो जैसे शरीर का पीठ भाग स्थिति के काम आता ऐसे ही यह स्थितिकरण समझो। कभी धर्म से कोई च्युत होता हो, दूसरा बंधु च्युत होता हो तो उसे धर्म पथ में लगाये, उसे वचनों से, अन्य सहायता से उसकी शल्य मेटना, धर्म में स्थिर करना, और प्रभावना जैसे सारे शरीर में प्रभावना का स्थान मस्तक है। उसको देख कर ही तो लोग प्रभावित होते, यह ज्ञानी है, प्रतिष्ठित हैं ऐसा जानते, और किन्हीं अंगों को देखकर ऐसा ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने आचरण से नियम से विचारों से अपने धर्म की प्रभावना बढ़ाता है और निश्चय से सब कुछ अपने आपका अपने में ही कार्य है।

**ज्ञानी की पञ्चगुरुभक्तता**—8 अंगों से समग्र और यह दर्शन शुद्ध जीव पंच गुरु है 5 गुरु हैं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ज्ञानी, उनके सही स्वरूप को जानता है, समझ रहा है, यह सब आत्मविकास है णमोकार मंत्र में किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिया गया। तीर्थंकर तक का भी नाम नहीं है कि इनको नमस्कार है, किन्तु किसके नाम है? आत्मा के विकास स्वरूप के नाम हैं। साधु जो रत्नत्रय की साधना करें, अपने सहज स्वरूप को जानकर उस ही में धुन बनाने का प्रयास करें वह साधु है, वह आत्म विकास है, जितना भी है, ऐसे ही आचार्य और उपाध्याय हैं। और जब ऐसी साधना के बल से चार घातिया कर्म दूर हो गए और वहाँ अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति अनन्त आनन्द प्रकट हो सो अरहंत है। फिर जब शरीर व घातिया कर्म दूर हो जाते तो वह सिद्ध प्रभु है।

**घातिया कर्म दूर होने पर देही की स्फटिकमणिसंकासता**—जहाँ यह अनन्त चमुष्टय प्रकट हुआ वहाँ विभिन्न नैमित्तिक योग देखिये—यह देह कैसा हो जाता? स्फटिकमणि की तरह। कोई बूढ़ा मुनि है वह अरहंत बन गया तो अब वहाँ बूढ़ा शरीर नहीं रहता, नहीं तो बड़ा भद्दा लगे कि यह देखो बड़े भगवान आ गये। उनका स्वरूप मनोज्ञ है। जैसे प्रतिमा बनती है तो सबका एक स्वरूप होता। बूढ़ा बगैरह है कुछ नहीं मुनि की तस्वीर में तो देखिये हड्डियाँ निकली दिखेंगी मगर अरहंत की प्रतिमा में मनोज्ञता रहती है और उनका निगोद रहित शरीर होता। 12 वें गुणस्थान में किस तरह की पर्याय चलती कि वहाँ तक निगोद जीव तो रहते हैं देह में और वे न रहें ऐसे कोई एक समय में बात नहीं बनती। वहाँ उत्पाद का विरोध है याने नवीन जीव नहीं उत्पन्न होता और उसके भी निरोध की गुण श्रेणी है, उसके ढंग से पहले के जीव कितने क्षण तक और वहाँ चले अगले जीव कितने अनुपात में उत्पाद निरुद्ध हो तो, ऐसा होते होते 12 वें गुणस्थान के अन्त में यह देह वादर निगोद से रहित हो जाता है और 13 वें गुणस्थान में स्फटिकमणि की तरह शरीर हो जाता है।

**वीतरागता की महिमा**—देह का निर्दोष हो जाना पहले बाहरी बात हुई मगर वह ज्योति कौन है जिसकी वजह से यह काम सहज होता है। महिमा देह के तारीफ की नहीं है। महिमा है उस वीतरागता की। वह बीतराग है सर्वज्ञ है। मगर हम आप कदाचित् अपना यह धैर्य रख सकते हौ कि मुझे केवल ज्ञान की जरूरत नहीं, न हो न सही, नहीं है तीनों लोक का ज्ञान तो न सही मगर वीतरागता जरूर हो क्योंकि आकुलता का नाश वह वीतराग भाव ही है। तो एक बार यह मना किया जा सकता कि नहीं मिला तीनों लोक

का ज्ञान तो न सही मगर वीतरागता जरूर हो। हालाँकि ऐसा होता नहीं कि वीतराग होने पर तीनों लोकों का ज्ञान न हो, मगर उसे एक धैर्य है। सबको न जाने तो वहाँ अनन्त दर्शन नहीं है। अनन्त दर्शन कहलाता है समस्त पदार्थों के जाननहार आत्मा का प्रतिभास कर लेना। नहीं हुआ न सही मगर वीतरागता के लिए आप कभी गम न खायेंगे कि वीतरागता न हो तो न सही। ऐसे ही रोग होना जन्म मरण होना आदि दोष यह जरा भी इष्ट नहीं है। तो महिमा किसकी है? वीतरागता की निर्दोष, स्वच्छ हो गए तो प्रभु वीतराग भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं और जब यह देह भी दूर हो जाता है, शेष अघातिया कर्म दूर हो गए, केवल आत्मा ही आत्मा असम्पृक्त, निर्बन्ध हर प्रकार से केवल यह सिद्ध भगवान है, उनके स्वरूप को ज्ञानी जानता है और उसकी उन में भक्ति होती है। तो जो सदृष्टि है पंच परमेष्ठी में भक्ति भावना रखता हुआ विशुद्ध रहता है। एक ऐसी दृष्टि होनी चाहिए।

**स्वारूप निर्णेता ज्ञानी के उपासनात्रने पर मेशिठ गुणदर्शन**—भैया, स्वरूप निर्णय तो हो मगर देखने में हम को गुण पहले नजर आने चाहिए। गुण प्रेमी यदि हैं तो हमें गुणों पर दृष्टि विशेष होनी चाहिए। समझने को तो समझलें किन्तु उपासना के प्रसंग में हमारी गुण दृष्टि हो। अरहंत भगवान जो अनन्त चतुष्टयके धनी हैं उन की उपासना के समय यह दृष्टि नहीं होती कि अभी तो इनके साथ शरीर लगा है, अभी इनके साथ अघातिया कर्म शेष हैं यह दृष्टि नहीं होती। दृष्टि यह होती कि यह अनन्त चतुष्टय सम्पन्न हैं यद्यपि जैसे जो हैं सो वैसा जान रहे हैं पर उपास्य भाव में बस गुणभाव ही दृष्टि में है। ऐसे ही साधु अवस्था में समिति गुप्ति के भाव होते हैं, वे राग निर्मित नहीं है और विराग निर्मित नहीं है, किन्तु एक स्थिति है कि बहुत अंशों में राग गल गया और उस स्थिति में जो शेष राग है सो वहाँ प्रवृत्ति इस ढंग की होती है। वहाँ जाना गया सब मगर उपास्य तत्व में यह उमंग हुई, आस्था हुई कि धन्य हैं ये मुनिराज, वीतराग होने पर ऐसी समिति गुप्तिरूप चेष्टायें होती हैं, यद्यपि उनमें अभी राग है, पूर्ण विरागता नहीं है पर राग राग से ही यह वृत्ति नहीं बनती किन्तु काफी विरागता रहने पर ऐसी राग की वृत्ति बनती। तो उपासना की भक्ति के प्रसंग में जब तक समझो गुणग्रहण न हो तब तक भक्ति नहीं जगती। ऐसे ही जान लिया कि पूजा शुभोपयोग है और शुद्धोपयोग होना है, उसकी दृष्टि में हेय है मगर पूजन करने वाले को जो ऐसा जान रहा है वह कभी ऐसा भी कहता है क्या कि हे प्रभु हम आप की हेय पूजा कर रहे हैं? यह त्याज्य है, हेय है और आपसे ही तो मिली है यह ऐसी वाणी, ऐसा कोई बोलता है क्या उपासना के प्रसंग में? तो विशुद्धि की ओर दृष्टि है, गुणों की ओर दृष्टि है, सो भक्ति की यह सब महिमा है इससे ये सब बातें चलती हैं। तो एक प्रगति बने अपनी ऐसी कि पूज्य पुरुषों में तो क्या, साधारण जीवों को भी देखें तो हमें चैतन्य स्वभाव दृष्टि में आये। इसमें भी चैतन्य स्वरूप है, अविकार स्वरूप है। उस सहज भाव की दृष्टि बने, जान रहे हैं अब और यह भी बात ज्ञान में आयगी कि एकेन्द्रिय आदिक ये सब अवस्थायें हैं, पर वह तथा क्यों नहीं तुरन्त ज्ञान में आता तो हमारी ऐसी भावना अभ्यास बने स्वभाव के प्रति कि हमको सर्वत्र तुरन्त तो गुण ही गुण नजर में आवें ऐसी भावनाभ्यास के बल से यह जीव अपने स्वभाव की भावना करता है।

**णियसुद्धप्पणुरत्तो वहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी।**

**जिणमुणिधम्मं मव्णईगय दुक्खो होइ सदिट्ठी।।6।।**

**ज्ञानी की सार निजपुद्धात्मत्व की ओर दृष्टि**—सम्यग्दृष्टि कैसा होता है यह वर्णन इस गाथा में आया है। सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्मा में अनुरक्त होता है, कहाँ उसकी धुन है, कहाँ लगन है? जो सारभूत है उसकी और ही लगन है। आत्मा का सहज स्वरूप अनादि अनन्त अहेतुक मेरा ही सत्त्व, उसमें बुद्धि आये कि मैं यह हूँ, ऐसा ज्ञान प्रकाश बने,

वही मेरे कल्याण का मार्ग है, सम्यग्दृष्टि जीव को अपने उस सहज शुद्ध आत्मतत्त्व में अनुराग है। इसको छोड़कर संसार की अन्य बातें उनमें कहाँ सार है? कुछ भी रहे, बाह्य धन वैभव इस जीव को भ्रम से लग रहे हैं सर्वस्व मगर स्वरूप देखो अत्यन्त भिन्न, जिसके लगाव में जीव का नुकसान है, उन वैभवों का नुकसान नहीं और यह भी कह सकते हैं कि उन वैभवों का भी नुकसान। भोजन में लगाव है सो रागवश जीव की हानि है और देखो जिस साफ स्वच्छ लड्डू को लोग खाते वह कैसा पिच जाता है, काम भोग कथ कहते हैं ना, तो स्पर्शन रसना इन्द्रिय के विषय इनको कहा काम और घ्राण चक्षु और कर्ण इन तीन को कहा भोग। तो फर्क क्या रहा कि स्पर्शन रसना के विषय चूर हो जाते और तीन के विषय, बस एक जान सा लिया, कुछ भी किया, मगर वहाँ न गंध को पिचकाया है न गंध द्रव्य को उसने चमीटा है, न रूपी द्रव्यों को इसने चमीटा है, न शब्द को चमीटा है, लेकिन वैभव की क्या हानि? जो चाहे अवस्था हो, जीव की हानि हुई, बाहरी पदार्थों के लगाव में आत्महिंसा है।

**अज्ञानी के लगन की दुःख हेतुता**—अज्ञानी का कहाँ लगाव है? पुत्र पौत्रादिक संतान इनकी ओर दृष्टि होती मोही गृहस्थों की, ये हैं मेरे और ये मेरे कुल के चलाने वाले हैं। काहे का कुल? मेरा कुल तो चैतन्य कुल है। यहाँ का माना हुआ यह परिवार खंडेलवाल, पोरवाल, अग्रवाल आदि और उनमें भी मेरा धर, इस घर में चले संतति और यह घर सूना न हो उत्तरोत्तर पैदायश होती ही रहे, कुल चलेगा, फैलाने बाबा के हैं ये नाती पोते। इन बातों से तत्काल भी क्या मिलता और कुछ पीढ़ी में तो इनका नाम तक भी कोई नहीं जानेगा, जैसे बिना काम, बिना प्रयोजन कोई कहीं सिर पटके ऐसे ही इन समागमों के लगाव ये बिना प्रयोजन ही सिर पटकने की भाँति है। इन में सार कहाँ है? जीव कहाँ है? जीव का शरण स्वयं है अपने आप। सम्हाल सके तो सम्हाल ले, दूसरा साथी न होगा है परमार्थतः कोई साथी नहीं, क्योंकि सब अपने स्वरूप में रहते हैं, उनमें सर्व व्यवस्था है और एक का दूसरा कुछ कर सकता नहीं। तो कहाँ चित्त लगे कि इस जीव को शरण विदित हो? बाहर कहीं कुछ नहीं है। लगता है ऐसा कि अमुक की इस जिले में बड़ी प्रसिद्धि है, देश में प्रसिद्धि है, यह मिनिस्टर है, यह और ऊँचे हैं, ये बड़े आनन्द में हैं। पर है क्या? उनके दुःख को वे ही भोगते हैं। उनकी शंका को वे ही भोगते हैं। एक बार हो गए ऊँचे तो अब सदा के लिए शल्य सी हो गई, आगे भी चुनाव में खड़े होना है, पता नहीं कैसा बीतेगा, क्या होगा? निरन्तर उनको चिन्ता रहती।

**सहज परमात्मतत्त्व की साररूपता व भारण्यता**—यहाँ कौन सुखी है, कौन सारभूत है, कौन पवित्र हो गया? बाहर में कहीं कुछ नहीं है। देखो शरण भीतर विधि पूर्वक ज्ञान की गति करके यह जो मैं सहज स्वरूप चैतन्य मात्र स्वयं अपने आप जो भी भाव हैं, स्वभाव हैं वह मैं हूँ, मैं पराश्रित नहीं। मैं तो वह हूँ जो सहज स्वरूप है चैतन्य मात्र। यह जिसकी दृढ़ता हो गई, जिसका यह अभ्यास बन गया, मुक्ति मार्ग तो उसका है, संकटों से छूटने का तो वह पात्र है और एक वह दृष्टि में नहीं है, अनुभूति में नहीं आया, परिचय में नहीं आया तो सब यहाँ वहाँ भ्रमण जाल है, भटकना है। कहाँ कहाँ भटकता है यह जीव। जो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है वह निज शुद्ध आत्मा की ओर अनुरक्त है जैसे जिसके कठिन इष्ट वियोग हो गया उसका चित्त तो रात दिन उस ही ओर है। खाना भी पड़ता। कोई रिस्तेदार आ गया तो थोड़ी बात भी करनी पड़ती मगर चित्त जो कुछ करता उसमें इसका ध्यान नहीं है जिसका वियोग हुआ है उसका ध्यान है, जिसके बल पर इसने चोट मालूम की है ध्यान उसकी ओर है, ऐसे ही जिसको कोई प्रीतिपात्र मिल जाय, जो परमइष्ट हो, लाभ मिल गया तो उसका भी ध्यान उस ही ओर है। यही विधि सम्यग्दृष्टि की है। चूँकि

उसने यह समझा कि मेरा सर्वस्व यह निज शुद्ध आत्मतत्त्व है, सहज परमात्मतत्त्व है, उसका अपने आप स्वयं में जो स्वरूप है बस वही मेरा शरण है ऐसी जिसकी धुन बनी, उसका आनन्द पाया, स्वादलिया तो कर्मवश कुछ भी स्थितियाँ आयी हैं, चल रही हैं व्यवहार में प्रवृत्ति हो रही है किन्तु ज्ञानी का इनमें से किसी में चित्त नहीं है इसी को कहते हैं कि वह उदास होकर प्रवृत्ति करता है। वह है निज शुद्ध आत्मा की भावना, आराधना, अनुभूति का आनन्द पाने का फल।

**सहजानन्दमय अन्तस्तत्त्व की उपलब्धि होने पर सुगम परिहार**—किसी ने भिखारी से कहा कि तू ये चार-छह दिन की पुरानी रोटियाँ झाले में धरे हैं, इन्हें फेंक दे, मैं तुझे ताजी पूड़ियाँ दूँगा, तो वह नहीं फेंक पाता और उसे ताजी पूड़ी दे दे और कहे कि देख ये रखी हैं तेरे सामने ताजी पूड़ियाँ, तू इन्हें खा ले या ले लेले और इन कई दिनों की बासी रोटियों को फेंक दे तो वह फेंक देता है। ऐसे ही इस जीव को बहुत समझाया जाता कि तू इन विषय सुखों में आसक्त मत हों, ये तेरे ज्ञान बल को मिटाते हैं, तेरे में दुःख का बीज बोते हैं तुझे कष्ट देते हैं, इन वैषयिक सुखों को तू छोड़ दे, पर यह विषयों का भिखारी उन वैषयिक सुखों को छोड़ता कहाँ है? बड़े-बड़े लोग समझाते हैं। हाँ किसी प्रकार इन वैषयिक सुखों से विलक्षण परम सहज वह आनन्द की झलक आये और इसको यह विदित हो जाय कि यह स्थिति है आनन्दमय तो उसको वैषयिक सुखों में फिर मोह नहीं होता, छोड़ देता है, तो अपना काम कोई उपलब्धि करने का है जिसके बल पर हेय चीज छूटती है, वह उपलब्धि है निज शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना माना। मैं सहज परमात्मतत्त्व हूँ शुद्ध सबसे निराला हूँ सदा हूँ, बस केवल आत्म सत्ता में सहज स्वरूप हूँ मैं यही हूँ, मैं दूसरा नहीं हूँ, दूसरा तो यह नैमित्तिक है, भ्रम विकल्प कल्पना ये सब बातें यह जीव नहीं है, यह ही नहीं, मैं तो सहज चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। इस स्वभाव का परिचय पा लेना बस यह ही इस जीवन का सबसे बड़ा पौरुष है, रहेगा कुछ नहीं, वियोग सबका होगा, जिसके पीछे बहुत-बहुत विकल्प किया करते हैं वे कोई मददगार नहीं हैं कोई साथी नहीं है, केवल एक पाप विकल्प से हमारा साथ निभायेगे दुःखी करने के लिए। बाकी कोई चीज हमारे लिए शरण नहीं।

**सहज परमात्मतत्त्व की ओर अभिमुख होना व्यवहार धर्म की प्रयोजकता**—शरण है तो बस एक सहज परमात्मतत्त्व है, दूसरी बात ही नहीं। जो अन्य अन्य काम किए जाते हैं व्यवहार धर्म पूजा वन्दन आदि के वे सब एक इस आराधना के लक्ष्य से किए जाते हैं। इनमें न लगेगा तो क्या कुमार्ग में जायेगा, क्या व्यसनों में जाएगा? भैया जिसको अपने इस शुद्ध अंतस्तत्त्व का परिचय हुआ है वह जिन जिनके प्रकट हुआ उनकी बातें जानता है, सुनता है, तो उनको तो उमंग से देखता है, धन्य हो। सो सब कुछ जो धर्ममार्ग में किया जाता है वह एक निज शुद्ध आत्मा की आराधना के लिए ही है। उनका और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं। यह तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्मतत्त्व में अनुरक्त है।

**सम्यग्दृष्टि की बहिरात्मा व स्थवर्जिता**—सम्यग्दृष्टि और कैसा है? बहिरात्मा की अवस्था से दूर है। बहिरात्मा क्या? बाह्य पदार्थों में आत्म श्रद्धा उनमें अंतस्तत्त्व की श्रद्धा स्वीकारता। वह अवस्था अब इसके यहाँ रही? बहिरात्मा मायने मूढ़। बाहरी पदार्थों में यह मैं हूँ इस प्रकार की जिसके आस्था है उसे कहते हैं बहिरात्मा। तो यह बहिरात्मा की अवस्था से वर्जित है अन्तरात्मा। अपने अन्तःसहज स्वरूप में हूँ यह मैं हूँ ऐसा इसको स्वीकार है, इसी को कहते हैं ज्ञानी। जो जैसा है वह अपने आप में अंतः स्वरूप को जानता है तो यही है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी।

**ज्ञानी को देव, भास्त्र, गुरु का यथार्थ परिचय**—ज्ञानी जानता है कि देव क्या, शास्त्र या धर्म क्या, गुरु क्या? देव वीतराग सर्वज्ञ ऐसा जो आत्मा है, शास्त्र या धर्म जो वीतरागता की शिक्षा दे, राग से हटाये और मुनि याने गुरु निर्ग्रन्थ, निरारम्भ ज्ञान ध्यान तपोनुरक्त। विषयों की आशा से रहित, एक इस निज शुद्ध आत्मा की साधना की धुन में जो भव्य जीव है वह साधु है, देखिये कोई भी काम हो, उसमें उस ढंग के देव, शास्त्र, गुरु का आधार होता है मानो कोई संगीत सीख रहा है तो संगीत सीखने वाले के चित्त में कोई एक विशिष्ट पुरुष जो संगीत में अधिक कुशल हो वह ध्यान में रहता है कि मुझे ऐसा बनना है और फिर पास में तो मिल जाये उस्ताद वगैरह सिखाने वाले वे संगीत के गुरु हैं, क्योंकि जिसको अपना आदर्श माना वह कहाँ उपलब्ध है। वह बड़ा नायक जो भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो वह कहाँ नसीब हैं? उसके तो जो अपने ही गाँव के, मोहल्ले के, आसपास के जो संगीत के जानकार हैं वे गुरु बन गए और फिर संगीत सीखने के जो संकेत हैं, पुस्तक हैं, चिन्ह हैं, सरगम हैं विधान है वही शास्त्र हो गए। तो संगीत सीखने वाले को इस तरह से तीन का काम पड़ा। इस तरह से वह चलता है और जितना सफल होना है हो जाता है। तो धर्म के कारम में तो चलना चाहे—मुझे धर्म मूर्ति बनना है, धर्मविकास स्वरूप सहज स्वरूप प्रकट होवे ऐसी जिसकी भावना है उसके लिए देव, शास्त्र, गुरु कौन कहलायेंगे? जिसके धर्म विकास हो चुका है, जिसको आदर्श समझा एक मन में बात आयी है कि मुझे यह होना है, ऐसी उत्कृष्टता का जिसके प्रतिबोध आया उसे कहते हैं देव और गुरु कौन? जो ऐसा कार्य करने में लगे हैं, जैसा कि आदर्श देव है वैसे ही मार्ग में जो लगे हों साधना कर रहे हों वे गुरु हैं, वे उपलब्ध हो जाते, मिल भी जाते, उनसे हमको एक साक्षात् चर्चा वार्ता, उमंग, प्रेरणा, उपदेश सर्व कुछ प्राप्त हो सकते। और आदर्श जो देव है वह कहाँ मिलते हैं मगर उसका स्वरूप जाना है और ऐसी स्थिति में ही जीव का कल्याण है, यह ज्ञानी ने समझा है तो ये ज्ञानीजन जिन, मुनि और धर्म को समझते हैं अथवा कहो इसी शब्द का द्वितीय अर्थ कि वीतराग मुनि धर्म को, उस प्रवृत्ति को, उस चारित्र को जानते हैं उस गली को समझते हैं जो अपने आप में हैं।

**सदृष्टि की दुःख रहितता**—ज्ञानी ज्ञान से चलता है, ज्ञान ही गली है, ज्ञान ही पाया जाएगा, यह सब उसकी समझ में स्पष्ट हैं, ऐसा जो सदृष्टि है वह दुःख रहित है। दुःख किसे हैं? जो बाह्य वस्तुओं में अपना लगाव करता है उसे है दुःख और जिसने कृतकृत्यता का स्वरूप समझ लिया कि मेरे को बाह्य पदार्थों में करने को है ही क्या। कुछ किया ही नहीं जा सकता है ऐसा अपने को कृतार्थ स्वरूप कृतकृत्य स्वरूप मान लिया वह पुरुष दुःख से दूर है, यह जीव बाह्य पदार्थों के बारे में विकल्प ही तो किया करता है कि बाह्य पदार्थों का भी कुछ कर पाता? और साथ ही इन विकल्पों में ऐसा प्रभाव है कि यह कष्ट पाता है। दूसरा क्या करता? कोई देहाती आदमी तो कभी कचहरी न गया हो और जाना पड़े कचहरी, और सुन रखा कि बड़ी कठिन होती है कचहरी वहाँ ऐसे ऐसे बड़े लोग होते बड़ा प्रबंध होता, बड़े बुद्धिमान लोग वहाँ होते हैं एक डरावनी जैसी बात सुन रखी तो जब वह वहाँ जाता है तो उसका दिल घबड़ाता है, उसके हाथ पैर काँपते हैं या जो जो भी और बातें कह लो तो उसको कोई दूसरा करने आया क्या? वह सब किसका प्रभाव है? खुद में जो विकल्प बने खुद की जो कल्पना है, खुद की जो बात है, उसका ही यह प्रभाव है कि जिससे वह काँप रहा, डर रहा, दुःखी हो रहा, बाकी तो अनेक लोग जज, वकील, क्लर्क वगैरह वहाँ खूग आ जा रहे पर उनको किसी को डर नहीं। तो जिसके अन्दर कुछ डरावनी बात संकल्प की विकल्प की पड़ी है कुछ उसकी ही तो बात बनी कष्ट की ऐसी, तो ऐसी ही समझिये कि जिस अज्ञानी के चित्त में सभी अज्ञानियों के चित्त में बाह्य पदार्थों

के प्रति सम्बन्ध का विकल्प बन रहा कि ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, मैं ही यों कर दूँगा और इससे ही मेरा महत्व है मेरा यों घर बन गया, यों वैभव बन गया, यों इज्जत बन गई तो इसमें ही मेरी महिमा है ऐसा जिसने सम्बन्ध जोड़ा है उसको सुख का मार्ग न मिलेगा। अनेक शल्य, अनेक विकल्प, अनेक बाधाएँ जिनका वह कष्ट ही कष्ट मानता रहेगा। कुछ अपने आप पर करुणा करके थोड़ा तो कुछ निहारना चाहिए अपने आनंद का उपाय बनाना चाहिये।

**बाह्यार्थ विशय के उद्भूत विकल्पों की अनर्थकारिता—** बाह्य में जो जितने भी जीव हैं, जितना भी जो कुछ संग हैं वह इस जीव से अत्यन्त भिन्न है। गृहस्थ हैं तो धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों का पालन करना होता है, लगे हैं बात है सब मगर वही सर्वस्व है और उस ही में मेरी महिमा है, उस ही से जीवन है, ऐसा जो अपने को मानता है उसे पद-पद पर क्लेश होता है। तो ज्ञानी जीव दुःखी नहीं है क्योंकि उनका निर्णय है कि यह मैं हूँ, पूरा हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, यह ही लोक यह ही परलोक, यही मेरा सर्वस्व है, यहीं मैं रहता हूँ, इसे कोई दूसरा छोड़ता नहीं और यह मैं नहीं बाहर कहीं, इनते में ही मेरा सर्वस्व है, बाहर मैं कुछ नहीं करता, कुछ सम्बन्ध नहीं। जो हो सो हो, वह मेरा क्या, तो ऐसी ही कृतकृत्यता उन ज्ञानियों के चित्त में हैं इस कारण वे दुःख रहित होते हैं। यहाँ भी अनेक प्रकार के मनुष्य दिखते हैं। चाहे वे ज्ञानी भी नहीं फिर भी जो यह भेद नजर आता कि यह ज्यादा दुःखी, यह कम दुःखी, यह कम दुःखी, यह और कम दुःखी, चर्चा भी अधिक नहीं जानता फिर भी किसी में धीरता, गम्भीरता, उपेक्षा, क्षमाशीलता हो गई ऐसे भी कई पुरुष पाये जाते हैं, तो वे दुःखी कम हैं और कितने ही लोग ऐसे कि जिन्होंने यह समझ रखा कि यह संसार तो मेरे पर ही टिका है, मैं करूँगा तो होवेगा, मेरे बिना कुछ न होगा, सारी जिम्मेदारी मुझ पर है तो वह दुःख पायगा। गृहस्थी में रहते हुए जिसका यह ध्यान है कि ये परिवार के लोग ये मेरे बल पर ही तो खा पाते हैं मैं करूँ तो इनका गुजारा हो, मेरे पर सारा बोझ, मैं ही इनका ईश्वर, मेरे से ही ये सुखी हो सकते हैं ऐसा जिसको प्रेम है। वहाँ दृष्टि है, वहाँ कष्ट ही तो मिल रहा। बात तो सबकी चलेगी मगर जो लोग ऐसा ध्यान रखते हैं कि जितने घर में लोग हैं ये जीव हैं, इनके साथ कर्म हैं, इनके उदय के अनुसार इनकी सांसारिक स्थितियाँ हैं। इनका सुख दुःख इनके कर्मोदयाधीन है इनके विचाराधीन है, उनको मैं कुछ नहीं करता और प्रकट बात है अगर बच्चों और स्त्री का तेज पुण्य न हो तो यह मनुष्य नौकर की तरह क्यों अधिक परिश्रम करता?

**व्यर्थ अनर्थ विकल्पजाल को त्याग कर सहजसिद्ध परमात्म स्वरूपमें अनुरक्त होने का संदे—** भैया प्रकट तो सिद्ध है कि उनका पुण्य ज्यादा है जिनके लिए हम पद-पद पर कष्ट करके हैरान होते रहते हैं और फिर भी यह बुद्धि रखते हैं कि मैं खिल्लाऊं तो इन्हें खाना मिलेगा मैं इनको सम्हलाऊं तो ये ठीक रह पायेंगे। इन विकल्पों को अनर्थकारी कहा गया है। लोग ऐसा सोचते हैं कि मैं इनको बड़ा सुखी कर दूँगा लेकिन उनका उदय खराब है, कोई रोग लग गया, कोई बाधा हो गई, कुछ भी हो गया, उनका उनमें चल रहा और यह सोच रहा कि मैं इनको सुखी करूँगा तो इसके सोचने से हो गए क्या सुखी? अरे सब जीव अपने अपने कर्मोदय से यहाँ सुखी दुःखी होते हैं, ऐसा स्पष्ट समझाया, और हे जीव फिर तू क्यों उनको सुखी दुःखी करने का विकल्प करता। मैं इसको सुखी करूँगा इसको दुःखी करूँगा, हैरान कर दूँगा, क्यों व्यर्थ के विकल्प करता? दूसरों को तू क्या कर सकता है? इसको कहा है अनर्थक्रियकारी, स्वार्थ क्रियाकारी नहीं। ये व्यर्थ के विकल्प तो किसी समय एक बार तो 24 घंटे में ऐसा ध्यान जाना चाहिए कि यदि मैं अपना उद्धार न बना सकूँ, मैं अपने ज्ञानस्वरूप को निखारकर उसमें मग्न होने

का अमृत न पी सकूँ तो फिर मेरा जीवन किसलिए है। यह काम तो नितान्त आवश्यक है। बाकी काम जैसे घर को सजाना, खासा काम कर लिया और काम पड़े रहें होते रहेंगे जैसे चाहे पड़े हैं तो किसी मुख्य काम पर दृष्टि होती है जिसके बिना गुजारा नहीं चलता है तो ऐसे ही इस जीव को शुद्ध आत्मा की अनुरक्ति बिना काम नहीं चलता कहीं भी चित्त लगा दो उससे इस जीव का भला नहीं होने का। दुःख ही पायेगा। तो यह सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्मा में अनुरक्त है बहिरात्मापन की अवस्था से दूर है, आत्मा में अनुरक्त है, देव, शास्त्र, गुरु की ठीक पहिचान है अपने आपके उद्धार के मार्ग का सही परिचय है। बाह्य पदार्थों में लगाव है नहीं इस कारण से यह जीव दुःख से रहित है। अपने को भी दुःख रहित होना है तो एक ही बात करें क्या कि अपने सहज स्वरूप पहिचानें और उस ही की गोद में बसे रहें ज्ञान उस ही में बना रहे जितना बन सके यही काम करें तो हम लोगों के उद्धार का उपाय मिलेगा।

**सम्यग्दृष्टि का प्रथम परिचय**—सम्यग्दृष्टि कौन होता है, यह बात इस गाथा में कही गई है। चूँकि सम्यग्दर्शन बिना श्रावकव्रत नहीं हो सकता, देशविरज गुणस्थान सम्यक्त्व बिना बनता, इस कारण सम्यक्त्व की बात पहले कही जा रही है। इस रयणसार में श्रावकों के धर्मका वर्णन है और श्री अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस ग्रन्थ को रचा है। तो जितने भी श्रावक हैं सही मायने में करणानुयोग के अनुसार वे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। तो सम्यग्दृष्टि की पहिचान क्या है, सम्यग्दृष्टि कौन जीव होता है उसका थोड़ा विवरण इस गाथा में है। जो अपने शुद्ध आत्मा में अनुरक्त हो वह सम्यग्दृष्टि होता है। शुद्ध आत्मा के मायने अपने आपका सहज स्वरूप याने केवल आत्मा ही आत्मा हो, उसके साथ अन्य द्रव्य का संयोग न हो तो स्वयं यह किस रूप में रहेगा, वह स्थिति स्वभाव की पहिचान कराती है। वह स्वभाव तो सदैव रहता है। चाहे संसार के जीव हों चाहे मुक्त जीव हों, चाहे एकेन्द्रिय हों, चाहे अरहंत भगवान हों, स्वभाव तो जब जीवों में शाश्वत है मगर पर्याय का अन्तर होता है। स्वभाव चैतन्यस्वरूप होने पर भी संसारी जीवों में तो विकार की परिणति है, औपाधिक परिणति है, मुक्त जीवों में स्वाभाविक परिणति है, पर स्वभाव तो सब में एक समान है। अगर स्वभाव में फर्क होवे कि संसारी जीवों के आत्मा का स्वभाव अन्य है तो एक कहावत चलती है कि जिसका जौन स्वभाव जाय नहीं जीसो..... जिसका जो स्वभाव होता है वह कभी मिटता नहीं है। वही रहता है यदि संसारी जीवों का विकारी रहने का या दुःखी रहने का स्वभाव हो तो तीन काल में कभी भी विकार और दुःख मिट नहीं सकतें तो इस समय विकृत अवस्था में हैं संसारी जीव, लेकिन स्वभाव तो उनका एक चैतन्य मात्र है। अपने स्वभाव पर दृष्टि जाय कि मैं चित् स्वभावमात्र हूँ। इस ही के आलम्बन से मोक्षमार्ग बनता है।

**किसके आश्रय से मोक्ष मार्ग में प्रगति होती है?**—भैया, यदि निजशुद्धात्मत्व रति से प्रगति न मानो जो जब एक समस्या रख दी जायेगी कि बतलाओ परका आलम्बन लेने से तो आत्मा की शुद्ध परिणति होती नहीं तो शुद्ध तो हैं अरहंत और सिद्ध भगवान लेकिन वे पर हैं, स्व नहीं हैं और यह मैं आत्मा और हूँ, अरहंत और सिद्ध भगवान का आत्मा और है। शुद्ध हैं वे जरूर मगर परके आलम्बन से विशुद्धि नहीं बढ़ती, अनुभूति नहीं जगती। याने अरहंत भगवान और सिद्ध भगवान, इनको बाहर में निरखकर उनका आश्रय, आलम्बन लेकर मोक्षमार्ग में न बढ़ेगा जीव। इस बात को सुनने में जरा कुछ अचक हो रही होगी, पर अचक यों नहीं है कि भगवान के आश्रय से शुद्धोपयोग तो नहीं होता, मगर भगवान के स्वरूप को निरखकर अपने स्वभाव की सुध हो जाती है और इसीलिए प्रभुभक्ति की जाती है कहीं ऐसा नहीं है कि जैसे लौकिकजन कहते हैं कि प्रभु को प्रसन्न कर लो तो दुःख

दूर हो जायगा और सुख मिलेगा, ऐसा यहाँ जैन शासन में नहीं बनता। प्रभु किसी पर प्रसन्न नहीं होते और न क्रुद्ध होते हैं। वे तो अपने आनन्द में लीन हैं जैसे बोलते हैं ना, “सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन” प्रभु वीतराग सर्वज्ञदेव समस्त ज्ञेय के जाननहार हैं पर अपने आनन्दरस में लीन हैं। वे किसी पर क्रोध नहीं करते किसी पर प्रेम नहीं करते। तो वे तो हमें सुख देने आयेंगे नहीं, वे तो मुक्ति देने आयेंगे नहीं, वे अपनी ही परिणति में रहेंगे। और यहाँ ये हैं हमारे अधिकारी अरहंत, ये हैं हमारे स्वामी सिद्ध, इनका ही आश्रय करने से मुक्ति मिलेगी। तो प्रथम मो अंतस्तत्त्व नहीं समझा अतएव अज्ञान है। दूसरे—परकी ओर बुद्धि जगने से पुण्यबंध होगा और वह निर्वाण का परम्परा कारण भी बनेगा, मगर साक्षात् शुद्ध परिणति नहीं बनती। फिर उपयोग है प्रभुभक्ति का। उपयोग यह है कि प्रभु एक आदर्श है, पूज्य श्री अमृतचन्छ सूरि ने कहा है कि ये प्रभु प्रतिबिम्ब के समान हैं। दर्पण के समान हैं। जैसे—दर्पण को निरखने पर अपनी मूर्ति का दर्शन हो जाता है ऐसे ही प्रभु के गुणों को निरखने से अपने आत्मा के स्वभाव की सुध हो जाती है और प्रभु की निष्कपट भक्ति करने से भीतर में आत्मस्वभाव का स्पर्श होता रहता है, इसके कारण एक अलौकिक आल्हाद जगता है, जिस आल्हाद में भव-भव के कर्मबन्धन काटने का सामर्थ्य है। इसलिए प्रभुभक्ति का उपयोग तो अच्छा है, करते ही हैं। उसके किए बिना गुजारा भी न चलेगा, मगर तथ्य यह है कि प्रभुभक्ति करते समय भी जितने अंश में अपने आत्मा का स्पर्श होता है उतने अंश में शुद्धि बढ़ती रहती है। आत्मा का आश्रय हुए बिना प्रभुभक्ति में विशुद्धि न बढ़ेगी, शुद्धि न बढ़ेगी। पुण्याश्रव होगा मगर शुद्धोपयोग न होगा तो एक समस्या सामने आती है कि भगवान के आश्रय से तो शुद्ध परिणति हुई नहीं क्योंकि वे प्रभु हैं, और स्वयं हैं वे शुद्ध, अशुद्ध हैं नहीं। किन्तु है तो परद्रव्य। निश्चयतः परका आश्रय करना भी अशक्य है। और अपने को देखो इस समय आत्मा अशुद्ध है, और अशुद्ध आत्मा का आलम्बन लेने से मुक्ति होती नहीं है तो मुक्ति का मार्ग फिर कैसे मिलेगा? परके आलम्बन से मुक्ति नहीं, अपने अशुद्ध पर्याय के आलम्बन से मुक्ति नहीं, फिर मोक्षमार्ग का प्रारम्भ कहाँ से हो? तो उसका उत्तर है यह कि अपना जो स्वभाव है चैतन्यमात्र उस स्वभाव के आलम्बन से मोक्षमार्ग होता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

**अनुभूयमान आत्म स्वभाव**—वह आत्मस्वभाव क्या है? जिसके आश्रय से मोक्षमार्ग में प्रगति होती है? सुनो जैसे दर्पण में घटित करो कि दर्पण में प्रतिबिम्ब आया है, सामने लेकर बोलो चीज का वहाँ प्रतिबिम्ब आया है या नहीं, आया है, मगर दर्पण का स्वरूप स्वभाव क्या है? वह प्रतिबिम्ब होना स्वभाव है क्या? दर्पण में निज में अपने आप अकेले ही अकेले जो चकमकाहट है, चकचकाहट है, स्वच्छता है, झिलझिलाहट है वह है दर्पण का स्वरूप और उस ही स्वरूप के कारण मानो प्रतिबिम्ब वहाँ आया है। प्रतिबिम्ब स्वरूप नहीं है किन्तु वह झिलझिलाहट स्वरूप है, ऐसे ही अपने आत्मा का यह प्रतिबिम्ब विविध ज्ञान या विकार या विचार, यह स्वरूप नहीं है, इस चैतन्यमात्र आत्मा में एक भी विकल्प नहीं, उसका स्वभाव केवल एक प्रतिभास स्वरूप है। उसका स्वभाव उससे बाहर कहीं गया नहीं है। यद्यपि उसमें विषय कषाय के परिणाम भी बन रहे हैं, विकृत हो गया है फिर भी उसका स्वभाव कहीं गया नहीं है। उसका स्वभाव अपने आत्मा में है। तो ऐसे अपने आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप हैं उसमें जो अनुरक्त है वह है सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि को बाहर में किसी भी जगह प्रतीति नहीं होती, हितरूप से विश्वास नहीं होता कि यह कुटुम्ब, यह दुकान, यह वैभव, यह समागम मेरा भला कर देगा, मेरा उद्धार कर देगा। उसका एक यह स्पष्ट निर्णय रहता है, कि मेरे आत्मा का उद्धार मेरे शुद्ध अंतस्तत्त्व का आलम्बन ही कर सकेगा। और, इस कार्य के लिए साधक है प्रभुभक्ति। प्रभुभक्ति में भी इतना अतिशय है कि वह बाहर के



सब ख्यालातों को हटा देती है और चूँकि वे प्रभु विकसित स्वभाव लो हैं याने जो उनका चैतन्यस्वरूप है वही प्रकट हुआ है और उस चैतन्य स्वभाव वाले को यह देख रहा है। तो जैसे दर्पण के सामने एक दर्पण और आ जाय तो उस दूसरे दर्पण का प्रतिबिम्ब भी तो आयगा उस दर्पण में। जो भी लाल, पीली चीज धरी हो उसके सामने, उसका फोटो आता है इस दर्पण में, और अगर उस दर्पण के सामने एक दर्पण और रख दिया जाय तो उस दर्पण का फोटो न आयगा क्या? आयगा, मग रवह एकतान हो जाता है। उसका अलग से परिचय नहीं हो पाता, क्योंकि वह समान है। समान का समान में प्रतिबिम्ब है। तो ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष अपने आप के उस चैतन्य स्वरूप के दर्शन में अपने को रखता है। उसको अभ्यास है कि वह अपने सही स्वरूप के पहिचान का अभ्यास बनाये रखे। ऐसा ज्ञानी पुरुष जब उस शुद्ध स्वभाव को निरख रहा है प्रभु में तो वहाँ एकतान हो जाता है। उपयोग के नाते से नहीं तक रहा वह, स्वरूप के नाते से तक रहा है। तो जैसे दर्पण में दर्पण का फोटो एक विलीन हो जाता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष का उपयोग प्रभु के स्वरूप को निरखते निरखते विलीन हो जाता है 'अपने आप में ही' तो सम्यग्दृष्टि का परिचय दिया है इस गाथा में कि जो ज्ञानी पुरुष है वह अपने शुद्ध आत्मा में अनुरक्त है। सम्यग्दृष्टि बहिर्मुखी अवस्था से दूर है। उपयोग बाहर को जाय, ऐसी स्थिति ज्ञानी की नहीं होती। जाता है उपयोग, अन्य काम भी करना है, मगर वह बाहर में टिक नहीं पाता। परिस्थिति के कारण जाना पड़ता है। जैसे कोई ज्ञानी गृहस्थ है तो कमाये बिना, परिवार से अच्छा बोले बिना, पड़ोसियों से अनुराग बनाये बिना गुजारा तो नहीं होता, सो करता है। करते हुए भी यह जानता है कि मेरे आत्मा का उत्थान इन किन्हीं भी बातों से नहीं होने का। मैं अपने स्वरूप को जानूँ, और अपने स्वरूप में ही मग्न होऊँ। बस इस अन्तः क्रिया से मैं निराकुल हो सकूँगा। तो सम्यग्दृष्टि का बाहर में अवस्थान नहीं होता। दूसरी पहिचान उसकी यह है।

**सम्यग्दृष्टि का तृतीय और चतुर्थ परिचय**—तीसरी बात—वह वीतराग साधु धर्म को ही चाहता है, उसकी ही सराहना करता है। धर्म तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है और इसकी मूर्ति साधु पुरुष है। तो जिन मुनिका, वीतराग मुनिका जो धर्म है उसका यह अनुमोदता है। यह ही मेरे को प्राप्त हो। मैं अन्य कुछ नहीं चाहता। तीसरी पहिचान सम्यग्दृष्टि की यह है और, चौथी पहिचान यह है कि वह दुःख से अलग रहता है। किसी भी परिस्थिति में ज्ञानी पुरुष अपने को दुःखी अनुभव नहीं करता, क्योंकि दुःख तो अज्ञान का था, वह अब रहा नहीं। अब बाहर में जिस पदार्थ का संयोग मिला है वह रहा नहीं। बाहरी पदार्थ कैसा ही परिणमे, वह जानता है कि यह बाहरी पदार्थ की परिणति है, इस पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, कुछ करतूत नहीं, कुछ सम्बंध नहीं। ये पदार्थ कैसा ही परिणमे, उससे मेरे को कोई हानि या कोई लाभ नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी निर्मलता को तो लाभ समझता है और अपने परिणामों की मलिनता को अपनी हानि समझता है। जिसका अज्ञान पर्याय दूर हो गया उसको अब दुःख किस बात का रहा? बाहर में कुछ भी गुजरे, वह जानता है कि ये सब बाहरी तत्त्व हैं, उनसे मेरे में कोई हानि लाभ नहीं होता। तो जो ज्ञानी पुरुष है वह दुःखरहित होता है। इस तरह सम्यग्दृष्टि का थोड़ा परिचय दिया है कि ऐसा जीव श्रावक व्रत का अधिकारी होता है और जो श्रावकव्रत पालेता वह सद्गति पाता है और निकट काल में वह मनुष्यभव पाकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

**सम्यक्त्व लाभ के पौरुश का अनुरोध**—भैया, सम्यक्त्व एक ऐसा वैभव है कि इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यदि अपने इस सम्यक्त्व प्रकाश को न पा सके तो जिन्दगी भर जो कुछ कर रहे हैं लोग, परिग्रह (धन) सम्बंधी कार्य उससे इनका क्या पूरा पड़ेगा? मरणकाल आता है, सब छोड़कर जाना पड़ता है। यहाँ का संयोग इस जीव को क्या मदद

करने वाला है? यह तो एक परिचित जीवों का समागम मिला है। चाहे वह स्त्री हो, पुत्र हो, सब एक दूसरे से अपरिचित हैं। एक कल्पना भर बना रखी है, पर अपना मानने से कहीं वे अपने हो सकते हैं। वस्तु का स्वरूप है, उनकी उनमें सत्ता है, वे खुद खुद में रहते हैं, मानने से क्या फर्क पड़ता? वस्तु तो जैसी है वैसी ही रहेगी। तो इन समागमों में आशक्ति रखने से इस मनुष्य जन्म का बहुत बड़ा दुरुपयोग है। यहाँ तो केवल एक ही भावना रहे कि मेरे को मेरे भगवान आत्मा का स्वरूप दृष्टि में आये। मैं यह हूँ, बस उस के सारे दुःख दूर हो जाते हैं। तो सम्यग्दृष्टि की पहिचान में इस गाथा में कुछ ये लक्षण बताये हैं, शेष आगे कहेंगे।

**मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं ।**

**जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सदिदट्ठी ।। 7 ।।**

**सम्यग्दृष्टि के ज्ञानमद का अभाव—** सम्यग्दृष्टि कौन होता है, इसका वर्णन कल विधि रूप से कहा गया था कि जो जीव निज धर्म में अनुरक्त हो, निज शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रेमी हो, वीतरागधर्म को मानता हो, दुःख रहित हो, ऐसा सम्यग्दृष्टि का परिचय है। अब इस गाथा में निषेधमुखेन कह रहे हैं कि जिसमें ये 44 दोष न हों, ऐसा सम्यग्दृष्टि होता है। 8 मद, मद नाम है घमंडका। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को मद नहीं होता। मद तो पर्याय बुद्धि में होता है। जिसने माना शरीर को कि यह मैं हूँ दूसरों के शरीर को माना कि ये और (अन्य) लोग है। शरीर में आत्मबुद्धि होते ही यह अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है और दूसरों को तुच्छ, हल्का, लघु मानने लगता है। पर्याय बुद्धि में ऐसी ही बात हुआ करती है। 8 सहारे होते हैं घमंड करने के। उन सहारों से यह अज्ञानी घमंड करता है। समंत भद्राचार्य ने कहा है कि “ज्ञानं पूजा कलं जतिर्बलमृद्धिं तपो वपुः, अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः” 8 प्रकार के मद बताये हैं। (1) ज्ञानमद—ज्ञान हो गया, कुछ बोलने की कला आ गई, कुछ समझने की बात आ गई तो उस ज्ञान का मद करना। मैं बहुत समझदार हूँ, मेरे को बहुत ज्ञान है....., उस ज्ञान पर से घमंड आता है। उस अज्ञानी को यह पता नहीं कि आत्मा स्वयं सहज ज्ञानस्वभावमय है और उसका स्वभाव यदि प्रकट हो तो तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ बिना ही चाहे विवश होकर झलकते ही हैं। प्रेमयत्त्व गुण है, सर्व द्रव्यों में पाया जाता है, जिसका अर्थ है कि इस गुण के प्रताप से पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं। जो भी सत् हैं उन सबको केवल ज्ञान में झलकना ही होता है, इतना महान ज्ञानस्वरूप है। उसके आगे मनः पर्याय ज्ञान तक भी अवधिज्ञान तक भी न कुछ चीज है, पर यह अज्ञानी कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके उसका मद किया करता है। ज्ञानमद सम्यग्दृष्टि में नहीं होता, क्योंकि उसकी स्वभावपर दृष्टि है और स्वभाव विकास की ही धुन है, और विकास का भी पता है, परन्तु वह ऐसे अल्पज्ञान में रम नहीं जाता।

**सम्यग्दृष्टि के पूजामद कुलमद व जातिमद का अभाव—**(2) पूजामद—कुछ बड़ा ही गया, लोक में कुछ प्रसिद्धि हो गई, कुछ लोग मानने लगे, कुछ लोगों से आदर सम्मान मिलने लगा तो उसका ही एक मद हो जाता कि मैं बहुत उत्कृष्ट हूँ, मेरा जगह जगह बड़ा सम्मान होता है, स्वागत होता है, लोग मेरी बड़ी कीर्ति गाते हैं। जो मैं करता हूँ सो लोगों को मानना पड़ता है...आदिक अनेक प्रकार से अपने ऐश्वर्य का मद हो जाता है, यह है पूजामद। ज्ञानी जीव में यह बात नहीं होती। वह तो इस संसार पर्याय को तुच्छ गिर रहा है। इस भवको दृष्टि में लेकर घमंड कर ही कहाँ सकेगा? ज्ञानी जीव पूजामद से रहित होता है। (3) कुलमद—यह मद भी अज्ञानियों को सताया करता है। मेरे बाबा ऐसे थे, बड़े ऊँचे धर्मात्मा थे, बड़े धनिक थे। कदाचित यह गरीब भी हो जाय तो यह अपने पिता या बाबा के धनिकपने की प्रशंसा करके अपनी प्रशंसा समझता है। (4) जातिमदकुल में

अज्ञानियों को जातिमद भी हुआ करता है। मेरी माँ बड़े कुल की उत्पन्न हुई है, मेरे मामा राजा हैं मेरे नाना, मामा ये सब बड़ी महिमा वाले हैं। इस तरह उनका सहारा लेकर भी अपने आप में मद उत्पन्न करता है। सबका मूल है पर्यायबुद्धि। जब शरीर को माना कि यह मैं आत्मा हूँ तो उसमें सारे ऐब आ जाया करते हैं। उन ऐबों की जड़ मिटा दी जाय अर्थात् मोह, अज्ञान, पर्यायबुद्धि खतम कर दी जाय तो सारे ऐब दूर हो जाते हैं।

**सम्यग्दृष्टि के बलमद व ऐश्वर्यमद का अभाव—(5)** बलमद—शरीर के बलका मद करना, बड़े भी करते, बच्चे भी करते। कोई बच्चा अगर शरीर से पुष्ट है, बल है उसके अन्दर तो वह अनेक बच्चों को सताया करता है जिस चाहे बच्चे को वह पीटता है, मारता है। वह बड़ी उद्वण्डता करता है और अपने बल के घमंड पर वह इतराता है। ये सभी मद पापकर्म का बंध करते हैं, और जो जैसा करता है उसका फल उसको भोगना पड़ता है। कर्मों को काटने के लिए एक बड़ा भारी पौरुष चाहिए, वह हर एक से नहीं बनता, किन्तु जो मोक्षमार्गी है। मोक्षमार्ग में बढ़ रहे हैं वे ही निज सहज स्वभाव की आराधना के बल से उन कर्मों को काट सकते हैं, पर जनसाधारण, जीव साधारण तो जैसा करते हैं, वैसा ही फल उन्हें भोगना पड़ता है। भले ही आज न मालूम पड़े के मैं पाप करता हूँ, अन्याय करता हूँ, फिर भी कुछ दुष्प्रभाव नहीं पड़ रहा, लोग बराबर ज्यों का त्यों आदर करते हैं। किसी को पता भी नहीं होता है, मगर कार्यविधि तो इस जीव के साथ विस्त्रसोपचयकी अनन्त लगी हुई है, जहाँ इस जीव ने दुर्भाव किया, कषाय किया, खोंटे भाव किया, मायाचार किया उस ही समय कार्याण वर्गणायें कर्णरूप बन जाती हैं, इससे बढ़कर और दण्ड क्या होगा? जो लोग ऐसा सोचा करते हैं कि मेरे इस चरित्र को कोई नहीं जानता, मैं अन्याय करूँ, कुछ करूँ, पर उन बेचारों को यह पता नहीं कि प्रति समय भावानुसार अनन्त कर्मों का बन्ध चल रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव के किसी भी प्रकार का मद नहीं होता। बल पाया है मगर उसका उपयोग सम्यग्दृष्टि जीव करता है दूसरों की रक्षा करने में, दूसरों का उपकार करने में, न कि दूसरों को सताने में। (6) ऐश्वर्यमद—एक होता है ऐश्वर्यमद। कुछ वैभव पाया हो या किसी प्रकार का ऐश्वर्य पाया हो तो उसका मद हो जाता है। धन सम्पदा का नाम क्या रखा है? लोगों ने? दौलत। दौ कहते हैं दो (2) को और लत कहते हैं लात को। इस वैभव लक्ष्मी के दो लाते हैं—एक तो जब यह लक्ष्मी आती है तब छाती पर लात मारती है जिससे वह पुरुष अकड़ जाता है। छाती आगे फैलाकर चलता है घमंड में। दूसरे—जब यह लक्ष्मी जाती है तो पीठ पर लात मारकर जाती है। उसे बस नीचा (अधोमुख) रहना पड़ता है। और, यह धन वैभव इस आत्मा के लिए क्या वस्तु है? अज्ञानी जन ही इसका आदर करते हैं। ज्ञानी जानता है कि मेरा सर्वस्व आधार मेरा ही स्वरूप है। अपने स्वरूप में रुचि हो, अनुरक्ति हो, यहाँ ही संतोष करें तो इससे कर्म कटते हैं, मुक्ति मिलती है। और उसका आनन्द वह जानता है पर अज्ञानी तो इन बाहरी रूप रंगों पर, वैभवों पर आशक्त हैं। ज्ञानी को कैसी ही सम्पदा, कैसा ही ऐश्वर्य, कैसा ही राज्यपाट मिला हो, उसको मद नहीं होता।

**सम्यग्दृष्टि के तपोमद व रूपमद का अभाव—(7)** तपोमद—अज्ञानी जनों को तपोमद भी सताया करता है। लोगों को तपश्चरण दिखे—अरे ऐसा तप कर रहा और उस तपश्चरण के कारण लोगों के बीच अपने में एक अभिमान सा बना रहता कि मैं एक तपस्वी हूँ। लोग तपस्वी नाम लेकर गुण गाये तो इसके मन में बड़ा हर्ष होता है। तप के प्रति उसका अभिमान है। ज्ञानी जीव के तप का मद नहीं होता। ज्ञानी जीव के सहज तप हुआ करता है, क्योंकि उसके धैर्य है। वह अपने मार्ग में सही चल रहा है और वहाँ यदि कोई आपत्तियाँ आये तो उनको समता से सहता है। (8) रूपमद—शरीर का मद। रूप क्या

चीज है? अगर मान लो शरीर का चाम पीला है तो क्या उसमें दुर्गन्ध नहीं आती? उसमें पसीना नहीं आता क्या? उसमें कौन सा गुण आ गया है? सारा शरीर अपवित्र है। रूप का मद ज्ञानी पुरुष को नहीं होता और न ज्ञानी पुरुष रूप पर अनुरक्त होता है। ऐसे 8 मद जिसके न हों, ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है।

**सम्यग्दृष्टि के तीनों मूढ़तावों का अभाव**—तीन मूढ़तायें भी सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं हैं (1) देवमूढ़ता (2) लोकमूढ़ता और (3) पाखण्ड मूढ़ता। जो देव नहीं है, स्वार्थवश राग द्वेषी अनेक ऐसे अटपट चरित्र वाले देवों की बात सुनकर एक उमंग आना, उनके प्रति रुचि होना, आशक्ति होना, उनकी मान्यता करना यह सब देवमूढ़ता है। ज्ञानी पुरुष का देव एक ही है—अविकार ब्रह्म, दूसरा देव नहीं। णमोकार मंत्र में जो पंच परमेष्ठियों का वंदन है सो वहाँ 5 का वंदन नहीं, केवल एक अविकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप का वर्णन है। किसी में वह कम विकसित है किसी में अधिक और किसी में पूर्ण विकसित है। केवल एक ही तत्त्व का वर्णन है, पर अज्ञानी जीव तो कितने ही देवता मानते हैं नाना रूपों में और उनकी आराधना करते हैं। उनकी आराधना करके अपनी मनोकामनायें पूर्ण करने में अपने जीवन की सफलता समझते हैं। ज्ञानी जीव में देवमूढ़ता नहीं होती और न कभी किसी कामना से, किसी सांसारिक इच्छा से देवपूजा भी करता, क्योंकि उसे कुछ चाहिए ही नहीं। पुण्योदय है तो बिना चाहे भी आता है और आकर भी नहीं चाहता, और पुण्योदय नहीं है तो पास में मिली हुई सम्पदा भी दूर हो जाती है। ज्ञानी जीव के देवमूढ़ता नहीं अब गुरुमूढ़ता कहो या पाखण्ड मूढ़ता कहो—ऐसे सन्यासी जिनका आचार विचार सही नहीं उन्हें गुरु समझकर उनकी पूजा आराधना करना यह पाखण्ड मूढ़ता है। लोकमूढ़ता तो दुनिया में बड़ी विचित्र है। न जाने किस किसको धर्म मान लिया है। कहीं कोई नदी में नहा लिया, कहीं किसी पर्वत से गिर लिया, तो उससे समझ लिया कि हम तर गए, हमें वैकुण्ठ मिल गया। कहीं रास्ते में चलते फिरते में कोई पत्थर दिख गया तो उसी को अपना देवता समझ लिया, उसी जगह कोई पत्थर उठाकर डाल दिया, अन्य मुसाफिर वहाँ से निकले तो उन्होंने भी एक-एक पत्थर उस जगह डाल दिया, बस उसे अपना देवता मानकर उसकी पूजा आराधना करके उससे अपनी मनोकामनायें पूर्ण करते हैं। जरा भी कोई कष्ट हुआ तो वे समझते कि मेरे इस कष्ट को यह देवता मिटायेगा। रोग के नाम पर भी देवता का नाम रख देते—जैसे चेचक रोग हुआ तो शीतला माता नाम रख दिया। शीतला माता का नीर ढारो बस बीमारी शान्त हो जायगी...ऐसी उनकी मान्यता हो जाती है। अरे उन बेचारों को अपने आपका माहात्म्य विदित नहीं है और बाहर में अनेक प्रकार की कल्पनायें करके दूसरों की महिमा बढ़ाते हैं। इस सम्बंध में एक दृष्टान्त है कि एक गाँव में किसी ग्वाले के घर 100 भैंसें पली हुई थी। चेचक का रोग ऐसा फैला कि उसकी सभी भैंसें मरने लगी। प्रतिदिन दो दो तीन तीन भैंसें मरती जा रही थी। वह बेचारा ग्वाला अपनी भैंसें बचाने के लिए शीतला माता की बहुत-बहुत पूजा प्रतिदिन कर रहा था। पर शीतला माता ने उसकी एक भी न सुनी, उसकी भैंसों का मरना बंद न हुआ। एक दिन उसने जिस बटरिया को शीतला माता मानकर पूजता था उसका फोड़ फाड़कर कई टुकड़े कर दिए और कहीं बाहर फेंक दिया। समय की बात कि उसकी वे शेष 5 भैंसें बच गईं। तो भाई मरना जीना यह किसी देवी देवता के आधीन नहीं। लोग व्यर्थ ही अटपट कल्पनायें कर डालते हैं। ऐसी अटपट कल्पनायें ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के हृदय में नहीं होती।

**अपने जीवन के ध्येय का निर्णय करने की प्राथमिकता**—अब आप समझो कि इस लोक में जीकर हमें करना क्या है? क्या उद्देश्य है इस जीवन का? अगर धन सम्पदा बढ़ाते रहने का उद्देश्य बनाया है अपने जीवन का तो बताओ कभी मरना न होगा क्या?

यहाँ का सब कुछ छोड़कर जाना न होगा क्या? अरे यहाँ का सब कुछ छोड़कर जाना होगा, जिन्दगी भर जितनी जो कुछ धन सम्पदा जोड़ा उसे मरण काल में याद कर करके बड़ा दुःखी होना पड़ेगा—देखो मैंने जिन्दगी भर बड़ा परिश्रम करके धन कमाया, पर आज यह हमसे छूटा जा रहा है। इस संक्लेश मरण के कारण आगामी काल में भी उस का घोर दुःख भोगना होगा। तो बताओ यहाँ सार किस बात में है? अपने जीवन का उद्देश्य क्या बनाया है? क्या परिवार के जीवन—संचालन का ही एक उद्देश्य है? यद्यपि गृहस्थावस्था में होने के नाते एक कर्तव्य है सो तो ठीक है पर जिन्दगी भर वही एक ध्येय रखना, उसी से अपने जीवन की सफलता समझना, अपने आत्मा की सुध न रखना यह जो महा अज्ञान है। यदि आपने दूसरों के लिए बहुत कुछ कर दिया तो बताओ उसके फल में आप क्या लाभ पा लेंगे? आप तो जितनी अपनी निर्मलता बनायेंगे बस उतना भर लाभ पा लेंगे, बाकी अन्य कुछ आत्मलाभ नहीं है, तो जीवन के उद्देश्य का ही निर्णय करने को पड़ा है। अच्छा आप सभी लोग एक दो दिन में निर्णय करके बताना कि अपने इस जीवन का उद्देश्य क्या है? किएलिए जी रहे हैं मनुष्य बनकर? और उसकी बड़ी शोभा बनाकर, सोफासेट के पलंग में बैठकर, मौज मानकर आराम करना यह अपने जीवन का ध्येय बनाया है क्या? अरे इससे कुछ पूरा न पड़ेगा। कर्म कलंक से मलिन इस आत्मा को कहीं भी चैन न मिलेगा। इस ज्ञानानन्द का निधान अपना यह ज्ञानानन्द स्वरूप दृष्टि में होगा तो यह शान्ति पायगा।

**भान्ति पाने का उपाय अध्यात्मबोध व विरागपना**—शान्ति पाने का उपाय सिर्फ आत्मा की उपासना के दूसरा नहीं है। खुद ही तो हूँ। मैं स्वयं सहज क्या हूँ, इसका निर्णय आये बिना शान्ति का रास्ता मिल ही नहीं सकता। वर्तमान जो रूप है यह तो एक छाया रूप है। मनुष्य हुए तो या देव हुए तो, ये सब मायारूप है। इनकी प्रीति से कुछ लाभ नहीं प्राप्त होता। अपना जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र, केवल एक चिद्विलास तन्मात्र मैं हूँ। ऐसी भीतरी गहरी दृष्टि आये बिना जीवन बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि जीवन का अन्त होगा अज्ञानदशा रहेगी तो आगे पर्याय व्या मोह बना बनाकर यह जीव दुःखी रहा करेगा। सुखी तो स्वयं है यह जीव। आनन्द तो इसका स्वरूप है। आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना होता, बल्कि बाहरी पदार्थों पर दृष्टि रहे तो उससे आनन्द का घात होता है। तो जीवन का ध्येय तो बनायें कि किसलिए जीवित हैं। गुजारे के साधन तो कर्मोदय के अनुसार थोड़े से पौरुष से ही हो जाते हैं। अगर होने को हुए तो थोड़े से पौरुष से थोड़े समय में हो जाते और न होने हुए तो चाहे कितना ही श्रम कर लिया जाय, कितना ही समय लगा दिया जाय पर नहीं हो पाता। तो अपना यह कर्तव्य है कि नियत समय में धन कमाने का पुरुषार्थ करें। उदयानुसार जो कुछ फल मिले बस उसमें ही संतुष्ट रहें। उसके प्रति तृष्णा न लायें कि मुझे तो इतना ही चाहिए। मुझे कुछ न चाहिए। जो परिस्थिति हो बस उसी में मैं गुजारा बना सकता हूँ, बस यही कला मरे को चाहिए, यह बात चाहें, तृष्णा न चाहें। होगा सब कुछ उदयानुसार मगर भीतरी भावना का फल जरूर अपना प्रभाव दिखाता है। तो ज्ञानी जीव इन सब आकुलताओं से क्यों दूर है? क्योंकि वह अपने शान्ति का धाम स्वयं यह भगवान सहज परमात्मतत्त्व ज्ञान में आया है। कभी कभी लोग सोचते हैं कि बड़े बड़े मुनिराज जिन्होंने करोड़ों की सम्पदा और राज्यपाट का त्याग किया वे जंगल में अकेले कैसे अपना समय व्यतीत करते होंगे? किससे वहाँ बातचीत की जाय? ऐसा लोग चाहते न? बात करने को न मिले कोई तो गृहस्थ लोग बड़ी जल्दी ऊब सा जाते हैं। मुनियों को भी तो चाहिए कोई बात करने को....। अरे अब अज्ञानीजनों को यह पता नहीं कि मुनियों को तो भगवान आत्मा मिल गया है और उससे वे शान्तिपूर्वक बात किया करते हैं, उसी कारण उनको जंगल में ऊब नहीं आती। बल्कि समागमों के बीच, मायाचारियों के बीच

लोगों को ऊब आनी चाहिए। और, मुनिएजों को मिला है सरल यथार्थ परमार्थ स्वरूप, सो उसकी दृष्टि करके, उसकी उपासना करके वे निरन्तर तृप्त रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ही निराकुल है। वह इन तीन मूढताओं से दूर है। इस तरह इस गाथा में यह बतला रहे कि जिसके तीन मूढतायें नहीं हैं वह पुरुष सम्यग्दृष्टि होता है।

**सम्यक्त्वरहित बालतप से सिद्धिका अभाव**— सम्यग्दृष्टि जीव के गाथोक्त 44 दोष नहीं होते हैं, इसका वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि के मायने सही दृष्टि वाला। जैसा आत्मस्वरूप है अपने आप सहज, उस रूप में अपने को मानना, यह मैं हूँ। यह बात जिसमें आयी उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि। और मिथ्यादृष्टि इससे विपरीत सब कुछ रूप अपने को मानता है। कैसी श्रद्धा भरी है कि मैं इसका बाप ही तो हूँ, मैं इसका लड़का ही तो हूँ। मैं इसका पति हूँ। मैं पत्नी हूँ, मैं अमुक चीज का व्यापारी हूँ, अमुक नगर का निवासी हूँ, अमुक बिरादरी का हूँ आदिक कितने ही रूपों में यह जीव अपने को मानता है। यह बात तो जाने दो, यदि कोई मुनि देहभेष को लक्षित कर ऐसी श्रद्धा रखे कि मैं मुनि हूँ तो उसके भी मिथ्यात्व है। श्रद्धा यह रहनी चाहिए सम्यग्दृष्टि जीव में कि मैं सहज चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, इसका कोई बाहर में पहिचानन हार नहीं इससे कोई व्यवहार करने वाला नहीं, ऐसा अनादि अनन्त चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, जहाँ कहीं ग्रन्थों में वर्णन आता है कि बड़ी ऊँची साधना करके भी, तपश्चरण करके भी, नवग्रैवयक तक उत्पन्न होकर भी अज्ञानी रहता, मिथ्यादृष्टि रहता, इसका कारण क्या है?

खोटी वाणी में बोल जाय कोई और बोलने वाले पर रंच भी रोष न करे फिर भी अज्ञानी रहता है कोई तो उसका कारण क्या है? उसका कारण यह ही है कि अपने को वह सहज चैतन्यमात्र अनुभव नहीं कर पाया। जितनी समता चल रही है वह एक पर्यायबुद्धि पर चल रही है कि मैं मुनि हूँ, मुझे द्वेष न करना चाहिए मुझे राग न करना चाहिए, मुझे इस तरह से ईर्या पथ से चलना चाहिए, इस तरह आहार लेना चाहिए। लोग नमस्कार करें तो यों आशीर्वाद देना चाहिए। मैं मुनि हूँ। सुनने में तो बड़ा भला लग रहा होगा कि वह ठीक सोच रहा मगर वह अत्यन्त गलत सोच रहा। वह चिन्तन मोक्ष मार्ग में बाधक है। वह संसारी है। अज्ञानी है, जिसको अपने आत्मा के बारे में यह श्रद्धा है कि मैं साधु हूँ।

**अन्तरात्मा साधु की श्रद्धा**—कैसी श्रद्धा होती है सही मुनि को कि मैं सहज चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ। यह गुजारे का साधन है। मैं अंतरंग में ज्ञानमयी तपश्चरण करूँ, यह ही उसका एक ध्येय है और इसके लिए ही उसका वर्तमान भव है, पर मुझे कोई विघ्न न आये, विकल्प अधिक न जगे, ऐसा वातावरण मैंने इस निग्रन्थ पद में बनाया है। तो शान्त वातावरण और विशेष विकल्प संक्लेश कल्पना न रहने के वातावरण में सही गुजारा हो, इसके लिए यह भेष बनाया है। यह भेष मैं नहीं हूँ, मैं एक चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ। इसका जिसने अनुभव नहीं किया ऐसा पुरुष कितना भी तपश्चरण करने पर अज्ञानी ही रहता, संसार में ही रुलता। रुड़की में हमसे एक भाई ने कहा कि यदि आप कहें तो मैं बताऊँ कि मुनियों को पद पद पर गुस्सा क्यों आ जाती है? तो मैंने कहा अच्छा बताओ तो उसने बताया कि देखो मुनिजन अपने को ऐसा मानते कि मैं पूज्य हूँ, ये श्रावक लोग पूजने वाले हैं, इनको इस तरह से पूजना ही चाहिए, और वैसी बात जब बाहर में दिखती नहीं तो उन्हें गुस्सा आना प्राकृतिक बात है। तो मतलब क्या निकला कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष को यह श्रद्धा होती है कि मैं चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, मैं मुनि नहीं, मैं व्यापारी नहीं, मैं कुटुम्ब वाला नहीं। वे सब पर्यायबुद्धि की बातें जब चित्त में ठहरती है तो बोझ आ जाता है सिर पर। इसका आप सब लोग अनुभव भी कर रहे होंगे। लोग कहते हैं कि मुझ पर बड़ा भारी बोझ है और दिखता ऐसा है कि नंगे सिर खड़े हैं। कपड़े भी बहुत कम पहिने हैं। बोझ क्या

आया उन पर? तो सही कहते हैं कि वे, मुझपर बहुत भारी बोझ है काहे का? कल्पनाओं का। पर पदार्थ का बोझ नहीं। कोई आदमी सिर पर नहीं चढ़ा है। कोई पीट नहीं रहा है। पर कल्पनायें जो भीतर में बनी हैं कि मैं तो इतने बच्चों का पिता हूँ। मैं इसका अमुक हूँ। मेरा यह कर्तव्य है, मुझे ऐसा ही करना चाहिए। इस ही में मेरी श्रद्धा है, इस ही में मेरी प्रशंसा है, इस तरह की मिथ्या श्रद्धा जो बसी है उससे बोझ चढ़ गया है, तब फिर करना क्या चाहिए? श्रद्धा ऐसी बनावें जैसा कि ऊँचे मुनिराजों की होती है। श्रद्धा में गरीब न बनें। भले ही चारित्र नहीं है। श्रावक पद में है, गृहस्थी में है मगर सही श्रद्धा है तो आशय में उतना ही उन्नत रहता है जितना कि वास्तविक मुनिराज हुआ करते हैं। मैं केवल ज्ञानानन्द घन चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ। मैं रागी भी नहीं हूँ। देखिये—राग का कितना घनिष्ट सम्बंध है इस जीव के साथ। राग प्रकृति का उदय आया और उसके उपयोग में छाया हुई, प्रतिफल न हुआ व बोलता भी नहीं है,

इतने पर भी ज्ञानी पुरुष अपने को ऐसा स्वीकार करता है कि मैं राग नहीं हूँ। मैं रागी नहीं हूँ। राग पर्याय से परिणत होकर भी चूँकि वह स्वभाव को ही स्व मानने की धुन में है अतएव वह स्वभाव की ओर ही अभिमुख होकर जानता है कि मैं रागी नहीं। पर्यायतः रागी होकर भी उसकी श्रद्धा में स्वभाव ही आ रहा है कि मैं तो यह हूँ। इतना निरपेक्ष विरक्त भव्य जीव सम्यग्दृष्टि होता है। उसमें ये 44 दोष नहीं होते। अब आप जान जायें कि रात दिन जो यह श्रद्धा लादे फिर रहे हैं कि मैं अमुक स्थान का हूँ। अमुक घर का हूँ। ऐसे परिवार वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, ऐसी जो भीतर में श्रद्धा लादे फिर रहे हैं, यह कितना बड़ा भारी बोझ है, इस संसार में रूलाने वाला यह सब भार है। श्रद्धा पूर्ण सही होनी चाहिये। जो सही श्रद्धावान जीव है उसमें ये दोष नहीं होते, यह कथन इस गाथा में चल रहा है। कल बताया गया था कि उसमें 8 प्रकार के मद नहीं होते, तीन प्रकार की कलुषतायें नहीं होती। अब बताया जा रहा है कि उसमें अनायतन नहीं होते। अनायतन उसे कहते हैं जो धर्म के स्थान नहीं है उन स्थानों को अपनाना, जैसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ये धर्म के स्थान नहीं है। इनमें स्वयं धर्मभाव नहीं और इनके मानने वालों में भी धर्मभाव नहीं। तो तीन अनायतन तो कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु हैं और तीन अनायतन इन तीनों के मानने वाले भक्तजन हैं। ये 6 अनायतन हैं। अनायतनों में मग्न न होना चाहिए। कुदेव कौन कहलाता है? जो देव तो नहीं हैं पर उनमें देवत्व की प्रसिद्धि कर रखी है, स्वयं कर रखी हो या दूसरों ने कर रखी हो, जो देव का स्वरूप नहीं है, ऐसे तो बहुत से जीव हैं। हम आप भी देव नहीं हैं मगर कुदेव क्यों नहीं कहलाते? देव तो नहीं है मगर देवपने की कुल्पित रुढ़ि चलती भी तो नहीं है। जो जीव देव नहीं और उनमें देवपने का चलन चल रहा हो वह कहलाता है कुदेव। कुदेव कौन बना देता है? अगर वही जीव स्वयं यह चाह रखता है कि लोग मुझे देव की तरह मानें तो उसने अपने को अपनी ओर से ही कुदेव कर डाला। और भक्तजन उस देव को विपरीत रूप में मानें, उसे अन्य देव समझे तो भक्तों ने कुदेव कर डाला। देव होता है सर्वज्ञ वीतराग, अब इसकी बारीकी पर जाये तो चाहे वीतराग प्रतिमा हो और भक्तजन यदि यह श्रद्धा रखते हैं कि भगवान मुझे इतना वैभव दो, जैसा कि प्रायः महावीर जी या पद्म पूरा ऐसे क्षेत्र है। जहाँ जाकर भक्तजन ऐसा सोचते हैं कि मुझे मुकदमा जिता दीजिए, ऊँचे आराम कर दीजिए। आप सब कुछ करने वाले हैं, ऐसी श्रद्धा वहाँ रखें तो भक्तों ने अपने लिए तो उसे कुदेव बनाया। हालांकि वह प्रतिबिम्ब एक सर्व साधारण के लिए है अतएव वह कुदेव की मूर्ति नहीं है। मगर इस लालसा वाले लोगों ने जिनके यह श्रद्धा बसी है कि मेरी सब कुछ घर गृहस्थी तो यह ही चलाते हैं, उन्होंने अपने भावों में उसे कुदेव समझ लिया। कुशास्त्र जो राग का और मोह

का उपदेश दें वे सब कुशास्त्र कहलाते हैं। जिनमें ऐसा चरित्र हो महापुरुषों का नाम देकर कि जिनके चरित्र में यह ही बात दिखाई गई हो कि ऐसा प्रीति करना चाहिए, ऐसा सखियों से प्रीति करें, इस प्रकार से चीज चुराना, इस तरह खाना, इस तरह बच्चे होना आदिक बातें लिखी हों और उसे एक पूज्य माता का रूप दिया जाय, जिससे कि लोगों में राग बढ़े और मोह बढ़े। इस दिशा की ओर जो उपदेश करे उसे कहते हैं कुशास्त्र और फिर जैसा वस्तु का स्वरूप है उससे विपरीत वर्णन करे तो वे सब कुशास्त्र हैं, वे अनायतन हैं। और कुशास्त्र को मानने वाले जन वे सब अनायतन है। कुगुरु—जो विषयों कि वशीभूत हैं, अपने में संयम नहीं पाल सकते हैं, अनेक आरम्भ रखते हैं, परिग्रह भी रखते हैं और मद्य पियें, तम्बाकू पियें, भंग पियें याने अपने आराम में जरा भी दखल न दें, जिसमें अपना आराम समझा उसे पूरा चाहें।

और फिर कोई ऐसा विचित्र भेष रख लें कि जिससे लोगों पर यह प्रभाव पड़े कि ये गुरु हैं साधु हैं और ये विनय से फिर मुझे मेरे मन की चीज प्रस्तुत करें, यह ही एक जिनकी प्रवृत्ति है वे गुरु नहीं कहला सकते। गुरु वे हैं जो राग द्वेष के वश न हों। जो किसी भी तरह का आरम्भ परिग्रह न रखते हों, जिनका काम ज्ञान चर्चा, आत्मध्यान और तपश्चरण है। परमात्मस्वरूप में जिन की धुन है, अपनी समाधि की धुन है, ऐसे जो कल्याणार्थी जीव हैं वे हैं गुरु। और इससे विपरीत जो आशावान हैं, आरम्भ परिग्रह में रत हैं। जो इन्द्रिय को वश में नहीं रख सकते और कोई भेष बना लिया वे कुगुरु कहलाते हैं। वे खुद अनायतन हैं याने धर्म के स्थान नहीं हैं। और, ऐसे कुगुरु के जो सेवक हैं वे भी धर्म के स्थान नहीं है। ये 6 बातें सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं पायी जाती। वह सच्चे देव सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की ही सेवा भक्ति विनय रखता है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष का ध्येय बना ही है यह कि मैं संसार के संकटों से छूटकर ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में रमता हुआ परम आनन्द पाऊँ। मुक्त होऊँ तो जो ऐसी अपनी धुन रखता है वह ऐसे ही देव, शास्त्र, गुरु का संग बनायगा, विपरीत न बनायगा। तो ज्ञानी जीव के अनायतन नहीं होते।

**सम्यग्दृष्टि की साष्टांगता—** सम्यग्दृष्टि पुरुष अष्टांग सहित होता है। वह आत्मस्वरूप में संदेह नहीं रखता। जिन वाणी में शंका न रखना (1) निशंकित अंग है। धर्मधारण कर भोग विषयों की वह आकांक्षा नहीं करता। आकांक्षा से उपेक्षा रखना यह (2) निःकांक्षित अंग है। कर्मोदयवश कोई विपत्ति में आये क्षुधा आदिक वेदनायें हो तो ऐसी विपत्ति के समय भी अपने आपको मलिन नहीं बनाता, उनका ज्ञाता दृष्टा रहता और जो साधुजन हैं वे रोगी हों, देह उनका मलिन हो तब भी उनसे घृणा नहीं करता और जैसे माता अपने बच्चे के प्रति घृणा नहीं करती चाहे टट्टी कर दे या पेशाब कर दें, उसके प्रति प्रेम ही रखती है, इसी तरह साधुजनों से प्रेम होना (3) निर्विचिकित्सा अंग है। अपने स्वरूप में अपने हितमार्ग में कभी बेसुध नहीं होना, किसी के बहकाये बहकता नहीं और कुदेव, कुशास्त्र कुगुरु के प्रति उसे श्रद्धा नहीं होती कि ये मोक्षमार्गी हैं, ये मेरे लिए आराध्य हैं, यह है (4) अमूढदृष्टि अंग। (5) उपगूहन अंग, (उपवृंहण) अपने ज्ञान स्वभाव के आलम्बन से अपने विशुद्ध ज्ञान को विकसित करना और किसी धर्मात्मा पुरुष में किसी अशक्ति के कारण कोई दोष लग गया हो तो उस दोष को छुपाना याने समाज में अप्रभावना न बनाना यह उपगूहन अंग है। (6) स्थितिकरण अंग—स्वयं ऐसा सद्भाव बनाये कि विचलित हुए मन को फिर चरित्र में, श्रद्धा में स्थापित करें, मोक्ष मार्ग में बढ़ाये और दूसरे भी किसी कारण धर्म से च्युत हो तो तन से, मन से, वचन से, धन से सब प्रकार से उसकी मदद करके धर्म में स्थित कर दे। यह स्थितिकरण अंग है। (7) वात्सल्य अंग धर्मात्माजनों के प्रति निष्कपट प्रेम होना अहो यह भी रत्नत्रय के मार्ग में लगे है। बड़े पवित्र आत्मा हैं, ऐसी श्रद्धा और



उत्सुकता से उनके प्रति अनुराग होना, सेवा होना, उनकी अनुमोदना होना यह है वात्सल्य और अपने स्वरूप को निरखकर यह सहज ज्ञानानन्द स्वभाव है, उसमें अपने आप को रमाना यह वात्सल्य है। और, (8) प्रभावना अपने चरित्र द्वारा ज्ञान द्वारा लोगों में प्रभावना बने, स्वयं में प्रभावना बने, कोई अप्रभावना की बात न आये, यह है प्रभावना अंग। तो ये 8 अंग तो भूषण हैं सम्यग्दृष्टि के।

**सम्यग्दृष्टि के भांकादोश का अभाव**—यदि 8 अंग के एवज में इसके विपरीत बात आये तो वह दोष है और सम्यक्त्व का नाश करने वाला दोष है। शंका अपने स्वरूप में शंका होना, बहुत दिनों से धर्म मार्ग में लग रहा हूँ, त्याग व्रत में चल रहा हूँ, ये मुफ्त में ही तो सारे कष्ट नहीं सहे जा रहे हैं। पता नहीं आत्मा हैं या नहीं, क्या बात है। ऐसी शंकायें आना या जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका आना यह बात तो ठीक नहीं जचती। शास्त्रों में तो लिखा है मगर यह ठीक नहीं लगता। अरे अपने आपकी बुद्धि पर तो दोष नहीं देते, उनकी समझ में अभी तक नहीं आ सका यह और बजाय इसके उन शास्त्रों में दोष में तो लिखा है मगर यह ठीक नहीं लगता। अरे अपने आपकी बुद्धि पर तो दोष नहीं देते, उनकी समझ में अभी तक नहीं आ सका यह और बजाय इसके उन शास्त्रों में दोष देते कि यह भगवान ने ठीक नहीं कहा, शास्त्र में यह ठीक नहीं लिखा गया....इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका करना यह दोष है। ऐसा दोष सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के नहीं होता, उसका कारण क्या है कि प्रभु का उपदेश अनेक विषयों में है। मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत 7 तत्त्वों का भी वर्णन है और परोक्षभूत जैसे ढाई द्वीप, असंख्यात द्वीप, नरक स्वर्ग आदिक का भी वर्णन है। इस ज्ञानी पुरुष ने अनुभव में आ सकने योग्य मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत 7 तत्त्वों का सयुक्तिक स्वानुभव निर्णय किया है और उसे ऐसा लगता है कि जो मेरे अनुभव में आया वही देखो शास्त्रों में देखने को मिल रहा, जो शास्त्रों में मिल रहा वही मेरे अनुभव में आया। तो मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत सप्त तत्त्वों के बारे में स्वयं अनुभव करके उस अखण्ड शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभव किया है और वही बात ग्रन्थों में है, ऐसा मिलान देखकर उसको ऐसी पूर्ण श्रद्धा हुई है कि जिन ऋषियों से, जिन भगवान से ये सब शास्त्र आये हैं वे पूर्ण सत्य हैं, और उन्हीं शास्त्रों में स्वर्गनरक का भी वर्णन आया है तो वह भी पूर्ण सत्य है। ऐसे निरपेक्ष साधु संतजन कभी अन्यथावादी नहीं हो सकते।

वह परोक्ष चीज है। कहाँ यह बात नहीं चलेगी कि मैं देख लूँ तो सही है। आप जिसे देख रहे हैं उसमें यथार्थ बात मिल रही या नहीं, जैसा कि शास्त्रों में लिखा है? मिल रहा है। रंच भी गलती नहीं पायी जाती। प्रभु का संदेश है कि सर्वसत् उत्पाद व्यय ध्रैव्य सहित हैं। इन तीनों में से (उत्पाद, व्यय, ध्रैव्य में से) अगर एक भी न हो तो वहाँ तीनों नहीं होते और वह वस्तु ही नहीं होती। इस बात का किसी भी जगह थोड़ा भी विरोध या अनबन होता हो तो खूब निरख लीजिए, कहीं अनबन नहीं है। जो दिखने वाली और अनुभव में आ सकने योग्य बात है वह पूर्ण सही मिली आगम के अनुसार तो ऐसे वीतराग भगवान और ऋषिजनों द्वारा प्रणीत प्रत्येक बात प्रत्येक वचन पूर्ण प्रमाणीक हैं। ज्ञानी को जिन वचनों में शंका नहीं और आत्मस्वरूप में भी शंका नहीं होती।

**सम्यग्दृष्टि को इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय व मरणभय की भांका का अभाव**—ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को अपने स्वरूप में शंका नहीं है, यही तो कारण है कि ज्ञानी जीव को भय नहीं होता। इस लोक में न जाने कैसा कानून बन जाय और न जाने मेरा क्या हाल होगा। फिर सब जायदाद छिन जाय या कोई लूट ले जाय या सारा नुकसान हो जाय तो मेरा क्या हाल होगा। ऐसा भय ज्ञानी जीव को नहीं होता क्योंकि वह

जानता है कि मैं आत्मा सदा हूँ, अगर हूँ, अविनाशी हूँ, सदा रहूँगा, मैं कभी मिटता नहीं। कुछ भी बाह्य परिस्थितियाँ आयेँ उनसे इस आत्मा के सत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता। यह मैं सहज ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। इसमें बाधा का कोई काम नहीं है। न परलोक का भय मानता। वहाँ भी मैं वही आत्मा हूँ और वहाँ भी अपने आपको निरखता रहूँगा, फिर बाधा किस बात की? अपने स्वरूप को न निरख सके और बाहरी पदार्थों में मेरा दिल बसे तो बाधा होना प्राकृतिक बात है। ज्ञानी जीव किसी वेदना में भी भय नहीं रखता। वेदना होती है तो वह उसका ज्ञाता रहता है। शरीर में कोई वेदना हुई तो वह उसकी उचित व्यवस्था तो बनाता पर वह उस रोग की विशेष परवाह नहीं करता।

वह जानता है कि मैं तो अमूर्त आत्मा हूँ, यह रोग तो मेरे में मोह का है, राग द्वेष का ह। सो ज्ञानी जीव ने इन राग द्वेष मोह भावों को परभाव परख लिया है। उनके अभिमुख वह नहीं होता, उनसे उपेक्षा रखता है। अपने स्वरूप की ओर आता है, उसको शंका नहीं होती। उसे मरण का भी क्या भय? जिसे मोह लगा है वही मरण का भय करेगा। जिस ज्ञानी पुरुष ने बाह्य समागमों के बीच रहकर भी अपने को अकेला ही अनुभव किया है मेरे स्वरूप में मात्र मैं हूँ, मैं अपने में ही सब कुछ करने भोगने वाला हूँ। इस मुझ चैतन्यमात्र आत्मा का अन्य किसी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ से रंच भी सम्बंध नहीं। ऐसी भावना में जिसने अपना जीवन बिताया वह मरते समय भी अपने आपको दृष्टि में रखे रहता है। यह मैं आत्मा हूँ। उसका कहीं बिछोह नहीं। यह यहाँ न रहा, दूसरी जगह चला गया, यह मैं। क्या था? जिसके छूटने का रंज हो? यहाँ न रहा दूसरी जगह चला गया। जैसे जिस किसी विवेकी को कहीं रेल वगैरह किसी में किसी रेल अधिकारी ने कहा कि भाई यहाँ न बैठो, इस जगह बैठो, तो उस विवेकी पुरुष को उस दूसरी जगह बैठने में रंच भी संकोच नहीं होता। वह जानता है कि चलो वहाँ न बैठा यहाँ सही, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष को मरण के प्रसंग में भी भय नहीं होता। जिसके ऐसे दोष नहीं है उसको सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

**ज्ञानी के अरक्षा अगुप्ति व आकस्मिक भय का अभाव—सम्यग्दृष्टि जीव के** शंका दोष नहीं रहता, इस सम्बंध में यहाँ चर्चा चल रही है। न उसे अपने स्वरूप में शंका है और न जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका है। स्वरूप में शंका तो यों नहीं रही कि अपने स्वरूप का अनुभव करके सहज परम आनन्द पा लिया है, उसे अब कोई चलित नहीं कर सकता। जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका यों नहीं है कि जो प्रयोजनभूत तत्त्व है, जब वह पूरा आगम से खुद में मिल गया तो जितने भी वचन हैं परोक्षभूत पदार्थ के बारे में उनके सम्बंध में उसे पूरा प्रमाण है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव 7 भयों से रहित होता है। इसके अरक्षाभय भी नहीं है। मेरी रक्षा नहीं है, कैसे रक्षा हो? मैं अनाथ हूँ, ये विकल्प ज्ञानी के नहीं जगते। चाहे वह धन से भी गरीब हो और इतना भी क्यों, चाहे वह पशु पक्षी भी हो, यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो उसको अपनी रक्षा के बारे में चिन्ता कुछ नहीं है। उसे अनुभव हुआ है कि मैं हूँ जो हूँ सो अपने ही स्वरूप में हूँ। मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं है, किसी भी बाहरी पदार्थ से मेरे में कुछ दखल नहीं है। मैं अविनाशी हूँ। उसका कभी अभाव ही नहीं हो सकता, सदा रहेगा, फिर अरक्षा किस बात की? ज्ञानी जीव के अगुप्तिभय भी नहीं होता। मेरे द्वार खुले हैं, किवाड़ कमजोर है, कैसे मैं सही रह सकूँगा, उसका यहाँ कोई भय नहीं है क्योंकि उसने अपने स्वगुप्त अंतस्वत्त्व को पहिचान लिया है। स्वरूप किले में किसी भी पर पदार्थ का प्रवेश नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु अपने आपके स्वरूप किले के समान दुर्भेद्य, अभेद्य, रहती है। एक के स्वरूप में दूसरी वस्तु का स्वरूप नहीं पहुँचता। फिर मेरे में अगुप्ति क्या? मैं स्वयं अपने स्वरूप की गुप्ति रखे हूँ। मेरा स्वरूप दुर्ग अत्यन्त मजबूत है। यह जीव स्वयं कल्पनायें करके ही तो दुःखी हो रहा है। स्वयं ही तो यह आनन्दमय है,

इसे गुप्तिमय नहीं है। आकस्मिक भय भी सम्यग्दृष्टि के नहीं है। आकस्मिक भय कहलाता है अटपट भय। कुछ भी अटपट कल्पनायें कर डाला, जैसे अभी यहाँ बैठे हैं। अटपट कल्पनायें करने लगे कि बादल आ गए हैं, कहीं बिजली न गिर जाय। यदि बिजली मेरे ऊपर गिर गई तो पता नहीं मेरा क्या हाल होगा, मैं बचूँगा भी या नहीं—यों अटपट कल्पनायें कर डालना आकस्मिक भय है।

एक बात यह समझो कि कोई भी अन्य पदार्थ इस आत्मा को कुछ गड़बड़ कर ही नहीं सकता। केवल अज्ञानी जीव कल्पनायें करके अपने आप में यह समझते कि मुझको इससे हानि पहुँचती। किसी भी पदार्थ से कुछ भी भय इस आत्मा में नहीं आता। कोई हानि इस आत्मा में नहीं होती। उसके आकस्मिक भय भी नहीं हैं। ऐसे 7 भयों से रहित यह सम्यग्दृष्टि जीव दुःख रहित है। अंतः अनाकुल है।

**सम्यग्दृष्टि के कांक्षा व जुगुप्सा दोष का अभाव**—आकांक्षा का दोष भी ज्ञानी पुरुष में नहीं है। आकांक्षा कहते हैं इच्छा को। धर्म के एवज में सांसारिक सुख सम्पदा की इच्छा होना यह तो सम्यग्दृष्टि में सम्भव ही नहीं है, पर अन्य जो इच्छायें होती हैं उनके प्रति भी उपेक्षा है, उनमें अनुराग नहीं है, उनके प्रति निवृत्ति की ही भावना रख रहा है। सम्यग्दृष्टि में आकांक्षा का दोष नहीं। वह निर्जुगुप्स है, उसके जुगुप्स का दोष नहीं है। जुगुप्स मायने ग्लानि। आरे आत्मस्वरूप में ग्लानि करना, आत्मविभावों में दुःखी होना और उससे अपने को म्लान बनाना यह ज्ञानी के नहीं होगा क्योंकि विभावों से अपने को निराला समझ रहा। उसका प्रभाव नहीं चलता और बाहर किसी साधु संत में कोई देह में ग्लानि आयी हो, मल मूत्रादिक आये हों तो भी ग्लानि न करना। ग्लानि करे तो यह दोष है। इससे एक बात और भी जीवन में समझना कि जिन लोगों के जरा जरा सी बात में ग्लानि के भाव आते हैं। नाक, भौं सिकोड़ा करते हैं यह उनकी कोई भली बात नहीं है।

अपने मन को बहुत—बहुत ग्लान कर लेना इसकी क्या जरूरत? जो है सो है। उसके ज्ञाता रहें। यद्यपि गृहस्थी के बीच रहकर ये सब बातें आवश्यक होती हैं, मगर सफाई को इस तरह की एक आदत बना लेना यह तो कोई भली बात नहीं है। किसी स्थिति में जब कोई वैसी घटना आये ग्लानि की तो झट अपने आत्मस्वरूप की सम्हाल कर लें। मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, मेरे पर कोई संकट नहीं, बाह्य पदार्थ विषयक आने जाने के कारण संकट जो लोग अनुभव करते हैं उस संकट को टाल सकते हैं, ये आते जाते, उनसे मुझमें क्या संकट? अपने एकाकी आत्मा को निरखे तो एक भी संकट नहीं है और कुबुद्धि आये, बाहरी पदार्थ न मिलें इच्छानुकूल तो उसमें संक्लेश करे, संकट माने यह तो अज्ञान और मोह की दशा है। इसी में सारा संसार फंस रहा है। इस भव को पाकर कौन सी भली बात कर ली है? इतनी ही बात आ जाय उपेक्ष्य, बाहर में कुछ भी होता हो, इष्टवियोग अनिष्ट संयोग उसके ज्ञाता दृष्टा रहें। मेरे को क्या इष्ट हैं, क्या अनिष्ट हैं? मैं एकाकी अपने आपके स्वरूप को लिए हुए अपने आप में सदा रहता हूँ। उसमें कोई कष्ट नहीं।

**सम्यग्दृष्टि के मूढदृष्टि व अनुपगूहन दोष का अभाव**—सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मूढदृष्टि के दोष में नहीं आ पाता। दुनिया के लोग कैसा ही बहका रहे हों, कितने ही रागी द्वेषी देवी देवताओं की पूजा आराधना कर रहे हों, किसी भी लोकमूढता से सम्यग्दृष्टि जीव रंच भी प्रभावित नहीं होता है। उसके अज्ञान नहीं जगता है। मैं अविकार स्वरूप हूँ, ऐसा स्वरूप जहाँ प्रकट हुआ है वह तो है देव। इस अविकार स्वरूप के प्रकट करने की विधियाँ जहाँ लिखी हैं वह है शास्त्र। इस अविकार स्वरूप को प्रकट करने के लिए जिनकी धुन बन गई है, जिन्हें अन्य कुछ नहीं सुहाता ऐसे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं गुरु। इस ओर ही उसकी श्रद्धा है। अपने आपके अविकार स्वरूप की श्रद्धा है, वह कहीं व्या मोह को प्राप्त

नहीं होता। जो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है वह कभी भी अनुपगूहन नहीं करता। किसी में कोई दोष आया हो अपने साधर्मी जनों में तो उस दोष को जनता के बीच प्रकट करने का क्या प्रयोजन ज्ञानी को? वह तो अपने आपके स्वरूप ध्यान का धुनिया बना हुआ है और फिर समाज का अहित है। समाज के लोग जानेंगे कि जब ऐसे बड़े-बड़े लोग भी विचलित होते हैं ऐसे-ऐसे कठिन दोष में आते हैं तो फिर वे कहेंगे कि अरे धर्मवर्म कुछ नहीं, यों धीरे-धीरे एकदम तीर्थप्रवृत्ति खतम होती है। लोग संकट में पड़ जाते हैं।

**सम्यग्दृष्टि के अवात्सल्य व अप्रभाव ना दोष का अभाव**—ज्ञानी पुरुष वत्सल हैं, धर्मप्रेमी है, जिसमें दोष लगा है उस ही व्यक्ति को भले प्रकार वह समझायगा, पर जो लोग दोषी पुरुषों से बात ही न करें, उन्हें समझायें ही नहीं और एकदम जनता में दोष प्रकट करें तो उनमें अदया है, धर्मानुराग भी नहीं है। वे अपने कल्याण की ओर अभिमुख भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव में अनुपगूहन नाम का दोष नहीं होता। अस्थितिकरण दोष भी ज्ञानी में नहीं होता। धर्म में लगे हुए को हुए को ढकेलना, असहयोग करना, निन्दा आदिक करना, किसी भी प्रकार उसे धर्म से डिगाना, ऐसी कोशिश ज्ञानी जीव के नहीं होती, बल्कि डिग रहे को स्थिर करने का ही उसमें भाव रहता है। अवात्सल्य भी उसमें नहीं है। धर्मी जनों में ऐसा वात्सल्य होता है ज्ञानी का कि किसी समय कुछ अपनी कमी भी कर डाले तो उसे भी सहन कर लेता है और धर्मात्माओं के दुःख का निवारण करता है। आज का रक्षाबंधन बंधन इसी बात का तो संदेश देता है। अब से हजारों लाखों वर्ष पहले की बात है, जब 700 मुनियों के संग सहित अकम्पनाचार्य पर किसी बैर के कारण बलि आदिक जो मंत्री थे उन्होंने 7 दिन का राज्य लेकर जो उपसर्ग किया वह उपसर्ग बड़ा भयानक था। 700 मुनियों को घर लिया जोरों से या और किसी तरह से। वे तो आत्मध्यान में मग्न थे। न भी बाड़ लगाते तो भी वे कहाँ जाते? वहाँ हड्डियाँ फेंककर, ईधन फेंककर आग लगा दी और यज्ञ का ऐसा बहाना किया कि बड़े-बड़े मंत्र पढ़े जा रहे लोगों को किमिच्छिक दान दिये जा रहे; उन्हें क्या था? 7 दिन का राज्य मिल ही चुका था, जिस चाहे को जितना चाहे दान दे सकते थे। उस समय का दृश्य बड़ा भयानक था। देखिये एक मुनि पर उपद्रव आये तो श्रावकजन कितना संकट में पड़ जाते हैं। 700 मुनियों पर उपद्रव ढाया जाते हुए देख रहे थे श्रावकजन पर वे उस समय क्या कर सकते थे? जब राजा ही बेईमान बन जाता है तो फिर किसका वश चलता है? उस समय की यह घटना है। एक जगह एक साधु महाराज के रात्रि को उसी दिन मुख से हाय निकली, वहाँ कोई एक क्षुल्लक जी थे। उन्होंने साधु महाराज से उनके मुख से हाय निकलने का कारण पूछा तो उन्हें सब बताना पड़ा। वहाँ क्षुल्लक जी ने पूछा कि आखिर यह संकट कैसे दूर होगा? तो बताया कि विष्णुकुमार मुनि के पास जाओ, उन्हें विक्रियाऋद्धि सिद्ध है। उनसे निवेदन करो, वे सब कुछ अपने आप समझ लेंगे और कोई उपाय करके वह उपसर्ग दूर कर सकेंगे। क्षुल्लक जी गए विष्णुकार मुनि के पास, उनसे निवेदन किया, सारी घटना बताया। देखिये अभी तक विष्णुकुमार मुनि को इसका भी पता न था कि मुझे विक्रियाऋद्धि सिद्ध है। जो बिना इच्छा के ज्ञानस्वरूप अपने आप में मग्न होने के लिए तपश्चरण करते हैं उनको ऋद्धियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। जब जाना विष्णुकुमार मुनि ने मुझे विक्रियाऋद्धि सिद्ध है तो उनके मन में आया कि परीक्षा करके देखें तो सही कि मुझे विक्रियाऋद्धि सिद्ध भी है या नहीं, सो अपना एक हाथ फैलाकर देखा। उनका वह हाथ समुद्र पर्यन्त फैल गया तब निश्चय हो गया कि मुझे सचमुच विक्रियाऋद्धि सिद्ध है। बस क्या था, उन्होंने झट बाह्यण का रूप बनाया, साथ ही 52 अंगुल का छोटा गात (शरीर) बनाया और पहुंचे उस बलिद्वारा किये जा रहे यज्ञ में। वहाँ देखा कि बड़े-बड़े मंत्रोच्चारण किये जा रहे थे। स्वयं

भी बड़े-बड़े मंत्रोच्चारण करने लगे। उन्हें देख कर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुआ और कहा तुम जो चाहो सो मांग लो। तो उन्होंने कहा मुझे बस तीन कदम भूमि दे दीजिए। तो राजा बलि ने बहुत-बहुत कहा, अरे तेरा छोटा शरीर वैसे ही है, तेरे कदमों में तीन कदम भूमि कितनी होगी, तू तो और कुछ माँग। तो कहा—राजन मुझे इतनी ही जमीन चाहिए, आप संकल्प करें, मैं तीन कदम भूमि में ही संतुष्ट हूँ। तो झट राजा बलि ने संकल्प किया—तीन कदम भूमि ले लीजिए। तो उन विष्णुकुमार ने विक्रिया से अपना ऐसा विशालरूप बनाया कि एक कदम में तो पूरा जम्बूद्वीप घेर लिया और एक पैर ऐसा घुमाया कि सारे मानुषोन्त पर्वत को घेर लिया। अब तीसरा कदम धरने को जगह ही नहीं शेष बची। वहाँ वह दृश्य देखकर राजा बलि दंग रह गया। जब तीसरा कदम रखने के लिए भूमि देने को कहा तो राजा बलि ने क्षमा मांगना शुरू किया और यही कहा कि मेरे पास अब भूमि देने को कहाँ हैं। कहाँ से दूँ? अब मेरी पीठ पर पैर रखकर संकल्प पूर्ण कर लीजिए। उस समय का बड़ा भयानक दृश्य था। वहाँ देवता लोग आये पुष्पवर्षा किया, राजा बलि ने माफी मांगी और बलि कृत उपसर्ग दूर किया। उपसर्ग दूर तो हो गया मगर जो धुवां कंट में रूँध गया था, उससे सारे मुनियों को आहार लेने में भी बड़ी कठिनाई थी। अब ऐसी स्थिति में मुनिजनों को आहार किस ढंग का दिया जाय, यह प्रश्न श्रावकजनों के सामने का था। उन्होंने शायद चावल की खीर और ये सिवइयाँ देना उचित समझा होगा। आप सब लोग जो रक्षाबंधन के दिन खीर और सिवइयाँ बनाकर खाते हैं शायद इसका रिवाज तभी से चला आ रहा है। यहाँ चल रही है वात्सल्य अंग की बात। यहाँ विष्णु कुमार मुनि का 700 मुनि राजों के प्रति वात्सल्य की तीव्रभावना का दिग्दर्शन कराया है। उस समय विष्णुकुमार मुनि ने यह नहीं सोचा कि मैं मुनि होकर क्यों अपने आत्मध्यान को भंग करूँ, क्यों अपनी शान्ति में बाधा दूँ, बल्कि उन्होंने मुनिराजों के प्रति इतना तीव्र वात्सल्यभाव बनाया कि अपने मुनिव्रत को छोड़कर अपने ऋद्धिबल का प्रयोग करके मुनिजनों का उपसर्ग दूर करना उचित समझा। 700 मुनियों का उपसर्ग दूर किया तत्पश्चात् प्रायश्चित लेकर पुनः दीक्षोचित कार्य किया। आज भी इस रक्षाबंधन के दिन कुछ ब्राह्मण लोग राखी बाँधते समय इस प्रकार का मंत्र पढ़ते हैं 'जेन राजा वली वद्धो' इसमें जेन शब्द अशुद्ध है, जेन नहीं वह येन हैं जेन शब्द किसी विभक्ति वाला न मिलेगा। इसका अर्थ है येन राजा वलिः बद्धः। जिसने बलि राजा को बाँधा, उस विष्णुकुमार मुनि को हमारा नमस्कार हो। अपने में सामर्थ्य है और अपना कोई साधमीं भाई अत्यन्त कष्ट में पड़ा हो, उसके प्रति दया के भाव न उमड़े तो यह तो वात्सल्य के विरुद्ध बात है। यहाँ का सारा समागम असार है। यह तो केवल गुजारे की चीज है। कर्तव्य तो आत्मध्यान, आत्मज्ञान, आत्मरमण हैं, सम्यग्दृष्टि जीव के अवात्सल्य नहीं रहता। ईर्ष्या, विरोध, दूसरे को गिराना, कोई प्रेम न रहना यह तो बहुत तुच्छ बात हैं। ज्ञानी जीव के हृदय में इन तुच्छ कामों का कोई स्थान नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव की ऐसी प्रवृत्ति होगी कि जिसमें अप्रभावना का स्थान नहीं है। सहज ही एक ऐसा आचरण होता है। बात क्या हुई कि ज्ञानी पुरुष ने अपने आप में ऐसे सहज स्वरूप का अनुभव किया कि जिससे उसने अलौकिक आनन्द पाया। अब उस की धुन इस ही स्वरूपानुभव की रहती है। दूसरी कोई धुन है ही नहीं। तो अप्रभावना की बात ज्ञानी पुरुषों को कैसे बने? ऐसे शंका आदिक 8 दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि जीव होता है।

**सम्यग्दृष्टि जीव के द्यूत क्रीडा, मांस भक्षण व मदिरापान का परिहार**—सम्यग्दृष्टि जीव के सातों प्रकार के व्यसन सम्भव ही नहीं हैं। इन सातों प्रकार के व्यसनों के सम्बंध में प्रायः सभी लोग जानते हैं। (1) पहला व्यसन है जुवा

खेलना—इसको तो लोग व्यसनराज कहते हैं। जुवा एक ऐसी प्रारम्भ वाली बात है कि जिस चाहे व्यसन का इस जुवा से प्रारम्भ होता है। यद्यपि बाहर से इस जुवा खेलने में कोई हिंसा नहीं दिखती, ग्लानि नहीं दिखती, कोई अपवित्र बात नहीं दिखती, मगर जुवा ऐसे सभी व्यसनों का मूल है कि यह लगने को तो लग गया सरलता से, मगर जब इस व्यसन की जवानी होती है तो इससे सारे व्यसन उसके साथ लग जाते हैं। इस कारण जुवा व्यसन को व्यसन राज कहा है। हार जीत की दृष्टि रखकर, धन पैसे का दाँव लगाकर जो कुछ खेला जाता है तास हो, चौपड़ हो, चौसर हो, सट्टा हो, कहीं बादल बरसने का सट्टा, कहीं चाँदी सोने का सट्टा, ये सब जुवा कहलाते हैं जो इनमें लग गया उसको एक रात दिन भी चैन नहीं पड़ती, शान्ति नहीं मिलती, उसे नींद नहीं आती, और जब यह व्यसन अपनी जवानी पर आता है तो इसमें बहुत आशक्ति हो जाती। उसका तो फिर जीवन खतम हो जाता है काहे का जीवन? जहाँ सदाचार का नाम नहीं, धर्म का प्रवेश नहीं, वह जीवन भी क्या जीवन है। सम्यग्दृष्टि जीव के जुवाव्यसन का आना सम्भव ही नहीं है। मांस खाना, आदि यह सम्यग्दृष्टि जीव के कहाँ सम्भव हैं? सब जीवों का जो हित समझ रहा, चिदानन्दस्वरूप सबमें एक समान तक रहा है, वह अपने ही समान दूसरों को जान रहा है, वह कहाँ इन छोटे व्यसनों को कर सकेगा? मद्यपान भी एक व्यसन है। शराब पीना, इसमें आत्मा बेसुध हो जाती है इसमें जीवहिंसा भी है। दूसरों को इससे बड़ा कष्ट पहुँचता है, क्योंकि मद्य पीने वाला नशे में पागल सा हो जाता है वह और मदिरा पीले वाले में ऊपर से देखने में तो ऐसा बल दिखेगा कि यह हमको पटक देगा, मार देगा, पर मद्यपायियों में बल नहीं होता। यह बात तो हमने एक घटना से समझी। जब गुरुजी (श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी) मेरठ आये थे तो एक बार हम और वह (दोनों) एक साथ शौच के लिए जंगल गए। हम दोनों के हाथ में अपना अपना कमण्डल था। वहाँ गुरुजी अपना कमण्डल रखकर शौच के लिए हमसे कुछ पहले ही बैठ गए। इतने में वहाँ एक शराबी पुरुष आया और गुरुजी का कमण्डल लेकर चल दिया। यह दृश्य देखकर हमसे न रहा गया। हमारे मन में आया कि चाहे कुछ भी हो, पर हमको यह कमण्डल इससे लेना है। सो हम पहुँचे उसके पास और एक ही झटके में उससे कमण्डल छीन लिया। वहाँ हमने यह अनुमान लगाया कि शराबियों में, मद्यपायियों में कुछ भी बल नहीं रहता। इन मद्यपायियों की बड़ी बुरी हालत होती है।

### **सम्यग्दृष्टि के चोरी, झूठ, परस्त्रगमन व वे॥यागमन व्यवसन का**

**परिहार**—चौथा व्यसन है चोरी करना—किसी की चीज चुरा लेना चोरी है। लोग तो इस धन को 11वाँ प्राण कहते हैं। भले ही उन्हें यह न मालूम हों कि शेष 10 प्राण कौन से हुआ करते हैं, पर धन को 11वाँ प्राण कहते हुए आप जिस चाहे के मुख से सुन सकते हैं। अब वे 10 प्राण कौन से होते हैं उसको तो जो समझदार लोग हैं वे ही जानते हैं, लेकिन नासमझ लोग भी इस धन को 11वाँ प्राण बोलते हैं। तो ऐसे धन को जो कि 11वाँ प्राण माना गया है उसे अगर कोई चुरा ले, हर ले तो यह तो एक बड़ी हिंसा का काम हुआ। जिसने चोरी करने की अपनी आदत बना ली उसको बाकी आचारों के प्रति क्या प्रेम रहेगा? वह तो सब तरह से भ्रष्ट हो जायेगा? (5) झूठ बोलने की बात ज्ञानी जीव में नहीं होती। उसे कुछ प्रयोजन होता नहीं। और, कदाचित कोई लौकिक बात भी आगे आये तो उसका प्रयोजन है जीवरक्षा का। वह क्यों दूसरों को दुःख देने वाली वाणी बोलेगा? झूठ बोलने का व्यसन भी ज्ञानी जीव में नहीं होता। (4-5) परस्त्रगमन और वेश्यागमन का पाप भी बड़ा भयंकर है। इन व्यसनों में आये हुए पुरुष का कभी भी दिमाग शुद्ध नहीं रह सकता, बुद्धि शुः नहीं रह सकती। सदा शंकित रहता, सदा चिंतित रहता। बड़े अपवित्र

भाव में आ गया वह। इस सम्बंध में गुरु जी एक घटना सुनाया करते थे कि सागर में कोई एक सिपाही था। उसे किसी वेश्या से प्रेम हो गया था। उस वेश्या के पीछे वह पागल बना फिरता था। यहाँ तक कि उसके पीछे वह ड्यूटी में कमी होने से नौकरी से भी बरखास्त कर दिया गया। अब वह कुछ वृद्ध सा भी हो गया था, उसके पास धन न रहने से उस वेश्या ने भी उसे ठुकरा दिया था। वह सिपाही उस वेश्या के घर भी अब नहीं जा सकता था, सो वह क्या करता कि उस वेश्या के घर के सामने किसी पेड़ के नीचे वह पड़ा रहा करता था और उसके मकान की छत की ओर देखा करता था। जब बहुत दिन ऐसा करते हुए हो गया तो किसी ने पूछा—भाई तुम यहाँ इस तरह से पड़े रहकर इस छत की ओर क्यों देखा करते हो? तो उस सिपाही ने बताया कि हम इसलिए यहाँ पड़े हुए छत की ओर देखा करते कि जिस वेश्या पर हमारा भारी प्रेम था उस वेश्या ने हमें ठुकरा दिया, अपने घर पर नहीं आने देती, पर हमको उस पर इतना बड़ा प्रेम है कि हमारे मन में सदा यह बना रहा करता कि कब वह वेश्या अपनी छत में घूमने के लिए निकले और हमें दिख जाय। उसे देख देखकर ही हम अपना मन संतुष्ट कर लिया करेंगे। ले देखिये वेश्यागमन करने वालों की ऐसी दुर्गति हुआ करती है। ऐसी ऐसी खोंटी बातें ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जनों में सम्भव नहीं। वे तो इन सप्त प्रकार के व्यसनों से रहित होते हैं। इस प्रकार इस ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव की और भी विशेषतायें और कहेंगे। सम्यग्दृष्टि जीव के 44 दोष नहीं होते हैं, इस प्रकरण में अन्तिम बात कही जा रही है कि ग्रहण किए हुए व्रतों में अतिचार भी नहीं हुआ करता है। 5-5 अतिचार हैं प्रत्येक व्रत के। जैसे—(1) अहिंसाव्रत (2) सत्यव्रत (3) अचौर्यव्रत (4) ब्रह्मचर्य व्रत (5) परिग्रहत्याग व्रत अथवा इनके परमाणु रूप अणुव्रत। उन व्रतों में कुछ थोड़ा उल्लंघन होना, अधिक उल्लंघन होना, ऐसे दोष हुआ करते हैं वे अतिचार दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते। हो भी जाते हैं तो उनको प्रायश्चित्त से शुद्ध कर देते हैं। सदा अतिचार लगते रहें, होते रहें, ऐसा सम्यग्दृष्टि में नहीं होता। कभी कोई परिस्थितिवश हो तो प्रायश्चित्त से शुद्ध कर देते हैं। ऐसे 44 दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते, यह बात बताकर अब ज्ञानी मुनियों की पात्रता के सम्बंध में कहते हैं।

**देवगुरुसमयभक्ता संसारपारीर भोग परिचत्ता।**

**रयणत्तयसंजु ताते मणु यासिवसुहं पत्ता।।8।।**

**देवभक्त मनुष्य की प्राप्तिवसुखलाभ योग्यता**—जो मनुष्य देव शास्त्र गुरु के भक्त हैं, संसार शरीर, भोगों से विरक्त हैं, रत्नत्रयसे युक्त हैं वे मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। देव की भक्ति से मोक्ष के मार्ग में चलने के लिए उत्साह किस तरह मिलता है वह बात आत्मा का स्वरूप और देव का स्वरूप जानने वाले को विदित होती है। देव का अर्थ है कि जैसा आत्मा का सहज स्वरूप है उस तरह से जिस आत्मा में प्रकट हो गया है उसका नाम देव है। आत्मा का सहज स्वरूप अविकार है, केवल जाननहार, सो केवल ज्ञातादृष्टा रहे, ऐसा जहाँ स्वभाव प्रकट है उसे कहते हैं देव। वह देव आराध्य क्यों हैं कि अपने को भी आवश्यकता है कि जो अपना सहज स्वरूप है वह यथार्थ प्रकट हो, क्योंकि इस ही स्थिति में शान्ति होती है और इसका विपरीत अर्थात् विकारभाव हों तो निरन्तर अशान्ति रहती है। राग में क्या शान्ति है? नहीं! द्वेष में तो प्रकट अशान्ति है। रागभाव के रहते हुए जीव के चित्त में खलबली, क्षोभ, चिन्ता और एक अपूर्णता जैसा अनुभव ये सब आकुलतायें विकार मात्र में होती हैं। ऐसे विकार से रहित अपनी स्थिति चाहिए और वह स्थिति प्रभु में प्रकट है। सो प्रभु के स्वरूप का अनुराग कर के अपने आप में उत्साह जगाया जाता है कि प्रभु मुझे अन्य कुछ न चाहिए। एक अंतस्तत्व की दृष्टि चाहिए कि मैं ऐसा सहज चैतन्यमात्र

हूँ। देव का जो भक्त है, सहज स्वरूप का जो भक्त है, वह मनुष्य मुक्ति सुख को अवश्य प्राप्त करेगा।

**गुरुशास्त्र भक्त मनुष्य की शिवसुखलाभयोग्यता**—गुरु भक्ति का मोक्ष मार्ग में मदद मिलने का क्या सम्बंध है? जैसे कोई पुरुष किसी नगर से जाना चाहता है, पहली बार ही वह जा रहा है। यदि उसको कई बार गये हुये कुछ लोगों का संग मिल जाय तो उसकी उनमें प्रीति जगती है। उनके साथ में रहता है कि हम निर्वाध वहाँ पहुँच जायेंगे। तो ये गुरुजन, ये मोक्ष-मार्ग के अभ्यासी अपने आत्मा के स्वरूप का ध्यान रखने वाले इन गुरुजनों की सेवा में, इन गुरुवों के गुणों की स्तुति में, इनके सुन्दर सहवास में आत्मा को मोक्षमार्ग के लिए उत्साह जगता है। जैसी संगति हो वैसा भाव बनता है। यदि रत्नत्रय धारी गुरुजनों का सत्संग मिलता रहे तो अपने भावों में भी इस ही प्रकार की भावना बनती है। एक नदी के उस पार (दूसरे किनारे पर) पहुँच गया, कुछ लोग उस नदी में जो सही रास्ता था उस रास्ते से जा रहे तो इस ओर रहने वाला पुरुष जो नदी के उस पार जाता है उसको उन दोनों से मदद मिलती है। रास्ते के जानने वाले लोग बताते हैं कि भाई डरो मत, इस रास्ते से आवो, उस किनारे पहुँच जावोगे। तो गुरुजन अपनी प्रवृत्ति से भव्य जनों को यह शिक्षा देते हैं कि घबड़ाओ मत। अज्ञानवश दुःखी मत होओ। इस रास्ते से चलो तो तुम उत्तम आनन्द की छाया में पहुँच लोगे। जिन की मुद्रा, जिनकी चर्या, यह उपदेश देता है कि उन गुरुवों की भक्ति से मोक्ष मार्ग की प्रगति में सहयोग मिलता है। शास्त्र की भक्ति है वे अक्षर मगर उनका वाच्य अर्थ तो है सो कुछ शास्त्र पढ़ने से भी मदद मिलती है और मुख्यतया तो जिसने अपने आत्मा में थोड़ा बहुत स्वभाव परखा, अभ्यास किया, उसके लिए विशेषतया मदद मिलती है। तो ऐसे देव, गुरु, शास्त्र के भक्त मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

**संसारविरक्त मनुष्य की शिवसुखलाभयोग्यता**—कैसे हैं वे मनुष्य जो मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं? संसार शरीर भोगों के परित्यागी हैं। संसार मायने यह जगह नहीं। जगह छोड़कर कहाँ जायेंगे? तीन लोक को छोड़कर जीव कहाँ जायेंगे? अलोकाकाश में अवगाह अवस्थान ही नहीं हैं। तो संसार मायने आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय रूप परिणाम, यह ही संसार हैं। संसार दुःख से भरा हुआ है। ऐसा लोग कहते हैं मगर बाहर में जगह को देखें कि यह संसार है और दुःख से भरा हुआ है तो यह बात समझ में न आयेगी। जब अपने विभावों को तर्केंगे और जानेंगे कि ये रागद्वेष विषय कषाय संसार हैं और यह संसार दुःख से भरा हुआ है, तो बात प्रकट समझ में आयेगी। इस संसार से मुक्ति चाहिये हो तो यहाँ का जो विकाररूप संसार है उसकी उपेक्षा करनी होगी। हमारा संसार बाहर नहीं किन्तु मेरा ही दुर्भाव विकार यह ही संसार है। जो दुर्भाव 6 भागों में बटते हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्व और परका विवेक न होना, देह और आत्मा का भेद न जानना, अपनी और पर ही स्वतंत्र सत्ता न समझना, यह है मोह। यह है संसार, यह दुःख से भरा हुआ है। बाह्य पदार्थों पर दृष्टि जाय, उसका लगाव लगाये तो उसमें दुःख नियम से हैं। भले ही कभी कल्पना से सुख मान लें मगर सुख नहीं हैं। यह ही संसार है अपना विकार। उससे ज्ञानी पुरुष विरक्त रहता है। बाहर कहीं उद्यम नहीं करना है। अपने आप में अपने ही विकार से हटकर अपने में ही तन्मय चैतन्य स्वभाव में उपयोग को लगाना है। यह है परमार्थ तपश्चरण। जीवों का मन अनियंत्रित है, उनको विषय कषाय बड़े सस्ते लग रहे हैं। और वैराग्य संयम ध्यान ज्ञान की बातें उनको बड़ी कठिन लग रही हैं तो ऐसी स्थिति में विचारे कि जो पुरुष विषय कषायों के विकल्प छोड़कर चैतन्यस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में उपयोग को रमाते हैं, स्थिर करते हैं, वह एक बहुत बड़ा काम है और



परम तपश्चरण है। विकार से विरक्त होकर अपने स्वभाव में उपयोग को लगाना। अन्य बातें तो बहुत हैं मगर मूल बात जिसको गुप्त ही गुप्त करना है, दिखाकर की जाने वाली बात नहीं, अपने में ही गुप्त रहकर इस गुप्त स्वभाव में उपयोग लगाकर जो अपने को सबसे निराला अनुभवता है वह पुरुष मोक्षसुख को अवश्य प्राप्त करेगा।

**भारीरविरक्त संतों की शिवसुखलाभयोग्यता**—शरीर के परित्यागी याने दे हमें जिनको अनुराग नहीं, शरीर कैसा ही रहे, मलिन रह रहा, कुछ लग रहा कोई शोक नहीं। कहीं भी बैठे हैं, ज्ञानी पुरुष को इस सम्बंध में कोई शोक नहीं होता। बल्कि बनावट की बात करनी पड़े तो उसमें वे कष्ट मानते हैं, उन्हें अटपट लगता है और स्वाभाविक साधारण जैसा हो रहा सहज वह हो रहा है। दिखावट, बनावट, सजावट ये तीन बातें ज्ञानी जनों में नहीं हुआ करती। इन तीन बातों का प्रेमी वही हो सकता है जिसको अपने ज्ञान से अनुराग नहीं है। तो शरीर की क्या दिखावट, क्या श्रद्गार। उसको तक कर अपने में क्या मौज मानना? मैं बहुत तंदुरुस्त हूँ, मेरे को बहुत आराम है, अथवा इस देह को ही निरखकर मन में आये कि यह मैं हूँ, मेरी बहुत बड़ी कीर्ति हो रही है, मेरा बहुत बड़ा सत्कार लोग करते हैं, इन सब बातों में उसी का ही ध्यान बनेगा जो देह का अनुरागी है। ज्ञानी जीव देह के अनुरागी नहीं होते। वे जानते हैं कि यह देह पौदलिक पिण्ड है। यह देह अपवित्र तत्वों से भरा हुआ है। देह और शरीर ये दो बातें एक ही हैं कि अलग अलग? हैं तो एक ही, मगर जब बढ़ोतरी की ओर चलता है तब तो उसका नाम देह और काय कहलाता है और जब घटती की ओर चलता है तो इस ही का नाम शरीर कहलाता है। जो सड़े गले शीर्ण हो वह तो कहलाता है शरीर और जो एकत्रित हो, उन्नति की ओर हो वह कहलाता है देह और काय। हैं बात एक ही मगर वृद्ध पुरुषों को देखकर कहो कि यह शरीर है, बच्चे को देखकर कहो कि यह काय है, देह हैं। शब्द की व्युत्पत्ति से कह रहे हैं। तो क्या हैं शरीर? पुदल स्कंधका यह पिण्ड है, यह कभी बढ़ गया कभी घट गया, किसी भी पर वस्तु से मेरे आत्मा का सम्बंध नहीं है न उसके कारण कोई सुख होता है, इसलिए देह पूरा मेरे लिए बेकार है। इस देह को देखकर मौज मानना या दुःखी होना योग्य नहीं। यदि मेरे आत्मा के साथ यह देह न लगा होता तो मैं पूरा पवित्र आनन्दमय होता। यह तो कलंक लगा है। इस देह में मौज मानेगा क्या ज्ञानी? ज्ञानी जीव स्वरूपतः स्वभावतः इस शरीर से विरक्त रहता है।

**भोगविरक्त संतों की शिवसुखलाभयोग्यता**—ज्ञानी मनुष्य भोगों से भी विरक्त हैं। तभी तो कवि लोग कहते हैं कि—“भोगे तो भोग क्या हैं, भोगों ने भोगा हम को” अर्थात् मैंने भोग नहीं भोगा किन्तु इन भोगों ने मुझे भोग डाला। अपने जीवन में ध्यान दें तब बात समझ में आती है। जब उम्र बढ़ती है, अनुभव बनता है वहाँ झट बात समझ में आती है कि मैंने व्यर्थ ही इतना जीवन खोया। मैंने भोग नहीं भोगा नहीं तो उसका संचित सुख मेरे आत्मा में तो होता। सुख की बात जाने दो और दुःख ही बढ़ गया है। भोग भोगना बड़ा आसान, भोग तजना शुरुओं का काम। बात सीधी सी है। यह उपयोग जहाँ से उठा है वहाँ ही आ जाय बस यह ही समाधि है। मेरा ज्ञान, मेरा उपयोग मेरे स्वभाव के परिणामन है, मेरे ही स्वरूप से उठे हुए हैं, बस मेरे में आ जाये तो मेरा भला हो गया। जैसे समूह का पानी आखिर समुद्र में ही पहुंचता है। बैसाख जेठ में सूर्य संताप के कारण भाप बनकर समुद्र का पानी बादल बन गया। कुछ काल बाद योग पाकर पानी बरष गया। बरष कर नदियों में गया, नदियाँ समुद्र में गईं, जहाँ से पानी उठा था वहीं का वहीं पहुंच गया, ऐसे ही हमारा उपयोग हमारे इस ज्ञान सागर से उठा है और उठकर बहुत ऊँचे चला गया है और छितर बितर उड़-उड़कर कहीं का कहीं पहुंच रहा है। कभी सुयोग मिले कि यह छितर बितर

हुआ उपयोग घनभूत होकर नम बन जाय, यह बरष जाय और बहकर यह उपयोग मेरे ज्ञानसागर में ही आ जाय तो यह कहलायेगा एक समाधि। इतना काम किये बिना यह जीव संसार में चतुर्गतियों में भटकता फिरता है।

**भोगपरिहारी मनुष्यों की निवसुखलाभ योग्यता**—ज्ञानी जन भोगों के भी त्यागी होते हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से संयुक्त होते हैं। खुद को जाना, खुद में प्रीति उमड़ी, खुद के स्वरूप में मग्न हो गए, यह कला जिन्होंने पायी वे पुरुष पवित्र हैं। वे संसार संकटों से निकट काल में छूट जाने वाले हैं। जीवन उनका ही सफल है जिन्होंने इस कला पर अधिकार पाया है अपने सहज स्वरूप को जानना, उस ही में प्रीति जगना और उस ही में मग्न होने का प्रयत्न होना, न हो सके यह काम तो यह श्रद्धा निरन्तर रहे कि बस कर्तव्य तो यह ही एक मात्र है। बाकी तो सब बेकार बात हैं। तो जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं वे मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भूमिका में एक सम्यग्दर्शन से सम्बंधित कुछ बात कही गई कि जिससे श्रावक अपने आचार को निभाने के लिए सुदृढ़ रहे, सो प्रस्तावना में सम्यक्त्व की मुख्यता से वर्णन किया। यदि कल्याण चाहिये हो तो सर्वप्रथम सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करें। तो अब यह सम्यग्दृष्टि पुरुष इस देशविरत गुणस्थान में आया, श्रावकव्रत पालन करने में आया तो उसका क्या कर्तव्य है, यह बात अब अगली गाथा में कहेंगे।

**दाणं पूजा सरलं उववासं बहुविहंपि रवण पि ।**

**सम्मजुदं मोक्खसु हं सम्मबिणा दीहंससारं ॥१॥**

**सम्यक्त्व सहित दान की मोक्षसुखोपायसहायकता**—श्रावक पदमें दान, पूजा, शील, उपवास, इनकी प्रवृत्ति चलती हैं और वह तीर्थ प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, पर साथ में यह भी समझना चाहिए कि ये सभी कर्तव्य यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो ये मोक्ष मार्ग के सम्पादन में मददगार हैं और सम्यक्त्वरहित किए जा रहे हैं तो वे दीर्घ संसार हैं अर्थात् जब तक सम्यक्त्व प्राप्त न होगा तब तक संसार की परम्परा ही यह बनाएगा। (1) दान—अपने और पराये अनुग्रह के लिए धन का उत्सर्ग करना, त्याग करना दान कहलाता है। दान में अपना उपकार क्या है कि तद्विषयक ममता दूर हुई और अपने भाव सही हुए। धर्म के प्रसंग में इतनी उमंग है और सामर्थ्य है, धनिक है तो यदि उस प्रसंग में त्याग नहीं किया जाता तो वह चिन्ह उमंग का नहीं कहलाता। उमंग उस ही को कहते हैं कि जिसकी उमंग हो उसके लिए सब कुछ समर्पण किया जा सके। तो दान में अपना अनुग्रह क्या हुआ कि ममता हटी और सद्भावना में वृद्धि हुई और दूसरे का अनुग्रह क्या है कि साधु संतों को, समाज को, जिज्ञासुओं को सब को उसका लाभ पहुँचेगा। तो श्रावक पद में रहकर दान भी मुख्य कर्तव्य हैं। अब साथ ही यदि दान प्रवृत्ति सम्यक्त्व सहित है तो वह मोक्ष सुख का कारण बनता है। तो इन सब आचरणों में जो विशेषता आती है वह सम्यक्त्व प्रताप से आती है। इसलिए श्रावकों का मुख्य ध्यान होना चाहिए तीन बातों पर। सम्यक्त्व प्रकट हो, सम्यक्त्व के योग्य अपनी साधना बनायें और दान एवं पूजा की प्रवृत्ति बनाये रहें। तो श्रावकों का कर्तव्यभूत जो दान है वह सम्यक्त्व सहित होता तो मोक्ष सुख में सहायक होता है और सम्यक्त्व रहित है तो उस दान से पुण्य बँध गया और उस पुण्य के फल में देव हो गया, सेठ हो गया, राजा हो गया। अब क्या करेगा वह? तो यह धन वैभव ऐश्वर्य मिल जाय तो प्रकृत्या अभिप्राय कुछ स्वच्छंद हो जाता है। विषय सुख की प्रीति में वह न्याय अन्याय भी नहीं गिनता, जिसके फल में कहो नरक आयु बँध जाय तो नरक जाना पड़े। अन्य कोई तिर्यञ्चायु बँधे तो वहाँ दुःख भोगना पड़े। तो सम्यक्त्वरहित श्रावकों के

कर्तव्य से संसार में कुछ अच्छा पद सा मिल गया मगर उससे संसार का संकट नहीं टल सकता।

**सम्यक्त्व सहित पूजा की मोक्ष सुखोपाय सहायकता**—श्रावक का दूसरा कर्तव्य इस प्रसंग में बताया गया पूजा। पूजा का पर्यायवाची शब्द है अर्चा और अर्चा का मित्र है चर्चा। प्रभु पूजा में प्रभु के स्वभाव की, स्वभाव विकास की दृष्टि रहती है और वही स्वभाव मेरे में है, यह बारबार ध्यान जगता है और ऐसा विकास मेरे को प्रकट हो यह भी भावना बनती है। तो श्रावक जो रात दिवस किसी चिन्ता और व्यवस्था में बना रहता है। अर्थोपार्जन के लिए नाना प्रकार के कार्य भी कर डालता है और जो कुछ पापार्जन होता है उस पापार्जन का प्रायश्चित्त अथवा पाप के धुल जाने का साधन कहो तो दान और पूजा बताया गया है। प्रभु पूजा में अपना चित्त लगे, प्रभु के गुणों का स्मरण हो, यह ध्यान में बैठे कि इस जगत में सारभूत चीज कुछ भी नहीं है। जो पद प्रभु को प्राप्त हुआ है, जो वीतरागता की स्थिति बनी है बस यह ही एक श्रेष्ठ पद है जिससे कि उद्धार होता है। बारबार ध्यान जगता है तो अपने स्वभाव की ओर दृष्टि आती है। इस प्रकार श्रावकों को कर्तव्य में यह पूजा भी मोक्षमार्ग में साधक है। जिस पुरुष को सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है, सम्यक्त्व का अर्थ है अपने आपके सहज स्वभाव की प्रतीति हो जाना। मैं क्या हूँ, इसका यथार्थ निर्णय हो जाना और उस ही में हित है ऐसी रुचि जग जाना ये सब सम्यक्त्व के चिन्ह हैं। धर्म मार्ग में प्रवेश उन ही जीवों का होता है जिन्होंने कम से कम बाहर में इतना निर्णय तो कर रखा हो कि यहाँ का यह सारा समागम मायारूप है और इस मायारूप समागम से मेरे आत्मा का उद्धार नहीं है। मैं जो परमार्थ हूँ वही मेरी दृष्टि में रहे, उस ही रूप मेरी अनुभूति बने यह ही कल्याण का उपाय है, यह ही मंगमलमय स्थिति है। बाकी मायामय पदार्थों का समागम इस जीव के लिए हितरूप नहीं है। इतनी भावना जिसके पुष्ट हुई है उसका धर्म मार्ग में चलने में कोई बाधा नहीं आती। (2) प्रभु पूजा—इससे हम धर्म मार्ग के लिए अनेक बातें सीख जाया करते हैं। बारबार स्वभाव की आराधना करना, बारबार अपने आप की इस विकृत पर्याय की तुच्छता पर खेद ऐसा हितकारी खुद जिसमें भव-भव के पाप नष्ट करने का भी समावेश है। तो सम्यक्त्व सहित प्रभु पूजा इस ही को कहते हैं कि प्रभु स्वरूप और आत्मस्वरूप उसके मिलने से बन रही प्रभु की शक्तियाँ और अपने आत्मा की शक्तियाँ, इन को समान निरखा करें, रह गया अन्तर एक पर्याय का। तो प्रभु की पर्याय स्वाभाविक है। उपाधि न रही तो अब उसका परिणाम स्वभावानुरूप ही होगा सो बना हुआ है। यहाँ उपाधि संसर्ग है तो उपयोग में यह कर्म दशाओं का नाच झलकता है और उससे यह उपयोग मलिन हो जाता है। अब इसके आगे जिसमें ज्ञानबल है वह उसका ज्ञाता रहता है। जिसमें ज्ञानबल नहीं है वह अज्ञानी मोही है, तो वह उस कर्मरस के नृत्य को अपना ही सर्वस्व समझकर हर्ष विषाद किया करता है। कितनी ही समस्याओं का सुलझन प्रभु पूजा के प्रसंग में हो जाता है।

**सम्यक्त्व सहित भील की मोक्ष सुखोपाय सहायकता**—श्रावकों के कर्तव्य में यहाँ तीसरी चीज बता रहे हैं (3) शील—अपने सरल स्वभाव से रहना, मायाचार से न रहना, अपने आपके स्वरूप की ओर अभिमुख होते हुए अपने को प्रसन्न रखे रहना और अन्य विकार आदिक चेष्टायें उनसे विरक्त बने रहना यह कहलाता है शील। शील का प्रयोग आत्मा को अपने स्वरूप के अभिमुख करता है। इसका दूसरा नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूप उसमें चरण करना, लीन होना, रमना यह कहलाता है ब्रह्मचर्य। जो इस परमार्थ ब्रह्मचर्य की धुन में रहते हैं उनके व्यावहारिक ब्रह्मचर्य सहज ही बना रहता है तो शील मोक्ष का साधन है। मोक्ष सुख के उपायों में सहयोगी है लेकिन कब? जब सम्यक्त्व

सहित हो। सम्यक्त्व रहित होने पर तो इसमें पुण्य बंध हो जायगा मगर पुण्य के उदय में फिर क्या स्थिति होगी? समागम मिलेगा। ऐश्वर्य बढ़ेगा, तब वहाँ कुछ अभिमान भी जगेगा, दूसरों को तुच्छ भी गिनेगा, तो अन्याय की चेष्टायें भी हो जायेंगी। उसका फल है संसार में रुलना। तो सम्यक्त्व सहित इन कर्तव्यों के होने से तो मोक्षमार्ग में प्रगति बनती है और यह ही कर्तव्य सम्यक्त्व रहित होने पर कुगति का तो विनाश हो गया, तत्काल दुर्गति तो न होगी, सुगति मिलेगी, लेकिन वहाँ जो मायामय साधनों का प्रसंग आयगा, संयोग होगा उस प्रसंग में यह जीव अस्थिर हो जायगा और बाह्य विषय कषायों की ओर लग जायगा। उसका फल संसार में परिभ्रमण है।

**सम्यक्त्व सहित उपवास की मोक्षमार्गोपाय सहायकता—(4)** चौथा कर्तव्य बताया है उपवास—उपवास में मुख्यता है अपने आपके आत्मा के समीप बसने की। उप समीपे बसनं उपचासं, अपने आपके निकट उपयोग का बना रहना उपवास है, अब उपयोग अपने निकट कैसे रहे उसके लिए कर्तव्य है कि बाहरी विकल्पों को त्याग दें। उन बाहरी विकल्पों में दुकान भी है, भोजन भी है। इन सब व्यवस्थाओं में न रहकर अनशन व्रत लेकर अपने आत्मा के स्वभाव की उपासना में समय बितायें, यह कहलाता है उपवास। अब उपवास में तो ये सभी बातें की जानी चाहिए। दुकान न करें, स्वाध्याय में अधिक रहें, मंदिर आदिक जैसे पवित्र एकान्त स्थानों में धर्मसाधना करें और विकल्पों से दूर होने के लिए अनशन करें। वो अब सिर्फ एक अनशन तो सामने आ गया सो लोग कहते हैं कि अनशन करने का नाम उपवास है, पर अनशन किसलिए करना चाहिए था और किया गया वह उद्देश्य जिसकी दृष्टि में नहीं है उनके लिए शब्दार्थ के अनुसार यह तो कह सकते हैं कि अनशन किया है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि उपवास किया है। अनशन और उपवास ये दोनों सहयोगी हैं। मगर प्रसिद्धि में अनशन रह गया। आत्मा के समीप बसना है और आत्मस्वरूप की चर्या बनाना है। कहाँ रमना है यह उद्देश्य तो भूल गए केवल यह बात रही कि भोजन का त्याग। तो अनशन उपवास ये सब तपश्चरण कहलाते हैं। ये मोक्षमार्ग में साधन हैं पर सम्यक्त्व सहित हों तो ये मोक्षमार्ग में साधक हैं, और सम्यक्त्व रहित किये जायें तो ये सब तो मंद कषाय के अनुसार पुण्य बंध हो लेगा। शुभोपयोग बन लेगा, जिसके प्रताप से सदति प्राप्त होगी। मगर उस सदति में भी उपयोग सही रहे, सावधान रहे। धर्म की ओर रहे यह तो उस पुण्य ने ठका नहीं लिया है हो भी सके न भी हो सके। तो प्रायः करके होता नहीं क्योंकि अनादि अज्ञान वासना में रंगा हुआ यह प्राणी मायामय पुद्गल का संयोग पाकर अपने आप के स्वरूप आराधना से च्युत हो जाता है। तो सम्यक्त्व रहित ये कर्तव्य तो लाभदायक न रहे। कुछ अन्तर तो रहा, दुर्गति में नहीं गया, सुगति में पहुँच गया, लेकिन वहाँ ऐसे कारण कलाप मिल सकते हैं कि धर्म के प्रसंग में लग जायगा मगर लग भी सके, न भी लग सके। जब तक सम्यक्त्व न हो तब तक उसका संसार बना रहता है। तो ये सब श्रावकों के कर्तव्य सम्यक्त्व सहित होने से ये मोक्ष सुख के साधन बनते हैं और सम्यक्त्वरहित होने से दीर्घ संसार परिभ्रमण बना रहता है।

**दाणं पूजा मुखं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।**

**ज्ञाणाज्झयणं मुखं जइ—धम्मे तं विणा तहा सो वि।।10।।**

**श्रावकों के कर्तव्यों में मुख्य दान और पूजा—**इस गाथा में श्रावक धर्म और मुनि धर्म इन दोनों का वर्णन किया जा रहा है। दान और पूजा ये श्रावक धर्म में मुख्य बताये गए हैं, क्योंकि इनके बिना वह श्रावक ही नहीं कहलाता। यद्यपि ध्यान और अध्ययन ये भी कर्तव्य हैं मगर कोई श्रावक ऐसी स्वच्छन्दता में आये, भावुकता में आये कि बस ध्यान और अध्ययन इन दो से बढ़कर कुछ नहीं इसलिए ध्यान और अध्ययन में रहें, बाकी पूजा दान

आदि के इन पचड़ों में पड़ने से क्या फायदा? ऐसी दृष्टि अगर श्रावक अवस्था में होती है तो वहाँ कषायों की तीव्रता कारण है ऐसी भावना बनाने पर क्योंकि सर्व प्रकार के लोगों का तो संग मिलता है। उनसे बातचीत चलती है, उनका आदर भी किया जाता है। गृहस्थावस्था में रहकर न जाने किन-किन पुरुषों का आदर नहीं किया जाता। व्रतहीन हो, ज्ञानहीन हो, आचरणहीन हो, अन्याय में भी लगा रहता हो कैसा भी कोई हो, धन कमाने के प्रसंग में भी और आदत बनने से जब चाहे भी उनसे वार्ता चलती है और उस संग प्रसंग से पापकर्म का बंध चलता है। मलिनता बढ़ती है तो ऐसी तो स्थिति में रहे और प्रभुपूजा का क्या करना। दान का क्या करना, उस ओर से उदासी रखे अथवा कुछ घृणा जैसी दृष्टि से भी देखने लगे और ध्यान और अध्ययन की ही एक भावुकता में विशिष्टता बताकर दान और पूजा से दूर रहे तो उसके ध्यान और अध्ययन में भी अतिशय नहीं जगता, इस कारण बताया है कि श्रावकों के लिए दान और पूजा ये दो मुख्य कर्तव्य है। इन दो कर्तव्यों के बिना वह श्रावक ही नहीं कहला सकता।

**साधुओं के कर्तव्यों में मुख्य ध्यान और अध्ययन में ध्यान का कथन—** और, यतियों के लिए क्या कर्तव्य हैं? ध्यान और अध्ययन। यदि साधु में ध्यान और अध्ययन की बात न हो और वह मंदिर के श्रृंगार या अनेक प्रकार के अन्य प्रदर्शनों में अपना उपयोग लगा दे और उस ही में वह तृप्त रहा करे तो मुनिव्रत का उद्देश्य अभी उसके नहीं रहा। इसे कहते हैं लौकिकी वृत्ति/गृहस्थ करें ऐसा तो उनके लिए यह गुण हैं और अगर साधु करें ऐसा तो उनके लिए यह अवगुण हैं। साधुओं को तो ध्यान और अध्ययन ये दो कर्तव्य मुख्य बताये गए हैं। ध्यान में किसी शुद्ध तत्व की ओर उनका चित्त लगा रहता है। मनन चलता है। उसका जानन चलता रहता है यह तो है मुनिजनों का ध्यान। जो वास्तव में विरक्त हैं। अपने आत्मस्वभाव की ओर ही जिनकी दृष्टि बनी है, उसी के पौरुष में रहते हैं उनको यह भगवान आत्मा प्राप्त हो जाता है। तो उन मुनिजनों को जंगल में एकान्त में लोक में सबसे महान वस्तु आत्मस्वरूप परमात्मा जब मिल गया तो अब उन्हें अन्य संसार की बातों से प्रयोजन ही क्या रहा? अपने प्रभु से बात करते हुए वे अपने में अन्तः प्रसन्न रहते हैं। यही कारण है कि मुनिजन जंगल में रहते हुए भी ऊबते नहीं हैं, बल्कि इस सहज अंतस्तत्व की दृष्टि में रमकर पता नहीं पड़ता कि इतना समय इतना बड़ा दिन कैसे व्यतीत हो गया। साधुओं का मुख्य कर्तव्य है ध्यान। देखो ध्यान बिना कोई नहीं रह रहा। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी ओर का ध्यान बनाये रहते हैं कोई स्त्री के ध्यान में बैठा होगा तो कोई पुत्र के ध्यान में, कोई अपनी कीर्ति के ध्यान में तो कोई अपनी महत्ता समझने के ध्यान में, कोई प्रभु के ध्यान में तो कोई स्वाध्याय के ध्यान में। क्या कहा जा रहा है उसका अर्थ समझने के ध्यान में कोई बैठा है। ध्यान सबके लगा है। उन ध्यानों में शुद्ध तत्व की ओर ध्यान जाय तो वह ध्यान प्रशंसनीय है और बाकी संसार की जिन-जिन बाह्य बातों में ध्यान लग रहा वह तो सब अतत्त्व है। मायारूप है। माया में ध्यान लगाने का फल शान्ति नहीं है, अशान्ति है। तो साधुओं का कर्तव्य है ध्यान।

**साधुजनों के कर्तव्यों में मुख्य ध्यान और अध्ययन में अध्ययन का कथन—**साधुओं का, दूसरा कर्तव्य है अध्ययन। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत शास्त्रों में, ऋषिजनों द्वारा प्रणीत शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वह तत्व क्या है और उसे अपने आप पर घटित करना। अगर बाहरी वस्तुओं का वर्णन है तो वह पर है, उससे मेरा हितरंच नहीं है। इस तरह का ध्यान बनेगा, मनन बनेगा और स्व की अगर चर्चा है तो अपने आप के गुणों के स्मरण में ध्यान चलेगा। तो यह जो अध्ययन है, जिसमें वस्तुविषयक परिचय चल रहा है वहाँ रागद्वेष प्रसंग न होने से मुनिजन निराकुल रहा करते हैं। तो यह यती जनों का यती

धर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य हैं। यहाँ भी यदि ध्यान और अध्ययन नहीं हैं तो वह मुनि नहीं हैं। उसका मुनिभेष में रहकर परिश्रम करना बेकार है। ध्यान तो आत्मा को पवित्र निराकुल रखने का था। पर बाह्य विषयों में उपयोग लगा हो तो वहाँ न निराकुलता आ सकती और न संसार से निवृत्त होने का उपाय पाया जा सकता। तो यह श्रावक धर्म और मुनिधर्म के लिए उपदेश किया गया है कि श्रावकजन तो दान और पूजा को अपना मुख्य कर्तव्य समझें और बिना नागा दान पूजा का कर्तव्य निभाते रहें और साधुजन ध्यान और अध्ययन के वातावरण में रहकर अपना समय गुजारें तो यह प्रवृत्ति इस जीव को हितकारी है और निकट काल में वह अपने आप के स्वरूप को निरखकर अपने आपमें मग्न हो सकेगा।

**दाणुण धम्मण चागुण भोगुण वहिरप्पजो पयंगो सो।**

**लोहकसायग्गिमुहे पडियो मरियोण संदेहो ॥११॥**

**दानादि कर्तव्यविमुख गृहस्थ की लोभकशायान्निपतितता**—श्रावकों के कर्तव्य के सम्बंध में कह रहे हैं कि उनके कर्तव्यों में दान, धर्म, त्याग और न्यायपूर्वक दान, ये चार बातें सही होनी चाहिए। यदि इनमें त्रुटि है, इनसे विमुख हैं श्रावक तो वह बाह्य पदार्थों को आत्मा ही जान रहा है तब ही तो विमुख है। आत्मा का आदर नहीं और बाह्य पदार्थों का आदर है तो इसका कारण यह ही तो हुआ कि उसने बाह्य को आत्मा माना। सो जो पुरुष बाह्य पदार्थों का महत्त्व आँकता है, उनकी ओर ही आसक्त रहता है वह तो दीपक पर पड़ने वाले पतिंगे की तरह मरा हुआ ही समझिये। पतिंगा तो दीपक पर पड़ता है और यह कर्तव्यहीन श्रावक लोभकषाय के वश होकर अग्नि में गिर रहा है। सो जैसे वह पतिंगा दीपक में गिरकर मर जाता है ऐसे ही लोभ कषाय में गिरकर यह गृहस्थ भी अपना जीवन बिता डालता है। जीवको दुःख देने वाला केवल लोभ है, तृष्णा है और लोभ तृष्णा का ऐसा संस्कार होता है कि रात दिवस उसको शान्ति नहीं मिलती और धार्मिक कर्तव्यों के लिए फुरसत नहीं। वह ऐसा दिमाग को बिगाड़ता है, लोभकषाय के काम भी नहीं, फिर भी धर्म कार्यों के लिए उमंग नहीं, फुरसत नहीं, तो जैसे पतिंगा दीपक पर गिरकर मर जाता है ऐसे ही कर्तव्यहीन श्रावक लोभ कषाय की अग्नि में गिरकर मरा हुआ ही समझिये और अन्त में मर जाता है।

**ज्ञानी गृहस्थ की लोभविमुखता**—जो ज्ञानी गृहस्थ है, जिसने सारभूत अपने अंतस्तत्त्व का परिचय किया है, जो आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप है उसका प्रसाद पाया है वह तो मिले हुए बाह्य वैभव को भार समझता है। वह जानता है कि इससे मेरे आत्मा को क्या लाभ है। आत्मा का लाभ तो अपने आपके चैतन्यस्वरूप की दृष्टि में है। जो भव्य इस चैतन्य स्वरूप की आराधना का जितना अभ्यास कर लेगा वह उतना ही सहज आनन्द पाता है। तो ऐसे ज्ञानी पुरुष को बाह्य वैभव धन सम्पदा मिले तो क्या वह उन्हें व्यसनों में पड़कर खो देगा? अरे व्यसन तो उसके पास फटकते भी नहीं। वह तो अपने आत्मा में उस धन सम्पदा को बरबाद करेगा। उसे अपने आराम का भी ख्याल नहीं आता। आराम के मायने हैं जो भी अनावश्यक बातें की जा रही हैं उनको ही लोग आराम कहते हैं। जैसे यत्र तत्र घूमना, सिनेमा आदिक का व्यसन लगना, अन्य भी खोंटे व्यसन लगना, शतरंज या चौखट जुवा खेलना, अपने मकान को बहुत सजाकर रखना, इन सब को आवश्यक बनाना, उनको ही लोग आराम बनाते हैं, उनसे ही मौज मानते हैं पर ज्ञानी श्रावक को इनमें मौज नहीं मालूम देता।

**ज्ञानी की वैभवविरक्तता**—ज्ञानी को अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि की धुन है और उसे मिल जाय वैभव मिलता ही है तो उसका त्याग ही श्रेयस्कर समझता है। जो वैभव से विरक्त होता है उसको वैभव अधिकाधिक मिलता है। संसार में रहने तक उस जीव को ऐसा संगम हुआ करता है जिसके लिए कविजन अलंकार में कहते हैं कि भगवान ने, तीर्थकर ने, अरहंत ने पहले सब परिग्रहों का त्याग किया, वीतराग बने, सर्वज्ञ हुए, उनके पाप परमाणु तो रहे नहीं। 8वें गुणस्थान से पाप प्रकृतियाँ पुण्य रूप में होने लगती हैं। पाप प्रकृतियाँ रही सही हों तो वे यों समझो कि जानरहित। वहाँ तो पुण्य का ही अभ्युदय है, भगवान हैं मगर अभी अघातिया कर्म तो साथ हैं। वेदनीय, साता, असाता वेदनीय, सुभग, यशकीर्ति ऐसी बढ़िया—बढ़िया प्रकृतियाँ तो उनमें अब भी पड़ी हुई हैं। पुण्य के प्रताप से लक्ष्मी मानो समवशरण के रूप में आयी है और प्रभु को छूना चाहती है। वह लक्ष्मी उत्तम गंधकुटी बन गई। उस पर सिंहासन हो गया। प्रभु को वह लक्ष्मी छूना तो चाह रही मगर प्रभु उससे चार अंगुल ऊँचे स्थित हैं। तो मानो लक्ष्मी ने सोचा कि नीचे से तो हमारा वश चला नहीं। हम ज्यों ज्यों नीचे से छूना चाहते त्यों त्यों ये प्रभु ऊँचे उठते हैं। अब नीचे से छूने न चलूँगी, अब तो ऊपर से गिरूँगी, फिर देखें कहाँ जायेंगे। सो तीन छत्र के बहाने लक्ष्मी भगवान के ऊपर से टपकी मगर वहाँ से चार अंगुल ऊपर ही छत रह गए। वह भी भगवान को छू न सके। देखो छाया होती है, उस छाया को मनुष्य पकड़ता है तो छाया उसके हाथ में पकड़ में नहीं आती, वह छाया उससे विमुख होकर आगे जाती है, और जब वह पुरुष उस छाया से विमुख होकर चलता है तो छाया उसके पीछे पीछे चलती है। तो ज्ञानी पुरुष को इन वाह्य सत्तावान पदार्थों के प्रति ऐसा दृढ़ निर्णय है कि इन सबकी सत्ता मुझसे अत्यन्त पृथक् है। यह मैं जीव एकसत् हूँ, बाकी अन्य समस्त पदार्थ मुझसे निराले हैं। समस्त पुदल द्रव्य मुझसे निराले हैं। धर्म अधर्म, आकाश, काल इन सर्व द्रव्यों से मैं निराला हूँ। यह मैं ज्ञान मात्र चैतन्यस्वरूप परमार्थ सत् हूँ।

**स्वयं कुछ ज्ञान पाये बिना ज्ञानियों की करतूत की अच्छता पर अज्ञानियों को संदेह**—ज्ञानीजन क्या करते हैं, कैसा विमुख रहते हैं, कैसी उनकी धुन रहती है, इस बात को अज्ञानी जन नहीं समझ पाते। किन्तु जिनको विवेक है और आत्मतत्व का कुछ भी ज्ञान है, चित्रण है, उनकी समझ में आता है कि प्रभु ने जो किया वह सब ठीक किया। नही तो मोहीजन ऐसा सोच डालते हैं कि इसके दिमाग में क्या फितूर उठा। ऐसी कमायी छोड़ी, ऐसा घर बार छोड़ा .....। भले ही लोकरूढ़ि से सब विनय कर रहे तो यह भी विनय कर रहा मगर भीतर में उसके यह श्रद्धा नहीं बस सही कि प्रभु ने जो किया वह बिल्कुल ठीक किया था और अब जिस स्थिति में है सो बिल्कुल सही स्थिति है। यह बात अज्ञानियों के चित्त में बस नहीं पाती तब ही तो कोई त्यागी अकेला बैठा हो, कोई अधिक भीड़भाड़ न लगती हो, या कोई उसके पास न आता जाता हो तो लोग कहते हैं कि देखो इस बेचारे के पास कोई आता ही नहीं, उसे लोग बेचारा कहकर सम्बोधते हैं। बेचारे का अर्थ है बिना सहारा के, याने जिसका कोई सहारा नहीं, कोई चारा नहीं। और इधर बेचारा कहने वाला पुरुष अपने को परिवार के बीच रखकर, खूब हरा भरा, भरा पूरा, शरणसहित, सहारे सहित समझ रहा है। वह जानता है कि मुझे सब प्रकार का मौज है। मैं शरण सहित हूँ, मेरे को सब चारा है और यह है बेचारा। फिर भगवान तो उस त्यागी साधु संत से भी ज्यादा अकेले हैं। यहाँ तो फिर भी समाज का कुछ प्रसंग है। शरीर कर्म विभाग ये भी साथ हैं। प्रभु के साथ तो कुछ भी नहीं हैं तो उसे अब कितना बेचारा कहेंगे? अज्ञानियों को ज्ञानियों की करतूत में आस्था नहीं होती कि ये ठीक कर रहे हैं। पर विवेक कुछ भी जगे, थोड़ा भी ध्यान पहुँचे अपने आप की ओर तो यथार्थ समझ बनती है कि प्रभु ने ठीक किया। उत्तम

दान क्या? कि समग्र वैभवों का परिहार करके निर्ग्रन्थ होकर अपने आप में ही रमण करना यह कहलाता है उत्तम दान। इससे ऊँचा दान अन्य कुछ नहीं हैं और ऐसा न कर सके तो याने समस्त वैभवों का त्याग न कर सके तो उस वैभव का उचित काम में उपयोग करना, त्याग करना यह है दान। तो जहाँ दान नहीं हैं उन श्रावकों की स्थिति ऐसी हैं कि जैसे अग्नि में गिरने वाले पतिंगे की। वह लोभ कषाय की अग्नि में गिरकर मर जाता है। जिन्दा रहते हुए भी मरे की तरह है। और तद्भव मरण में तो उस भव से मरा कहा ही गया।

**धर्मकर्तव्य विमुख भावक की लोभकशायग्निपतितता**—इसी प्रकार धर्म, धर्म नाम तीन जगह प्रयुक्त होता है, शुभ क्रियाओं में भी धर्म का नाम चलता है और निश्चय से तो रागद्वेषरहित जो आत्मा का शुद्ध उपयोग है उसे धर्म कहते हैं। और, श्रावकजनों का यह प्रकरण है। उस वीतराग धर्म का प्रयोग तो सदा के लिए मुख्यतया है और श्रावकों के लिए प्रारम्भ से ही कुन्दकुन्दाचार्य कहते आ रहे हैं कि “दाणं पूजा मुखो” श्रावकों का मुख्य कर्तव्य दान और पूजा है। इसके मायने यह नहीं कि ध्यान और अध्ययन तो श्रावकों का काम ही नहीं। काम तो है। जो आत्मा का हित चाहने वाला है उसका काम वह है ध्यान और अध्ययन मुख्यतया मगर श्रावक ने जिस स्थिति को अंगीकार किया है गृहस्थ की परिस्थिति में उसमें रहकर ध्यान और अध्ययन की मुख्यता नहीं बन सकती। वह स्थिति ही ऐसी है, पद है ऐसा, अतएव उनको दान और पूजा की मुख्यता है। इसी तरह आत्मश्रद्धा रखते हुए जो कुछ भी धर्म के लिए प्रयोग रूप आता है वह सब पुण्य विशेष से सम्बंधित चलता है। तो जो भी कर्तव्य बताये गये हैं जिनेन्द्रदेव के शासन में उन धार्मिक कर्तव्यों को जो न करे वह श्रावक दीपक में पड़ते हुए पतिंगे की तरह है, याने लोभ कषाय की अग्नि में पड़ता है और अपनी आयु खोता है। श्रावक यह नहीं कर सकता कि आज त्याग की बात चल रही है, दान की बात चल रही है तो सब कुछ दूसरों को दे दे, अपने पास कुछ न रखें....., गृहस्थी में रहकर ऐसा न निभ सकेगा। उत्तम दान करना तो जिन दीक्षा लेना है, यदि जिनदीक्षा का पक्का निर्णय हो तो सर्वसन्ध्याय करे, मायने सबका त्याग करे और गृहस्थी में रहते हुए अगर सबका त्याग कर दे तो उससे ऐसा निभता नहीं है। फिर भी धन के प्रति अगर रंच भी श्रद्धा हो गृहस्थी में कि यह मेरे लिए हितरूप है तो वह अभी धर्म मार्ग में नहीं है। उसके तो तीव्र मोह का उदय है जो इन भिन्न सत्ता वाले पदार्थों से अपनी भिन्नता नहीं समझ सकता तो जिन श्रावकों के धर्म नहीं है वे श्रावक लोभ कषाय की अग्नि में गिरते हैं और मरते हैं।

**त्याग के अभाव में अज्ञानी की लोभ कशायग्निपतितता**—श्रावक के त्याग धर्म भी बताया है। जहाँ जो आवश्यक है उस कार्य के लिए अपने मन, वचन, कार्य की प्रवृत्ति को त्यागना और यथाशक्ति धन को त्यागना याने परोपकार के लिए और अपने उपकार के लिए जो स्व का अतिसर्ग होता है वह है त्याग। व्रतनियम विषयों की आशा का त्याग उपवास, शक्ति नियम को निभाना आदिक करने में एक मन के बेग का या कषाय का त्याग करना पड़ता है। वह भी त्याग है। तो अभक्ष्य का त्याग, अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह का त्याग और तन, मन, धन, वचन का सही जगह उपयोग, यह सब त्याग है। यह वृत्ति जिनमें नहीं है वे लोभ कषाय की अग्नि में गिरते हैं और मरते हैं जैसे कि पतिंगे दीपक पर गिरते और मरते हैं। एक बार एक साधु प्रवचन कर रहा था कि त्याग से संसार समुद्र पार कर लिया जाता है और उसका बड़े विवरण के साथ उपदेश कर रहा था। रोज रोज का यही उपदेश देने का काम था, और श्रोताजन रोज-रोज सुनने आया करते थे। एक बार उस साधु को किसी दूसरे गाँव जाने की भावना हुई और चल दिया। बीच में एक नदी पड़ती थी सो नदी के उस पार नाव से ही जा सकते थे। नाव भी किनारे लगी थी।



उस साधु ने नाव में बैठने को कहा तो नाविक बोला कि इसका तो दो आने किराया है। अब साधु के पास दो आने पैसे कहाँ? वे पैसे तो रखते छूते नहीं सो उन्होंने सोचा कि चलो उस पार न सही, इसी किनारे सही। आखि रवह उसी पार बैठकर धर्मसाधना करने लगा इतने में कोई श्रोता उधर से निकला, साधु को बैठे देखा और पूछा—महाराज आप यहाँ कैसे बैठे हुए हैं? तो साधु बोला—हम नदी के उस पार जाना चाहते हैं। नाविक हमसे दो आने पैसे माँगता है। हमारे पास पैसे कहाँ, सो हम यहीं बैठ गए। वह श्रावक श्रोता बोला—महाराज आप हमारे साथ चलिये, हम नाविक को पैसे दे देंगे। आखिर वह साधु उस श्रावक के साथ नदी पार हो गया। नदी पार हो जाने पर श्रावक बोला—महाराज जी आप तो अपने प्रवचन में बहुत बहुत बोल रहे थे कि त्याग से संसार समुद्र पार कर लिया जाता है। पर आप तो एक छोटी सी नदी भी पार न कर सके। तो साधु बोला—सेठ जी अभी आप भूल में हैं। यदि आपने चार आने पैसे का त्याग न किया होता अंटी में बाँधे रहते तो कहाँ से हम तुम दोनों नदी पार कर पाते? अच्छा अब एक बात और भी देखो—हम आपको संसार का जो भी सुख मिल रहा है वह भी त्याग से मिल रहा है। पहली बार तो यह है कि पूर्व भव में त्याग निभाया, उससे जो पुण्यबंध हुआ उसके उदय में ये समागम मिल रहे।

**विशयसुख त्यागे बिना विशयसुख भोगने की भी अपात्रता**—आप सबके अनुभव की बात यह है कि आप को इच्छा है भोजन की तो अब आप खूब रात दिन भोजन करते रहो, सो ऐसा किया भी नहीं जा सकता। जब आप भोजन का कुछ घंटों का त्याग कर देते हैं तभी आपको एक मीठी सी भूख लगती है और भोजन आपको प्रिय लगता है। खूब मौज मानते हुए खा लेते हैं। तो भोजन करने लायक आप कब रहे, जबकि भोजन का त्याग किया। नहीं तो आप भोजन करने के लायक न रहते। जो भोजन के आशक्त लोग हैं, भोजन को जो रातदिन छोड़ते ही नहीं। भले ही जब उनके गले में भोजन न उतरे तब वे बंद करें तो ऐसा करने वालों के होता क्या है? प्रायः देखने में आता कि उनका दस्त साफ नहीं होता, कभी सिर दर्द बना रहा करता कभी पेट दर्द। अनेक प्रकार की बीमारियाँ भी उनके शरीर में घर पर जाया करती हैं। तो जैसे भोजन का त्याग किए बिना भी उसका सुख नहीं पाया जा सकता उसी प्रकार सब इन्द्रियों की बात समझ लो। यदि इन्द्रिय के विषयों में आप बराबर लगे रहें तो आप का जीवन बरबाद हो जायगा। आप उन इन्द्रिय विषयों में मौज मानने लायक भी न रहेंगे। विषय भोग का त्याग कर दिया तो कुछ समय बाद आप उस विषय का भोग कर सकने के पात्र हो सकेंगे। एक नासिका इन्द्रिय का ही विषय ले लो। नासिका इन्द्रिय ये यदि कोई बहुत बहुत तेल फुलेल पुष्पादिक से उसकी सुगंध लेता रहे तो वह उस सुगंध से ऊब जायगा। उस सुगंध का आनन्द खतम हो जायगा। इस बात को तो शायद आप लोगों ने करके भी देखा होगा। और बीच-बीच में कुछ घंटों के लिए उस सुगंध का त्याग कर दिया तो फिर वहाँ आप को गंध सुहावनी लगेगी। तो त्याग के बिना संसार का सुख भी नहीं भोगा जा सकता। इसी सम्बंध की बात और भी सुनें। चक्षुइन्द्रिय की बात—आँखों को जो प्रिय लगे—जैसे सनीमा या जो कुछ, आप टकटकी लगाकर खूब लगातार देखते रहें तो एक तो उस आनन्द में भी कमी आ जायगी, दूसरे—आप ऐसा लगातार कर भी नहीं सकते। आप की पलक गिरगी, उस देखने का त्याग करना पड़ेगा, फिर आप देखने के पात्र हो सकेंगे। ऐसे ही कर्णेन्द्रिय की बात सुनें—मान लो कोई बड़ा अच्छा गाने वाला हो। उसकी राग रागनी में आप को बड़ा आनन्द मिल रहा हो, वह शाम को मानो 7 बजे गाने के लिए बैठ जाय, सारी रात आप उसके गाने सुनते रहे। मान लो रात्रि के 2-3 बज गए तो वहाँ आप गायन सुनते सुनते

खूब ऊब जायेंगे और अन्त में कह उठेंगे कि भाई अब तो अपना गायन बंद कर दो। लगातार कोई बहुत समय तक सुनता रहे तो उसके आनन्द में कमी आ जायगी। यदि कुछ समय के लिए उस राग रागनी का सुनना बंद कर दे, तो फिर उसे उसमें आनन्द मिलेगा। ऐसा ही मन का भी विषय है। मान लो आपको खूब मन माफिक यश कीर्ति प्रशंसा की बात मिल रही, आपका बहुत-बहुत स्वागत हो रहा, यही बात निरन्तर चलती रहे तो आप उससे भी ऊब जायेंगे, और कभी कुछ साधारण सी स्थिति आ जाय, उस यश कीर्ति प्रशंसा की बात में कुछ कमी आ जाय, बाद में फिर वैसी ही बात आप को देखने को मिले तो उसमें आपको विशेष आनन्द मिलता है। तो बिना त्याग के कोई इन्द्रिय सुख भी अच्छी तरह नहीं भोगा जा सकता। त्याग बिना कुछ बात अच्छी नहीं बनती। जिन श्रावकों के त्याग धर्म नहीं है वे श्रावक दीपक में गिरते हुए पतिंगे की तरह लोभकषाय की अग्नि में गिरते हैं और मरते हैं।

**अन्यायपूर्वक भोगपरिहार किये बिना प्राणी के कल्याण का अपात्रपना**—इसी तरह एक अंतिम बात सुनें—भोगों को न्यायपूर्वक भागें, यह श्रावकों का एक कर्तव्य है। यदि श्रावक के न्यायपूर्वक भोगों का भोगना न रहा, अन्याय अनीति से ही अपने इन्द्रिय और मन को पोषता रहा तो वह लोभ कषाय की अग्नि में गिरता है और अपने आत्मा का घात करता है। न्यायपूर्वक भोग भोगने वाला गृहस्थ भी प्रशंसा के योग्य है। गृहस्थ धर्म भी मोक्षमार्ग में है, मुनिधर्म भी मोक्षमार्ग में है, और आज के समय में तो दोनों की एक सी स्थिति है। श्रावक तो आजकल मोक्ष जा नहीं सकते। किन्तु आज के मुनि भी मोक्ष नहीं जाते और जितने ऊँचे पद तक देव-गति में स्वर्ग तक मुनि जा सकते हैं उतने ऊँचे स्वर्ग तक सही श्रावक भी जा सकते हैं। आज स्थिति दोनों की समान है पर मुनि धर्म की विशेषता यों चलती है कि यदि वह अच्छे भावों का वातावरण बनाये रखे तो उसे यह बात सुगमता से बन जाती है। इसके लिए उपयोगी है, पर न्यायपूर्वक भोग भोगने वाला गृहस्थ मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं है। जो अन्याय से भोगो वह भ्रष्ट है और वह लोभ कषाय की अग्नि में पतित होकर मरता है।

**जिणपूया मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरुवेण।**

**सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो मोक्खमग्गर ओ।।12।।**

**जिन पूजक श्रावकधर्मी की मोक्षमार्गरतता**—इस रयणसार ग्रन्थ में श्रावकों के आचरण प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है और गुरुवों को, मुनियों को दान देता है वह मोक्षमार्ग में लीन धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है। मोक्षमार्ग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की एकता और जिनेन्द्र भगवान ने मोक्षमार्ग का फल प्राप्त कर लिया, परमात्मा हो गए। तो उनकी पूजा में, उनके गुणों के स्मरण में अपने पापों का विनाश है, स्वभाव की सुध है और अपने स्वभाव में लीन होने की प्रेरणा मिलती है। इस जगत में किस वस्तु का समागम सारभूत है? सर्व भिन्न सत्तावान हैं, उनसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं उनसे मेरे को कुछ काम नहीं। एक कल्पना वश फसे हुए हैं। इससे आवश्यक जंच रहा हैं। यदि यह आत्मा जैसा अपने स्वरूप में है वैसा ही अकेला रहता तो इसको कोई कष्ट न था। यह सब बात जिनेन्द्र देव की मूर्ति बतला रही है। जगत में किसी ठौर सार नहीं है। इसलिए एक जगह ऐसा बैङ्ग जावो पैर पसार कर, पद्मासन से बैङ्गी हुई मूर्ति मानो यह उपदेश दे रही है कि तुम कहीं मत जावो, अपने आप में रमो। यह हाथ पर हाथ रखे हुए मूर्ति मानो यह बता रही है कि जगत में कुछ भी करने योग्य बाहर में नहीं हैं, इसलिए समस्त कर्तव्य को छोड़ दो, हाथ पर हाथ रखकर बैठे हैं। नासाग्रदृष्टि मानो यह बतला रही है कि बाहर में कहीं

कुछ देखने योग्य कुछ भी नहीं है। तुम अपने आप में अपने आपको निरखो, और वह सहज आनन्द की मुस्क्यान मानो यह उपदेश दे रही है कि अपने उपयोग को अपने में लीन करो, वहाँ है सत्य आनन्द। तो जिसने मोक्षमार्ग का फल पाया है ऐसे प्रभु की जो पूजा करता है सो वह भी मोक्षमार्ग में रत है, मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं है क्योंकि उस ही की सुध दिलाने वाला है।

**मुनि सेवक श्रावक धर्मी की मोक्षमार्गरतता**—इसी तरह श्रावक जो शक्ति अनुसार भक्तिपूर्वक दान करता है—आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान, वह पुरुष भी मोक्षमार्ग में रत है। उसे आत्मा की सुध तो है, तब ही तो जो आत्मसाधना में लग रहा है, ऐसे सत्पात्रों की सेवा सुश्रुषा में चल रहा है। यदि व्यसनों में लगा होता तो व्यसनी पुरुषों को यह मित्र बनाये रहता। इसको अपने चारित्रपालन की धुन है इस कारण यह चारित्रधारियों की संगति में रहता है। चार प्रकार के दानों के संबंध में लिखा है कार्तिकेय स्वामी ने कि आहार दान देने से उसको एक दो दिन के लिए धर्मसाधना में जुटाया, औषधिदान देने से उसे कई दिनों के लिए धर्मसाधना में जुटाया, क्योंकि रोग से मुक्त हो जाय तो अनेक दिनों तक वह धर्मसाधना करेगा अभयदान देने से बहुत काल तक के लिए उसे साधना में जुटाया और शास्त्रदान (ज्ञानदान) देने से तो उसे अनन्तकाल तक के लिए आत्मकल्याण में लगाया। क्योंकि मनुष्य का धन, जीव का धन एक ज्ञान है, सर्व कुछ पा लेने के बाद भी इस जीव को संतोष नहीं होता। एक सही ज्ञान जगे जो इस जीव को निराकुलता आयेगी। तो इस तरह जो चार प्रकार के दान साधुजनों को करता है वह मोक्षमार्ग में रत है, वह धर्मात्मा है। सदगृहस्थ हैं, सही श्रावक है। जिन पूजा और दान ये दो मुख्य कर्तव्य बताये गए थे, उनके सम्बंध में यह समर्थन किया गया।

**पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।**

**दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ।।13।।**

**पूजाफल में सुरपूज्यता**—पूजा के फल से यह जीव पूज्य स्थिति को पाता हैं, यह भी स्वयं पूज्य हो जाता हैं। प्रभुभक्ति धनंजय कवि ने की। ऐसी भावना की थी कि उसको दूसरा कोई विकल्प नहीं आया। उसी काल उसके लड़के को साँप ने डस लिया घर पर तो स्त्री घबड़ाई हुई मंदिर आयी और समाचार दिया कि अपने लड़के को साँप ने काट लिया, बड़ी जल्दी आइये। उस समय धनंजय सेठ कर रहे थे पूजा सो अनसुनी बात कर दी। अब देखिये पूजन जैसे धार्मिक कर्तव्य को उसने कितना महत्त्व दिया। अनसुनी कर देने पर वह स्त्री बहुत उदास होकर घर आयी, उसे कुछ गुस्सा सी भी आयी कि ऐसी पूजा कैसी कि घर में तो बच्चे को साँप ने डस लिया और वह पूजा नहीं छोड़ते।

देखिये उस समय अनेकों लोगों के मन में भी यह बात आयी होगी कि शायद सेठ जी के दिमाग में कोई फितूर आ गया है अरे पूजा छोड़कर बच्चे की सम्हाल करते, पूजा तो दूसरे दिन भी हो सकती थी, मगर उस धनंजय सेठ की धुन देखिये, उसका अटल विश्वास देखिये। आखिर सेठानी को गुस्सा आया तो उस अधमरे लड़के को उठाकर मंदिर ले आयी और वहीं रख दिया और बोली—लो सेठ जी अब तुम जानो.....। अब भी वह प्रभुभक्ति में लीन रहे। वह जानते थे कि मणि, मंत्र, औषधि सब कुछ प्रभुभक्ति है, उस समय उन्होंने विषापहार स्तोत्र की रचना की। वह बहुत बड़े विद्वान थे। उनका रचा हुआ एक काव्य हैं दुसंधान काव्य। उसमें श्लोक तो वह एक है पर उसी श्लोक में पांडवों की कथा भी निकलती है और श्रीराम की भी, इस ढंग से उसमें शब्द रचना हुई हैं। अब आप लोग विचार कीजिए कि यह कितनी विद्वता की बात है। वह वहाँ विषापहार स्तोत्र रचते गए और उसी बीच में जहाँ भक्ति में बोलते हैं—

**विशापहारं मणिमौशधानि मंत्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।  
भ्राम्यन्त्य हो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि ।**

मणिक, मंत्र कहो, औषधि कहो, रसायन कहो, ये सब हे प्रभुतुम्हारे पर्यायवाची शब्द हैं लोग व्यर्थ ही इनके लिये यत्र तत्र भटकते हैं। प्रभु भक्ति ही यह सब कुछ है। वहाँ बच्चे का विष दूर जाता है और वह उठकर खड़ा हो जाता है। उसका विष उतर गया प्रभुभक्ति के प्रताप से।

**प्रभुभक्ति के कुछ चमत्कार**—देखिये मानतुंग स्वामी ने भक्ति की उसके फल में बतलाया गया है कि 48 तालों में बंद किए गए थे, वहाँ उन्होंने आदिनाथ स्तोत्र की रचना की, जो कि आज भक्तामर स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध है। उस स्तवन का नाम है आदिनाथ स्तोत्र। चूँकि उस स्तोत्र के आदि में भक्तामर शब्द आया है इसलिए उसका नाम भक्तामर स्तोत्र प्रचलित हो गया, तो उस भक्ति के प्रताप से वे सभी ताले खुल गए और उनको भी किसी बंधन में डाला गया था, वह बंधन खुल गया। श्रद्धापूर्वक स्तुति हो तो वह फलदायक होती है।

**स्वयं की श्रद्धा के भी बलवानपना**—ऐसी ही कोई एक कथा कहते हैं कि एक हिन्दू और एक मुसलमान वे दोनों कहीं यात्रा को जा रहे थे। रास्ते में एक भयानक नदी पड़ी। अब उनके सामने यह समस्या आयी कि उस पार कैसे पहुँचे। वे दोनों अपने अपने प्रभु का स्मरण करने लगे। हिन्दू ने एक देव को बुलाया अपनी भक्ति में, थोड़ी देर में दूसरे देव को बुलाया। मानो पहले जिस देव का स्मरण किया वह आया तो उसकी मदद करने के लिए, पर जब देखा कि दूसरा देव आ गया तो वह वापिस लौट गया। फिर उसने तीसरे देव का स्मरण किया तो वह भी आया उसकी मदद करने को पर उसे देखकर दूसरा देव भी वापिस हो गया, यों सभी देव वापिस होते गए, वह नदी पार न कर सका और मुसलमान ने अपने एक ही इष्ट देव को स्मरण किया तो वह नदी पार हो गया। (यहाँ श्रद्धा का फल बताया) लोग कहते हैं कि णमोकारमंत्र सब पापों का नाश करने वाला है, सर्व मंगलों में पहला मंगल है। एक बार ऐसी ही बात थी—मानो एक कोई जैन था और एक कोई अन्य भाई था, वे दोनों रास्ते में एक जगह भटक गए। उनको रास्ते में तेज प्यास लगी। वह जैन आगे गया तो उसको एक कुवाँ दिखा। उसके मन में आया कि मैं इसमें से पानी निकालकर पी लूँ। उसने बहुत कोशिश की, पर डोर बहुत छोटी होने से वह पानी निकाल कर पी न सका। पानी बहुत गहराई में था। इतने में आया कोई दूसरा भाई। पूछा कि भाई यह क्या कर रहे हो? तो वह बोला कि हम बहुत प्यासे हैं मगर पानी इतनी गहराई में है कि हमारी डोर वहाँ तक नहीं पहुँच पाती। तो उस पुरुष ने णमोकार मंत्र का स्मरण किया जिस के फल में उस कुवें में से पानी उमड़ा और कुछ ऊपर तक आ गया। उसने दुबारा जब कुवें में डोर डाला तो वह पानी तक पहुँच गई और उसने अपनी प्यास बुझायी। तो उस जैन ने पूछा कि भाई तुमने ऐसा क्या जादू कर दिया जिससे कुवें में पानी उमड़कर ऊपर आ गया? तो उसने बताया कि मैं जादू कोई नहीं किया, मैंने तो णमोकार मंत्र का स्मरण किया जिस के प्रताप से यह सब चमत्कार देखने को मिला। तो वह दूसरा व्यक्ति बोला—अरे मेरे यहाँ तो यह णमोकार मंत्र बच्चा बच्चा जानता है मगर अश्रद्धा के कारण उसका फल नहीं देखने में आया, और जिसको यथार्थ श्रद्धान था णमोकार मंत्र पर उसको उसका फल देखने में आया। यह श्रद्धा की बात कह रहे हैं। जो दूसरों के प्रति श्रद्धा भक्ति रखता है, विनय करता है उसका खुद भी विनय होता है, और फिर जो प्रभु की विनय करे, वह क्यों न प्रभुता पालेगा। तो जो भक्तिपूर्वक जिन पूजा करता है उसके फल में वह तीन लोकों के देवों द्वारा पूज्य होता है, क्योंकि उस समय उसका मन शुद्ध था।

इस भगवान कारण समयसार के प्रति उसकी दृष्टि थी जिससे उसमें स्वयं निर्मल पर्यायों का प्रवाह चल उठा था, तो वह पूज्य होगा ही।

**मुनिदान से सारसुखलाभ**—दूसरे कर्तव्य के बारे में कहते हैं कि दान के फल से ये जीव निश्चय से तीन लोक में सार सुख को प्राप्त करते हैं। मुनिदान के फल को बताया है, स्पष्ट कि वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है और यदि सम्यक्त्व सहित है तो वह तो सब मोक्षमार्ग में प्रेरक होता है। उसको देवायुका बंध होता है। भोगभूमि एक ऐसा क्षेत्र है कि जहाँ पुरुषों को कोई चिन्ता नहीं रहती। इस क्षेत्र में भी भोग भूमि थी। ऋषभदेव से पहले जो थोड़ा ऋषभदेव के समय भी रही मगर मिटती हुई, वहाँ मनुष्य और स्त्री दोनों को किसी प्रकार का कष्ट न था। जब भूख लगी तो झटकल्पवृक्ष से भोजन मिल जाता, जो भी वस्त्रादिक की जरूरत हुई सो सब वहाँ से मिल जाता। एक पुण्य विपाक देखिये कि पुण्योदय होने पर जो मन में चाह हुई वैसी ही कल्पवृक्ष से रचना बनी। उनके संतान होते हैं अन्त में। तो बच्चा बच्ची जुगुलिया पैदा होते। उनके एक साथ पैदा होते ही उनके माता पिता मर जाते। न माता पिता बच्चों को देखते और न बच्चे लोग माता पिता का। फिर वहाँ दुःख किस बात का? माता पिता को न देखने से उस विषयक कोई कल्पना नहीं जगती जिससे दुःख का कोई प्रसंग नहीं आता। तो भोगभूमि के सुख पाये, देवगति के सुख पाये, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ें, निर्वाणसुख को प्राप्त करें। मुनिदान के फल में यह उत्तम अवस्था प्राप्त होती है। देखिये—बात तो कही गई दो—पूजा और दान, मगर उसमें बात सब आ जाती है क्योंकि जिसको दान दिया जा रहा है उसके स्वरूप की सुध है उसे, और, वह स्वरूप क्या है? जो मुझमें सो उस मुनि में। जो स्वभाव मेरे में हैं सो जगत के सब जीवों में। उस स्वभाव की वे साधना कर रहे हैं, ऐसा मुनि को देखकर ध्यान जगा ना? तो आत्मध्यान की सुध ही तो हुई वहाँ। प्रभु पूजा में भी आत्मध्यान की ही सुध हुई इस कारण प्रभु पूजा के फल में, मुनिदान के फल में जब तक भव शेष हैं तब तक वह नाना प्रकार के सुखों को भोगता है और अन्त में सर्व कर्मों का विनाश कर सिद्ध पद प्राप्त करता है।

**गृहस्थावस्था में मुनिदान की महिमा**—गृहस्थावस्था चूँकि बड़े—लाग लपेट की है, जिसे कहते हैं कि कीचड़ में फंसे रहने की है। धनार्जन, परिजन का पालन पोषण, समाज की भी रक्षा और मंदिर पाठशाला आदिक इन सब की व्यवस्था, याने गृहस्थ जनों पर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है कि वे धर्म की साधना भी बनाये रहें और अपना जीवन भी चलायें। और, ऐसे प्रसंग में श्रावकों पर कितने ही उपद्रव (कष्ट) आया करते हैं। ग्राहकों के, सरकार के, चोर डाकुओं के परिजनों में कोई बीमार है उसके, यों कितनी ही तरह के उस पर उपद्रव हैं। साधुवों पर तो अधिक से अधिक 22 प्रकार के परीषह हो सकते, पर गृहस्थों के परिषहों को तो गिना भी नहीं सकते। अनगिनते परिषह उन्हें सहन करने पड़ते हैं, मगर सम्यक्त्व और ज्ञान के बल से उन श्रावकों में इतनी प्रभुता सम्पन्न होती है कि ऐसी एक उलझन वाली स्थिति में रहकर भी अपने आप में आत्मस्वरूप की सुध होने से वे सुलझे हुए होते हैं, उलझे होकर भी सुलझे हुआ करते हैं। क्या है! जहाँ थोड़ी दृष्टि की अपने आप के स्वरूप पर कि सारे संकट तत्काल ही दूर हो जाया करते हैं। श्रावक लगा है अविकार आनन्दधाम अपने भगवान आत्मा के ध्यान में। वहाँ कोई कष्ट ही नहीं। तो वह श्रावक क्या करे ऐसी परिस्थिति में कि जिससे वह मार्ग से भ्रष्ट न हो सके? तो आचार्यों ने दया कर के उपदेश किया है कि श्रावकजनों का मुख्य काम है दान और पूजा। उस ही के सहारे वे अपने जीवन का समय ठीक ठीक बनायेंगे और ध्यान अध्ययन भी बनायेंगे और

आत्मस्वरूप की उपलब्धि का फल भोगेंगे। तो पूजा और दान इन दोनों के प्रताप से यह जीव प्रभुता को और सुखको प्राप्त करता है।

**दाणं भोजनमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।  
पत्तापत्तविसेसं संदंसणे किं वियारेण ॥14 ॥**

**आहारदान की भलाध्यता**—गृहस्थ पात्रदान करता है तो पात्रदान में उसने दिया क्या? भोजन ही तो दिया। तो भोजन मात्र देने में उस श्रावक को पात्र अपात्र का बहुत वितर्क नहीं करना होता है। एक जगह लिखा भी है कि “भूक्तिमात्र—प्रदानेतु का परीक्षा तपस्विनाम्” केवल भोजनमात्र देने में तपस्वी साधुओं की क्या परीक्षा करना? याने कोई ऐसा सोचे कि मैं यह देखूँ कि यह तपस्वी सही सम्यग्दृष्टि है या नहीं है? यह शुद्धोपयोग में रमा करता है या नहीं रमा करता है। बड़ी तेज परीक्षा कर रहे और यह सोचे कि हमारी परीक्षा में अगर उत्तीर्ण हुए तो हम इन्हें आहारदान दें। तो कहते हैं कि भाई ऐसी बारीक परीक्षा का अवकाश न रखना चाहिए श्रावक गृहस्थ को। अगर कोई एकदम ही स्पष्ट ही भ्रष्ट हो, कुछ हो तो उसके प्रति क्या कर्तव्य हो जाता? यदि उसका महत्त्व बढ़ाया गया तो दर्शन पाहुड़ में बताया है कि वह तो पाप की अनुमोदना करता है, पर साधारणतया सदाचार से साधुजन चलते हों। अपने आवश्यक कार्यों को करते हों तो अब उनमें क्या गहरी परीक्षा करना? तीर्थ प्रवृत्ति में होना यह संदेश देता है कि ‘भूक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्?’ वही बात इस गाथा में कही जा रही है कि जो आहार मात्र देता है याने आहारदान करता है तो वह धन्य हो जाता है। समन्तभद्राचार्य ने बताया है कि ..... गृहकार्यों से, आरम्भ से जो पाप कर्म बाँधा है, संग्रहीत किया है, वह पाप कर्म कौन धोवेगा? कैसे दूर होता है? तो बताया है कि जो गृहविमुक्त साधु संतजन हैं, अतिथि हैं उनके प्रति पूजा उन पापों को धो देती है। जैसे कि जल खून के दाग को धो देता है उसी प्रकार साधु संतजनों की प्रति पूजा उन पापों को धो देती है। अब कोई साधु महाराज की खूब तो पूजा करे, बहुत बहुत हाथ जोड़े, खूब विनय करे और दो शब्द भी कह जाय—इनको धन्य है और आहारदान कोई करे नहीं तो क्या यह हो जायगी प्रतिपूजा? आहारदान में मुनिराज की मुख्य सेवा—कभी कभी कुछ महिलायें कहने लगती हैं कि महाराज जी हम तो महिलायें हैं, आप लोगों की हम क्या सेवा कर सकें? आए लोगों की सेवा तो पुरुष लोग ही कर पाते हैं। तो बताओ—एक तुलनात्मक दृष्टि से देखो अगर पुरुष लोग शारीरिक सेवा बहुत—बहुत करें पर महिलायें आहार बनाकर न दें तो क्या उनकी उस सेवा से काम चल जायगा अरे पुरुषों की सेवा से भी बढ़कर है यह महिलाओं की आहारदान की सेवा। यहाँ कोई यह भेद नहीं डाला जा रहा कि आहारदान—महिलायें ही देती है पुरुष नहीं देते। आहारदान देने में पुरुष लोगों का भी तो बहुत बड़ा हाथ है। पुरुष लोग आहारदान देने की अनुमोदना करते हैं, उन महिलाओं को आहारदान देने की उमंग दिलाते हैं। वे पुरुष लोग ही कमाते हैं, सारी व्यवस्था बनाते हैं, तो वे भी आहारदान का लाभ लेते हैं, मगर एक प्रयोगात्मक (प्रेक्टिकल) बात कह रहे हैं कि मुनिदान के प्रसंग में, आहारदान की मुख्यता विशेष है। सो जो यथाशक्ति आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान, सभी प्रकार के दान करता है उस प्रसंग में आहारदान एक ऐसा मुख्य है कि न हो तो गाड़ी नहीं चल सकती। सो उस प्रसंग में पात्र अपात्र का विशेष तर्क वितर्क गृहस्थ नहीं करता।

**दिण्णइ सुपत्तदाणं बिसेसदो होइ भोगसग्गम ही ॥  
णिव्वाणसुहं कमसो णिदिदट्ठ जिणवरिंदेहिं ॥15 ॥**

**सुपात्रदान से सुगतिलाभ**—सुपात्र में दिया गया दान विशेष रूप से भोगभूमि और स्वर्गसुख प्राप्ति का हेतु बनता है। यह तो बात प्रसिद्ध ही है कि दान से भोग भूमि मिलती है, पर साथ में सम्यग्दर्शन भी हो तो उससे भी ऊँची बात मिलती है। देवगति में भी अनेक ऊँचे पद हैं जो उनको प्राप्त होते हैं। जितने दक्षिण स्वर्ग के इन्द्र हैं वे सब एक भवावतारी हैं। सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अब सीधा मनुष्य होकर निर्वाण को प्राप्त होगा, ऐसे ही लोकपाल। लोकपाल होता है कोतवाल की तरह। उन पर बड़ी जिम्मेदारी होती है और वे इतने दयालु और सर्व हितचिंतक होते हैं कि उनका समय विशुद्ध ध्यान में जाता है, वे भी एक भव पाकर मोक्ष जाते हैं। लौकांतिक देव सर्वार्थसिद्धि के देव, कितने ही पद ऐसे हैं देवगति में कि जो एक भव पाकर मोक्ष जायेंगे और उनसे भी बढ़कर देखो सौधर्म इन्द्र की इन्द्राणियां करीब अरब खरब नील कई नील इन्द्राणियाँ सौधर्म इन्द्र की, उनके जीते जी मोक्ष चली जायें क्योंकि इन्द्राणियों की आयु थोड़ी होती है पल्यप्रमाण, तो झट मनुष्य हुई और मोक्ष गई। ऐसे ही अरग खरब नील इन्द्राणी मोक्ष चली जाती सौधर्म इन्द्र के देखते देखते। कितने ही पद देवगति में ऐसे हैं जो एक भव पाकर मोक्ष जायेंगे। तो ऐसी सदति में प्राप्त होना सुपात्र दान का फल है। यह बात इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य ने जिनका कि अध्यात्म बहुत जबरदस्त विषय था, जिन्होंने समयसार—प्रवचनसार, पंचास्तिकाय जैसे अनेक पाहुड़, रचे, उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रावकजनों पर दया करके उनके गृहस्थोचित कार्यों को बताया है कि इस प्रकार से वे अपना जीवन बितावें और अध्यात्म की दृष्टि को गम्भीर बनावें।

**श्रावकों का ध्यान, अध्ययन कर्तव्य होने पर भी प्रभुपूजा और दान का मुख्य कर्तव्य**— तो इस गाथा में कह रहे हैं कि सुपात्र को जो दान दिया जाता है वह विशेष रूप से भोग भूमि और स्वर्ग को प्राप्त कराता है और क्रम से मोक्ष सुख भी मिलता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है—अब मोक्षमार्ग और मोक्ष के निकट होने वाले भव्य पुरुष शुद्धोपयोग में रत हुआ करते हैं, पर शुद्धोपयोग की प्राप्ति जिन-जिनको भी प्रारम्भ में हुई शुभोपयोग पूर्वक ही हुई। अशुभोपयोग के बाद किसी को नहीं हुई। वे ही शुभोपयोग बताये जा रहे हैं। मोक्षमार्ग में चलने वाले साधुजन हैं, उनके प्रति प्रेम जगने के मायने मोक्षमार्ग के प्रति प्रेम जगना है। तो इस प्रकार यह श्रावक अपने कर्तव्यों में रहता है तो वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं हो पाता। अब इस अवस्था में कोई कहे कि क्या मतलब पूजा और दान से? ध्यान और अध्ययन बिना मुक्ति नहीं होती तो सीधा ध्यान और अध्ययन ही पकड़ें तो भाई ऐसा कोई पकड़कर दिखाओ जो ध्यान और अध्ययन के सिवाय कुछ न करें। गृहस्थी में है और वह केवल ध्यान अध्ययन के कार्य से ही जीवन बिता ले ऐसा उदाहरण मिलेगा नहीं, कोई विशेष करले वह बात तो ठीक है, मिलेगा, किन्तु वह जिस स्थिति में है वह स्थिति तो अनेक पापों का कारणभूत है। क्या करेगा? असि, मसि, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि कोई तो उपाय बनायेगा अपनी आजीविका का बनाना ही पड़ता है गृहस्थ को तो उस ओर तो विकल्प जगा, वहाँ तो यह उत्साह से, उमंग से लगा रहता है। और उसके द्वारा लगने वाले पापों का प्रायश्चित्त न ले और ध्यान और अध्ययन की ही एकमात्र बात कहे तो उसके भीतर के हृदय को तो देखो वह स्वच्छंद रहता है, अभिमान में रहता है और उसका स्वयं विवेक काम नहीं कर पाता। भले ही कुछ कहने सुनने को कुछ बात बताये लेकिन उसके पात्रता नहीं रह पाती अतएव गृहस्थावस्था में रहकर पूजा दान भक्ति दर्शन आदि ये सब बातें आवश्यक हैं। इनको करते हुए ध्यान और अध्ययन में चलें तो वे तो निकल सकेंगे नहीं तो गर्व और स्वच्छंदता का कारण बनेंगे तो अध्यात्म विषय के महान

विद्वान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य यहाँ यह बतला रहे हैं कि श्रावकों का मुख्य कार्य पूजा और दान है।

**इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु।**

**सो तिहुवणरज्जफलं भुँजदि कल्लाणंपंचफलं ॥16॥**

**सप्तक्षेत्रों में सुवित्त बीज बोनो का त्रिभुवन राज्यफल**—जो भव्य पुरुष न्यायपूर्वक उपार्जित किए गए उत्तम धनरूपी बीज को जिनेन्द्र देव द्वारा बताये गए 7 क्षेत्रों में बोता है वह तीनों लोक के राज्यफल को एवं पञ्चकल्याणकरूप फल को भोगता है। श्रावकों को दान देने के स्थान 7 प्रकार के बताये गए हैं। वे 7 क्षेत्र कौन से हैं? (1) प्रथम तो जिन पूजा, भक्ति, द्रव्यपूजा, संगीतपूजा और और प्रकार से जिसमें जिनेन्द्र देव के गुणों का स्मरण बने ऐसा आयोजन, (2) दूसरी बात मंदिर आदिक की प्रतिष्ठायें। यदि देवशास्त्र गुरु के स्थान न हों तो फिर मनुष्यों को आधार क्या रहा? जिससे धर्ममार्ग में चल सकें और तीर्थ प्रवृत्ति बनी रहे। (3) तीसरा—तीर्थयात्रा, वह भी यदि एक वीतराग भाव की उपासना सहित होती है तो वह भी बहुगुणा फल देती है अतएव तीर्थयात्रा हो तो कौन से प्रभु मोक्ष गए हैं, क्या उपाय उन्होंने किया था, उन सब बातों को ध्यान में रखते हुए तीर्थयात्रा होती है तो वह विशुद्धि को उत्पन्न करती है। (4) चौथा—मुनि आदिक पात्रों को दान देना। दान चार प्रकार के हैं—(1) आहार दान (2) शास्त्र दान (3) औषधि दान और (4) अभयदान। इन चारों प्रकार के दोनों से साधुओं का, श्रावकों का, अन्य जीवों का उस में उपकार होता है। (5) पाँचवा क्षेत्र बताया—महर्षियों को दान। पहले बहुत कुछ रिवाज था कि अगर कोई सहधर्मी किसी कारण थोड़ा दुःख पाता है, रहने का इखौर नहीं, खाने की व्यवस्था भी नहीं तो गुप्त रीति से किसी प्रकार वहाँ पहुँचा दिया करते थे और इस तरह साधर्मियों को एक गुप्त सहायता चला करती थी। उसमें भाव यह है कि यह भी मोक्षमार्ग में चलने की रुचि रखने वाला है। मोक्षमार्ग में प्यार है तो मोक्षमार्ग के रुचिया के प्रति भी अनुराग जगता है। (6) छठा क्षेत्र—भूखे प्यासे दुःखी जीवों को दान देना। जो उच्च पुरुष होते हैं, समर्थ पुरुष होते हैं उनका हृदय किसी को भूख से व्याकुल नहीं देख पाता है। ऐसे असहाय दीन दुःखी प्राणियों को मदद करना यह भी एक क्षेत्र है, और (7) सातवां क्षेत्र है अपने कुल व परिवार वालों को अपना सर्वस्व देना।

**आत्महित की प्रगति में सर्वसन्नयास का महत्त्व**—अब कोई कहे कि यह तो हम खूब कर लेंगे। अपने बाल बच्चों को, परिजनों को तो हम सब कुछ दे जायेंगे याने अपने जीवन में कुछ खर्च न कर कृपण रहेंगे, जोड़ते जायेंगे और मरते समय उनको पूरा का पूरा धन दे जायेंगे, ऐसा दान तो बड़ा अच्छा बताया गया, कर लेंगे, पर इसका यह अर्थ नहीं है। उन 6 प्रकार के दानों को करता हुआ जीवन बिताकर अन्त में अपने ही जीवन में सर्वपरिग्रहों का त्याग करना और जिनदीक्षा लेकर साधु होकर अपने आत्मा के ध्यान में लगना, यह उसमें संकेत है, मरकर सब कुछ दे जाना, यह कोई दान नहीं है। अपने आशय में त्याग बुद्धि आये तो वह दान कहलाता है। वैसे तो एक कवि ने एक चित्रण खींचा है कि लोक में सबसे बड़ा दानी होता है कंजूस पुरुष। कैसे कि वह अपने जीवन में कभी कुछ खर्च नहीं करता, अपने को जीवन भर कष्ट में रखता, जीवन भर जोड़ जोड़कर धर जाता और अन्त में सारा का सारा धन छोड़कर परिजनों को देकर मरण को प्राप्त हो जाता। देखिये यह कोई दान नहीं है इसमें तो कंजूस लोगों की खिल्ली उड़ाया है। इस तरह से अपना सर्वस्व देने को दान नहीं कहते। अपने जीवन में सर्व प्रकार के दानों को करता हुआ अन्त में अपना कुछ समय ऐसा बिताये कि निशल्य होकर धर्मध्यान करे। उसके लिए परिवार का मोह त्यागना और यों सर्वस्व छोड़ना जैसे कि राजा लोग अपने पुत्र को



राजगद्दी देकर साधु हो जाया करते थे इस तरह सर्वस्व देकर साधु हो जाना और अपनी आत्म साधना में रहना यह मतलब है इस 7वें क्षेत्र का। तो इस तरह जो भव्य जीव न्याय से तो धन कमाये हुए धन को इन 7 क्षेत्रों में दान करे इसी को कहते हैं अपने उत्तम धन रूपी बीज को बो देना। उसका फल है कि वह तीन लोक के राज्य को प्राप्त करता है। कौन है ऐसा जो तीनों लोक का हो? तो ऐसा कोई राजा नहीं हुआ, पर जो प्रभु बन जाता है, जिसके ज्ञान में तीनों लोक प्रतिभासित होते हैं वह कहलाता है तीनों लोक का राजा, याने वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

**खेतविसेसे काले वविय सुबीयं फलं जहा विउक्तं ।**

**होइ तहा तं जाणहि पत्त विसेसेसु दाणफलं ।।17।।**

**क्षेत्रविशीश में बोये गये फल की भांति पात्रविशीश में दिये गये दान की बहुफलकारिता**— योग्य काल में उत्तम क्षेत्र में बोया गया बीज जैसे बहुत फल को देता है ऐसे ही उत्तम पात्र में उत्तम अवसर पर दिए हुए दान का फल बहुगुण फल को देता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बोने वाला कुशल हो, अच्छे खेत में बोया जाय उपजाऊ जमीन उत्तम अवसर पर बोया जाय और विशुद्धभाववाला भी हो वह भी एक हेतु है अधिक उपजाऊ होने में। कारण कि वह पुण्य भाव को साथ लिए हुए है तो उससे पापकर्म खिरते रहते हैं। जैसे एक बीज बोया जाय तो उसमें करीब करीब ढाई तीन सौ दाने तो उत्पन्न हो ही जाते होंगे, क्योंकि एक बीज बोने से कम से कम उसमें से 5-7 पौधे निकलते हैं। और प्रत्येक पौधे में से अगर एक-एक बाल निकलें तो एक दाने से 5-7 बाल तैयार हो गए। और एक बाल में करीब 40 बीज तो होते ही होंगे। इस हिसाब से लगा लो, एक बीज से कितने बीज पैदा हो गए? करीब ढाई तीन सौ बीज पैदा हो गए। ऐसे ही दान देने वाला भी योग्य कुशल पुरुष विनय भाव से मोक्षमार्ग के प्रति आदर (आस्था) होने से और उत्तम पात्र को दिया हुआ हो। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि एक आत्मध्यान में ही रत ऐसे साधु संत को दिया हुआ हो, उत्तम अवसर पर दिया हुआ हो, उत्तम भाव से दिया हुआ हो तो वह बहुत विशेषफल को प्रदान करता है। यदि पात्रदान की परम्परा न होती तो यह परम्परा तीर्थ प्रवृत्ति यह भी न हो पाती। देखिये जिस समाज में गुरु नहीं होते वह समाज ऊँचे उठ नहीं पाता। किसी भी प्रकार के गुरुजन हों, अगर समाज का रूप रहता है तो वह गुरुजनों के आश्रय से रहता है। अन्यथा सब स्वच्छंद और अपने अपने मन की बात, उनको कोई आदर्श मार्ग देखने को मिलता नहीं तो किंकर्तव्यविमूढ़ से होकर अपने कल्याण के उपाय को नहीं पा सकते। और, जब समाज में गुरुजन होते हैं तो उनके योग्य उनकी सेवा सुश्रुषा में हर प्रकार से जो चलता है तब तो वह परम्परा रहती है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर आचार्यदेव यहाँ पात्रदान को जुदे ही एक प्रकरण में कह रहे हैं।

**मादु—णिदु—पुत—मित्तं कलत्त—धणघण्ण—वत्थु—वाहणं—विहवं ।**

**संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ।।18।।**

**मनुश्य भवलाभ पाकर धर्मप्रसाद करने पर दुर्भवों की सुगमता**—संसार में जो-जो भी समागम सुख के साधन माने जाते हैं वे सुख के साधन मिलते हैं वह सुपात्रदान का फल है। संसार को देखो कितनी तरह के जीव नहर आते हैं। तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय में कुत्ता, बिल्ली, चूहा, गधा, सूअर आदि ये सब अपने गाँव में दिखते ही हैं। और फिर चार इन्द्रिय में देखो मक्खी, मच्छर आदिक, तीन इन्द्रिक में चींटा चींटी आदिक दो इन्द्रिय की तो बरषात में जमीन पर बहुतायत होती है और एकेन्द्रिय जीवों की तो सब जगह भरमार ही है। कितने ही तरह के जीव संसार में जो दिख रहे हैं वह सब

क्या है? खोटे भावों का ही तो फल है। मनुष्यों की कितनी संख्या है, संसार के अन्य जीवों की तुलना करके देख लो, मनुष्य होना कितने विशेष पुण्य का फल है। इसको लोग महानता और आदर नहीं देते चित्त में और यों ही अपना जीवन व्यर्थ खो देते हैं। उन्हें अपने आत्मा पर दया नहीं उमड़ी है इसलिए धर्म के मार्ग से उपेक्षा रखा करते हैं। किन्तु यह मनुष्य भव बारबार मिलने का नहीं है। मिल गया किसी विशेष पुण्य के प्रताप से, पर करतूत ठीक नहीं है तो यह आशा नहीं की जा सकती कि यह अगले भव में फिर मनुष्य होगा। संसार में जो एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय आदिक इतने जीव नजर आ रहे हैं इनमें ही किसी गति में पहुँच जायगा। पाया है यह मनुष्य जन्म तो केवल इतना ही उद्देश्य बनाकर रहना कि हमारे परिवार के लोग सुखी रहें, धन वैभव का खूब अर्जन करते रहें, इतना सा उद्देश्य रखने से कुछ लाभ न होगा। मरना तो सबको पड़ता है। धर्म भाव में रुचि जगे, मुझे तो आगे भी इस भगवान ब्रह्म की दृष्टि बनी रहे, वह उपाय बनाना है।

**लौकिक सुखसाधनों के लाभ का कारण सुपात्रदान**—इस गाथा में बतला रहे हैं कि लौकिक हिसाब से जो सुख माना जाता है वह सुख भी पात्रदान का ही फल है। क्या क्या सुख मानते हैं लोग? अच्छे माता, पिता, पुत्रादिक मिल जायें। देखिये माता पिता के सामने बच्चे निर्भार रहते हैं तो वह उन बच्चों का भाग्य है जो एक योग्य माता पिता मिले। माता पिता अपने पुत्रों को योग्य देखना चाहते जो धर्म में चित्त लगाते हों, आज्ञा मानते हों। यदि ऐसे पुत्र मिल जायें तो वह भी उन माता पिता के द्वारा दिये गए पात्रदान का फल है। योग्य स्त्री मिले जो स्वयं विवेकी हो, धर्म से जिसे अनुराग हो, जिस की संगति से यह पुरुष भी धर्म का अनुरागी बन जाय। मैना सुन्दरी आदिक के कितने ही ऐसे दृष्टान्त हैं कि जिनके संग से जिनका पति भी बड़ा योग्य हो गया। ऐसी धर्मानुरागी स्त्री मिले, धन धान्य होवे। खाने की भी रोज रोज चिन्ता करनी पड़े, ऐसी गरीबी एक धर्मसाधनों में बाधक बनती है। तो योग्य उचित धन धान्य का समागम हो। मकान, वाहन और वैभव आदिक जो कुछ भी संसार के सारभूत सुख हैं, जिसे लोकव्यवहारीजन सुख मानते हैं, ऐसी वस्तुओं का भी लाभ जो कुछ है वह सब सुपात्रदान का फल है। तो त्यागभाव किया, बाह्य वस्तुओं से उपेक्षा की। उससे जो कुछ पुण्य अर्जित हुआ उसका यह आज फल है।

**भुद्धोपयोग का लक्ष्य रखते हुए भुभोपयोग के कर्तव्य की गृहस्थ दशा**—जितने भी संकट टलते हैं, सीता, द्रौपदी, मैनासुन्दरी, श्रीपाल आदिक जिन जिन के भी संकट टले वह सब उनके पूर्वकृत पुण्य का प्रताप था। इससे अपने भाव अशुभ में न जायें, शुभ में रहें और शुद्ध की भी झलक रहे, इस तरह के परिणाम चलते रहें और यों जीवन व्यतीत होवे तो उसका यह मनुष्यजन्म सफल होता है। सफलता उसका नाम है कि इस वक्त भी शान्ति है और अगले भव में भी उसे शान्ति प्राप्त होगी। मनुष्यों में एक कमी यह रहती है कि वे यह सोचते हैं कि इस समय तो सुख भोग लें। आगे का क्या पता हम रहते कि नहीं मगर जो वस्तु है वह सदा रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा है तो आगे भी रहेगी। तो आगे वह कैसा रहे इसके लिए भी कुछ ध्यान करना चाहिए। इसी को कहते हैं आत्मदया। आत्मदया इसमें हैं कि हम अशुभोपयोग में जरा भी न जायें, शुभोपयोग में रहें और शुद्धोपयोग का पौरुष करें।

**सत्तंगरज्ज—णव—णिहि—भंडार—छडंग बल—चउद्दह रयणं ।**

**छण्णवदि सहर—सेत्थि—विहवं जाणउ सुपत्तदाणफलं ।।19।।**

**चक्रीकेवैभवमें सप्तांगराज्य के राजामंत्री मित्रअंगों के समागम का साधन सुपात्रदान**—श्रावक के मुख्य कर्तव्य दो बताए गए थे—(1) पूजा और (2) दान। ये दो

ही हैं ऐसा न जानना। ध्यान, अध्ययन, भावना, मनन ये सब उसके साथ हैं लेकिन वह गृहस्थदशा में है, धंधा उसे करना पड़ता है ऐसी स्थिति में अगर वह पूजा और दान की बात न रखे तो स्वयं के परिणाम सम्हले हुए नहीं रह सकते। तो इनमें से एक पात्रदान की बात चल रही है। सुपात्र को दान देने का ही फल है यह जो संसार में जितना सुख का समागम दिख रहा है। इस गाथा को कह रहे हैं कि चक्रवर्ती को जो वैभव मिलता है वह सुपात्रदान का फल है। क्या होता है चक्री का वैभव? सप्तांग राज्य। राज्य में 7 अंग हुआ करते हैं, अथवा इन 7 का जो समूह है सो ही राज्य है। वे 7 अंग क्या क्या हैं? राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, किला और सेना। अब इनमें से यदि कोई भी कम हो तो राज्य नहीं चलता। राजा ही न हो तो फिर राज्य क्या? राजा तो होता ही है, और फिर राजा का उचित मंत्री न हो तो फिर राज्य व्यवस्था नहीं चलती, कार्य भी नहीं चलता। एक नहीं दसों मंत्री रखने होते हैं, अलग अलग विभाग के सलाह देने वाले मुख्यमंत्री होते। तो उससे अपने प्रमुख कार्य को जिम्मे करना मंत्री, बिना भी राज्य नहीं चलता। और मित्र हों। मित्र वही कहलाता है जो बिना स्वार्थ के निष्कपट हितचिन्तन करता रहता हो। तो कोई सलाह लेना या अपने मन की बात कहना ये सभी बातें मित्र में हुआ करती है।

### **चक्री के वैभव में सप्तांग राज्य के अंग कोष देना किला सेना के लाभ**

**का साधन सुपात्रदान—** राज्य का चौथा अंग कोष (खजाना) है। खजाना बिना राज्य क्या? अनेक व्यवस्थायें हैं। कर्मचारियों का खर्च है, सेना का खर्च है, अनेक बातें हैं। तो खजाना तो होता ही है। चाहे उस खजाने का खुद का उपयोग राजा स्वयं करे। ऐसे बहुत से राजा हुए हैं एक बार किसी सन्यासी का आमंत्रण राजा ने किया। तो सन्यासी तो सोचता था कि राजा के घर आहार होगा तो वहाँ तो बड़ी बड़ी ऊँची चीजें भोजन में बनेंगी, पर जब वहाँ पहुँचा तो क्या देखा कि बस वही रोटी और भाजी। तो सन्यासी यह दृश्य देखकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया। वहाँ राजा ने सन्यासी के मन की बात समझ लिया और स्वयं ही कह बैठा—महाराज हमारे घर तो हरदम ऐसा ही भोजन बनता है। हमने अपने लिए जो कुछ थोड़ी सी भूमि रख लिया है बस उससे जो मिल जाता उसी से अपना गुजारा चलाते। तो सन्यासी बोला—राजन् आपके पास तो बहुत बड़ा खजाना है। जितना चाहे खर्च कर सकते तो राजा बोला—महाराज वह खजाना जनता का है—जनता के खर्च के लिए है, मेरा उसमें कुछ नहीं कोई कोई राजा ऐसे भी हुए। एक राजा की बात तो सुना है कि उसकी रानी टोपी बनाया करती थी। उनको बेचकर जो आय होती उसी से राजा अपना खर्च चलाया करता था। तो चाहे राजा कोष में से अपने लिए कुछ खर्च न करे मगर कोष बिना राज्य नहीं चलता। तो कोष भी राज्य का एक अंग है। उसी प्रकार देश ग्रामों का समूह, मायने जनता। वह भी राज्य का एक अंग है। इसके अतिरिक्त किला जहाँ सुरक्षित रह सके। पहले जमाने में किले बनते थे बड़े ऊँचे बड़े पुष्ट। अब आज के समय में वे किले काम के नहीं रहे, क्योंकि हवाई जहाज चलने लगे। हवाई जहाज से कोई हमला कर सकता। तो उसका भी उपाय सोचा गया, रडार बनाये गए, जहाँ से हवाई जहाजों को गिराने के लिए तोप लगाये जा सकें। तो उसे ही किला समझिये। जिस समय जिस ढंग का आक्रमण सम्भव है उसका विरोध करने वाला जो उपाय है वह ही किला कहलाता है। तो किले के बिना भी राज्य की स्थिति नहीं रह सकती और 7वां अंग है सेना। सेना के बिना भी राज्य की स्थिति नहीं। तो ऐसा सप्तांग वाला राज्य जिसे मिलता है समझिये पूर्व जन्म में कोई सुपात्रदान किया था उसका यह फल है।

**चक्री के वैभव में नव निधि की काल व महाकाल निधि के समागम का साधन सुपात्रदान—** भरत चक्रवर्ती के या जो भी चक्रवर्ती होता है उसको नवनिधि,

चौदह रत्न, सप्तांग वाली सेना एवं 96 हजार रानियों के वैभव का फल प्राप्त होता है तो ऐसा वैभव कोई यहाँ कमाकर प्राप्त करता है क्या? वह तो उस पुण्य का उदय है और ऐसी चीज प्राप्त होती है। तो नवनिधि चक्री का वैभव जिसमें (1) प्रथम निधि है काल। काल नामक निधि के द्वारा छहों ऋतुओं में प्राप्त हो सकने वाली वस्तुयें मिल जाती हैं उसका नाम काल निधि है। किसी भी समय किसी भी ऋतु में जो चीज मिल सकती है काल निधि के द्वारा सभी ऋतुओं वाली चीजें चक्रवर्ती को प्राप्त होता है। (2) दूसरी निधि है महाकाल निधि। याने अनेक प्रकार के भोजन को देने वाली निधि। अब इन निधियों के बारे में कोई ऐसा सोच सकता है कि ऐसी क्या निधियाँ होती होंगी और कैसा ही फल भोजन प्रदान करती होगी। तो भले ही आज हम आपकी बुद्धि के बाहर है किन्तु पुण्य की महिमा बड़ी विचित्र होती है। कौन कल्पना कर सकता है कि कहीं कोई एक महापुरुष पैदा हो और स्वर्गों में या भवनवासी व्यंतरो के घरों में ज्योतिषियों के यहाँ घंटानाद आदिक हो। लो बिना खबर के तत्काल ही ये सब बातें हो जाती, यह सब पुण्य का ही तो प्रताप है। पुण्य प्रकृति साता प्रकृति का परिचय दिया है धवला में कि इसके दो काम हैं—एक तो इन्द्रिय के द्वारा साता का अनुभव होना और दूसरे इष्ट वस्तुओं का समागम हो जाना। जैसे आश्चर्य तो इसी बात पर हो सकता है—जो छोटा वाला रेडियो बनाया गया है तो वहाँ कुछ तार ही तो कसे गए, या और कुछ ही तो किया गया। अब आकाश मण्डल में तो सभी रेडियो स्टेशन के गाने भरे हुए हैं। उन गानों में से दिल्ली का ही पकड़ना, या पंजाब का ही पकड़ना यह भेद कैसे बना? तो कई बातें ऐसी हैं कि जिनका हम ठीक समाधान नहीं कर पाते। तो ऐसे ही समझिये कि पुण्य का अतिशय ऐसा है कि ये सभी बातें होती हैं। बहुत गरीब पुरुष तो इन लखपति करोड़पति लोगों को देखकर ही आश्चर्य करने लगते हैं कि ऐसा इनमें क्या जादू है तो इतना इतना धन कमा लेते हैं। तो चक्रवर्ती के पुण्य की बड़ी महिमा है। उनको महाकाल नामक निधि प्राप्त होती है जो इष्ट भोजन प्रदान करती है।

**चक्री के वैभव में नवनिधि की पाण्डु निधि माणवक निधि भांखनिधि पद्मनिधि नैसर्पनिधि पिंगलनिधि व रत्ननिधि के लाभ का साधन सुपात्रदान—**

(3) तीसरी निधि है पाण्डुनिधि। जिसका कार्य है कि जो आवश्यक है, इष्ट है वह अन्न प्रदान करना, (4) चौथी निधि है मानक निधि, जिस निधि से अनेक प्रकार के शस्त्र मिलते हैं। उन शस्त्रों को देने वाली निधि है मानकनिधि। (5) 5वीं निधि है शंख निधि। इसका काम है नाना प्रकार के वाद्य प्रदान करना। वाद्य कितने प्रकार के होते हैं? सो आज कल ही देख लो करीब 100-150 प्रकार के वाद्य मिलेंगे और फिर जब इन्द्र अपने समारोह से तीर्थकर भगवान का उत्सव मनाता है तो वहाँ तो करोड़ों की संख्या बताया है। तो नाना प्रकार के वाद्य प्रदान करना इस शंख निधि का कार्य है।

(6) छठी निधि है पद्म निधि। इसका कार्य है योग्य आवश्यक वस्त्रों का प्रदान करना। (7) सातवीं निधि है नैसर्प निधि। इस निधि का काम है मंदिर महल आदि प्रदान करना। देवों में ऐसा चातुर्य होता कि वे कहो मिनटों में ही कुछ से कुछ बनाकर खड़ा कर दें। यहाँ भी वो देखने में आता कि बहुत से कारीगर किसी काम को करने में बहुत समय लगाते और चतुर कारीगर उसी काम को बहुत ही जल्दी कर देते, फिर देवों की तो बात लगाते और चतुर कारीगर उसी काम को बहुत ही जल्दी कर देते, फिर देवों की तो बात क्या कही जाय, उनमें तो ऐसी कला होती कि बस यहाँ वहाँ से कुछ चीजें उठाया और तुरन्त जो चाहे चीज बनाकर खड़ा कर दिया। जैसे भगवान का समवशरण आकाश में बनता है तो

उसके संबंध में कुछ लोगों की धारणा है कि वे विक्रिया से आकाश में समवशरण की रचना कर देते, पर कुछ ऐसी बात भी विश्वास योग्य है कि देवों में स्वयं ऐसी सामर्थ्य है कि पत्थरों से मणियों से जहाँ जो पड़े ठीक जल्दी सही बनाकर खड़ा कर देते हैं, तो इसी प्रकार इन निधियों के भी तो देव रक्षक हैं, और निधि क्या हैं? तो यह 7वीं निधि है नैसर्प निधि, जिसका काम है इष्ट मंदिर महल आदि का निर्माण करा देना। (8) आठवीं निधि है पिंगलनिधि। जिसे जो आवश्यक आभूषण हैं उनकी प्राप्ति करा देना इस पिंगल निधि का काम है। 9 वीं निधि है रत्न निधि। यह निधि रत्नों को प्रदान करने वाली है। ऐसी नव निधि की प्राप्ति यह सब सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल चक्रवर्ती की सेना का लाभ—** चक्रवर्ती की जो सेना होती है उसमें हाथियों की सेना, घोड़ों की सेना, रथ की सेना, पैदल सेना, ऐसी अनेक प्रकार की सेनायें होती हैं उनका जिसे लाभ होता है समझो कि वह सुपात्रदान का फल है। भाव का फल है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि भाव बनावे, अनुमोदना करें तो दान देने वाला तो बहुत कुछ खर्च करके, परिश्रम करके पुण्य लूटेगा और उतना ही पुण्य अनुमोदना से लूट लेंगे, सो ऐसा सुगम नहीं है। अनुमोदना उनके लिए बतायी गई है कि जो कर ही नहीं सकते जैसे अंधे लंगड़े, लूले अपाहिज आदि, या ये पशु पक्षी दान कहाँ कर सकते, यदि ये अनुमोदना करें तो इनकी बात सही है, मगर उनकी अनुमोदना की बात सही नहीं जो खुद कर सकते हैं, कर सकने में सब प्रकार से समर्थ हैं फिर भी करते नहीं। मान लो कोई साधु आहार कर रहा और एक ड्यूटी देने माफिक एक दो मिनट के लिए उसके पास पहुंच गए और मन में कह लिया कि बस ठीक है, हो रहा आहार, तो इतने मात्र से वह पुण्य प्राप्त नहीं होता। असमर्थ की अनुमोदना में अवश्य शक्ति है कि विविध पुण्यार्जन करे, पर जो कर सकता है। समर्थ है वह यदि सोचे कि सारा काम तो अनुमोदना से होता है तो करने की जरूरत क्या है। तो यों नहीं होता। अनुमोदना का फल तो अवश्य है, पर नेवला, बंदर, सिंह, आदिक इन सबने बड़ा फल भी पाया मगर समर्थ होकर और ऐसा भाव प्रारम्भ से ही बनाये कि जब अनुमोदना करने मात्र से उसका फल प्राप्त होता है तो हम तो अनुमोदना का ही फल लूटेंगे, तो उनकी यह अनुमोदना सही नहीं है। तो जितना जो कुछ वैभव मिलता है वह सब सुपात्र दान का फल है। जैसे कि इस गाथा में बताया जा रहा है।

**चक्री के चौदह रत्नों में पवनंजय अश्व, विजयगिरि हस्ती, भद्रमुख गृहपति व कामवृष्टि रत्न के लाभ का साधन सुपात्रदान—** चक्रवर्ती के 14 रत्न होते हैं। उनमें पहला रत्न है (1) पवनंजय अश्व। यह कोई एक विशिष्ट जाति का अश्व (घोड़ा) होता है जो कि वायु पर भी विजय प्राप्त करे। रत्न किसे कहते हैं? जो जिस जाति में श्रेष्ठ हो वह उस जाति का रत्न कहलाता है। कहीं जाति का यह अर्थ नहीं कि पत्थर जैसी चीज। जैसे कहा स्त्री रत्न तो बताओ वह स्त्री पत्थर बन गई क्या? अरे रत्न का अर्थ पत्थर वाले रत्न से नहीं किन्तु जो श्रेष्ठ है उसका नाम है रत्न। जैसे कहा गया सिंहासन। भगवान को सिंहासन पर विराजमान करो, तो लोग इसका क्या अर्थ समझते हैं कि ऐसा चाँदी सोना पीतल आदि धातुओं का आसन कि जिस में दोनों और सिंह का मुख रहे या सीधा सिंह होवे, जिस पर भगवान को बैठाया जाय। उन्होंने सिंहासन का अर्थ लगाया सिंह का आसन, पर उसका यह अर्थ नहीं है। सिंह के मायने यहाँ जानवर नहीं किन्तु सिंह का अर्थ है श्रेष्ठ जो उत्तम हो, श्रेष्ठ हो उसे सिंह कहते हैं। अब चूँकि सिंह जिस का नाम रखा गया है, पंचानन याने जिसके 5 मुख होते। मुख 5 नहीं होते किन्तु उसके चारो पैरों को जो नख होते वे भी उसके लिए मुख जैसा काम करते, और एक मुख

होता ही है। सिंह अपना आक्रमण इन पाँचों हथियारों से करता है (चारों पैरों से और एक मुख से) इस कारण उसका नाम पंचानन रखा है। तो पंचानन को जो सिंह कहने लगे तो चूँकि जो बलवान हो, जिसका बड़ा भय हो, जिसको लोग श्रेष्ठ समझते हैं तो श्रेष्ठ अर्थ वाला सिंह शब्द वहाँ प्रयुक्त होने लगा। तो सिंहासन का अर्थ है श्रेष्ठ। आसन श्रृंगार वाला आसन नहीं कि जिसमें सिंह की फोटो बनाना आवश्यक है, तो ऐसे ये 14 रत्न बतलाये जा रहे हैं जिनमें मुख्य मुख्य पुरुष या जीन आते हैं। (2) दूसरा रत्न है विजयगिरि हस्ती। बहुत कुशल, समझदार, युद्धादिक में कुशल, आज्ञा मानने वाला, प्रिय ऐसा एक विजयगिरि नाम का हस्ती यह है 14 रत्नों में दूसरा रत्न। जैसे किसी के घर कोई बिल्ली या कुतिया पली हो और वह अपने मालिक की एक एक बात माने। वह सब आशय अपने मालिक का समझे, जहाँ बैठने को कहे वहाँ बैठे, जहाँ जाने को कहे वहाँ चला जाय, जो करने को कहे सो करने लगे, यदि ऐसी बात देखने को मिलती है तो उसके लिए वह एक रत्न जैसा लगने लगता है। तो श्रेष्ठ रत्न, जो प्रिय हो और बड़े काम में आये। तो ऐसा एक विजयगिरि नाम का हस्ती यह दूसरा रत्न है। (3) तीसरे रत्न का नाम है भद्र मुख गृहपति। गृहपति याने घर का सारा काम जिसके जिम्मे हो, जैसे किसी के घर कोई कुशल मुनीम रहता हो जो कि घर का भी काम करता हो, जो घर वालों को आवश्यक वस्तुयें चाहिये उनका भी इंतजाम तथा सही व्यवस्था रखता हो तो ऐसा एक बहुत ही श्रेष्ठ भद्रमुख गृहपति नाम का रत्न होता है। यह 14 रत्नों में तीसरा रत्न है। (4) चौथा रत्न है काम वृष्टि

**चक्री के चौदह रत्नों में अयोध सेनापति, सुभद्रा रानी व बुद्धिसमुद्र पुरोहित के लाभ का साधन सुपात्रदान—** (5) पांचवाँ रत्न है अयोद्ध सेनापति, ऐसा सेनापति कि जिस पर कोई विजय न प्राप्त कर सके। जैसे भरत चक्रवर्ती के समय में उनका सेनापति जयकुमार हुआ, और भरत चक्रवर्ती का कोई कार्य था जिसमें चक्रवर्ती का लड़का स्वयंवर में गया हुआ था। उस स्वयंवर में उस चक्रवर्ती के लड़के से कोई गलती हो गई। वह लड़का जयकुमार सेनापति के आधीन बना रहा पर वहाँ उसने यही कहा कि चूँकि तुम चक्रवर्ती के पुत्र हो इसलिए क्षम्य हो। याने उस चक्रवर्ती की इतनी श्रेष्ठता होती है। तो एक रत्न होता है अयोद्धसेनापति। (6) छठा रत्न है सुभद्रापत्नी, जो कि चक्रवर्ती की पट्टरानी होती है। जिसमें इतनी विशिष्टता होती कि वह यदि रत्नों का चौक पूरना चाहे तो यों ही हाथों से रत्नों को मलकर चौक पूर दे, उसका चूरा बनाने के लिए उसे सिलबट्टों की जरूरत नहीं। उस चक्रवर्ती की पट्टरानी को गर्भ में बालक आने का दुःख नहीं भोगना पड़ता। (7) सातवाँ रत्न है बुद्धि समुद्र पुरोहित नाम का रत्न। पुरोहित किसे कहते हैं? एक ऐसा पवित्र पुरुष होता जो कि धार्मिक कार्यों में उसका साथ दे और उसके द्वारा बताये गए मार्ग की बात चक्रवर्ती करता है।

**चक्री के भोश 7 अजीव रत्नों के लाभ का साधन सुपात्रदान—** चक्रवर्ती के 7 रत्न तो सजीव होते हैं और 7 रत्न अजीव होते हैं। जैसे छत्र, तलवार, दण्ड, चक्र, काकिणी रत्न, चिन्तामणि और चर्मरत्न। जब युद्ध को जा रहे और बड़ी तेजी से पानी बरस रहा तो वहाँ चर्मरत्न ऐसा छा जाता कि सेना के ऊपर पानी की एक बूँद भी नहीं पड़ने पाती। ऐसे 14 प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होना यह सुपात्रदान का फल है। और चक्रवर्ती के 96 हजार रानियाँ होती हैं। तो इतना बड़ा वैभव यह सुपात्रदान का फल है। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य जो बात सही है वह बतला रहे हैं। उससे कहीं यह नहीं समझना कि इस आशा से धर्म किया जाय, किन्तु जिन भावों से जो फल मिलता है वह फल यहाँ बताया गया है।

**सुकुल—सुरुव—सुलक्षण—सुमङ्ग—सुसिक्खा—सुसील—चारित्तं ।  
सुहलेस्सं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ।।20 ।।**

**सुपात्रदान का फल सुवस्तुलाभ—**रयणसार ग्रन्थ में श्रावकों के चरित्र का वर्णन है। श्रावकों के 6 कर्तव्य बताया है। (1) देवपूजा (2) गुरुपास्ति (3) स्वाध्याय (4) संयम (5) तप और (6) दान। इन 6 आवश्यक कर्तव्यों का संबंध रत्नत्रय से हो तो ये व्यवहार धर्म कहलायेंगे। अगर रत्नत्रय से संबंध नहीं है तो धार्मिक कर्तव्य नहीं कहला सकते। तो इससे जिन उपदेश और दान याने पहला कर्तव्य और छठा कर्तव्य इनका संबंध सम्यग्दर्शन से हैं। श्रद्धा हुए बिना न तो कोई पूजा कर सकता और न दान कर सकता। दान में भी सामर्थ्य और असामर्थ्य का प्रश्न मुख्य नहीं होता। कोई विशेष धनी हो और श्रद्धा नहीं है तो वह दान नहीं कर सकता, श्रद्धा नहीं तो पूजा नहीं कर सकता और गुरुपास्ति संयम और तप इनका संबंध है चारित्र से। चारित्र में रुचि न हो, चारित्र में अनुराग नहीं, स्वयं के चारित्र की भावना नहीं तो न कोई गुरु सेवा कर सकता न संयम और तप का आदर कर सकता। और स्वाध्याय का सम्बंध है ज्ञान से। तो इस प्रकरण में पात्रदान का ही शुरु से प्रकरण चल रहा है। यह पात्रदान अपनी श्रद्धा को पुष्ट करता है और एक संस्कार बनाता है। तो इस गाथा में कह रहे हैं कि जगत में जो कुछ भी उत्तम वस्त्र प्राप्त होते हैं वह सब सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल सुकुल लाभ—** उत्तम कुल मिला, अपने आप को ही समझ लें किस कुल में उत्पन्न हुए। उत्तम कुल वह कहलाता है जहाँ अहिंसा की प्रवृत्ति हो, त्याग की प्रवृत्ति हो और गुणवंतो के प्रति आदर की परम्परा हो। जिस कुल में ये बात पायी जायें वह उत्तम कुल है। सो ये बातें पायी ही जा रही हैं। उत्तम कुल पाये बिना साधु भी नहीं बन पाते। मुनि दीक्षा भी वही लेता है जो उत्तम कुल में उत्पन्न हो। तो अहिंसा का वातावरण है, श्रद्धा से अहिंसा है, करने में भी शक्ति माफिक अहिंसा है, तो यह उत्तम कुल है। उत्तम कुल की प्राप्ति होना सुपात्रदान का फल है। जगत में अनन्त जीव दुर्गति दशा में मिल रहे हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, अनन्तान्त जीव उनकी दुर्गति उनकी दुर्भावना से है। कभी मनुष्य भव प्राप्त हुआ और उसमें पात्रदान की भावना रहे और पात्रदान कर सके तो उसका जीवन मोक्ष मार्ग की परम्परा में भी सफल है और स्वयं का भविष्य अच्छा बलता है इसलिए सफल है। उत्तम कुल की प्राप्ति सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल सुरूप लाभ—** उत्तम रूप मिलना, यद्यपि रूप से कोई संबंध नहीं पाल सकता मगर ये पुण्य के चिन्ह हैं। जैसे कोई ज्योतिषी किसी का हाथ देखता है, सामुद्रिक शास्त्र का जाननहार हाथ देखकर उसका भविष्य और भूत बताता है। तुम ऐसे थे, तुम्हारा ऐसा होगा तो क्या वहाँ कुछ हाथ में अक्षर लिखे हैं? कैसे बता देता है? तो उसका आधार यह है कि उत्तम चिन्ह मिले तो अपने आप सामान्यतया जान गया कि यह पुण्यवान जीव है' जिसके हाथ में टेढ़ी मेढ़ी रेखायें हों, कुछ सकल सूरत से भी सुभग न हो तो उसको अनुमान हो जाता है कि इसके कोई पाप का फल है। तो इस साधारण अनुमान के आधार पर रेखाओं को देखकर लोग बताया करते हैं। तो यह ही बात रूप की है। यद्यपि कोई अविनाभाव नहीं है फिर भी पुण्य का फल है कि उत्तम रूप मिलता, उत्तम शरीर मिलता, तो यह सुपात्रदान का फल है। कैसे एक दृष्टि से देखें तो उत्तम रूप का मिलना विपत्ति का कारण है। देखो फूलों में जो साधारण फूल हैं वे तो खूब खिलते रहते हैं, उन्हें कोई तोड़ता नहीं है, उन्हें कोई छेड़ता नहीं है और गुलाब का फूल, चम्पा, जुही

का फूल, ऐसे जो सुहावने लगने वाले हैं, आफत तो उन पर आती है। उन्हीं कुछ फूलों को लोग तोड़ा करते हैं और जो नीले पीले, टेढ़े-मेढ़े, असुहावने से फूल होते, जिनके प्रति कोई आकर्षण नहीं होता, उन्हें कोई नहीं तोड़ता। तो आखिर इसमें कुछ पुण्य पाप की बात तो है। जो अच्छे फूल हैं कुछ तो उनकी अपेक्षा कुछ प्रकृति ठीक हुई ही मगर उसका परिणाम क्या निकला? विपत्ति। तो भले ही उसका परिणाम विपत्ति है, लेकिन यह नियम नहीं है कि कोई पुण्यवान रूपवान उनके मुख ऊंचे, पुण्य विशेष, भावना ऊंची, बिना उपदेश पाये भी जीवन में बड़ा काम कर लेता है, पर उत्तम रूप का मिलना चूँकि यह पुण्य प्रकृति का फल है उसका साधन है सुपात्रदान।

**सुपात्रदान का फल सुलक्षण लाभ**— उत्तम लक्षण भी विशिष्ट पुण्यफल है। कोई भी लक्षण मिले, शरीर के लक्षण मिलें। लक्षण में मुख्य है गुण की बात। जिस में कोई बोलने वगैरह की कला नहीं और उसमें दोष बहुत दिखते हैं, पद पद पर वह गुस्सा करे, दूसरों से ईर्ष्या रख तो लोग कहते हैं ना कि इसके लक्षण अच्छे नहीं हैं। तो उत्तम लक्षणों का मिलना यह भी एक पुण्य का फल है, वह सब सुपात्रदान का फल है। पुण्य और धर्म यद्यपि ये अलग-अलग तत्व हैं। पुण्य तो शुभ भाव है और धर्म वीतराग भाव है किन्तु ग्रन्थों में जो शुभ भाव का उपदेश किया जाता है पूजा, दान, व्रत, नियम, आदिका, उसका कारण यह है कि जिसको भी शुद्धता मिली सो शुभोपयोग के बाद मिली अशुभोपयोग के बाद नहीं मिली। जो अशुभोपयोग में लगा रहता है वह तो शुद्धोपयोग की आशा ही न रखे। जो शुभोपयोग में चल रहा है विशुद्धभाव, मँद कषाय, गुणीजनों के प्रति अनुराग ऐसा जो शुभ भाव में लग रहा उसका यह आशा है कि यह शुद्ध भाव प्राप्त कर लेगा। तो गृहस्थों के लिए यह प्रकरण लिखा हुआ है अतएव उनके उचित कार्यों को बतला रहे हैं। उत्तम लक्षण का मिलना सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल सुमति लाभ**— लोक में उत्तम बुद्धि होने से खुद को भी शान्ति रहती है। और उसके प्रसंग में अन्य लोग भी शान्ति पाते हैं और बुद्धि तो आत्मा का निजी गुण है। उसे कर्मों के उदय के कारण निरोहित होना पड़ रहा है। जैसे सूर्य का प्रताप प्रकाश भी रुक जाता है इसी तरह जीव का स्वरूप तो ज्ञान ही है, दूसरा अन्य कुछ स्वरूप नहीं है, किन्तु पहले जो कर्म बँधे थे उनका उदय है, उस काल में यहाँ उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है इतने पर भी हानि कुछ नहीं है। चाहे महल गिर गया, सारा नुकसान हो गया, शरीर में भी व्याधि हो रही, और भी खोटे प्रसंग मिले, जो चाहे हो, जैसा चाहे हो, उससे भी जीव को हानि नहीं है, किन्तु जीव जब अज्ञान अवस्था में रहता है और अपने आप में पर वस्तुविषयक कल्पनायें करता है तो उससे उसको पीड़ा होती है। जिस जीव को भी दुःख होता है सो दूसरे जीव के कारण नहीं होता। दूसरा पुरुष कैसा ही चल रहा हो, कैसा ही बर्त रहा हो, उससे क्लेश नहीं है, किन्तु जो खुद में कल्पनायें कर डालता है उनसे क्लेश होता है। जैसे कभी सारे देश की सम्पत्ति अधिकार से बाह्य कर दी जाय, सरकारी घोषित कर दी जाय तो वहाँ लोगों में प्रारम्भ में तो अनेक प्रकार की कल्पनायें चलेंगी जिनसे दुःख होगा, पर बाद में तो वे सब कल्पनायें मिट जायेगी और सुखी नजर आयेंगे, तो ऐसे ही कैसी भी हालत आये, पर वस्तु विषय अनेक प्रकार की कल्पनायें न बनायें कि इससे मेरा अहित हो गया, इस पर वस्तु से मेरा बड़ा भला था तो उसे कोई कष्ट न होगा। जितने भी कष्ट हैं वे सब स्वाधीन हैं। पराधीन नहीं है कष्ट। कोई दूसरा कष्ट देता है सो बात नहीं, किन्तु खुद ही कल्पनायें करके कष्ट पाते हैं। उपादान की ओर से देखें तो वह कष्ट भी स्वाधीन है। ज्ञान जगे और भिन्न भिन्न पदार्थों का सत्त्व दृष्टि में



रहे उसे आकुलता नहीं जग सकती। तो ऐसी बुद्धि का होना जिसमें वस्तु के सही स्वरूप का ज्ञान रहे यह सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान करने वालों को सुशिक्षा का योग होता है—** उत्तम शिक्षा क्या? जिस में हित हो, अहित न हो शिक्षा मिलना, अपने को शल्य न जगे, अपने ध्यान में बाधा न आये, सदाचार से रहना, विनय पूर्वक बोलना ऐसी सुशिक्षा से बहुत सी विपतियाँ दूर होती हैं। प्रथम तो ठीक सही वचन बोलना यह बहुत उत्तम गुण है मनुष्यों का अपने सही बोलने के कारण यह मनुष्य अपने को खुश रख सकता है, और विपरीत बोलकर मतलब क्या? भले ही किसी ने गलती की हो तब भी उससे बुरा बोलने से क्या लाभ है? और गलती भी कोई उसकी नहीं करता, उसकी भावना है, जैसे हम अपने लिए सुख चाहते हैं वैसे ही वह भी सुख चाहता है। जैसे हम अपने सुख के लिए अनेक प्रोग्राम और भावना बनाते हैं, वैसे ही वह भी बनाता है। उसने उसके कष्ट के लिए कुछ नहीं किया। उसने तो अपनी सुख शान्ति के लिए किया। तो उसका जाननहार रहता है यह। इस प्रकार के परिणामन में है, उसका उस में कुछ अनर्थ नहीं है। कोई पाप का उदय हो तो वह नहीं और कोई कुछ भी निमित्त पड़ जाय, उसका अनर्थ हो जायगा। तो ऐसी शिक्षा धारण करें कि जिससे यह लोक भी सही रहे और परलोक भी, ऐसी शिक्षा मिलना पात्रदान का फल है। मनुष्य अनेक होते हैं। कोई बड़ा ऊँचा समझदार ओहदेदार निकल जाता है, कोई साधारण काम में ही रहकर जिन्दगी बिताता है। क्या ऐसी कला और शिक्षा की योग्यता उन दोनों में न थी? थी मगर शिक्षा का समागम न रहा, साधन न रहा। बुद्धि कुंठित रह गयी। तो किसी को शिक्षा का योग जुड़ जाय, उत्तम शिक्षा मिले तो वहाँ भी एक बड़े पुण्य का फल है सो ही यहाँ बतला रहे हैं कि उत्तम शिक्षा का लाभ सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल सुशीलत्व व चारित्र का लाभ—** इसी प्रकार कह रहे हैं अब सुशील। शील मायने आत्म स्वभाव की दृष्टि बनी रहना और शील का व्यावहारिक अर्थ है अपनी प्रकृति न बिगड़ना और ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना पर आत्मतत्त्व की दृष्टि रहे, अपने में सरलता का भाव जगे, दूसरों पर क्षमा भाव लाये, अपने में गर्व न आने दे, किसी के प्रति कपट का व्यवहार न रखे, यह सब शील कहलाता है। शील मायने केवल एक ब्रह्मचर्य ही नहीं, वह भी है और चूँकि वह एक कठिन व्रत है इसलिए शील की रुढ़ि ब्रह्मचर्य में ही हो गई। मगर सही स्वभाव में रहना, अविकार आत्मस्वरूप की दृष्टि रखना, क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें मंद हो जायें, इनको पकड़ कर न रहें, यह सब शील कहलाता है। उत्तम व्यवहार, उत्तम आचरण और ऐसी सुशीलता प्राप्त होना यह सुपात्रदान का फल है। इसी प्रकार चारित्र। चारित्र जीव को सुख शान्ति का एक बड़ा साधन है। वह विधि पूर्वक हो, ढंग से हो तो वह शान्ति का फल देता है, और जहाँ विधि से बाह्य है तो भले ही वह बाह्य चारित्र पालता है मगर शान्ति अन्दर में नहीं प्राप्त होती। कभी कभी लोग कहते हैं जब कि कोई अगर उपवास करे, शोध से रहे, शोध के सारे काम करे और उनको करते हुए में पद पद पर गुस्सा आता रहे, क्या कहते कि देखो वह बहुत बहुत शोध करने वाला अपवित्र हो गया। चाहे शरीर को अभी तुरन्त धोया हो, शुद्ध कपड़े पहन लिया हो, बड़ी शोध की क्रियायें कर रहा हो और चित्त में गुस्सा आये, मोह आये तो बताओ वह आत्मा पवित्र है कि अपवित्र? वह तो अपवित्र ही रहा। पवित्रता का एक साधन अवश्य है ऐसा शोध से रहना, उससे कई गुण आते हैं जिससे कि उसके व्रत, नियम, शील ये सभी अच्छे पलते हैं। अगर आत्मशान्ति में आये, मोक्ष मार्ग में चले तो वह पवित्रता है और जहाँ विकार भाव में उस आत्मा को प्रीति जगी तो जो कर्मबंध होता है वे पौद्गलिक कर्म यह नहीं देखते कि इसने अभी नहाया धोया है और बिल्कुल शुद्ध कपड़े पहना है, यहाँ न बँधें। वहाँ

ऐसा कुछ नहीं है। शरीर का शोध नहीं देखते हैं ये पुगल कर्म। वहाँ तो ऐसा ही योग है कि जहाँ जीव के मोह अज्ञान, कषाय दुर्भावना हुई कि पौदलिक कर्म बँध जाते हैं। तो कषायें न जगना और अविकार आत्मस्वरूप में रमना यह है चारित्र। तो ऐसे चारित्र का लाभ सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल भुभलेऽया का लाभ**— सुपात्रदान के प्रताप से शुभलेश्या का लाभ होता है। शुभलेश्या पीत पद्म शुक्ल ये तीन शुभलेश्यायें कहलाती हैं। कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिन में संक्लेश बसा है वे अशुभ हैं और जिनमें विशुद्धि बनी है वे शुभ हैं। कृष्णलेश्या का ऐसा खोटा परिणाम होता कि वह भव-भव में बैर को नहीं छोड़ता। जैसे किसी साँप को अगर आप से लाठी लग गई और वह बच गया तो वह इस ताक में रहता है कि कब मुझे अपना बदला चुकाने का मौका मिले। बहुत दूर तक भी उस साँप को छोड़ा जाय तो भी वह इसी धुन में रहता है कि मैं कब उसके सताने वाला बदला लूँ, ऐसा खोटा भाव कृष्णलेश्या में रहता है। मैं इसका विनाश करूँ, मैं इसको कब बिगाड़ दूँ, यों भव-भव में बैर चलता है नील लेश्या में कुछ उससे कम खराबी तो है मगर खराबी गई नहीं। वह लोभ में बढ़ा, विषयों की प्रीति में बढ़ा। और कापोत, लेश्या उससे कम खराब, मगर यह भी अशुभ है। यह प्रशंसा में बढ़ा आत्मप्रशंसा सुनकर राजी हुआ, और अनेक खोटी बातें आयी। पीत लेश्या में तो कुछ धर्म की ओर दृष्टि होती है पद्म लेश्या में और विशेष, शुक्ललेश्या में और अधिक। शुक्ललेश्या वाले में राग विरोध नहीं चलता, पक्षपात नहीं चलता, ऐसी जो तीन शुभ लेश्यायें हैं वे इस जीव को एक सुख साता के कारण हैं। उन लेश्याओं का लाभ भी सुपात्रदान का फल है। लेश्याओं के लिए आगम में दृष्टान्त बताया है कि छ मुसाफिर किसी गाँव के लिए चले। वे सब भूखे थे। उन्हें रास्ते में एक पेड़ दिखा, मान लो वह आम का ही पेड़ था। उसमें बहुत से पके पके आम लदे हुए थे। उस पेड़ को देखकर उन सब के मन में भिन्न भिन्न प्रकार के भाव उठे। एक के मन में आया कि मैं इस पेड़ को जड़ से काटकर गिरा दूँ और फिर मनमाने फल खाऊँ। दूसरे के मन में आया कि मैं इस पेड़ की एक शाखा काटकर गिरा दूँ फिर मनमाने फल खाऊँ तीसरे मन में आया कि मैं इस पेड़ की एक उप शाखा को काटकर गिरा लूँ फिर मनमाने फल खाऊँ चौथे के मन में यह भाव आया कि मैं इस पेड़ की एक टहनी तोड़ लूँ और उसमें लगे हुए पके पके आम छककर खाऊँ 5वे के मन में आया कि मैं इस पेड़ में पके पके आम तोड़कर खाऊँ और छठे के मन में यह भाव आया कि देखो नीचे कितने ही पके पके आम पड़े हैं, मैं इन्हें बीनकर खूब छककर खाऊँ। अब आप यहाँ भावों की बात देखिये उन छहों के मन में छ प्रकार के भाव हुए। सबसे अधिक कठोर भाव जड़ से काटने वाले के हुए, उससे कम कठोर भाव शाखा काटने के फिर उससे कम उपशाखा काटने वाले के, उससे कम टहनी काटने वाले के। फिर उससे कम गुच्छा तोड़ने वाले के और सबसे कम कठोर भाव उसके रहे जो नीचे पड़े हुए फल खाने का भाव करता है। ऐसा यह छह लेश्याओं का दृष्टान्त कहा। पीत पद्म और शुक्ल लेश्या वाले में धर्म बुद्धि रहती है। तो ऐसी लेश्याओं का प्राप्त होना यह सुपात्रदान का फल है।

**सुपात्रदान का फल भुभनाम एवं भुभसात का लाभ**— शुभनाम कर्म बँधे कि भविष्य में भी अच्छा भव मिले, अच्छा शरीर मिले या अब जो शुभ नाम मिला है उत्तम शरीर। कोई शरीर ऐसा होता है कि जो निरन्तर रोगी ही रहता है। कोई शरीर खाने पीते रहते है। कोई शरीर ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें लोग देखना भी पसंद नहीं करते, बहुत से लोगों की सकल सूरत पर तो पुण्यवाणी झलकती है। तो इस शुभनाम की प्राप्ति भी सुपात्रदान का फल है। इसी प्रकार साता सुख आराम संतोष सत्संग आदि कितने ही सुख

साता के जो समागम हैं वे भी लोक में बड़ी श्रेष्ठ चीजें हैं। और सबसे अधिक श्रेष्ठता है साता परिणाम की। तो ऐसा साता परिणाम लाभ साता वेदनीय के उदय में अन्तराय के क्षयोपशम से प्राप्त होता है। तो ऐसा शुभ साता का लाभ उन्हें प्राप्त होता है जो भक्ति से, धर्म बुद्धि से, कुछ भी उस के एवज में लोक में कीर्ति न चाहकर जो उत्तम पात्र को दान देते हैं उसका फल है कि उसे ऐसे सुख साता के सामागम प्राप्त होते हैं। इस गाथा में यह बतला रहे हैं कि श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है पात्रदान, और पात्रदान का फल है यह, इस फल की आशा से ज्ञानी पुरुष पात्रदान नहीं करता वह तो धर्मबुद्धि से ही करता है। मगर पात्रदान के परिणाम से जो बात गुजरती है उसका आचार्य देव वर्णन कर रहे हैं। तो ये सब योग्य समागम मिलना पात्रदान का फल है।

**जो मुणिभुत्तविसेसं भुँजइ सो भुँजइ जिणुवदिट्ठ ।  
संसार—सार—सोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ।।29।।**

**सुपात्रदान करके भोजन करने वाले श्रावकों का भुभममतव्य—** सुपात्रदान के प्रकरण में आचार्य देव कह रहे हैं कि जो गृहस्थ मुनि के द्वारा भोजन कर लिए जाने पर जो शेष है उसका खाता है वह संसार के सारभूत सौख्यों को भोगता है और क्रम से मोक्ष के उत्तम सुखों को प्राप्त करता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। यहाँ मुनि के भोजन कर लेने पर शेष रह गए ऐसा जब अर्थ कहा तो उसका भाव यह लेना कि वह शेष थोड़ी नहीं है किन्तु वह समस्त घर का भोजन है। लेकिन मुनि भोजन कर जाय उसके बाद आहार करे तो उसको कहते हैं कि शेष भोजन किया। अथवा जब विशेषतया अर्थ लिया जाय कि मुनि भोजन कर जाय इस विशेषता के साथ जो गृहस्थ भोजन करता है वह संसार कि मुनि भोजन कर जाय इस विशेषता के साथ जो गृहस्थ भोजन करता है वह संसार के उत्तम सुखों को पाता है। संसार में सार भूत सुख क्या है? सारभूत तो नहीं है कुछ भी लेकिन लौकिक जन उन्हें सारभूत मानते हैं तो जिन को लौकिक जन सारभूत सुख मानते हों वे प्राप्त होते हैं सुपात्रदान से, और जब तक भवशेष है तब तक के संसार के सार सुख पाते हैं और यथासम्भव शीघ्र ही निर्वाण के उत्तम सुख को पाते हैं। निर्वाण का जो सुख है सो वह सुख नहीं, किन्तु आनन्द है। सुख और आनन्द में अन्तर है। सुख तो विकृत होता है और आनन्द स्वाभाविक होता है। सुख का अर्थ है सुमायने सुहावना और ख मायने इन्द्रिय, जो इन्द्रिय को सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं और आनन्द कहते हैं आत्मा में चारों ओर से समृद्ध होने को। भव समंतातनन्दनं आनन्दः। सर्व ओर से आत्मा में समृद्धि हो। तो आनन्द है स्वाभाविक परिणति और सुख है वैभाविक परिणाम, पर ग्रन्थों में प्रभु के आनन्द को भी सुख शब्द से कहा है उसका प्रयोजन यह है कि लौकिक जनों को समझाया है और लौकिक जन सुख से ज्यादा परिचित हैं तो उनकी ही भाषा में समझाने से ज्यादा अच्छा रहता है, इसलिये उस सुख को भी आनन्द को भी, सुख शब्द से कह दिया जाता है। तो यह ज्ञानी जीव सुपात्रदान के प्रताप से जब तक संसार में है तब तक ठीक रहेगा और निर्वाण प्राप्त हो गया तो सदा के लिए सहज शाश्वत परिपूर्ण आनन्दमय है।

**‘सीदुण्ह—वाउपिउलं सिलेसिमं तह परीसहव्वाहिं ।  
कायकिले सुववासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ।।22।।**

**पात्रदान में देय आहार का विवेक—** गृहस्थ पात्र को दान देता है तो वह कैसे कैसे देता है, इसका वर्णन इस गाथा में है, वह पात्र के शीत, उष्ण, वात, पित्त आदि को समझकर देता है। यदि शीतकाल है तो उसमें उस ऋतु के अनुरूप आहार देना चाहिए।

गर्मी का समय है। तो उस ऋतु के अनुकूल पात्र को आहार दान करना चाहिए याने शीत ऋतु में जो कुछ चीज गर्म हो या ढंडीन करे ऐसा भोजन श्रावक देता है। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी न बढ़ाये, उसकी साधना ठीक रखे ऐसा आहार देता है। तो जो शीत और उष्ण काल के अनुसार जानता है कि किस प्रकार भोजन दिया जाता है वह है पात्रदान का अधिकारी। अथवा महाराज की शीत उष्ण की जानकारी रखे, इनकी प्रकृति ढंडी ढंडी रहती है, ढंडी की इनको कुछ शिकायत है, या शीत यह बरदास्त नहीं कर पाते, ऐसा ध्यान में रखकर आहार देता है, गृहस्थ। उत्तम आहार जिस में गर्मी की प्रकृति हो और गर्मी के दिनों में ऐसा आहार जो उसे प्यास न उत्पन्न करे कि जिससे वह अपने पद से च्युत हो। तो शीत और उष्ण की समझ रखकर श्रावक आहार दान देता है। वात पित्त की खबर रखे। वात रोग एक वायु है जैसे गैस उठती या जब वायु नहीं सरती तो पेट में ही वायुबेला सा होना यह सब शरीर में वात है। किसी मुनि के वात प्रधान प्रकृति हो और उसे वात करने वाली चीज खिलायी जाये तो यह योग्यदान नहीं होता। ऐसे ही पित्त का रोग। किसी को पित्त उछला है, पित्त उछलते रहते हैं पर यदि पित्त वाले को पित्त ही बढ़ाने वाला आहार दिया जाय तो वह अयोग्य आहार है। आहार देने का प्रयोजन है सुगमता से निर्वाध रूप से यह पात्र अपने कल्याण मार्ग में लगे, आत्मध्यान में लगे और आहार ही ऐसा करा दिया कि जिससे अनेक व्याधियाँ बढ़ जाती है, तो ऐसे श्रावक ने कोई विवेक का काम नहीं किया, इसी प्रकार किसी में कफ की प्रकृति है तो जैसे कफ का रोग उसे संक्लिष्ट न करे उस प्रकार से आहार दे, इसी तरह परीषह व्याधि को समझकर श्रावक आहार देता है। जैसे रक्षाबंधन के दिन मुनिजन कुछ अग्नि से जले, कुछ धुवां से कंठरुद्ध, ऐसी स्थिति में आहार को आये थे तो वहाँ जैसे उनके गले से सुगमता से उतर जाय उस प्रकार का आहार दान श्रावकों ने दिया था, यदि उससे विरुद्ध आहार साधु को करा दिया जाय तो वह योग्य आहारदान नहीं कहलाया। इसी तरह व्याधि को निरखकर आहार देते, जुखाम है, बुखार है, अनेक व्याधियाँ हुआ करती हैं, तो जैसी व्याधि हो उस प्रकार का आहार देवे। यदि प्रतिकूल आहार हो गया तो वह योग्य आहारदान नहीं रहा। तो जो ज्ञानी गृहस्थ है वह मुनिराज की व्याधि को समझकर दान देता है और वही सही दान है। इसी तरह कायक्लेश हुआ हो या साधुजनों ने उपवास किया हो तो उपवास के बाद जैसा भोजन दिया जाना चाहिये वैसा भोजन सदगृहस्थ देता है, तो ऐसी इस बात को समझकर श्रावक सुपात्रदान करता है।

**हिय—मिय—मण्णं—पाणं णिखज्जोसहिं णिराउलं ठाणं ।**

**सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देह मोक्खरओ ।।23 ।।**

**पात्रदान में देय अन्न, पान, औशधि, स्थान, उपकरण आदि का विवेक—**जो मोक्षमार्ग में रत है वह सत्पात्र को यथा समय क्या क्या प्रदान करता है उसका वर्णन इस गाथा में किया है। वह हित मित अन्न पान को देता है। जो हित करे और परिमित हो गारिष्ट प्रमादकारक आहार साधुवों को नहीं देते, ऐसा निर्बाध अन्नपान और निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान और शयन, आसन, उपकरण इनको समझकर देता है। यह और किस किस प्रकार दिया जाय तो उनको बाधा न आये और अपने ध्यान में वे सफल होते रहें। अनेक पुराणों में चर्चायें मिलती हैं कि किसी को एक कड़वी लौकी का ही आहार दिया और उन्होंने ले लिया तो उसका फल ठीक नहीं निकला। क्या हुआ कि उनको कोई व्याधि बन गई, तो उसका आहार दान अयोग्य कहलाया। तो ऐसे ही जिस जिस समय जैसा जैसा अन्न पान देना चाहिए वैसा समझकर गृहस्थ देता है और औषधि निर्दोष देता है जिसमें कि मद्य, मांस, मधु अतिचार का भी दोष न लगे। निराकुल स्थान देता है जहाँ लोगों का विशेष

आवागमन न हो। मच्छर आदिक की बाधायेँ जहाँ नहीं हो पातीं। सोने बैठने आदि का स्थान भी देता है और जो उनके उपकरण हैं उन उपकरणों को भी योग्य समझकर प्रदान करता है। कैसा क्या देना चाहिए इस प्रकार का विवेक रहता है सद्गृहस्थ को सो जो मोक्षरत हैं। मोक्ष मार्ग में अनुरागी है उस गृहस्थ को बड़े विवेक पूर्वक ये सब आवश्यकता वस्तुवेँ देना चाहिये।

**अणयाराणं वेज्जावच्चं कूज्जा जहेह जाणिज्जा।**

**गब्भमेव मादाव्व णिच्चं तहा णिरालसया।।24।।**

**साधुवों की वैयावृत्ति करने का कर्तव्य**—इस गाथा में आचार्य देव कह रहे हैं कि मुनिजनों को सब कुछ अनुकूलता समझकर वैयावृत्ति करना चाहिए। जैसे कि माता गर्भस्य शिशु का पालन करती है उस के समान नित्य आलस्य रहित होकर अनगार मुनिजनों की वैयावृत्ति करना चाहिए। वैयावृत्ति का अर्थ क्या है? जल्दी में लोग कह तो देते हैं कि वह वैयावृत्ति कर रहा है पर वैयावृत्ति का अर्थ है व्यावृत्तस्य भावः वैयावृत्तं याने रिटायर्ड पुरुष का काम उसे कहते हैं वैयावृत्ति तो जो पुरुष वैयावृत्त हैं, संसार, शरीर, भोगों से उदास हैं वे पुरुष बस मुनिजनों की सेवा में अपना समय लगाते हैं। तो जो आत्मज्ञान पाये हुए हैं और आत्महित की बड़ी धुन लगी है उनको यही तो कर्तव्य है कि अपनी ड्यूटी करें। रिटायर्डपने का काम करें, व्यावृत्त के करने योग्य कार्य को करें। तो ऐसे अनगार जनों को वैयावृत्ति जैसे करना चाहिये वैसे करते हैं। जैसे कि छोटे बच्चे की या गर्भस्थ बालक की सेवा होना चाहिए—माँ कैसा भोजन करे कि गर्भ में रहने वाले बालक को बाधा न आये उस तरह से जान करने मुनिजनों की सेवा करना चाहिये।

**सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरुणं फलाण सोहं वा।**

**लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा—सवं जाणे।।25।।**

**सत्पुरुशों के व लोभी पुरुशों के दान में अन्तर**—सत्पुरुशों का दान कल्पवृक्ष के फल की भाँति शोभा के समान है। और वही दान यदि लोभी पुरुष का है तो उसकी शोभा ठठरी की शोभा के समान है। यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर दिखाया गया है। जो उदात्त पुरुष हैं, सुम्यग्दृष्टि हैं ज्ञानी हैं, जिन्होंने स्पष्ट समझ लिया है कि संसार में जो भी समागम आये हुए हैं वे मेरे हितरूप नहीं हैं, ऐसा जिन्होंने निर्णय किया है उन पुरुशों के द्वारा जो दान विधि चलती है वह निर्दोष चलती है। तो ज्ञानी पुरुष ने दान सेवा की वह तो कल्पवृक्ष के फलों की तरह उससे फल मिलेगा। मन चाहा सुख मिलेगा, ज्ञानी किसी लोभ से दान नहीं करता, किन्तु उसको अपने रत्नत्रयभाव में प्रीति है, सो रत्नत्रय धारियों को देखकर वह अपने में नहीं समाता, इतना आनन्दित होता है कि उनकी सेवा करके वह यह अपने में आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार जो सत्पुरुशों को दान दिया जाता है वह महाफल देता है जिससे आगे भी सार सुख का अनुभव करता है। तो ज्ञानी जनों को तो कल्पतरु की तरह हुआ। और लोभी पुरुशों के द्वारा दिया गया दान शव की विमान शोभा की तरह जानना तथा लोभी पुरुशों का दिया गया दान की शवशोभा की तरह जानना शोभा की तरह जानना। जैसे शोभा तो उस ठठरी की भी बनायी जाती है मरे के बाद जैसे नसैनी पर लिटाकर ले जाते हैं, उसे ठठरी कहा करते तो उसकी भी लोग शोभा करते हैं। कितने ही लोग उसे लादकर ले जाते हैं। तो जैसे वह सार रहित है जलूस, लेकिन जनों ने जहाँ सार माना वह रंच भी नहीं है, वह मर गया, तो जैसे मुर्दा की शोभा बनती है ऐसे ही लोभी पुरुशों का दान उसके शव की शोभा की तरह है, क्योंकि ज्ञानी के तो भक्ति भाव

हैं, पर अज्ञानी के भक्ति भाव नहीं है दान करने के प्रसंग में। तो भक्ति भाव से शून्य होने की तरह वे सब क्रियायें अज्ञानी की मृतक की शोभा के समान हैं।

**जसकिति पुण्णलाहे देह सुबहुगंपि जत्थतत्थेव।**

**सम्माइ सुगुण भायण पत्तविसेसं ण जाणंति।।26।।**

**यज्ञकीर्ति व पुण्य के लाभ के लिये दान दातार की तथ्य के विशय में अजानकारी—** कितने ही पुरुष अथवा लोभी पुरुष अपने यश कीर्ति के लिए या पुण्य लाभ के लिए जहाँ तहाँ अनेक प्रकार के दान भी देते हैं और वे जानते हैं सम्यक्त्वादिक गुणों को जिन के द्वारा सम्यक्त्व का धारी भव्य पुरुष लाभ उठाता है, याने जो पुरुष अपना यश चाहने के लिए, कीर्ति चाहने के लिए दान करते हैं तो वे जिस किसी की भी सेवा करते हैं। जिसकी तू तू बज रही हो, जिसकी लोक में अपने आप ख्याति बन जाय उनकी भक्ति में आगे बढ़ जाता है। सो वह यह नहीं देखता कि यहाँ सम्यक्त्वादिक गुण हैं या नहीं उन गुणों से युक्त उत्तम पात्र की बात वहाँ है ही नहीं, क्योंकि खुद ही जब बुरा है कि एक नाम या और कुछ इच्छा से वह सेवा कर रहा है, मोक्ष मार्ग की प्रीति से सेवा करे तो उसका उत्तम फल होता है। उस गृहस्थ को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के प्रति उमंग जगे, उसका रुचिया है तो वह सम्यग्दर्शन धारी ज्ञान चारित्र धारी संत महात्माओं की सेवा करने में प्रसन्न रहता है, ज्ञानी अज्ञानियों की सेवा में प्रसन्न नहीं रहता, और अज्ञानीजन जिस किसी की भी सेवा करने को तैयार रहते हैं, तो लोभी पुरुष कीर्ति और पुण्य की चाह से वे जिस किसी को भी, याने पात्र है या नहीं, ऐसा विचार किए बिना ही विविधदान देते हैं सो इन गुणों को वे नहीं जानते। मोक्ष मार्ग क्या है इसको ही नहीं पहिचाना। उनका तो एक यह ही मंतव्य है, आशय है कि पूजा में हमारा बड़प्पन और हमारी उच्चता प्रसिद्ध हो जाय।

**भुद्धभाव से दिये गये पात्रदान का फल—**एक कथानक है कि एक बार किसी श्रावक की जंगल में किसी मुनिराज से भेंट हुई। वह मुनिराज ज्ञानी थे। उनको बड़े भक्ति भाव से आहारदान दिया उस श्रावक ने तो आहार होने के बाद उस श्रावक के घर खूब रत्नों की वर्षा हुई। इस दृश्य को देख लिया उसके किसी पड़ोसी ने। वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया और समझ लिया कि इस तरह से मुनि को आहार दान देने से रत्नों की वर्षा होती है। उसके भी मन में आया कि हम भी इसकी तरह मुनि को आहारदान दें ताकि हमारे घर भी रत्नों की वर्षा हो। आखिर दिया मुनि को आहार दान पर बाद में क्या देखता है कि वहाँ तो एक भी रत्न नहीं बरषे। तो भाई शुद्ध भावों से दिए आहार दान से उस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है न कि लोभवश करने से। यह आत्मा अपने में शुद्धभाव बनाये तो उससे पुण्यकर्म का बंध होता है और अशुद्धभाव बनाये तो उससे पापकर्म का बंध होता है। यहाँ क्रिया बाहरी दान की चल रही है, सेवा की चल रही है मगर हो रहा है वहाँ पाप का ही बंध होता है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया है।

**लोभवया क्रिया से सिद्धि की असंभवत—** सो सुनिये किसी लकड़हारे को कोई मुनिराज मिले। तो लकड़हारा बोला—महाराज मेरे कल्याण के लिए मुझे कोई बात बताओ। तो मुनिराज ने उसे णमोकार मंत्र सिखाया और कहा कि देखो तुम इसी का पाठ कर लिया करो। उस लकड़हारे ने बड़ी श्रद्धाभक्ति से यह पाठ करना शुरू कर दिया। वह हर बात में बस णमोअरिहंताणं की धुन में लग गया। कोई उससे कुछ पूछे—तो ब सवह यही कहे णमोअरिहंताणं वह दो तीन दिन लकड़ियाँ बीनने तथा बेचने भी नहीं गया। स्त्री ने खाने के लिए खीर बनाया और खाने के लिए लड़के से बुलवाया तो वहाँ भी वह बोला

णमोअरिहंताणं, स्त्री ने खीर परोसा और कहा खावो तो उसने कहा—णमोअरिहंताणं। फिर स्त्री बोली सभी अरे खालो ना? तो फिर वही बात णमोअरिहंताणं। स्त्री ने कहा—ऐसे कब तक काम चलेगा? णमोअरिहंताणं।...बच्चों का गुजारा इस तरह से कैसे चलेगा? णमोअरिहंताणं। वहाँ स्त्री को गुस्सा आया और लकड़हारे के सिर पर लूगर (अधजली लकड़ी) जोर से मारा। वहाँ क्या देखने में आया कि उस लूगर में से रत्न खिरे। यह भी उस लकड़हारे के भावों की विशेषता। आखि रवह लकड़हारा धनिक हो गया। लकड़हारे को बड़ी जल्दी धनिक होते देखकर उसके पड़ोस की किसी सेठानी ने लकड़हारे की स्त्री से पूछा—कहो तुम इतना जल्दी धनिक कैसे बन गई? तो वहाँ लकड़हारे की स्त्री ने सारी घटना आदि से अन्त तक बता दी। अब उस सेठानी ने विचार किया कि यह तो धनिक बनने का बड़ा सरल उपाय है, मैं भी ऐसा ही उपाय करके धनिक बनूँगी। सो सेठ से वह सेठानी बोली कि हमने धनिक होने का एक उपाय समझ लिया है, हमारे कहने से तुम एक काम करना फिर हम सब काम बना लेंगी। तो सेठ ने कहा—क्या काम करें बताओ? तो सेठानी बोली—देखो तुम दो तीन दिन कहीं कुछ कामकाज करने नहीं जाना, खानापीना भी न खाना, तुमसे कोई कुछ कहे तो णमो अरिहंताणं बोलना, बस काम बना लेंगी। ठीक है कर लेंगे ऐसा। अब सेठ उसी दिन से कहीं कामकाज करने नहीं गया, न खाने पीने गया, कोई कुछ कहे—बस णमो अरिहंताणं, सेठानी ने खीर बनाया, अपने बच्चे से सेठ को खाने के लिए बुलवाया, तो सेठ बोला णमो अरिहंताणं। अखिर जबरदस्ती लाकर खाने के लिए बैठाया और खीर परोसकर कहा खालो, तो सेठ बोला—णमो अरिहंताणं।...ऐसे कैसे काम चलेगा?....णमो अरिहंताणं इस तरह से बच्चों का पालन पोषण कैसे होगा? णमो अरिहंताणं बस सेठानी ने लूगर (अधजली लकड़ी) सेठ के सिर पर मारा तो वहाँ उसमें से सारा कोयला बिखर गया। सेठानी बड़े गौर से देखकर पछताती है अरे यहाँ तो सारा कोयला ही बिखरा, रत्नों का नाम नहीं। अब देखिये अच्छे भावों से न किए जाने के कारण क्रियायें तो सारी वही की गई पर वहाँ लाभ कुछ न मिला, बल्कि सारी हानि ही हानि हुई, तो जितनी भी सुख शान्ति मिलती है वह उसके ही शुद्धभाव से मिलती है। दूसरा कोई किसी को सुख नहीं देता।

**जंतं—मंतं—तंजं परिचरियं पक्खवायपियवयणं।**

**पडुच्च पंचमयाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स।।27।।**

**यंत्र के आश्रय से दिये गये दान के मोक्ष हेतुत्व का अभाव—**इस भारत देश में पंचमकाल में जो जंत्र मंत्र सेवा, पक्षपात प्रिय वचन के सहारे विश्वास उत्पन्न कर दान दिया जाता है वह मोक्ष का कारण नहीं है। कोई मंत्र लिखकर देता हो और खास कर त्यागी साधु व्रती यदि यंत्र लिखकर बाँटता हो तो उस पर लोगों का बहुत आकर्षण होता है, और उस सहारे कितने ही दान हो जाया करते हैं तो ऐसा दान मोक्ष का हेतुभूत नहीं है। जो यंत्र लिखकर देता है यह ही जिसका व्यसन बना है प्रथम तो वह ही मोक्ष मार्ग से दूर है और वह श्रावक गृहस्थ जो यंत्र पर आशक्त हैं उनको अपनी निधि पर विश्वास नहीं। जो किए गए कर्म हैं, बद्धकर्म हैं वे उदय में आते हैं और फल मिलता है, उसको यंत्र न ठाल सकेंगे, दूसरे पुरुष न ठाल सकेंगे। वह खुद के ही परिणामों में उच्चता हुई, निर्मलता हुई, अविकार आत्मस्वरूप की सुध हुई और वहाँ ही ध्यान में रमे है, पूर्वबद्ध कर्मों में भी फर्क डाल जाता है मगर उसे कोई दूसरा नहीं डालता, इस तथ्य को न जानकर दयापात्र गृहस्थ अज्ञानवश यंत्र पर ही एक आशक्त रहता है और उससे बड़ी पूजा प्रतिष्ठा बढ़ाता है। सो यंत्र के आश्रय से दिया हुआ दान यह मोक्ष का हेतुभूत नहीं है। वह तो एक प्रकार से अपने गृहस्थ के ही विकृत कार्यों को करने का उपाय समझ रखा है।

**मंत्र के आश्रय से दिये गये दान के मोक्ष हेतुत्व का अभाव—** इसी प्रकार मंत्र का तमाशा बन गया है जो अनेक प्रकार के लोगों को मंत्र देते बाँटते हैं या जिसकी प्रसिद्धि हो गई कि यह महाराज मंत्र देते हैं उससे हमारे सब काम सिद्ध हो जाते हैं तो मंत्र के ही आलम्बन से उस पर आकर्षण होता है और उससे फिर जो कुछ भी किया गया दान है वह मोक्ष का हेतुभूत नहीं है। ये सब बातें आजकल 47 मुख्यतया चल रही हैं, और लोग भी प्रायः इस ही तमाशे के रुचियाँ हैं इस कारण अगर यंत्र मंत्र का कोई तमाशा करने लगे तो उसके पास भीड़ भी एकत्रित होती है। उनके बड़े बड़े आख्यान भी प्रसिद्ध किए जाते हैं। तो वे यंत्र मंत्र के प्रसार और यंत्र मंत्र पर विश्वास रखकर दान दिया यह ही जिसका एक व्यसन अथवा प्रकृति बन गई है वे दोनों ही मोक्ष के मार्ग में नहीं हैं संसार के संकटों से छूटने का मार्ग तो यह है जो अपने आप के बारे में यह परिचय हो जाये कि यह मैं आत्मा स्वरूपतः अपने ही स्वरूप मात्र हूँ, इसको बाह्य से बंधन क्या? सत्त्व बंधन को स्वीकार नहीं करता, किन्तु ऐसा ही उनको योग है, उपाधि इनके साथ है। उसके विपाक का प्रतिफलन उपयोग में होता है और यह जीव ज्ञानस्वरूप ढक जाने के कारण इस ज्ञान का कल्पनारूप परिणमन बनाता है, उससे यह सारा उपद्रव चलता है। अनेक लोग यंत्र पर विश्वास रखते हैं।

**यंत्र के आश्रय से दिये गये दान के मोक्ष हेतुत्व का अभाव—** यंत्र तो कहलाता है कोई आकार बनाकर देना, मंत्र है अक्षरों का जाप और तंत्र है कोई टोटिका जैसा काम। यह लोगों को विदित हो कि अमुक महाराज तंत्र भी जानते हैं और उनके तंत्र से हमारे सब काम पूरे बनेंगे, सो उस तंत्र को आलम्बन लेकर उस ही चमत्कार पर आशक्त होकर जो दान किया जाता है वह दान मोक्षका हेतुभूत नहीं है। यद्यपि कुछ निमित्त नैमित्तिक बात तो है, ये यंत्र मंत्र तंत्र किसी कार्य में एक साधन बनते हैं, मगर जिसका कार्य बनना हो उसके हो पुण्य का उदय, यह प्रथम बात है, तो वह उसका एक सामान्य आश्रय भी बन जाता है अन्यथा अनेक यंत्र मंत्र तंत्र फेल रहते हैं, कोई कार्य में सिद्धि नहीं होती, तो उसमें भी मुख्य अपना अपना भाव ही रहा। श्रद्धा है, भाव है, सरलता है, निर्मलता है, पुण्य का उदय है तो कार्य होता है अन्यथा बतलाओ कि अन्य विदेश के लोग जो यंत्र मंत्र में विश्वास नहीं रखते वे लौकिक सुखों से कैसे सुखी हो गए? इस भारत देश से तो वे बड़े बड़े धनिक पड़े हुए हैं, और वे कोई यंत्र मंत्र तंत्र के विश्वासी भी नहीं हैं। तो यहाँ बात बतला रहे हैं कि अपनी विधि पर, अपनी करतूत पर विश्वास न रखने वाले अज्ञानी पुरुष जब कोई दान करता है तो बस इसी यंत्र मंत्र तंत्र का, इसी चमत्कार का आकर्षण पाकर करता है। सो वह अज्ञप्राणी है, तथ्य का अजानकार है इसलिए उसका दान मोक्षका कारणभूत नहीं है।

**कर्मविपाक के परिचय में संतोशमार्ग—** इसी तरह सेवा उपचार से जो विश्वास प्राप्त कर अनेक लोग दान करते हैं वह भी उनके लिए मोक्ष का हेतुभूत नहीं है। अथवा दूसरे के बहुत प्रिय वचन सुनकर उससे ही भावुक बनकर, उससे ही आकर्षित होकर केवल अपनी कीर्ति का भाव रखकर दान करते हैं वह भी मोक्ष का हेतुभूत नहीं है। इन सब बातों पर दृष्टि डालकर देखो तो विरला ही ज्ञानी पुरुष तत्त्वका जानकार सद्बुद्धि से दान करता है तो प्रायः अज्ञानी जन इसी बात का आलम्बन लेकर त्याग करते हैं। वह त्याग आत्मदृष्टिसे संबंध न रखने के कारण मोक्ष का हेतुभूत नहीं है।

**दाणीणं दालिदद लोहीणं कि हवेइ महसिरियं ।**

**उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव होइ थिरं ।।28।।**



**कर्मविपाक के परिचय में संतोश मार्ग**—इससे पहले की गाथा में बताया था कि अविश्वासीजन अपने स्वार्थ की साधना पर मोहित होकर कुछ त्याग बुद्धि में आते हैं सो वह मोक्षका हेतु नहीं है। उसी संबंध में यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जो कुछ गुजरता है। दिखता है वह सब पूर्वकृत कर्म का फल है। दानी पुरुष निर्धन क्यों देखे जाते? अनेक पुरुष ऐसे होते कि जिनके पास अधिक सम्पदा नहीं है, साधारण हैं। कामचलाऊ हैं और फिर भी दान की उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है और दान में वे बड़े चढ़े होते हैं फिर भी धन अधिक नहीं होता है तो इसका कारण है पूर्व जन्म में किए हुए कर्म का फल।

**दारिद्र्य के उपद्रव में भी ज्ञानी की निःशंकता का कारण**—ज्ञानीजन दारिद्र्य आदि किसी भी घटनासे नहीं घबड़ाते क्योंकि कर्म क्या करेंगे? कर्म का अधिक से अधिक दो बातों पर जोर चल सकता है एक तो कोई निर्धन हो जाय या उसका मरण हो जाय। सो ज्ञानी पुरुष मरण को तो जीवन समझता है और निर्धनता को धन समझता है। कैसे समझता कि उसे अपने आत्मस्वरूप में विश्वास है यह आत्म स्वरूप केवल एक जाज्वल्यमान ज्ञान ज्योति है, वह सर्व पर द्रव्यों से निराला है, इसमें दूसरे का संबंध ही नहीं है। तो अन्य पदार्थ के संबंध से रहित स्वरूप से निराला केवल एक आत्मवैभव है उसको धन माना है ज्ञानी ने तो स्वरूप में आयी हो ऐसी निर्धनता यही वास्तविक धन है। यह ज्ञानी की दृष्टि में है तब उसे क्या करेंगे? न रहेगा धन न रहा कुछ। उसको कुछ फिकर ही नहीं क्योंकि उसने अपने आत्मा के स्वरूप को ऐसा देखा है कि यह समग्र पर द्रव्यों से निराला है।

**मरण के उपद्रव में भी ज्ञानी की निःशंकता का कारण**—अच्छा ज्ञानी को मरण का भी भय नहीं होता। जैसे कोई मुसाफिर किसी रेलगाड़ी में सफर कर रहा हो तो उसको एक सीट से हटकर दूसरी सीट पर जाने में कोई खेद नहीं होता। मानो वह किसी बीच की सीट में बैठा था और अब खिड़की के पास की सीट खाली हो गई तो उस बीच की सीट को बड़े उमंग से छोड़कर खिड़की के पास वाली सीट में जा बैठता है, उसे उस सीट के छोड़ने में जरा भी कष्ट नहीं होता। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह देह तो परमाणुओं का पिण्ड है, यह पुराना होकर खिलकट हो जाता है। जैसे कोई मशीन पुरानी हो जाय तो ढीली ढाली खिलकट हो जाती है ऐसे ही यह शरीर भी पुराना होकर खिलकट हो जाता है। उस पुराने शरीर को छोड़कर जाने पर तो उसे अब कोई नया शरीर मिलेगा। वह जानता है कि यह मैं जीव वहीं हूँ। आज इस सीट पर बैठा हूँ तो यह सीट रद्दी हो जाने पर मैं नई सीट पर चला जाऊँगा। इस आत्मा का विनाश कभी नहीं होता और केवल आत्मा से ही ज्ञानी का प्रयोजन है। तो उसे दुःख का अवकाश कहाँ रहा? मरण के समय तो दुःख अज्ञानी मानता है, और वह किस बात का दुःख मानता है? मैंने इतना धन संग्रह किया, मैंने ऐसा मकान बनाया, ऐसी पोजीशन तैयार कर लिया, अब यह सबका सब छोड़कर जाना पड़ रहा है, ऐसी कल्पना अज्ञानी के जगती है। ज्ञानी तो अपने अविकार सहज सत्य स्वरूप को निरखता है। तो कर्म का विपाक बुरे से बुरा होता है तो दो बातों में—निर्धनता और मरण, पर ज्ञानी को इन दोनों से घबड़ाहट नहीं, बल्कि निर्धनता को धन समझता और मरण को जीवन समझता, तो उसे फिर कुछ भी शंका नहीं रहती।

**सुकृत दुश्कृत के फल के परिणाम**—कोई ज्ञानी पुरुष है, दानी पुरुष है और वह दरिद्र हो गया या दरिद्र है तो वह दरिद्रता का आना उसके पूर्वकृत कर्म का फल है वर्तमान तो भाव व भवकी उत्तमता है अनेक धर्मात्मा जिन्होंने जीवन में कभी पाप कार्य नहीं किया और फिर भी उन पर विपत्ति आती है तो यह कुछ पता नहीं कि यह एक लाख पहले के भवों के पाप का उदय है या कब के पाप का उदय है, आ गया है। तो उसका

भी ज्ञानी ज्ञाता रहता है तो जो स्थितियाँ वर्तमान में दिख रही हैं उनका कारण क्या है उस प्रकार के कर्म का उदय। तो इस पर विश्वास रखना चाहिए कि जैसे कर्म किए जाते हैं वैसी ही बात सामने आती है उसमें यंत्र मंत्र तंत्र का आकर्षण न समझें, न करें किन्तु अपने भावों के सुधार का पौरुष करें क्योंकि अपने भवितव्य की गाड़ी सब अपने पुरुषार्थ पर निर्भर हैं। यहाँ दानी पुरुष भी दरिद्र देखे जाते और लोभ पुरुष महान ऐश्वर्य वाले देखे जाते तो यह क्यों? ऐसा एक प्रश्न रखकर उत्तर दिया जायेगा। अनेक लोभी पुरुष हैं सो जो कुछ भी खर्च का मन में भाव भी नहीं रख सकते, त्याग, दान की मन में कल्पना भी नहीं बनाते और धनिक देखे जाते हैं सो ऐसा उनका भवितव्य होना उनके पूर्वकृत पुण्य का फल है मगर वर्तमान में जो परिणाम है लोभ कषाय का उसके परिणाम से जो कर्म बंध होता है उसका फल आगे भोगना होगा। यहाँ यह बात बतला रहे हैं कि ऐसी जो विचित्र स्थितियाँ होती हैं वे क्यों होती हैं, उसमें कारण है पूर्वकृत कर्म का उदय। जब तक पूर्वजन्म के अच्छे बुरे कर्म अपना फल देकर नहीं खिरते तब तक वे भले बने रहते हैं, याने यह सब अपने पूर्वकृत कर्म का फल है। सो कर्मों में सुधार करना चाहिये। यदि अपना भवितव्य सही चाहते हो तो, न कि किसी पर वस्तु से अपना हित मानें और न उसके प्रति आकर्षित होकर अपनी धर्मबुद्धि बनायें।

**धण—धण्णाइ समिद्धे सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।**

**मुणिदाणाइसमिद्धे सुहं तहा तं विणा दुक्खं ।।29।।**

**मुनिदान से समृद्धि से सौख्यलाभ—** जैसे इस लोक में ऐसा दिख रहा है कि किसी के धन धान्य आदि की समृद्धि हो तो वहाँ सुख देखा जाता है, घर के खेत हैं, व्यापार लम्बा चौड़ा है, ना, ब्याज की खूब आमदनी है, बड़ा सुखी है, ऐसा देखा जाता है ना, तो इसी प्रकार यह भी देखना चाहिए, समझना चाहिये कि मुनिदान की समृद्धि से सुख होता है, अनेक लोग ऐसे हैं अब भी इस भरतक्षेत्र में, इस पंचमकाल में कि जो त्यागी, व्रती, मुनि, साधुसंतों की संगति में प्रसन्न रहते हैं और उनकी सेवा से अपना जीवन धन्य समझते हैं। यह भी एक बड़ी विचित्रता है अन्यथा ऐसे पुरुषों की संख्या ज्यादा रहती है कि जो साधुसंतों को निरखकर एक मन में दुर्भावना लायें और साधु संत न रुचें, ऐसों की संख्या इस पंचकाल में बहुत है। सो बहुत संख्या उन मिथ्याभाव वालों के रहने पर भी अब भी ऐसे मनुष्य बहुत पाये जाते हैं कि जो मुनिदान की समृद्धि से अपने को सुखी समझते हैं। और वास्तव में तो मुनिदान बिना पात्रदान बिना या धर्मात्माओं की सेवा बिना तो दुःख ही समझिये, क्योंकि धर्म प्रसंग से अलग रहने पर और मोहियों की संगति में खुश रहने पर तो इस जीव को सांसारिक ढंग की आकुलता बनती है इस कारण पात्रदान के बिना तो दुःख ही समझिये।

**पत्तविणा दाणं य सुपुत्तविणा बहुधणं महाखेत्तं ।**

**चित्तविणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ।।30।।**

**पात्र के बिना दान की व भाव के बिना व्रतादि की निश्कारकता—** पात्र के बिना दान देना भी निरर्थक है। अनेक पुरुषों का दान प्रायः देखा ही जाता है कि कोई खेलकूद की बात, तमाशे की बात या कोई अन्य ऐसी ही फिजूल की बातों में चूँकि मन रमता है उससे अपने को सफल मानता है तो वहाँ दानवृत्ति होती है पर आचार्य देव कहते हैं कि सदक्षेत्र में, सुपात्र में, योग्य कार्य में जो दान किया जाता है वही सफल दान कहलाता है, तो जैसे सुपात्र के बिना बहुत धन और बहुत खेती आदि होना निष्फल है ऐसे ही समझिये कि पात्र के बिना दान निष्कारण है। जिसके सुपात्र नहीं है और बहुत-बहुत

धन कमाने की चिन्ता में फिकर में रहता है तो और लोग समझते हैं कि यह किसलिए इस तृष्णा में बढ़ रहा है, इसे करना क्या है। तो जैसे दृष्टान्त लिया है कि सुपात्र बिना धान खेती आदि का संग्रह निष्कारण है ऐसे ही पात्र के बिना दान भी एक निष्कारण है तथा भाव के बिना व्रत, गुण, चारित्र्य ये भी निष्फल समझियेगा। भाव तो नहीं है और चूँकि व्रत का एक रिवाज है, रूढ़ि है, करते जा रहे हैं और उसमें ही एक बड़ी महिमा प्रशंसा जानी जाती है तो व्रत करना, वह व्रत बिना भाव का है याने दुर्भाव का है। मोक्ष के लिए जैसा भाव होना चाहिए उस तरह के भाव से व्रत नहीं करता है तो ऐसा व्रत निष्फल है, इसी प्रकार गुण भाव के बिना कलाये, अन्य क्रियायें और चारित्र्य, तपश्चरण ये सब भाव के बिना व्यर्थ हैं, कर ली पर पता नहीं है कि इसका उद्देश्य क्या है। मूल चीज क्या है?

**भाव के बिना परिश्रम की व्यर्थता का एक दृष्टान्त पूर्वक समर्थन**—एक ऐसा कथानक है कि कोई 4-5 बजाज अपने गाँव से अपने-अपने घोड़े पर बैठकर किसी शहर से कपड़ा खरीदने चले। रास्ता लम्बा था, रास्ते में उनको एक जगह रुकना पड़ा सो वे एक पेड़ के नीचे रात्रि भर विश्राम करने के लिए ठहर गए। ठंड के दिन थे। सो घोड़े को बाँध दिया एक तरफ और वे सब उस पेड़ के नीचे ठहर गए। अब ठंड काफी जोर की थी। ठंड तो किसी तरह से मिटाना ही था, रात्रि किसी तरह से काटना था। अब उन्होंने क्या उपाय किया कि पास से ही कुछ लकड़ियाँ बीन लाये, एक जगह उन्हें इकट्ठा किया, चकमक से आग जलाया और कुकडु आसन से बैठकर खूब तापा, अपनी ठंड मिटाया और सबेरा होते ही वे सब प्रस्थान कर गए। उनका वह सब दृश्य देख रहे थे उस पेड़ पर रहने वाले बंदर। उन सब बंदरों ने सलाह किया कि देखो अपन लोगों जैसे ही तो हाथ पैर उनके थे जो रात्रि भर इस पेड़ के नीचे रहकर अपनी ठंड मिटाकर यहाँ से प्रस्थान कर गए। अपन लोग भी क्यों न वैसा ही काम करें और अपनी ठंड मेटें। ठीक है, मंजूर हो गई वह बात। अब सभी बंदर दौड़े चारों ओर। लकड़ियाँ तोड़ तोड़कर लाये, एक जगह इकट्ठा किया और तापने बैठे पर ठंड न मिटी। एक बंदर बोला अरे इस तरह से ठंड कैसे मिटेगी? उन्होंने तो कोई लाल लाल चीज इन लकड़ियों में डाली थी, जब तक वह न डालोगे तब तक ठंड कैसे मिट सकती?... ठीक है। लो सभी बंदर इधर उधर दौड़े वहाँ उड़ रही थी लाल लाल पटबीजनायें (जुगनू) उन्हें पकड़कर लाये और लकड़ियों में डाला, ताप ने बैठे फिर भी ठंड न मिटी, फिर एक बंदर बोला अरे इस तरह से ठंड कैसे मिटेगी? वे सब कुकडु आसन में बैठे थे तब ठंड मिटी थी। कुकडु आसन में बैठ गए सब बंदर फिर भी ठंड न मिटी। फिर एक बंदर बोला अरे इस तरह से ठंड न मिटेगी। उन्होंने लाल लाल चीज लकड़ियों में गेर कर मुख से फूँका भी था। सो सभी बंदर मुख से फूँकने भी लगे फिर भी ठंड न मिटी। देखिये उन सभी उपायों को उन बंदरों ने कर लिया फिर भी अपनी ठंड न मेट सके। तो उसमें ठंड न मिटने का मूल कारण क्या था? मूल कारण यह था कि ठंड मेटने की जो मूल साधन अग्नि थी उसका उन्हें परिज्ञान न था। तो ऐसे ही समझ लो कि जब जानकारी ही नहीं कि आत्मा के कल्याण का हेतुभूत होता है अविकार सहज चैतन्य स्वरूप मात्र अपने आपका परिज्ञान करना, अनुभव करना, उस बात की जब कुछ जानकारी ही नहीं, आत्मा की कुछ सुध ही नहीं, और इस देह को ही आत्मा मानने के आदी हैं तो वे व्रत चारित्र्य एक देहात्म बुद्धि से ही किया करते हैं। उनका यह सब क्रिया चारित्र्य का पालन यह भाव के बिना है। तो भाव के बिना किए गए व्रत चारित्र्य आदि ये सारे श्रम निष्फल होते हैं। जैसा भाव होता है वैसा ही फल मिलता है, यह जानकर अपने भाव ऐसे उदार (उदात्त) बनाना चाहिए कि जिससे इस लोक में भी आनन्द प्राप्त हो और भविष्य में भी आनन्द प्राप्त हो।

**जिष्णुद्वार—पड़टा—जिणपूया—तित्थवंदण—सेसधणं ।**

**जो भुंजइ सो भुंजइ जिष्णुद्विट्ठं णिरयगइ दुक्खं ।।31।।**

**जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा व जिन पूजा के भोश धन को भोगने वालो की दुर्गति—**

पात्रदान के प्रकरण के बाद कुछ और स्फुट शिक्षायें दी जा रही हैं। जो लोग जिन मंदिर के जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिन पूजा, क्षेत्र का बचा हुआ या बचाया हुआ धन भोगता है वह नरक गति के दुःखों को भोगता है। जीर्णोद्धार का शेष धन है, जीर्णोद्धार के लिए एकत्रित है, जीर्णोद्धार की व्यवस्था चल रही है उसमें जो कोई मुख्य हो या जो कार्यकर्ता है या जिसके पास उसकी रक्षा में सौंपा गया है उसमें से शेष धन याने पूरा तो कोई नहीं भोगता, कुछ तो लगाया ही जाता है, पर कुछ भोगने में लगाता है तो इसे यहाँ बड़ा पाप बताया गया है भाव की अपेक्षा। भाव उसके दूषित हुए हैं। उसको अपने आप में चोर का जैसा अनुभव होता है और उसकी भावना कुछ गिर जाती है, इस कारण पाप का बंध हैं। दूसरा—जिन प्रतिष्ठा जीर्णोद्धार के नाम से लोगों ने धर्मबुद्धि से दान किया है तो उसका कोई पुरुष कर्मचारी मुनीम या कार्यकर्ता जो भी उसके अवशेष धन को भोगता है, कहते हैं कि वह नरक गति के दुःखों को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने बताया है। प्रतिष्ठा में जैसे मंदिर प्रतिष्ठा या पंचकल्याणक प्रतिष्ठा ऐसा कोई बड़ा समारोह होता है तो उनमें धन का संचय होता है खर्च के लिए, अनेक लोग देते हैं भक्ति भाव से, उसका प्रबंध है। उसमें कोई सवैतनिक लोग या अवैतनिक लोग कुछ अवशेष धन को भोगे जो बताया है कि वह पाप है और वह नरक गति के दुःख को भोगता है। जिन पूजा या कोई विधान होना हो या रोज की पूजा कर प्रबंध है उसके अवशेष धन को जो भोगता है वह पाप है।

**तीर्थ बन्दना के भोश धन को भोगने वालों की दुर्गति—** तीर्थ वंदना—तीर्थों की वंदना फकराने के लिए अनेक लोग सामूहिक रूप से प्रबंध करते हैं जिसमें यह प्रसिद्ध करते हैं कि तीर्थ वंदना के लिए जा रहे हैं जो खर्च होगा सो ही लिया जायगा और उसमें का कोई धन बचे और उसे भोगे तो बतलाया कि वह पाप है अथवा वंदनीय तीर्थों का प्रबंध है, क्षेत्रों का प्रबंध है, क्षेत्रों पर भक्त लोग दान करते ही हैं। उसके शेष धन को जो भोगता है वह पाप है। बहुत से लोग तो जब उन पैसों को गिनकर खर्च करते थे तो गिन चुकने के बाद अपने हाथ तक भी धोते थे। इस बात को तो वृद्ध लोग हैं वे जानते होंगे। इस तरह का एक भाव था कि एक पैसा भी इसमें का कोई भूल से हमारी और न रह जाय। यह कहलाता है धर्मार्थ का द्रव्य, उस द्रव्य को जो हरता है, भोगता है वह दुर्गति का दुःख भोगता है।

**पुत्त—कलत्तविदूरो दालिददो पंगुमूक बहिरंधो ।**

**चांडालाइकुजाई पूयादाणाइ दव्वहरो ।।32।।**

**पूजा दानादि के द्रव्य को हरने वालों की दुर्गति—** जो पूजा दान आदि के द्रव्यों को हरने वाले हैं वे पुत्र स्त्री से रहित होते हैं, दरिद्री, लंगड़े, लूले होते हैं, बहिरे, अंधे और चाण्डाल आदिक तुच्छ जाति में उत्पन्न होते हैं। यहाँ द्रव्य हरने के प्रसंग में उसके भाव का पतन होता है और उन भावों के पतन से उसे पाप होता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं विवेकी हैं वे इस तथ्य को जानते हैं कि इन जीवन में क्या कर्तव्य है? धनसंचय करके रख जाना इसका क्या परिणाम होगा और अनीति से धर्म के द्रव्य में से अवशेष को भोगना इसका क्या परिणाम है। जीवन किसलिए है? जीवन है यह आत्मसाधना के लिए। अनादि से अब तक अनेकों का संग इस जीव ने पाया। राजा भी हुआ, सेठ भी हुआ, देवगति में भी गया और भी अनेक बड़ी सम्पन्नतायें पाया मगर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

सम्यक्चारित्र नहीं पाया, उसका प्रमाण यह है कि अब तक संसार में जन्म मरण कर रहा है। रत्नत्रय का लाभ होने पर ये जन्म मरण नहीं रहते। अपने आत्मा का विश्वास हो, मैं आत्मा सहज अविकार ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ। इसका बाहर में कहीं कुछ नहीं है। ये सभी पदार्थ धन दौलत मकान परिजन, सभी के सभी वे अपनी सत्ता में हैं, मेरी सत्ता से उनका कोई संबंध नहीं। अज्ञान अंधेरा जब छाया हुआ है तो अपने आपका प्रकाश नहीं मिल पाता और भाव भी नहीं जगता कि मैं अपने आत्मा का स्वरूप जानूँ जिसमें हित है उसको समझें ऐसी रुचि तक भी नहीं होती है, जिसमें मिथ्यात्व का तीव्र उदय है, मोह विभ्रम जिस पर छाया हुआ है वह पुरुष भले ही कुछ सम्पदा के मिलने से कुछ गर्व आये, कुछ मौज सा माने, पर ये सब इस जीव के अहित की बातें हैं। बाह्य पदार्थ (धन सम्पदा आदि से) जीव को सुख नहीं हो सकता। सुख का कारण है संतोष। सुख का मूल साधन है आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय। जो सुख का हेतु है शान्ति का कारण है उससे तो है अरुचि और जो संसार में भ्रमाने का कारण उसमें है इसकी रुचि। तो यह कैसे शान्ति पा सकता है। जिसमें आत्मसाधना की रुचि बनी है, इस दुःखमय संसार से छुटकारा पाने की भावना हुई है उस पुरुष से अन्याय नहीं हो सकता, धर्म के विरुद्ध चलने की उसमें उमंग नहीं हो सकती। तो जो विवेकी पुरुष हैं वे अपने धर्मायतनों को बिगाड़ते नहीं हैं। वे अवशेष धन को भोगते नहीं हैं। यहाँ बतला रहे हैं कि जो पूजा दान आदि के द्रव्य को हरता है वह मोक्षसुख तो दूर रहो, संसार के जो सुख माने जाते हैं, पुत्र, स्त्री, मित्रादिक का होना, स्वस्थ होना, उत्तम जाति में उत्पन्न होना, आदि ये सब उसके नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् पूजा दान आदि के द्रव्य के हरण से वह पुरुष पुत्र स्त्री से हीन रहता है दरिद्री रहता, गूंगा रहता, बहिरा अंधा रहता और निम्न कुल में उत्पन्न होता है।

**गयहत्थपायणासिय कण्णउरंगुल विहीणदिट्ठीए।**

**जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ दव्वहरो ।।33।।**

**पूजा दानादि के द्रव्य को हरने वालों की भारीरिक् दुर्दशा—** पूजा दान आदि के द्रव्य को हरने वाला पुरुष ऐसे दुःखों का कारण बन जाता है जो लोक में असह्य होता है। हाथ पैर नाम कान, छाती, अंगुली, दृष्टि इनसे हीन हो जाता है, तब उसे तीव्र दुःख होता है। यह सब जगत की जो रचना है वह भावों के आधीन है। कोई भी अलग से हम आपको दुःख नहीं दे रहा, किन्तु जो जैसे परिणाम करता है उसका वैसा ही कर्मबंध होता, वैसा ही उदय होता, स्वयं दुःख पाता है। तो जो दुःखी जीव नजर आते हैं, जिन के अंग भंग हैं, दृष्टिहीन हैं, जन्मते ही या बचपन में ही दृष्टि नष्ट हो गई है, हाथ के अंग, पैर के अंग छिद गए हैं, ऐसी जो दुरुपता है, शरीर की अंग हीनता है यह सब पूजा दान आदिक के द्रव्य हरण का फल है। इस अवशेष धन हो चुराना, धर्म के नाम पर व्यवस्था करते हुए उसे हरना यह तीव्र दुःख का मूल है।

**खयकुट्ठ मूलसूलो लूय भयंदरजलोयरक्खि सिरो।**

**सीदुण्हबाहिराई पूयादाणंतराय कम्मफलं ।।34।।**

**पूजा व दान में अन्तराय किये जाने का दुश्परिणाम क्षय कुश्ट भूल आदि की बाधा—** अब इस गाथा में बतला रहे कि प्रभु की पूजा अथवा दान में अंतराय करने का क्या फल होता है? किसी विधि से पूजा में अंतराय डाले, दान में अंतराय डाले तो उसको कर्मफल कैसे मिलता है इस बात का वर्णन इस गाथा में किया है क्षय रोग हो जाना, जिसे कहते हैं राजरोग मायने रोगराज, जैसे टीबी या अन्य प्रकार के क्षय की बातें जिसमें धातु उपधातु नष्ट होती रहे, ऐसे क्षय के राग उत्पन्न होते हैं और पूजा व दान में

अंतराय डालते हैं। कुष्ठ रोग, जिस में अंग गल जाते हैं, चलते नहीं बनता, शरीर में बड़ी पीड़ा होती है, ऐसे बड़े बुरे रोग हो जाना यह अंतराय करने का फल है। अंतराय का भाव ही रखे इतने में ही कर्म का बंध होता है। अंतराय डाल सके या नहीं, यह तो उस के हाथ की बात नहीं है, पर अंतराय से विघ्न करने का भाव मन में आये कि यह कार्य न हो सके पूजा का, अन्य धर्म कार्य का तो इतने मात्र से उसको वैसा खोटा फल होता है कि ऐसे कठिन रोगों का दुःख सहना पड़ता है। सूल रोग सूल, जिसे कहते हैं पेट में गोला उठना, सूल उठना या अन्य प्रकार की वेदना, नसों तड़कती हैं हाथ पैर दर्द करें, ऐसे कठिन कठिन रोग होना, यह पूजा व दान में अंतराय किए जाने का फल है।

**पूजा व दान में अन्तराय किये जाने का दुःफल लूता भगंदर जलोदर भीतोशणादि की बाधायें—** मकड़ी भिड़ना उसका रोग 'मकड़ी है तो छोटा कीट मगर उसका बड़ा विष होता है, शरीर के ऊपर मकड़ी भिड़ जाय तो कहो शरीर में फोड़े पड़ते चले जायें। और, कई जगह तो ऐसी ऐसी घटनायें हो जाती हैं कि जैसे भोजन पर मकड़ी बैठी हो, मकड़ी मर गई हो, चाहे वह मकड़ी खाने में न आये, पर उस भोजन के खाने से ही मृत्यु तक हो जाती है। इसे बोलते हैं लूता 'ऐसी भयंकर बातें पूजा और दान में अंतराय किए जाने का फल है। नेत्र-सिर की व्याधि में नेत्रों से न दिखना, नेत्रों में पीड़ा होना यह बहुत कठिन का फल है। इसी प्रकार ठंडी गरमी के विशेष रोग होते जिन रोगों में जीना भी कठिन होता है, ऐसी व्याधियाँ ये सब पूजा और दान में अंतराय किए जाने का फल है। उसकी तो अनुमोदना होनी चाहिए, पर अनुमोदना के बजाय भावों में कोई विरोध की बात आये तो उसके फल में इस प्रकार के कर्म का बंध होता है कि जिस का विपाक ऐसे ऐसे उपसर्गों के देने का कारण होता है।

**सम्मविसोहीतवगुणचारिन्त सण्णाणदाणपरिहीरां ।  
भरहे दुस्समयाले मणुयाणं जायदे णियदं ।।35 ।।**

**दुःशम काल की लीला—** यह है दुस्समकाल, जिसे कहते हैं पंचमकाल। दुस्सम काल में दुःख की ही भरमार होती है, और धर्म की ओर से श्रद्धा कम होती चली जाती है। भले ही आज से कोई 100— वर्ष पूर्व इतना ज्ञानवान न थे, कोई सूत्र जी वाँच ले तो उसे ही पंडित जी, अथवा भगत जी कहा करते थे, कोई विधान वाँच ले तो वह वहाँ का माना हुआ पंडित कहलाता था। ऐसे ऐसे भी समय गुजर गए, मगर उस समय की जो श्रद्धा थी उससे तुलना की जाय तो आज ज्ञान में लम्बी चौड़ी बाल में खाल निकालने वाली बातें भी करते हैं, मगर भीतर से श्रद्धा कम है अथवा किसी के श्रद्धा नहीं भी है, श्रद्धा में हीनता होती चली जाती, चारित्र में हीनता होती चली जाती, यह पंचमकाल का एक ऐसा प्रभाव ही है। इस पंचमकाल के सम्बंध में एक ऐसा ही छोटा सा कथानक है कि जिस दिन कलिकाल शुरू हुआ था उससे दो दिन पहले एक पुरुष ने किसी को अपना टूटा फूटा मकान बेच दिया और लेने वाले ने तुरन्त ही उसमें नीव भरने के लिए उसकी खुदायी करवाना शुरू कर दिया। खुदायी गहरी करवायी गई, भाग्य से उसमें मिला असर्फियों से भरा हंडा। अब तो वह खरीदने वाला बड़ी विचारधारा में पड़ गया, क्या करूँ अब इसका? समझ में आया कि यह मेरा नहीं है। मैंने तो सिर्फ जमीन खरीदा है तो वह तुरन्त उसे बेचने वाले के पास ले गया और कहा कि यह लीजिए अपना असर्फियों से भरा हंडा, यह उस जमीन के अन्दर निकला है, यह मेरा नहीं है। तो बेचने वाला बोला, मैं इसे क्यों लूँ? यह मेरा नहीं, मैंने तो जितनी जमीन बेचा उसकी पूरी रकम पा ली। अखिर दोनों में यह कलह बढ़ी कि तुम्हारा है, हमारा नहीं, तुम्हें लेना पड़ेगा। दोनों एक दूसरे से सही बात

कहें पर कोई लेने को तैयार न हो। उनका वह फैसला राजा के पास पहुँचा तो राजा ने भी बहुत-बहुत समझाया, पर दोनों ने लेना स्वीकार न किया। अन्त में राजा हताश होकर बोला अच्छा आज तो अब देर हो चुकी, इसका फैसला कल कि दिन करेंगे। अब कल और आज के बीच में वह रात्रि थी जिसमें कलिकाल शुरू होना था। मानो 12 बजे रात्रि तक रहा अच्छा युग (सतयुग) और उस के बाद लगना था कलयुग। तो रात्रि के 12 बजे के बाद वह बेचने वाला सोचता है कि देखो मैं कितना मूर्ख निकला। अरे वह धन देने ही तो आया था, मैंने व्यर्थ ही लेने से मना कर दिया। अब सवेरा होगा और वह लेने को कहेगा ही तो मैं कह दूँगा कि अच्छा नहीं मानते हो तो दे दो, उधर खरीदने वाले के मन में क्या भाव आया कि मैं कितना मूर्ख निकला, व्यर्थ ही उसे धन देने गया, उसका इस धन पर क्या अधिकार, इसे तो मैं अब सवेरा होने पर कह दूँगा कि ठीक है, यह धन मेरे ही पास रहने दो, मैं रख लूँगा। उधर राजा के मन में यह भाव आया कि देखो मैं कितना मूर्ख निकला, उन दोनों को धन लेने के लिए बहुत-बहुत मना रहा था, अरे वह धन तो जमीन के अन्दर का है, उस पर उन दोनों का क्या अधिकार? सवेरा होते ही मैं वह निर्णय दे दूँगा कि वह सारा धन राजा का है। तो उस कथानक में यह बात दर्शाती गई है कि कलियुग के प्रारम्भ में ही लोगों के अन्दर इस प्रकार के खोंटे भाव जग गए।

**दुःशम काल में भी धर्म पालन की विप्लवता—** अब चल रहा है यह दुस्समकाल। इस भरत क्षेत्र में इससे पहले चतुर्थ काल था, अब यह पंचमकाल चल रहा है। आयु हीनता ही ओर, शरीर हीनता की ओर, बुद्धि हीनता की ओर, धर्म भाव भी हीनता की ओर। उससे पहले लोगों के भाव बड़े उग्र होते थे। कुछ बच्चे हो जाने तथा सम्हल जाने के बाद वे सर्व कुछ त्यागकर दीक्षा ले लेते थे। मानो आजकल का समय इस प्रकार का नहीं है तो इतना तो किया जा सकता है कि अपने बच्चों पर ही सब जिम्मेदारी देकर और यदि कुछ समर्थ हैं तो अपने लिए कुछ आजीविका का साधन रखकर निशंक होकर धर्म साधना करें, सत्संग में रहें, अपने निवास स्थान को छोड़ कर रहें, अपने निवास स्थान में निरन्तर बने रहने से भी भीतरी भावों में प्रगति नहीं हो पाती। यदि सदा के लिए गृहत्याग नहीं बन सकता तो साल में कम से कम एक दो माह तो निश्चित होकर धर्म साधना करें। अपने ऊपर जिम्मेदारी का बोझ न लादे फिरे। इतना तो किया ही जा सकता है, पर ऐसा भी कहाँ बन पा रहा है? यह तो दुस्सम काल है।

**पंचम काल में सम्यक्त्व विशुद्धि आदि की उत्तरोत्तर हीनता—** भरतक्षेत्र में इस दुस्सम काल में मनुष्यों के सम्यग्दर्शन विशुद्धि तप, मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान, दान, इन सभी बातों की हीनता होती चली जा ही है। दर्शन विशुद्धि उसे कहते हैं कि तत्व का यथार्थ श्रद्धान होना जो बात जैसी हो उसका उसी तरह परिचय करें। शरीर निराला है, जीव निराला है, मरण होने पर तो लोग स्पष्ट जान लेते हैं कि शरीर निराला और जीव निराला। और—जो कुछ समझदार लोग हैं व लक्षणों से पहचानते हैं कि शरीर का लक्षण तो रूप, रस, गंध, स्पर्श होना है और मुझ जीव का लक्षण ज्ञान, दर्शन, आनन्द होना है। तो मैं जीव हूँ यह देह अजीव है, इससे मैं निराला हूँ, ऐसा समझकर और बाहरी सब पदार्थों को अहितकारी जान कर उनसे उपेक्षा करें और अपने आप के स्वरूप भी आराधना में रहें, यह है कहलाती विशुद्धि। तपश्चरण मूल गुण, साधु के मूल गुण, श्रावक के मूल गुण, उनमें भी हीनता हो रही है। श्रावक के मूलगुण, श्रावक के मूल गुण, उनमें भी हीनता हो रही है। श्रावक के मूल गुणों में छोटा से छोटा व्रत है मद्य, मांस, मधु का त्याग, बड़ पीपर आदि कटूमरों का त्याग, यह तो जन्मजात बात थी, किन्तु यह ही एक मुश्किल पड़ रहा है। तो मूल गुणों की हीनता, चारित्र की हीनता, ज्ञान और दान की हीनता ये सब बातें

इस दुस्सम काल में हो रही हैं। श्रावकों का यह ग्रन्थ है, इसमें आचार्य देव ने बताया कि श्रावकों का मुख्य कर्तव्य पूजा और दान है, उसे करें और उसका समर्थन करें और उसमें अंतराय न करें।

**णहि दाणं णहि पूजा नाहि सीलं णहि गुणं ण चारिन्तं ।**

**जे जइणा मणिया ते णेरइया कुमाणुसा होंति ॥३६॥**

**दान पूजाविहीन पुरुशों की दुर्गति—** जिन मनुष्यों का इस जीवन में कोई दान नहीं है वे मनुष्य नारकी और खोंटे मनुष्य होते हैं। दान मात्र देने का ही नाम नहीं है किन्तु जिससे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चले, लोगों को मोक्षमार्ग का रास्ता दिखे ऐसी विधियों में अपने और पर के उपकार के अर्थ द्रव्य का त्याग करना दान कहलाता है, यह कहलाता है पात्रदान, धर्मार्थदान और जो दीन दुखियों को देखकर करुणवश उन्हें आहारदान दिया जाय यह कहलाता है दयादान। यद्यपि दोनों ही दानों से पुण्य का बंध है फिर भी दया दान और भक्तिदान, इन दोनों में इतना अन्तर है कि भक्तिदान से तो मोक्षमार्ग की परम्परा बनती है और दया दान से सांसारिक सुख प्राप्त होने की बात बनती है। तो दान का कर्तव्य गृहस्थों का प्रतिदिन का बताया गया है, जिसकी प्रवृत्ति दान की नहीं है या इसका कोई महत्त्व जानता नहीं है ऐसा पात्र दान की नहीं है या इसका कोई महत्त्व जानता नहीं है ऐसा पात्र दानशून्य जीवन बिताने वाले पुरुष नार की और कुमानुष होते हैं। तो प्रभु पूजा—जो परमात्मा हुए हैं, जिनका आत्मा रागद्वेष मोह से सदा के लिए पृथक हो गया है, ऐसे लोकालोक के जाननहार परमात्मा का गुणस्तवन जिसके जीवन में नहीं है उसका जीवन क्या जीवन है, जैसे संसार में सलने सभी प्राणियों का जीवन है वहीं जीवन पूजा हीन पुरुषों का है। पूजा का मतलब कोई एक ही प्रकार की बात नहीं, गुणस्तवन करे, द्रव्य से पूजा करे, जाप सामजिक अनादि में प्रभु के गुणों का चिन्तन करें, जिस प्रकार से प्रभु के गुण पूजे जायें वे सब विधियाँ पूजा कहलाती हैं। तो जिनके जीवन में पूजा की विधि नहीं है उनका जीवन ऐसे संसारी कोई एक ही प्रकार की बात नहीं, गुणस्तवन करे, द्रव्य से पूजा करे, जाप सामजिक आदि में प्रभु के गुणों का चिन्तन करें, जिस प्रकार से प्रभु के गुण पूजे जायें वे सब विधियाँ पूजा कहलाती हैं। तो जिनके जीवन में पूजा की विधि नहीं है उनका जीवन ऐसे संसारी जीवों की भाँति केवल एक संसार परम्परा बढ़ाने में ही उनकी विधि बनती है। तो पूजाहीन पुरुष यथा तथा जीवन बिताकर विषय कषायों में अपना जीवन बिताकर वे नरक और कुमानुष के दुःख भोगते हैं।

**भील गुण चारित्रहीन पुरुशों की दुर्गति—** शील रहित पुरुष भी दयनीय दशा को पाते हैं। शील नाम है आत्मा के सरल अविकार स्वभाव की धुन में बने रहना, पर इस शील के घातक जितने पाप हैं, उन पापों में प्रधान है कुशील नाम का पाप, इसीलिए कुशील के त्याग को शील कहने की रूढ़ि हो गई, जैसे कि ब्रह्मचर्य का अर्थ तो है ब्रह्मस्वरूप में चरण करना, रमण करना, ब्रह्मचर्य के बाधक जो पाप हैं, उन पापों में प्रधान है कुशील। इस कुशील को त्यागें ब्रह्मचर्य शब्द की रूढ़ि हुई है। शील नाम है आत्मस्वभाव का। आत्मस्वभाव की और अपनी बुद्धि का रहना और बाह्य में शील वृत्ति से रहना, ऐसा शील जिनके जीवन में नहीं है उनका जीवन भी नारक और कुमानुष के दुःखों को पाता है, इसी प्रकार गुण और चारित्र जिनके जीवन में नहीं है वे अगले जन्म में नारक और कुमानुष के कष्ट पायेंगे। गुण हुए मूल गुण, चारित्र हुआ क्या गुणों का विस्तार बढ़ता गया उत्तर गुणों में प्रति हुई और आत्मा के स्वरूप में रम जाने की ओर प्रगति हुई ऐसे गुण और चारित्र जहाँ नहीं वे जीव भी दुर्गति हो पावेंगे।



**मयामय जगत से उपेक्षा करके अनुत्तर अन्तस्तत्त्व की अभिमुखता में कल्याण**— वास्तविकता यह है कि जिसमें आत्मा का कल्याण है उसको अपने आत्मा का ही सहारा लेना होगा। दूसरे जीव का, दूसरे पदार्थ का सहारा लेना और उस ही को अपना सर्वस्व आधार मानना, अपनी शक्ति के माहात्म्य को भूल जाना यह एक अपराध है, और इस अपराध से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। अपने मूल को पकड़ें जिसको शान्ति चाहिए। शान्ति किसी बाहरी पदार्थ से नहीं मिलती। मकान से या किसी परिवार से या किसी यश कीर्ति से या भोजन आदि वाह्य वस्तु से इस जीव को शान्ति मिले सो ऐसी बात नहीं बनती। शान्ति तो स्वरूप ही है जीव का। जीव में कहाँ है दरिद्रता? जीव में कहाँ है आकुलता? स्वरूप को तो देखिये—इसका चैतन्यमात्र स्वभाव है, वहाँ आकुलता नहीं है। स्वरूप में कष्ट नहीं है, फिर आकुलित क्यों हो रहा है यह जीव? यह सब अज्ञान का नृत्य है। अपने आपके ही ज्ञान में जब यह जीव नहीं ठहर रहा तो अज्ञान का वहाँ नाच चल रहा है। जैसे स्कूल में किसी कक्षा में मास्टर नहीं है तो लड़के लोग प्रकृत्या ही ऊधम मचाते, हो नाता रखकर गुजारा करना होता है। मगर इतनी श्रद्धा तो होनी चाहिए। यह जगत का संबंध, यह कुटुम्ब का सम्पर्क, ये और और प्रकार के नाते केवल इस जिन्दगी के गुजारे के लिए हैं, इसमें तथ्य कुछ नहीं रखा है। तो जो पुरुष अपने आत्मा की ओर अभिमुख होते हैं, अपने माहात्म्य को प्रधान रखते हैं वे पुरुष शान्ति पाते हैं, ऐसे पुरुषों का व्यवहार खराब नहीं होता, उद्दण्डतापूर्ण नहीं होता। जब शरीर में फंस ही गया और इस कारण ये सारी बातें करनी ही पड़ रही हैं तो वह प्रेमयुक्त वचन बोल कर उन सब बाधाओं से निपटता है और अपने आप को अबाध बनाकर उस भगवान परमात्मतत्त्व की आराधना करता है।

**आत्मोपासना का उद्देश्य बना लेने पर ही मानव की सत्य प्रगति की संभवता**— भैया अपने जीवन में एक लक्ष्य तो बना ही लेना चाहिए। जिस मार्ग से चलकर हमको भी इस संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा पाना है, यह बात चित्त में न समाती हो तो इस जीवन से क्या लाभ मिलेगा? पूर्वकृत पुण्य के उदय से चाहे कुछ वैभव सम्पदा प्राप्त हो जाय किन्तु उन्हें कुछ लाभ मिला नहीं, वहाँ कुछ भी आत्मलाभ नहीं है। जिसको अपना कल्याण चाहिए वह अपने आत्मा की समझ बनाये पहले, और अपने लिए अपना आत्मा ही समर्थ है, महत्त्वशाली है। जब कभी पंचपरमेष्ठी की भक्ति करते हैं। पूजा करते हैं तो कहीं यह बात नहीं है कि भगवान हमारा दुःख टाल देंगे, भगवान हमारी इच्छा पूर्ण कर देंगे, यह बात रंच भी नहीं है। भगवान अपने आनन्द में मग्न रहें कि संसार के लटोर खचोरे जीवों का दुःख सुन रहे या उनके कुछ काम में प्रयत्न कर रहे, यह काम नहीं है। यह तो संसारी जीवों की आदत है। प्रभु तो लोकालोक के जाननहार हैं फिर भी अपने आनन्द में मग्न हैं। तो पूजा करने से कहीं भगवान सुख देने नहीं आते, दुःख नहीं मिटाते, लेकिन जो प्रभु की पूजा करता है, जो भगवान के गुणों की आराधना करता है उसके परिणाम स्वयं इतने ऊँचे होते हैं कि उसे विशिष्ट पुण्य का बंध होता है और उस पुण्य विपाक होने में संसारिक सुख सामग्री मिलती है और धर्म के अनुराग की भी बात मिलती है, इसलिए भगवान की भक्ति करना आवश्यक है पर वहाँ भी ऐसा यथार्थ श्रद्धान रखें कि मेरे कर्तव्य के अनुसार मेरा भवितव्य बनता है। तो जिन्हें शान्ति चाहिए उनका एक मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने आत्मा की आराधना में रहें।

**स्वचैतन्य धाम में विश्राम की अनुत्तरता**— यह सारा जगत दुःख से भरा है। जैसे सावन भादों के महीने में जब तेज बरषात हो रही हो, खूब काली घटा छा गई हो, बादल

खूब तड़क रहे हों, बिजली चमक रही हो, कुछ कुछ ओले भी पड़ने लगे हों तो ऐसे समय में वह पुरुष किसी ऐसी जगह में जाकर जहाँ कि पानी भर न आता हो चाहे वह कोई पुरानी झोंपड़ी ही हो वहाँ अपने आपको बड़ा सुखी शान्त अनुभव करता है, वहाँ से वह कहीं बाहर में कुछ ढूँढना भी नहीं पसंद करता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इस विपत्तिमय संसार में नाना प्रकार के कष्ट पाता हुआ यह किसी धाम की खोज में रहता है कि मुझे कोई ऐसा स्थान मिले जहाँ रहकर मैं सुखी शान्त हो जाऊँ। इस ज्ञानी ने खूब ढूँढा सर्वत्र, जिस चाहे में खोज की, मगर कहीं इसको शान्ति का आधार न मिला और मिला तो अपने आपके इस चैतन्य स्वरूप में। सो जो इस चैतन्य स्वरूप में आया है वह निर्वाध है और वह बाहर ढूँढना भी पसंद नहीं करता। तो किसको अपना मानता? यहाँ कौन सा ऐसा तत्त्व है बाहर में जो मेरा उपकार कर दे, ऐसा यथार्थ ज्ञान रखने वाला पुरुष अपने शील को प्राप्त करता है, अपने गुण और चारित्र को पाता है, किन्तु जो पुरुष शील गुण पूजा दान आदि इन सब बातों से दूर है वह मरकर नारकी और कुमानुष होता है ऐसा तीर्थकर देव ने बताया है।

**णवि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं य पुण्णपावं हि ।**

**तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ।।37।।**

**कार्य अकार्य से अपरिचित पुरुष की सम्यक्तवोन्मुक्तता**— जो पुरुष कार्य अकार्य को नहीं जानता वह सम्यक्त्व से रीता है। क्या जगत में करना योग्य है, क्या योग्य नहीं है, इस तथ्य को जिसने जान लिया वह पुरुष ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। क्या है करने योग्य? एक अपने आत्मा के यथार्थ सहज अविकार स्वरूप की आराधना, यह है करने योग्य, और बाकी काम क्या करने योग्य नहीं। क्या आप दुकान पर न जाना चाहेंगे। क्या घर में जाकर आप भोजन व्यवस्था न बनायेंगे? क्या वह करना योग्य नहीं हैं? हाँ हाँ वे सारी बात करना जरा भी योग्य नहीं है मगर परिस्थितिवश करनी पड़ती हैं। ऐसी दृष्टि होती है ज्ञानी जीव की और ऐसा हो नहीं सकता कि रहेंगे तो ऐसी परिस्थिति में कि जहाँ भोजन धनार्जन करना आवश्यक है और वहाँ इसे करें नहीं तो उसका गुजारा न चलेगा, मगर बताओ तो सही कि आत्मा का गुजारा करना है या शरीर का? जगत में जितनी ये बातें हैं धनार्जन भोजन परिजन आदि, ये सब अपने जीवन के गुजारे के लिए हैं, इससे आत्मा का गुजारा नहीं होता। यह देह सदा रहने को तो नहीं है ऐसा जानता है ज्ञानी, मगर अपनी आयुमाफिक यह मनुष्यदेह बनी रहे तो इसमें आराधना करके अपने आत्मा का लाभ लिया जा सकता है इसलिए जीवन की आवश्यकता है अन्यथा ऐसे ही अचानक ही मरण कर गए और दुर्गति के पात्र बने तो वहाँ फिर क्या कर सकेंगे? सो यह सब इस शरीर को रखने के लिए उपाय है, और शरीर को रखना तब तक आवश्यक है जब तक अपना मन, वचन, काय धर्म की ओर लग रहा है। यदि शरीर जवाब दे दे कि अब यह अपनी सुध नहीं रख पाता या मन, वचन, काय धर्म के अनुकूल नहीं चल सकता तो उसको ऐसे समय में तो समाधिमरण बताया गया है। जैसे कोई नौकर अपने काम का नहीं रहता तो उसका तो मालिक परित्याग कर देता है, पर जब तक किसी सेवक से मालिक का कोई कार्य चलता है तब तक वह उस सेवक की भी सेवा करता है। इसी तरह यह शरीर सेवक है, इस सेवक की सेवा कब तक के लिए है। जब तक कि इस मालिक आत्मा को धर्म में मदद मिले, ज्ञान में मदद मिले और जब यह शरीर जवाब दे दे कि अब कुछ भी नहीं हो सकता है तो विवकी पुरुष इस शरीर को भी जवाब दे देते हैं। तो एक ध्येय होना चाहिए अपने जीवन का कि हमें तो केवल संसारिक सुख भोगने के लिए ही जीना नहीं है, किन्तु अपने इस आनन्द धाम ज्ञानसूर्य अंतस्तत्त्व का परिचय पाकर इस ही के निकट अपने उपयोग को लगाये रहना है। एक दृष्टि तो बने, उद्देश्य तो बने कि हमें यह करना चाहिए,

इसके अलावा अन्य कोई उद्देश्य बताओ। कौन सा उद्देश्य बढ़िया है? बाहर में सभी पदार्थ मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, उनके लगाव में केवल आकुलता का ही प्रसाद मिलेगा, अन्य कुछ आशा न रखें और अपना भगवान आत्मा जिसकी सारी सृष्टियाँ अपने आप में से चलती हैं उस भगवान आत्मा का जो परिचय पाले और इस स्वरूप में अपने को रमा ले उसका संसार संकट टल जायगा। भगवान को तो पूजते हैं जैसे भी पूजते हैं रूढ़ि से, आदत से, और यह मन में नहीं आया कि भगवान की जो स्थिति है वह लोकोत्तम है और मेरे को भी ऐसी ही स्थिति मिले, बस यह ही मात्र सार है। बाकी जो और अटपट बातें की जा रही हैं, वे सब मेरे लिए अनर्थ हैं। इस बात का श्रद्धान न हो तो उसने भगवान को पूजा क्या? भगवान को उसने जाना ही नहीं। इससे भाई अपने को जानेंगे तो भगवान को जान सकेंगे और अपने आत्मा के ज्ञान के शून्य रहेंगे तो भगवान का कुछ परिचय न मिलेगा। तो अपने आपका महत्त्व जो आँके और उस स्वभाव के अनुसार चले वह पाता है सुख और जो बाहर के अकार्यों में ही अपने चित्त को रमाये, वह तो सम्यक्त्व से रहित है। यह संसार सम्यक्त्वहीन जीवों का घर है, सो यहाँ सर्व आकुलतायें हैं। यह ही तो मोह मदिरा है जिससे कि यह अज्ञानी जीव कार्य और अकार्य का विवेक नहीं कर सकता।

**सेव्य असेव्य के तथ्य से अपरिचित पुरुशों की सम्यक्त्वरिक्तता—** यह सेवनीय है, यह सेवनीय नहीं है इसका भी जिसे विवेक नहीं वह भी सन्मार्ग रहित है। मेरे को सेवने योग्य क्या? निर्मल परिणाम कुछ दुर्भाव बनाकर यदि कोई लौकिक सम्पदा भी प्राप्त होती हो तो भी उस दुर्भाव का फल खोटा ही मिलेगा। और जो आज कुल मिला है वह दुर्भाव से नहीं मिला है किन्तु पूर्वकृत पुण्य का प्रसाद जो प्राप्त हुआ है, और आज जो दुर्भाव किया जा रहा है इसका फल क्या मिलेगा? तो अपना निर्मल परिणाम होना, आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान, आत्म आचरण, ये तो सेवनीय तत्त्व हैं और अज्ञान भ्रम, स्वरूप का अपरिचय, पाप का करना, ये सारे परिणाम सेवनीय नहीं हैं। जिसे सेव्य असेव्य का विवेक है वह तो सन्मार्ग में है और जिसे सेव्य असेव्य का विवेक नहीं वह तो सम्यक्त्व से भी रहित है।

**पुण्य पाप के तथ्य से अपरिचित पुरुशों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता—** पुण्य पाप इनकी भी यथार्थ समझ होनी चाहिये। पाप खोटे भाव का नाम है, दूसरों का बुरा विचारना, दूसरों का अनर्थ करना, किसी के धार्मिक कार्य में बाधा डालना, ये सब पाप के कार्य हैं। जब जीव के कषाय उमड़ता है तो वह अपना अहित कुछ नहीं देखता। जैसे कोई कोई ऐसा प्रचंड क्रोधी होता है कि इतने तक को भी तैयार रहता कि चाहे मैं मर जाऊँ, पर यह बरबाद हो जाय। तो जो भी ऐसी दुर्भावनायें हैं वे सब पाप के भाव हैं और देवभक्ति, शास्त्रभक्ति, गुरुभक्ति, साधर्मी जनों में वात्सल्य, परिग्रह से उपेक्षा, अपने आप के गुणों में प्रीति सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उन्मुखता, ये सब पवित्र भाव हैं। पाप को छोड़कर पुण्य में आना और पुण्य नाम पवित्रता का है इसलिए पुण्य धर्म को भी कह सकते हैं, क्योंकि वह भी पवित्र भाव है मगर रूढ़िवश पुण्य कहा जाता है शुभकर्मों को, तो यह जानकर कि पुण्य कर्म शुभकर्म है और उसके उदय में संसार में ही तो रहना होता है उससे पुण्य से भी उपेक्षा करना, शुद्ध अविकार आत्मतत्त्व में रमना, पर तरीका यह है कि पहले पापों से छूटकर पुण्य भाव में आना और फिर पुण्य भाव छूटकर धर्मभाव में आना। इस प्रकार पुण्य पाप दोनों से निवृत्त होकर धर्म भाव में जो आता है वह जीव मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है। लेकिन जो पुण्य पाप का स्वरूप ही नहीं जानते वे पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं।

**तत्त्व अतत्त्व एवं धर्म अधर्म के तथ्य से अपरिचित पुरुशों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— तत्त्व और अतत्त्व ये ज्ञान से हीन पुरुष भी सम्यक्त्व से रहित है। क्या तथ्य है, क्या झूठ है, क्या धर्म है, क्या अधर्म है, इस बात का जिसे परिचय नहीं, स्वच्छंद मन है, मनने जो हुक्म दिया सो करना और उस मन के हुक्म के कारण जो आलसी हुआ, धर्म में प्रमादी हुआ, स्वच्छंद हुआ, अटपट क्रियायें करने वाला हुआ, ऐसा पुरुष अपने शील से रहित हैं और उसके सम्यक्त्व भी नहीं है, जिस जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो सब बातें सही रूप में आ जाया करती हैं। सम्यक्त्व क्या? अपने सही सहज अपने आप होने वाले अपने स्वभाव को मान लेना कि यह मैं हूँ। अन्य कुछ मैं नहीं, अन्य कुछ मेरा नहीं। यह सारा समागम मान मायामयी अनेक पदार्थों का संयोग रूप है, इससे मुझे कल्याण की आशा नहीं है। मैं अपने आप में ही नित्य अन्तः प्रकाशमान इस चित्स्वरूप को निरखूँ। इसमें ही रहकर आनन्दमग्न होऊँ, यह ही मान कल्याण का उपाय है।

**णवि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेय मुवादेयं ।**

**सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ।।38।।**

**योग्य अयोग्य के अज्ञानकार के सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— क्या योग्य है और क्या अयोग्य है इस विषय में जो नहीं परखता है वह सम्यक्त्व से उन्मुक्त है याने सम्यक्त्व नहीं है या सम्यक्त्व छूट गया है। कितने ही लोग बड़ी भावुकता के साथ उसमें चलते हैं और कुछ काल बाद उनका आचार बहुत हीन हो जाता है। योग्य क्या अयोग्य क्या? भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक नहीं, ऐसी भी स्थिति हो जाती है। जो लोग अनुमान करते हैं कि अब यह श्रद्धा से भी दू हो गया, तो योग्य और अयोग्य को जो नहीं जानता उसमें यह बात सुविदित होती है कि वह सम्यक्त्व से उन्मुक्त है, योग्य क्या अयोग्य क्या? मन से क्या विचारना योग्य है, क्या विचारना अयोग्य है। बाह्य पदार्थों पर ऐसी दृष्टि लगे कि ईर्ष्या आदि का भाव उत्पन्न हो जाय। और अपने आप की सुध की तो कथा ही नहीं, ऐसी मन की वृत्ति जगे तो वहाँ सम्यक्त्व की गंध न रही। जो योग्य अयोग्य को नहीं जानता उसके सम्यक्त्व नहीं है, ऐसा ही ज्ञात होता है। वचन से क्या कहना चाहिए, क्या न कहना चाहिए, इसका जिसे विवेक नहीं उसको कैसे सन्मार्ग पर कहा जाय? तभी तो अधिक बोलने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है। अनावश्यक यथा तथा बोलने की प्रवृत्ति ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति में भी अनेक बातें अयोग्य बोलने में आती हैं और इस तरह की जब वृत्ति बनती है तो उसके भीतर में भी आत्मबल नहीं रहता। क्या कहना योग्य है क्या अयोग्य है इसका जिसे विवेक नहीं वह पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त है। लौकिक और अलौकिक वृत्ति वालों में कुछ फर्क तो होगा ही। लौकिक रुचि वाले लोग तो लौकिक वृत्ति में ही फँसे रहेंगे और जिनकी अलौकिक वृत्ति है उनको सन्मार्ग का अवसर होता है। तो क्या कहना योग्य है क्या योग्य नहीं है इसे जो परख सकता वह ही सम्यक्त्व से उन्मुक्त होता है। इसी प्रकार शरीर से क्या करना योग्य है क्या करना योग्य नहीं है, इस बात को जो नहीं जानता वह भी अज्ञान में है। जब अन्तः कोई मोह और कषाय का वेग होता है तो उस समय वह जीव योग्य अयोग्य सब को भूल जाता है। ऐसा पुरुष प्रथम तो अपने को ही बरबाद कर रहा। आत्मघात और ऐसा आत्मघात करने वाले पुरुष के सम्पर्क में अनेक जीव भी कष्ट पाते हैं। तो मन, वचन, काय का योग्य प्रवर्तन करना, अयोग्य न करना, इतना तो इस जीवन में रहे, उससे फिर आगे प्रगति बनेगी।

**नित्य अनित्य अज्ञानकार के सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— इसी तरह जो नित्य अनित्य का विवेक नहीं करता, नित्य का अनित्य की तरह व्यवहार करता और अनित्य का नित्य की तरह व्यवहार करता, इस तरह का परिचय रखने वाले अज्ञानी पुरुष कहाँ रहते हैं? जीव मर गया, मैं मर जाऊँगा, इस तरह की शंकायें रखना एक अनित्य पदार्थ को नित्य मान लिया, विवेक न रहा। ये समस्त समागम, बाहरी प्रसंग सब अनित्य हैं, कुटुम्ब परिजन का संग अनित्य है उस पर ऐसी दृष्टि रहे कि यह तो सदा मेरा ही है, इससे मैं कभी जुदा हो ही न सकूँगा, मोहियों के दूसरों के कुटुम्ब के परिवियोगपर तो श्रद्धा रहती कि इस तरह से लोग गुजरते हैं पर अपने बारे में कभी ऐसी श्रद्धा नहीं बन पाती, वैसा ख्याल ही नहीं बन पाता। जिस तरह से किसी अन्य पुरुष के मरने पर उसको लोग श्मशान में ले जाया करते हैं एक ठठरी सी बनाकर, उस तरह से अपने आप के बारे में क्यों नहीं सोचा जाता? एक समय वह आने का है कि जब यह शरीर कांतिहीन होकर, मृतक होकर इसे लोग ठठरी पर रखेंगे और यों कंधे पर ले जायेंगे सों चलेंगे। अपने आप के बारे में इस तरह का ख्याल नहीं जगता। तो नित्य अनित्य का जिसे कुछ विवेक नहीं वह पुरुष कैसे सम्यग्दृष्टि कहा जाय? सिद्धान्त और दर्शन के अनुसार जो पदार्थ को नित्य ही मानते हैं उन्होंने वस्तु के उस सत्त्व का परिचय भुला दिया है। जो शाश्वत है, सदा रहेगे यह उनके ध्यान में नहीं हैं और जो लोग नित्यपने का एकान्त करते हैं उनकी कल्पना में ही नहीं आता कि पदार्थ क्या होता है। है वह ब्रह्म अपरिणामी। उसमें कुछ वृत्ति ही नहीं जगती। कोई अवस्था ही नहीं बनती, उसका कोई उपयोग ही नहीं है और है सब जगह, पर शाश्वत है। बात तो बोल जाते हैं बहुत मगर उपयोग में जचता ही नहीं कि क्या है। जैसे हौवा एक ऐसा शब्द है कि बच्चे को माँ डराने लगती अगर वह रोये, कि बेटे रोओ मत, हौवा आ जायगा, पर हौवा कोई पक्षी है, कि पशु है कि क्या है। ये कुछ भी नहीं है? चीज कुछ है नहीं और बैटा है चित्त में हौआ, ऐसे ही जो अपरिणामवाद का एकान्त है सो केवल एक शब्द परम्परा से बोलते आये और इसमें बड़ी एक श्रद्धागार वाली बात सी बनती है बोलने में। परम्परा चली पर खुद को कोई भी विश्वास नहीं बैठता कि यह चीज क्या है। जो भी पदार्थ है वह द्रव्य पर्यायात्मक है। बनना, बना रहना, और बिगड़ना ये तीन बातें प्रत्येक पदार्थ में हुआ करती हैं। इस बात को मना कौन कर सकता? चाहे कोई किसी रूप में माने—बनना यह है विष्णु का रूप, बना रहना यह है ब्रह्मा का रूप और बिगड़ना यह है महेश का रूप। यों देवताओं के रूप में कोई कल्पना करे चाहे उत्पाद व्यय ध्रौव्य के रूप में कहो, जो तथ्य है, जो प्रयोग में आता है उसका निषेध कहाँ किया जा सकता? तो इस अनेकांत को कोई न माने तो वह खा पी भी नहीं सकता, उठ बैठ भी नहीं सकता, दूकान धंधा भी नहीं कर सकता, कुछ बात ही नहीं बन सकती। सो उस अनेकान्त के प्रसाद से गुजारा तो कर रहे हैं, पर नाम से चिढ़ हो जाती है, अरे अनेकान्त तो किसी और का है, ऐसा कहने लगते। तो जैसे वहाँ जिस अनेकान्त के बल पर जी रहे हैं, खा पी रहे, गुजारा चल रहा उसको जब दर्शन का प्रकरण आता तो मानते नहीं। तो नित्य अनित्य का जहाँ विवेक नहीं वहाँ सम्यक्त्व का अनुमान कैसे बनाया जा सकता?

**हेय उपादेय के अज्ञानकार के सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— हेय उपादेय का जिसको बोध नहीं, उसे चित्त में नहीं उतारते वह पुरुष भी सम्यक्त्व से रिक्त है। हेय तो हेय ही है यह तो ध्यान में आना चाहिए। यह पदार्थ उपादेय है यह तो समझ में रहना ही चाहिए। मगर उस हेय उपादेय जानने को हेय उपदेय जानने में हेय बताया गया। उपादेय है एक अविकार स्थिति। दृष्टि में हेय उपादेय, दृष्टि में उपादेय है, इसी प्रकार निज शाश्वत स्वभाव और हेय हैं सर्व प्रकार के विकार भाव, पुण्यभाव, पापभाव, शुभराग, अशुभ राग, सभी

प्रकार के विकार ये हेय है, इन सबसे मुक्त हो जावे तो उसका पावन स्वरूप रहता है। सदा के लिए शान्त रहता है, पर परिस्थितिवश ज बवह करने चलता है तो किस तरह गुजारा बन पाता है सो वहाँ समझ में आता है। अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है, शुभोपयोग हेय है, शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय है। इन शब्दों में अमृतचंद्र ने बताया है, इसलिए हेय और उपादेय इनमें क्या फर्क समझा जा सकता? फर्क तो है ही। जिसके साथ अत्यन्त नहीं लगा उसका अर्थ है कि किसी परिस्थिति में वह उपादेय होता है। अशुभोपयोग में रमने वाले को शुभोपयोग उपादेय बनता है और शुभोपयोग कुछ होने पर अशुभोपयोग के कुछ दूर होने पर शुद्धोपयोग में ही रम जाय कोई तो प्रथम तो वह शुभ रहा ही नहीं, वस्तुतः वह मिथ्या अभिप्राय हो गया, उसने विकार को स्वीकार कर लिया और जितना कुछ है तो वह अटका ही तो रहा। और शुभोपयोग से हटकर आगे बढ़ा और एक निर्मल वीतराग भाव में आया। हाँ उनकी यह गप्प है जो अशुभोपयोग से तो हट पाते नहीं और शुभोपयोग हेय है ऐसा कहकर मौज पूर्वक शुभोपयोग से हट ही जाते हैं। उनका कर्तव्य वह सब गप्प रूप है। हेय क्या है, उपादेय क्या है, श्रद्धान में किस तरह हेय उपादेय है, करतूत में किस तरह हेय उपादेय है। इन सब बातों का जिनके विवेक नहीं उनके सम्यक्त्व है ऐसा कैसे अनुमान हो पायगा? वस्तु का जैसा यथार्थ स्वरूप है उस ही तरह कोई जाने तो वह सत्य ज्ञान है। हो कुछ और जाने कुछ तो वह असत्य ज्ञान कहलाता है। सत्य क्या? यह भी अभिप्रायवश अनेक प्रकार का रूप रख लेता है। जब अष्टान्हिका के दिनों में अरहदास सेठ के घर चैत्यालय में ही 8 दिन रात धार्मिक समारोह पर्व चल रहा था उन्हीं दिनों में राजा नगर के निरीक्षण के लिए रात्रि को ही चल उठा। निरीक्षण विशेषतायँ इस कारण हुआ कि उस राजा का उन दिनों यह आदेश था कि होली फाग के दिन करीब हैं, इन दिनों नगर के सभी लोगों को नगर छोड़कर बनक्रीड़ा करके, बन विहार कर के हर्ष मनाना चाहिए। सेठ अरहदास ने राजा से इस बात की छूट ले रखी थी। वह अपने घर अष्टान्हिका पर्व मना रहा था। इन्हीं दिनों जब राजा नगर का निरीक्षण करने के लिए रात्रि को निकला तो कुछ चर्चा सुनकर अरहदास सेठ के मकान के पीछे खड़ा होकर सुनने लगा। वह चर्चा उस राजा से संबंधित थी। सेठ अरहदास में और उसकी 8 सेठानियों में वह धर्म चर्चा चल रही थी। सेठ ने जब कोई कथा कहा तो सभी सेठानियाँ कहे—बिल्कुल सच, और जब कोई सेठानी कथा कहे तो सभी कहे बिल्कुल सच, पर जो सब से छोटी सेठानी थी वह बार बार यही कहे बिल्कुल झूठ। राजा छोटी सेठानी की बात सुनकर बड़े आश्चर्य में था कि देखो सभी की बात ठीक है पर छोटी सेठानी कहती है बिल्कुल झूठ। खैर विचार किया कि सबेरा होने पर उस छोटी सेठानी को राज दरबार में बुलवाकर सारी जानकारी करेंगे। आखिर सबेरा होते ही राजा ने उस छोटी सेठानी को पालकी में बैठाकर राजदरबार में बुलवाया जैसा कि कायदा है और पूछा कि तुम सच बताओ रात्रि में तुम्हारे घर जो धर्मचर्चा हो रही थी उसमें सभी लोग तो कहते थे बिल्कुल सच, पर तुम कह रही थी बिल्कुल झूठ, सो कैसे? तो उस छोटी सेठानी ने मुख से कोई उत्तर न दिया किन्तु सारे आभूषण उतार कर केवल एक ही वस्त्र पहने हुए बन (जंगल) की ओर चल पड़ी और उस समय मानो उसकी मुद्रा ही उपदेश देती गई कि सच तो यह है। तो जो लोग केवल बातें करते हैं, क्रियाशून्य हैं, क्या उनकी वह बात सच है? नहीं, वह सच नहीं। तो सत्यता का भी कोई आशय हुआ करता है, पर जो बात जैसी है वैसी जानना सो सत्य का परिचय है। हित और अहित से हित भी सत्य असत्य का है। सत्य का अभिप्राय है प्राणियों का भला होना और इसी बात पर यह उपदेश किया गया है कि ऐसा सत्य भी न बोलना चाहिए

जिससे दूसरा जीव मर जाय, विपत्ति को प्राप्त हो। तो जो सत्य और असत्य का विवेक नहीं कर सकता वह पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त है।

**भव्य व अभव्य के अज्ञानकार के सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— इसी प्रकार भव्य और अभव्य का विवेक जिसके नहीं वह भी सम्यक्त्व से उन्मुक्त है। लोग तो जिस चाहे बात को अनहोनी कह देते हैं, दूसरों के लिए होनी और अपने लिए अनहोनी। जैसे कोई आकस्मिक उपद्रव हुआ, कोई इष्ट गुजर गया तो वह कहता कि अनहोनी हुई। अरे जो भवितव्य में है सो हुआ। जो जिस योग में, जिसके जिस विधान से जब जो होना था हुआ, अनहोनी क्या? आज यह जीव मनुष्य पर्याय में है सो आज धन से बड़ी ममता, परिजनों से बड़ा मोह। जरा जरा सी बातों में कुछ बुरा लगता, कुछ अनसुना होता, कुछ सुहा जाता, ये कितनी ही तरह की बातें होती हैं। अरे कदाचित इस मनुष्य भव में आप न होते, कोई कीड़ा मकोड़ा की पर्याय में होते, कहीं भी होते तो फिर आप के लिए यहाँ का कुछ भी कुछ था क्या? जो होता है वह ठीक चल रहा है। तो यह जीव न होने योग्य को होनी और होने योग्य को अनहोनी मान रहा है। एक बात और भी ध्यान में दें कि यह जीव बड़ी बड़ी कल्पनायें करता बाहरी पदार्थों के बारे में। मैं इसको यों सुखी कर दूँगा, मैं इसको इतना ऊँचा बना दूँगा, मैं इस पदार्थ को भी परिणमा दूँगा। भला बताओ जीव कर सकता है क्या ऐसा? जो रूप रस गंध स्पर्श से रहित अमूर्त द्रव्य है वह इन बाह्य पदार्थों में क्या कुछ कर सकता है? नहीं कर सकता, पर मानता है कि मैं करता हूँ तो उसने अभव्य को भव्य ही तो बनाया। योग्य को होने योग्य ही तो बनाया और जो बात हो सकती है अज्ञानदशा से हटकर अपने आप के स्वरूप को निरखें और सारा ममत्त्व का बोझ फेंककर अपने को आनन्दमय अनुभव करें, यह बात क्या हो नहीं सकती? भव्य है, होने योग्य है, जो जिस जाति में हो सकता है वह वहाँ ही तो होता है। पुदल में परिणमन जीव जैसा नहीं हो सकता। जीव में परिणमन पुदल जैसा नहीं हो सकता मगर मोही जन मानते हैं कि मैं इन समस्त बाह्य पदार्थों का परिणमन कर दूँगा, और अपने आप के धर्म, गुणविकास, सम्यक्त्व, अपने आप में रमकर संतुष्ट होना आदि जो बातें सम्भव हो सकती हैं उनसे अरुचि है, विरक्ति है, और ऐसा भाव लिए हुए हैं कि यह तो बस त्यागियों के हुआ करता है। हम लोगों की कहाँ ये दृष्टियाँ हैं। अरे जो चेतना में हो सकता है वह उस चेतना में ही सम्भव है। जो अजीव में हो सकता वह उस अजीव में ही सम्भव है। तो ऐसे भव्य अभव्यका जिनको परिचय नहीं वे जीव सम्यक्त्व से उन्मुक्त हैं।

**लेइयजणसंगादो होइ मइमुहर कुडिलदुब्भावो ।**

**लेइयसंगं तम्हा जोइवि तिविहेण मुंचाहो ।।39।।**

**लौकिकसंसर्ग की हेयता का कारणसहित समीक्षण**— लौकिक पुरुषों का संग करने से यह जीव मुखरमती हो जाता है। मति इसकी मुखर हो जाती है। अनुचित कार्यों में बुद्धि लगे, उचित कार्यों में बुद्धि न लगे, ऐसी उसकी वृत्ति बन जाती है। लौकिक जनों के मायने अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, मोही, जो कि हेय उपादेय का ज्ञान नहीं रखते, ऐसे पुरुषों का बहुत बहुत संग रहे तो वहाँ बुद्धि मुखर (मंद) हो जाती है। इस ज्ञान दर्पण में जिसका आकार बहुत काल बना रहता है और बन रहा है एक उमंग लेकर तो उस पर वैसा ही प्रभाव होगा। लौकिकजनों के संगमें दोष दृष्टि अधिक रहा करती है, गुणदृष्टि नहीं हो पाती, क्योंकि प्रायः गुणियों का अभाव है जिनके संग में यह जीव रह रहा है तो उस पर छाया प्रतिफलन दोष का ही तो चलेगा। तो जो पुरुष लौकिक पुरुषों की संगति करते हैं उनकी बुद्धि मुखर हो जाती है। जिसे कहते हैं मोटी हो जाना, वहाँ कुछ विवेक नहीं रहता, ऐसी स्थिति हो जाती है। इस कारण कर्तव्य यह है कि अपना अधिकाधिक समय ज्ञानी

गुणी व्रती जिज्ञासु हो जाती है। जिसे कहते हैं मोटी हो जाना, वहाँ कुछ विवेक नहीं रहता, ऐसी स्थिति हो जाती है। इस कारण कर्तव्य यह है कि अपना अधिकाधिक समय ज्ञानी गुण व्रती जिज्ञासु मुमुक्षु, संसार, शरीर भोगों से विरक्त पुरुषों की संगति में बिताना चाहिए। और यह बात उसके ही सम्भव है जिसको आत्महित की अभिलाषा है। और जो अपनी बुद्धि में यह बात भरे हुए हो कि मैं तो खुब जाननहार हूँ, ज्ञाता हूँ, समझदार हूँ, विवेकी हूँ। मुझ सरीखी बुद्धि तो कहीं अन्य जगह होती नहीं है। ये तो सब बातें कुछ अटपट सी हो रही हैं। भीतर में तो मैं ही बुद्धिमान हूँ इस तरह की बात चित्त में आये उनको सत्संग की बात चित्त में नहीं आ सकती, और न सत्संग करने का जो मूल भाव है विनय, वह विनय भी चित्त में नहीं आता। लौकिक संग से इस जीव का अनर्थ ही होता है, अतएव लौकिक संग से विमुख होकर कुछ अलौकिक पुरुषों की संगति का उद्यम करना चाहिए।

**उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्बावो दुस्सुदो दुरालावो ।  
दुम्भइरदो विरुद्धोसो जीवो सम्मउमुक्को ।।४०।।**

**उग्र पुरुष की सम्यक्त्वोन्मुक्तता—** जो प्राणी उग्र प्रकृति वाले हैं, व्यवहार में, अभिप्राय में जिनके उग्रता पड़ी है वे पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त हैं। उग्रता कहते हैं उसे तो तीव्र क्रोधी हो, जिसे धर्मात्मा या धर्म न सुहाये, बढ़ते हुए लोगों से ईर्ष्या हो और जिस किसी से किसी भी प्रकार के शब्दों में बोलने की भी भावना रखता हो उसे उग्र कहा करते हैं। उग्रता के लक्षण कृष्णलेश्या में पाये जाते हैं। बड़ा प्रचण्ड तीव्र क्रोधी, बैर को न छोड़े इस प्रकार के दुष्ट अभिप्राय का हो वह उग्र कहलाता है। सो उग्र स्वभाव वाला पुरुष सम्यक्त्व से सूना है। इन प्राणियों का हित अपने आप के सही स्वभाव के दर्शन में है, अन्यत्र किया हुआ उपयोग इस बहिरात्मा को इष्ट लगता है, किन्तु बाहर में इस जीव का हितकारी कोई नहीं है। अज्ञान का अंधेरा है जहाँ बाहर की चीजें सुहाया करें। ज्ञानी पुरुष वह है कि जो अपने आपके सहज स्वरूपकी भावना रखता है और अपनी आत्मा में रम करके संतुष्ट रहना चाहता है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि बाहर ही बाहर लगी हुई है वह पुरुष अपने लिए तो उग्र बन ही रहा है तो ऐसा उग्र पुरुष सम्यक्त्व से सूना होता है।

**तीव्र दुष्ट पुरुष की सम्यक्त्वोन्मुक्तता—** जो तीव्र दुष्ट है वह भी सम्यक्त्व से सूना है। दोष देखने की आदत होना इसे दुष्टता कहते हैं क्योंकि जो स्वयं दोषी है उसको निरन्तर दूसरों के दोष देखने की आदत रहती है। जिसको गुण प्रिय हैं उसे दूसरों में गुण परखने की आदत होती है। तो जो दूसरों के दोष निहारकर अपने मनको मौज में रखने की आदत बनाये है वह पुरुष दुष्ट है क्योंकि उसके उपयोग में दोष ही दोष लदे रहते हैं। गुण के लिए दुष्ट पुरुष के हृदय में स्थान नहीं होता। गुणी गुणों को पसंद करते हैं, दोषी दोष को पसंद करते हैं। जिसमें दोष बसे हुए हैं वह दूसरों के प्रति ईर्ष्या का भाव रख रहा है। दूसरों का विनाश तक कर देने के लिए जिसके मन में भाव उठता हो वह पुरुष तीव्र दुष्ट है। एक कवि ने नीति में कहा है कि—दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनंतदनन्तरम्। मुखप्रक्षालनात्पूर्वं गुदप्रक्षालनं वरम्। याने दुर्जन को पहले नमस्कार करें, सज्जन को बाद में नमस्कार करें, जैसे कि लोग सुबह उठकर पहले क्या धोते हैं? खोटी चीज, बाद में क्या धोते हैं? मुख, तो ऐसे ही प्रथम वन्दना करें दुष्ट का उससे दूर रहें, मध्यस्थ रहे, अपने को उससे क्या प्रयोजन? वह सम्यक्त्व से हीन है। यहाँ शिक्षा यह लेवें कि अपने में सदा दूसरों के गुण परखने की आदत बने। दोष परखने की आदत क्यों बनें? मैं अपने उपयोग में दोष का प्रतिबिम्ब क्यों लाऊँ? मेरे उपयोग में गुणों का प्रतिबिम्ब हो। साधुसंतों का ध्यान हो, प्रभु के स्वरूप का ध्यान हो, गुण उपयोग में बसें, दोष उपयोग में न आयें। उपयोग में दोष



आने की यदि प्रकृति रहेगी तो वह जीवन में ही समय समय पर बहुत विपतियाँ पाता है। तो जो दुष्ट है वह सम्यक्त्व से हीन है।

**दुर्भावनायुक्त प्राणी की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— जो दुर्भावनायुक्त है वह भी सम्यक्त्व से रहित है, किसी का बिगाड़ चाहे न कर सके मगर जहाँ मूढ़ता है वहाँ दूसरों का बिगाड़ करने की दुर्भावना रहती है। स्वयंभूरमण समुद्र में एक बड़ा मच्छ रहता है, जिसकी अवगाहना 1000 योजन की है याने चार हजार कोश का लम्बा एक मच्छ है। देखो जो बिल्कुल छोटा तालाब हो उस में छोटे मच्छ मिलते, बड़े तालाब हो तो बड़े मच्छ मिलते, समुद्रों में अब भी सुनने में आता कि एक एक मील तक के मच्छ होते हैं। फिर स्वयंभूरमण समुद्र तो इतने बड़े घेरे का है एक तरफ कि जितने में सारे द्वीप समुद्र समा जायें और फिर भी अधिक रहे। इतने बड़े जल के समूह में ऐसे बड़े मच्छों का होना असंभव बात नहीं। वह जगह इतनी दूर है कि वहाँ तक आजकल मनुष्य जा ही नहीं सकता चाहे कितनी ही विद्यायें पाले। तो ऐसे बड़े मच्छ होने का कारण क्या है कि मच्छ होते हैं नपुंसक और वहाँ का मैला कूड़ा मिट्टी करकट कुछ भी चीज पड़ी हो वहाँ जीव आता है और वही उसका शरीर बन जाता है। कर्म की ऐसी विधि है, विचित्रता है। वह अपना मुख बाये पड़ा रहता है और उसके मुख में से हजारों छोटी बड़ी मच्छियाँ आती जाती रहती हैं, उसके कान में, आँख में एक छोटा तंदुल मच्छ और रहता है वह यह सब लीला देखकर अपने मन में सोचता है कि यह मच्छ कितना मूर्ख है, इसके मुख में हजारों मच्छियाँ जाती रहती हैं फिर भी यह अपना मुख दबा नहीं लेता। इसकी जगह पर यदि मैं होता तो एक भी मच्छी बचने न देता। देखिये इस खोटी भावना के कारण वह मरकर नरक में जाता है। यहाँ भी तो लोग बैठे बैठे दुर्भावना से बिना ही किसी परिश्रम के पाप बंध किया करते हैं। सर्व जगत सुखी हो ऐसी भावना भाने में कौन सी आफत आ रही है। जो दूसरों के सुखी होने की भावना रखते हैं वे स्वयं भी तत्काल सुखी रहते हैं और आगे भी सुखी रहेंगे। दुर्भावना का फल तो तत्काल भी दुःख देता है और आगे भी दुःख देगा। जो पुरुष दुर्भावना सहित है वह सम्यक्त्व से हीन है, उसे मुक्ति की राह न मिल पायगी, इस कारण इस समय भी यदि शान्ति चाहिए है तो अपना सद्भाव रखना होगा। सर्व जगत सुखी होवे ऐसी भावना रखें। आजकल भी कुछ बुढ़िया ऐसी सद्भावना वाली मिलती हैं जो स्वयं सुखी हों ले दूसरों के लिए भी कह बैठती कि भगवान ऐसा सबको सुखी करे। उनकी यह बात एक सद्भाव को जाहिर करती है। जो खोटी भावना रखता है उसका सुख बढ़ता नहीं बल्कि नष्ट हो जाता है। जो दुर्भावना से युक्त है वह पुरुष सम्यक्त्वहीन है।

**दुःश्रुत पुरुष की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— दुःश्रुत, कुज्ञानी, उल्टा जाननहार पुरुष सम्यक्त्व हीन है। कुज्ञान का दुःख अधिक देखा जाता है। और संदेह करना भी खोटा ज्ञान है, उल्टा जानना भी खोटा ज्ञान है। उल्टा ज्ञान और खोटा ज्ञान इन दोनों खोटे भावों में उसको दुःखी होना पड़ता है। कभी कभी जैसे किसी को बड़ा शक होता है तो वह पागल तक हो जाता है। बहुत से रोगी तो ऐसे तक देखने को मिले कि जो यह कहते पाये जाते कि मैं क्या खाऊँ, थाली उठाता हूँ तो वहाँ साँप नजर आते, भोजन उठाता तो साँप नजर आते, मुख में कौन चलाता हूँ तो ऐसा लगता कि जैसे साँप ही खा रहे हो। अब उसमें इतनी बड़ी बात आयी कैसे? तो वह पहले हर बात में एक शक की आदत वाला बन गया था। कहीं ऐसा न हो, कहीं ऐसा न हो। शक धीरे धीरे बढ़ बढ़कर इतना कठिन रूप रख लेता है। किसी पर संदेह की आदत रखे, यह खुद के लिए नुकसान पहुँचाता है और इतना तक नुकसान पहुँचाता कि उसकी बुद्धि में भी फर्क आ जाता। इसे कहते हैं दुर्मति, कुज्ञान। इसी प्रकार उल्टे कुज्ञान में दुःख ही है। बात तो कुछ हो और यह जान कुछ ले,

उसमें कष्ट ही है। बात कुछ भी नहीं और एक शक ही बन गई या किसी ने कुछ उल्टा कह दिया तो इतना ही सुनने से इतनी कषाय जग जाती है कि उसकी बुद्धि में इतना धैर्य नहीं रहता कि कम से कम इतनी बात पूछ तो ले कि क्या ऐसी बात तुमने हमारे विषय में की है? वह देखना भी नहीं चाहता, अलग ही रहता, बात बढ़ती है, और जब कषाय बढ़ती है, खोटा ज्ञान बढ़ता है तो वहाँ उसका व्यवहार ही शान्त नहीं है, सम्यक्त्व की बात तो दूर रहो। सम्यग्दृष्टि के तो ऐसी प्रकृति होती है कि जैसे कोई विपत्ति में फँसा हो, तो वह उसकी रक्षा करने की बात सोचता है उसके मन में अटपट बातें नहीं आती। अटपट बातें तो आती हैं मोज में जिसे कहते हैं लोग सुख वह सांसारिक सुख तो दुःख से भी भयंकर परिणाम वाला है। सुख में ही तो अटपट बातें हैं। दुःखी पुरुष तो अटपट बातें करने से डरता है। वह जानता है कि मेरे कर्मोदय से दुःख आया है, अब अपने आप को अच्छे कर्तव्यों में रहना चाहिए। विपत्तियाँ आने पर धर्म प्रायः सुहाता है, सुख में धर्म कहाँ सुहाये? विरले ही अच्छे भवितव्य वाले हैं जो सुख में भी धर्म की ओर लगे रहते हैं। कोई ऐसी एक घटना हुई होगी कि एक पुरुष नारियल खरीदने पास के बाजार में गया, दुकानदार से पूछा कि भाई नारियल कितने में दोगे?.... डेढ़ रुपये में।.... एक रुपये में न दोगे? अरे भाई यदि एक रुपये में लेना है तो पास के शहर से ले आओ। वह उस पास के शहर में पहुँचा और दुकानदार से बोला भाई नारियल कितने में दोगे? एक रुपये में।... 8 आने में न दोगे। ... अरे भाई यदि 8 आने का लेना है तो अमुकप्रान्त में मानो आसाम में चले जाओ। वह आसाम पहुँचा, वहाँ पूछा भाई नारियल कितने में दोगे? .... 8 आने का। .... 4 आने में न दोगे? .... अरे 4 आने में लेना हो तो पास के गाँव से ले लाओ, वहाँ पहुँचा और पूछा नारियल कितने में दोगे? .... 4 आने में। ..... दो आने में न दोगे? अरे भाई दो आने भी क्यों खर्च करते? देखो उन बगीचों में कितने ही नारियल के वृक्ष खड़े हैं, उनसे मनमाने जितने चाहे नारियल तोड़ लाओ। अब वह पहुँचा एक बगीचे में और एक नारियल के वृक्ष पर चढ़ गया। चढ़ने को तो बड़े उमंग के साथ चढ़ गया पर जब ऊपर से नीचे को निगाह गयी तो वह घबड़ा गया और विचारने लगा कि अरे मैं तो बहुत ऊपर चढ़ा हूँ, यदि यहाँ से गिर गया तो बच नहीं सकता। उस समय उस के मन में आया कि यदि मैं आज के दिन अच्छी तरह से नीचे उतर गया तो 50 ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगा कुछ हिम्मत करके नीचे को खिसका। ऊँचाई कुछ कम हो जाने से उसके मन में आया 50 तो नहीं पर 25 को अवश्य भोजन कराऊँगा, फिर कुछ और नीचे खिसका तो विचारने लगा कि 25 को तो नहीं पर 10 को अवश्य भोजन कराऊँगा और जब बिल्कुल ही नीचे उतर आया तो विचार ने लगा कि मैं क्यों उन्हें खिलाऊँ। उतरा तो मैं स्वयं हूँ। तो इस कथानक में यह बात दर्शायी गई है कि किसी पर जब कुछ विपत्ति आती है तो उसके मन में आता कि यदि इस बार मैं विपत्ति से बच गया तो खूब धर्म करूँगा, पर जब दैवयोग से वह विपत्ति टल जाती तो धर्म कर्म की सब बातें वह भूल जाता है। जिसका उपयोग व्यसनों में लग गया उसका ज्ञान सही नहीं रहता। जो खोटी बुद्धि वाला है उसको सम्यक्त्व पाने की बात तो दूर रहो, जीवन में कभी शान्ति भी नहीं प्राप्त कर सकता।

**दुरालापी की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— जो सम्यक्त्व से रिक्त है, खोटे वचन बोलने वाला है वह भव भव में कष्ट पाता है। किसी से खोटा वचन व्यवहार करने से लाभ क्या? कोई छोटे से भी छोटा हो उसके साथ हित मित प्रिय वचन व्यवहार रहे, इससे तो उसकी उच्चता जाहिर होती है। खोटे बोलने से तो मात्र विपत्ति ही हाथ आती है। एक कवि ने अलंकार में यह कहा कि एक बार दाँत और जीभ का झगड़ा हो गया। दाँत और जीभ इन दोनों ने अपने अपने बड़प्पन की बहुत-बहुत युक्तियाँ दी। और दाँतों ने यह कहा कि री

जीभ तू अकेली है और हम 30-32 के करीब में हैं। तू व्यर्थ ही अपने बड़प्पन की बातें बड़बड़ाती है। तुझे कुछ पता नहीं, मैं जिस दिन तुझे मारने के लिए तैयार हो जाऊँगा उसी दिन जरा सी देर में इन 30-32 दाँतों के बीच में तुझे दबा दूँगा, तो कट कर गिर जायगी। तो वहाँ जीभ कहती है दाँतों से कि तुम अधिक घमंड की बात न बगराओ। मेरे में तो वह कला है कि किसी को एक ही कड़वा शब्द बोल दूँ तो तुम सभी को एक साथ तुड़वा दूँ। कभी किसी बलवान गुंडे को जरा सी गाली की बात बोल दूँ तो कहो वह मुक्के से मार मारकर तुम सभी को एक साथ में तोड़ दे। तो भाई तो दुष्टभाषी लोग हैं, खोटा बोलने वाले हैं वे इस भव में भी सुख शान्ति से नहीं रह सकते, उनका यहाँ कोई आदर करने वाला नहीं, उनकी कोई मदद करने वाला नहीं। बल्कि उससे बदला लेने की भावना वाले बहुत होते हैं। तो दुष्टभाषी पुरुष सम्यक्त्व से हीन हैं।

**दुर्मतिरत पुरुषों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— दुर्मतिरत, जो दुर्बुद्धि में रम रहे हैं, दुर्बुद्धि क्या? पञ्चेन्द्रिय के विषयों में आशक्त होना दुर्बुद्धि है। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है तो शीत उष्ण आदिक, पर उसमें काम को स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में माना, उसमें जिसकी बुद्धि अटकी हो वह सम्यक्त्व का कैसे पात्र है? रसना इन्द्रिय का विषय रस खाने की धुन, ऐसा रस मिले तो भोजन लूँ, उसके विचार में बस वही वही सुहा रहा, तो वह तो एक अज्ञान अंधकार की बात है, रसीले स्वादिष्ट भोजन को कर के यह आत्मा लाभ क्या पा लेगा? बल्कि स्वास्थ्य खोवेगा, बीमार रहेगा और बहुत आकुलित होगा, आरम्भ अधिक करना होगा। तो जो रसना में आसक्त है वह दुर्मतिरत है। किसी किसी को शौक होता है बढ़िया बढ़िया गुलदस्ते चारों ओर लगाये रहने का। कोट के कालर पर, नाक में, कान में या अन्य कहीं भिन्न भिन्न प्रकार के तेल फुलेल इत्र लगाने का किसी किसी को बड़ा शौक होता है, अरे अच्छी खुली हवा में रहे, जो गंध है वह ठीक है, पर उसका उपाय बना बनाकर उस ही में आसक्त रहना, वही वही सोचना यह कोई भली बात नहीं। कहाँ गई उसकी बुद्धि? पर पदार्थों में, विषयों में, वह अपने स्वरूप की सुध क्या लेगा? चक्षुइन्द्रिय के विषय में आसक्त होना, सिनेमा हो, तमासा हो, बड़ा प्रिय लगना, रात्रि को भी जगना और वही वही धुन में रहना और वैसा ही विकल्प रहना, प्रयत्न रहना, ये सब दुर्मतियाँ, हैं। इन दुर्मतियों में रत पुरुष सम्यक्त्व का पात्र नहीं। अच्छे राग रागनी के शब्द, प्रीति के शब्द, मोह के शब्द और बुरे शब्द। उनको सुनने की बात जोहना, उसमें खुश होना, ऐसी जिनकी दुर्बुद्धि है उनके सम्यक्त्व कहाँ, याने मुक्ति का मार्ग प्रारम्भ नहीं हो पाता। इसी प्रकार विरुद्धभाव जो धर्म के प्रतिकूल भाव है उन भावों में जो रहता है वह जीव सम्यक्त्व का पात्र नहीं है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र में अनुराग, देव, शास्त्र गुरु से उपेक्षा, धर्म भी करते तो दिखाने के लिए, यश कीर्ति के लिए। ये सब धर्म के प्रतिकूल बातें हैं। सो धर्म विरुद्ध व्यवहार करने वाले पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त हैं। ये खोटी बातें न रहें, सद्भावना में जीवन चले, ऐसा अपना प्रयत्न करना चाहिये।

**खुदो रुदो रुट्ठो अणिट्ठपिसुणो सगव्वियोसूयो।**

**गायणजायणभंडण दुस्सण सीलो दुसम्मउम्मुक्को।।41।।**

**आत्महित का आधारभूत निष्पक्षता का महागुण**— हम आपका हित किसमें है, इस पर यदि कोई निष्पक्ष होकर अपने आप में चिन्तर करे तो इसका उत्तर मिल सकता है। कल्याण चाहते हुए भी दुविधा यह आती है कि इस मनुष्य में जन्मतः या किसी कारण ऐसा पक्ष होता है कि मैं अमुक हूँ। जैसे मैं हिन्दू हूँ, ईसाई हूँ, जैन हूँ आदि कुछ भी एक पक्ष रहता है और उस पक्ष में रहते हुए यह अपने भीतर के तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाता। यदि कोई निष्पक्ष होकर एक अपने को आत्मा हूँ इतना ही नाता रखकर हित की खोज करे

तो उसे हित मिल सकता है इसके लिए त्याग की आवश्यकता है। त्याग बाहरी चीजों का नहीं कह रहे किन्तु अपने अन्दर में किसी प्रकार के पक्ष की भावना नहीं। थोड़ी देर को अंदाज करें, जो आज हिन्दू जाति में उत्पन्न हुए क्या वे जीव मुस्लिम अथवा अन्य जाति में उत्पन्न न हो सकते थे? हो गए हिन्दू, आत्मा की सकल तो न बिगाड़ना चाहिए। आत्मा के तो वह एक ही स्वरूप है, जो जाननहार है, जानने वाला पदार्थ जीव की सकल जीव का स्वरूप सबका एक समान है। जो पुरुष केवल आत्मा के नाते से ही बात सुनेंगे, समझेंगे, विचारेंगे उनको रास्ता मिल जायगा और जो जिस कुल में पैदा हुआ, जिस मजहब में पैदा हुआ, वह केवल उस नाते से विचारेगा तो उसको तत्त्व न मिलेगा। मैं आत्मा जानने वाला पदार्थ हूँ। बस इतना ही मेरा नाता है। इतना ध्यान रखकर यदि चिन्तन करें तो अपने आप में बसा हुआ भगवान स्वरूप आत्मा अनुभव में आ जायगा।

**स्वयं में भगवत्स्वरूप का दर्शन**— लोग भगवान को ढूँढ़ने, परखने के लिए बाहर में अपने ज्ञान का बड़ा व्यायाम करते हैं। यहाँ देखा वहाँ देखा, वन में देखा, नगरी में देखा, प्रतिमा में देखा, मंदिर में देखा, बाहर बाहर ही उनकी भावना रहती है भगवान को खोजने की, मगर भगवान आत्मा यह स्वयं अपने आप में मिलता है। खुद में रागद्वेष न हों और एक ज्ञान स्वरूप की ही भावना कर रहा हो तो उसका अपने आप में भगवान के दर्शन होते हैं। मनुष्य का सर्वप्रथम गुण यह होना चाहिए कि वह निष्पक्ष प्रकृति का हो। मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, बस मुझे अन्य कुछ न चाहिए। मेरा स्वरूप मेरी दृष्टि में रहे मैं अपने आप के इस ज्ञानानन्द धाम अन्तस्तत्त्व में रहूँ, बस यह ही तो चाहिए। इसमें जो होना होगा कल्याण के मार्ग में वह स्वयमेव होगा और, इसके लिए कुछ व्यावहारिक बातों की जरूरत है। यह तो है भीतरी श्रद्धा कि जिसके दर्शन से आत्मा का कल्याण होता है। मगर आत्महित में जो चलना चाहते हैं उनको कैसा होना चाहिए, कैसा न होना चाहिए यह बात और जानना योग्य है।

**क्षुद्र पुरुषों के सम्यक्त्वरिक्तत्व**— इस गाथा में यह बतला रहे हैं कि कैसी आदत वाला जीव कल्याण पात्र नहीं होता है, आत्मा का हित नहीं कर सकता है। इसी संबंध में कल भी चर्चा चली थी, आज भी चल रही है। जो पुरुष क्षुद्र हों, हल्के दिल के हों, तुच्छ हृदय के हों, जिन में क्षुद्रता भरी हो, जो छोटी मोटी बात करने वाले हों, छोटा मोटा ही चिन्तन करने वाले हों, गैर जिम्मेदार, अपने आप का कुछ महत्त्व न समझें दूसरों को भी तुच्छ जानकर उनसे जैसा चाहे वार्तालाप कर लें, हृदय में जरा भी यह ध्यान न आये कि मेरे व्यवहार से किसी को दुःख भी होगा, ऐसा क्षुद्रता का अभिप्राय जिन जीवों में है वे आत्मकल्याण नहीं कर सकते। यह सब विकट कर्मोदय है। जो क्षुद्रादिक जैसे विचार जीव को मिले, यह मेरा है, यह दूसरे का है, इस तरह का अधिक विचार क्षुद्र प्रकृति में होता है और वह त्याग वृत्ति तक में भी ऐसा भाव रखता कि मेरा नहीं है। यह दूसरा है आदिक यहाँ तक भी विचारता। एक बार की बात है कि कोई दो भाई थे, वे परस्पर में हिल मिलकर बड़े प्रेम से रहते थे। एक बार बड़ा भाई कहीं जा रहा था, उसके दोनों हाथों में एक एक अमरूद थे बायें हाथ में तो था अमरूद का छोटा फल और दायें हाथ में था बड़ा फल। अचानक ही हुआ क्या कि आगे से उसका एक खुद का लड़का और एक छोटे भाई का लड़का आते दिखा। बाईं ओर तो था छोटे भाई का लड़का और दाहिनी ओर था उसका खुद का लड़का। वहाँ उस बड़े भाई ने जब दोनों को अमरूद देना चाहा तो उस समय उसके मन प्रकृत्या ही ऐसा भाव आया कि बड़ा फल तो अपने बच्चे को दे दूँ और छोटा फल छोटे भाई के बच्चे को दे दूँ, सो किस तरह से हाथ करके दिया कि बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर बड़ा फल तो खुद के बच्चे को और छोटा फल छोटे भाई के बच्चे

को दिया। यह दृश्य देख लिया उस पुरुष के छोटे भाई ने, तो उसके हृदय में एक बहुत बड़ा धक्का सा लगा, और अपने बड़े भाई से कहा भैया अब तो हम न्यारे होना चाहते हैं, एक में अब हमारा तुम्हारा रहना न बन पायगा। छोटे भाई के मुख से ऐसी बात सुनकर उस बड़े भाई को बड़ा खेद हुआ। उसे उस छोटे भाई के प्रति अनुराग तो था ही। वह तो सहसा ही वैसी घटना घट गई, सो वहाँ उस बड़े भाई ने बड़े करुणस्वर में कहा भाई हमारा कसूर माफ करो, बोलो तुम्हें क्या चाहिए? हम तो तुम्हें अपनी सारी जायदाद देने को तैयार हैं। हमें कुछ न चाहिए। हम तो एक झोपड़ी में रहकर साधारण सी स्थिति में अपना गुजारा कर लेंगे। देखिये वहाँ परस्पर में अनुराग तो था ही, कुछ अधिक जान बूझकर वैसी बात नहीं किया, समय की बात थी सो साधारण विकल्प में वैसी घटना घट गई लेकिन विडम्बना तो बन गई बिना मतलब? यहाँ तो सहसा हुआ, पर कितने ही घरों में तो एक बहुत बड़ा पक्षपात रहता, और बहुत बड़ा क्षुद्रता का भाव चलता है। समाज में भी किसी किसी के मन में ऐसा तुच्छता का भाव बन जाता है, तो ऐसे तुच्छ विचार वाले पुरुष सम्यग्दर्शन के पात्र नहीं होते।

**रुद्र पुरुशों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— व्यवहार में भी दूसरों का भला चाहें तो उससे मोक्षका मार्ग मिलेगा। जिसका व्यवहार ही गंदा है उसको मोक्षमार्ग कैसे मिल सकेगा? रौद्र परिणाम वाला हो कोई, दूसरे के सताने में मौज मानना, झूठ बोलकर या मजाक करके दूसरे को दुःख पहुँचाकर अपने आप में मौज मानना या कोई चीज चुराकर बचाकर अपने में आनन्द मानना, परिग्रह जोड़कर, तृष्णा के साधन जोड़कर उसमें मौज मानना यह सब रुद्र प्रकृति कहलाती है। दूसरे को तो क्लेश होता हो और उस काम में यह मौज मानता हो तो ऐसी छुद्रता जिसके चित्त में होती है वह सम्यक्त्व का पात्र नहीं रहता। सम्यक्त्व का पात्र न रहे इतना ही नहीं, किन्तु वह अपने जीवन में शान्त सुखी भी नहीं हो पाता। मनुष्य का धन वचन है, तभी कहते हैं कि वचने का दरिद्रता, याने वचनों में दरिद्रता क्या करना, और ऐसा भी न करना चाहिए कि चित्त में तो मायाचार बसा हो और ऊपर से वचन भले कहे जा रहे हों, चित्त भी साफ रखना, वचन भी अच्छे बोलना, शरीर से उत्तम चेष्टा करना यह तो है हित का उपाय और क्षुद्रता के भाव करना यह है संसार में रुलने का उपाय।

**रुष्ट पुरुशों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— जो पुरुष रुष्ट हो जाय, क्षण भर में रुष्ट और क्षण भर में तुष्ट, कदाचित्त तुष्ट भी हो जाय, पर जो रुष्ट होता रहे ऐसे पुरुष का उपयोग ऐसे गंद वातावरण में जाता है, दुर्विचार में जाता है कि वह हित का पात्र नहीं, सम्यक्त्व पाने का पात्र नहीं। सम्यक्त्व कहते हैं अपने आत्मा का असली स्वरूप अपनी दृष्टि में आना। जो स्वरूप लिए बैठे है यह आत्मा का असली स्वरूप नहीं है। नहीं है। यह तो माया का स्वरूप है। माया कहते हैं दो पदार्थ मिलकर एक जैसी स्थिति को उत्पन्न करें उसका नाम है माया, परमार्थ कहलाता है एक ही पदार्थ अकेला ही रहकर अपने स्वभावरूप रहता है उसे कहते हैं परमार्थ। जो पुरुष रुष्ट होता है उसे परमार्थ की सुध नहीं और अपने आप में अनेक कल्पनायें करके, कर्मोदय बढ़ाकर अपने आपका ही घात करता है। तो जो रुष्ट पुरुष है अथवा क्षणिक रुष्ट, क्षणिक तुच्छ ऐसी प्रकृति वाला है, तो ऐसा पुरुष विश्वास का पात्र नहीं होता और ऐसी आदत वाले को सम्यक्त्व की भी पात्रता नहीं। जब ये संसार को अपनी क्रीड़ा का स्थान समझ रहा तो वह भली बात कैसे पायगा? संसार है विपत्तियों का घर और कहीं बाहर में नहीं हैं संसार, अपने परिणामों में है संसार। दूसरे पदार्थ के प्रति रागद्वेषादि के भाव बनाना यह ही संसार है। भला बतलाओ घर में कोई जिसको अपना मान रहे हैं स्त्री, पुत्र, मित्रादिक, उन जीवों के साथ इसका कुछ संबंध भी है क्या? कुछ भी संबंध नहीं। जैसे अन्य सब जीव वैसे ही घर में आये हुए जीव, रंच मात्र

भी संबंध नहीं है। गुजारे के लिए संबंध बनाया है। संबंध तो नहीं मगर अपने जीवन का गुजारा चले इसके लिए परिवार का संबंध बनाया है, वस्तुतः संबंध कुछ नहीं। अब जो लोग इस रहस्य को न जाने, तुरन्त जो मिल गया है उसे ही अपना सर्वस्व पाने तो उसकी हित में गति नहीं हो सकती। जिसने अपने आत्मा के सहज स्वरूप को पहिचाना है वह ही पुरुष समता परिणाम में रह सकेगा वह रुष्ट न होगा किसी बात में। जिसकी रोष करने की, क्रोध करने की आदत पड़ गई है वह पुरुष सम्यक्त्व का पात्र नहीं होता।

**अनिष्ट व पिगुन पुरुषों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता—** जो पुरुष दूसरे का अनिष्ट करे, अनिष्ट विचारे, अनिष्ट अनिष्ट में ही उसकी बुद्धि जाय, मिलेंगे ऐसे बहुत से लोग जो दूसरों का बुरा करके भीतर से बड़े खुश हुआ करते हैं, अच्छा बहुत से लोग ऐसे भी मिलेंगे कि जो चूहा, गिलहरी, बिल्ली, आदि की पूछ बाँधकर उसके सामने कुत्ता छोड़कर या उनको अग्नि के पास ले जा जा कर तड़फाते हैं। दुःखी करते हैं और उसमें बड़ा मौज मानते हैं। भला बताओ ऐसे पुरुषों के चित्त में दया कहाँ है? मनुष्य मनुष्य के प्रति भी ऐसे विचार करने वाले भी होंगे कि दूसरे को नुकसान पहुँचा रहे हैं, दूसरे को दुःखी देख रहे हैं और उसमें वे बड़ा मौज मान रहे हैं। अरे भाई क्या मिला दूसरे के प्रति बुरा विचार करने से? बस यह ही मिला कि खुद का पाप बंध किया। तो जो अनिष्ट पदार्थ से अनुराग करके खुद अनिष्ट बन गया दूसरे के लिए, ऐसा पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त है, रहित है। चुगलखोर, यहाँ की बात दूसरे से भिड़ाया, वहाँ की यहाँ से भिड़ाया यह एक बहुत बड़ा अपराध है अपना समय खोना, दूसरे का अहित करना, अपना विश्वास हटा लेना, उसमें सारे ऐब आते हैं, भला बतलाओ यदि कोई मनुष्य चुगली करने का काम छोड़ दे तो उसका बिगाड़ क्या है? वह तो सुख से रहेगा, मगर जिसकी ऐसी आदत पड़ जाय कि एक की बात दूसरे से भिड़ाना तो ऐसा पैसून्य करने वाला पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है। भिड़ाने से उन दोनों का झगड़ा बन जाता है और यह देखता रहता है। यह मनुष्य चोरी चोरी भिड़ाता है, सामने नहीं पड़ता। किसी से कोई बात कह दी, ऐसे चुगलखोर मनुष्य से तो नरक में रहने वाले जीव भले हैं क्योंकि वे नारकी जीव एक दूसरे नारकी को भिड़ाते हैं तो चोरी चोरी से नहीं भिड़ाते, सामने बोल देते कि यह तुम्हारा पूर्व भव का दुश्मन है। पूर्वभवमें इसने तुम्हारे साथ इस तरह का व्यवहार किया... यों सामने बोल देते मगर यह चुगल खोर तो चोरी चोरी से एक दूसरे को भिड़ाता रहता है, ऐसी चोरी का परिचय रखने वाला पुरुष आत्मा का हित नहीं पा सकता। वह पुरुष सम्यक्त्व से रहित है।

**सगर्वित पुरुषों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता—** सगर्वित माने गर्व रखने वाला पुरुष, जो पुरुष अपने चित्त में घमंड रखता है, थोड़ा ज्ञान पाया तो उससे ही ऐसा मानने लगता कि मैंने तो बहुत कुछ चीज प्राप्त की, और ऐसे गर्व की उसके आदत बन जाती है कि बड़े पुरुषों का भी वह तिरस्कार करने लगता है। गर्व का काम ही यह है कि वह बड़े पुरुष को भी कुछ नहीं गिनता, अपने को ही महान समझ कर पूरे अविनय भाव में रहा करता है। ऐसा गर्व में रहने वाला पुरुष आत्मा का हित कैसे पा सकता है? वह कल्याण से बहिर्भूत है। गर्व एक ही तरह का नहीं होता। किसी को कुल का गर्व है, किसी को जाति का गर्व है, किसी को ऐश्वर्य का गर्व है, किसी को धन संपदा का गर्व है किसी को रूप का गर्व है, किसी को बल का गर्व है, और ज्ञान का गर्व होना वह सब गर्वों में बुरा गर्व है क्योंकि जाति कुल वाले जो गर्व हैं उनको तो मिटाने का उपाय भी होता है, वह उपाय क्या है? ज्ञान, भेदज्ञान, यथार्थज्ञान। अब कोई ज्ञान पर ही गर्व करे तो उसका उपाय फिर नहीं रहता, क्योंकि ज्ञान ही तो गर्व को मिटाने का उपाय था और ज्ञान पर ही कोई गर्व करे तो अ बवह बेइलाज रोगी हो जाता है। ज्ञानी पुरुष के चित्त में गर्व नहीं रहता, पर जिसके

अज्ञान है और भ्रम से वह मान ले कि मेरे को ज्ञान जगा, बाकी सब अज्ञानी हैं, ना समझ हैं, ऐसा जिन को गर्व होता है वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

**ईर्ष्यालु पुरुषों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— ईर्ष्यालु पुरुष भी बड़े गन्दे होते हैं कोई धन में बढ़ रहा हो, कोई ज्ञान में बढ़ रहा हो उससे ईर्ष्या, कोई इज्जत में बढ़ रहा हो उससे ईर्ष्या और ईर्ष्या का ऐसा रूप होता है कि वह इतना तक विचार लेता कि मेरी बरबादी हो जाय तो हो मगर यह दूसरा भी बरबाद हो जाय। वह ईर्ष्या का रूप होता है और जिसके चित्त में ईर्ष्या है वह जो कुछ उसने पाया है वह भी उसके लिए न पाये की तरह है। जैसे मानो किसी ने 10 हजार रुपये कमाये, किसी ने 50 हजार कमा लिये तो 10 हजार रुपये जिसने कमाया वह 50 हजार रुपये कमाने वाले से ईर्ष्या करता है, परिणाम यह होता है कि वह उस 10 हजार का भी सुख नहीं लूट पाता। वह तो दूसरे से ईर्ष्या करके रात दिन तड़फता रहता है। ऐसी ईर्ष्या रखने वाले पुरुष सम्यक्त्व के पात्र नहीं होते। अब वस्तुतः विचारें कि मानो किसी ने 10 हजार रुपये कमाया है, अपने घर का उससे काम चलाता है तो उसे कौन सी मुसीबत आ गई जो अपने से अधिक धनिक से ईर्ष्या कर बैठे? जब ऐसा ही अज्ञानभरी कषाय का उदय होता है तो उसके ईर्ष्या जगती है, और जब कभी ज्ञानियों से, त्यागी, साधु संतों से ईर्ष्या का भाव आ जाय तब तो वह बेइलाज रोगी बन गया क्योंकि जो त्यागी व्रतीजनों से ईर्ष्या जैसे दुर्गुण को समाप्त कर सकता था उसी के प्रति अनादर बन गया तो ऐसी ईर्ष्या चित्त में रखने वाले पुरुष सम्यक्त्व से उन्मुक्त हैं वे कल्याण के पात्र नहीं हैं।

**तुच्छव्यवसायी कलहप्रिय दुःशीलपुरुषों की सम्यक्त्वोन्मुक्तता**— इसी तरह क्षुद्र प्रकृति वाले गा बजाकर नृत्य करके जो आजीविका बनाया करते हैं और जगह-जगह डोलकर मांगते रहते हैं ऐसे पुरुष भी अगम्भीर अपने आप के महत्त्व को न आँकने वाले होते हैं, वे पुरुष भी सम्यक्त्व के पात्र नहीं हो पाते। यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि अपना भविष्य अगर सुधारना है तो भली बात अपने चित्त में बसानी है, जिसको निरख कर आत्मसंतोष रहे, उसे आकुलता न जगे, तो उसका कर्तव्य है कि अपना व्यवहार इतना विशुद्ध रखें के किसी कारण शल्य न बने, जैसे ज्यादा बोलचाल करने से कभी कोई शब्द खोटा तुच्छ निकल गया तो उस बोल के बाद उसे भीतर में बड़ा पछतावा होगा, ऐसा काम ही क्यों करे? क्या जरूरत पड़ी है कि जो बाहरी दूसरे लोगों से हम अधिक संबंध बढ़ायें। प्रयोजन माफिक जितना धर्महेतु आवश्यक है उतना तो संबंध रहे मगर अनावश्यक क्यों सम्पर्क बढ़ायें? तो जो अपने जीवन का महत्त्व नहीं समझता और अटपट स्वच्छंद आचरण में लग जाता वह पुरुष सम्यक्त्व से रिक्त रहता है, ऐसी कलह करने वाला पुरुष जिसको झगड़ा पसंद है झगड़ा देखना पसंद है, कहीं दूसरी जगह झगड़ा होता हो तो वह बड़ी उमंग के साथ पहुँचता है, चाहे कैसी ही हालत उस लड़ाई में बन रही हो पर यह देखकर खुश होता है। तो कलहप्रिय है, लड़ाई करने वाला है ऐसा पुरुष आत्मा की भलाई का क्या ख्याल कर सकता? वह सम्यक्त्व से रिक्त है। इसी प्रकार दोष देने वाला, दूसरे को ऐब लगाने वाला और दोष ही दोष जिसके ज्ञान में बसे रहा करते हों, ऐसा दूसरों को दोष लगाने की प्रकृति रखने वाला पुरुष सम्यक्त्व से रिक्त है। आत्मा गुणमय है, ज्ञानमय है, उस ज्ञान का महत्त्व समझें, दूसरों में भी ज्ञान देखें। उनका भी जो महत्त्व जाने वह तो होगा कल्याण का पात्र और जो खुद को ही बहुत महान समझ ले, जो दूसरों को सताये, लापरवाही करे, ऐसा पुरुष सम्यक्त्व से रिक्त होता है।

**वाणर—गद्दह—साण गय—वग्घ—वराहकराह ।**

**पक्खि जलूय—सहावणर जिणवर धम्म—विणासु ।।42।।**

**वानर स्वभाव वाले पुरुशों द्वारा धर्म विनाश**— ऐसा पुरुष जिन धर्म का विनाश करने वाला है जो बंदर, गधा, कुत्ता, हाथी, बाघ, सूकर, कछुवा, पक्षी और जोंक जैसा स्वभाव रखता है। धर्म का विनाश करने वाला क्या, वह तो अपने आप के ही धर्म का नाश करता है और व्यवहार में जो तीर्थ प्रवृत्ति है, जो एक धर्म की परम्परा है उसका भी नाश करता है। बंदर स्वभाव वाला मनुष्य चंचल होता है, स्वयं के लिए वह कुछ न कर सके और दूसरे का विनाश करे, वह होता है बंदर के स्वभाव वाला, बच्चों की पुस्तक में एक कहानी आती है कि एक बार कोई बंदर एक पेड़ पर चढ़ा और उस पेड़ पर एक पक्षी अपना घोंसला बनाकर रहता था कुछ बरसात हो रही थी। पक्षी तो अपने घोंसले में भली प्रकार बैठा था और यह बंदर बरसात की वजह से ठंड से ठिटुर रहा था, दुःख पा रहा था तो अचानक ही उसकी दृष्टि उस घोंसले पर गई और कुछ क्रूर दृष्टि से देखने लगा तो वहाँ वह पक्षी कहता है कि रे बन्दर तू तो मनुष्यों जैसा हाथ पैर वाला है। यदि तू चाहे तो छोटी मोटी कुटी बनाकर आराम से रह सकता है। कहो ईंटों को ढेर ढंग से रखकर कुटी जैसी बना ले और आराम से रहे लेकिन बंदर होता है प्रकृति से चंचल, दूसरे का विनाश करने वाला उसकी आदत ही ऐसी है कि वह बिगाड़ करे तो जब इस प्रकार से पक्षी को समझाते हुए देखा तो झट पहुँचा उस घोंसले के पास और उस घोंसले को तोड़कर फेंक दिया। वह बेचारा पक्षी असहाय होकर बाहर बैठा रह गया। तो बंदर जैसा स्वभाव जिन मनुष्यों के हैं वे खुद अपनी व्यवस्था नहीं बना सकते, और दूसरे की अवस्था बिगाड़ देते, ऐसे मनुष्य धर्म का विनाश करते हैं। वे अपने धर्म का तो नाश करते ही हैं याने समता का परिणाम न होना, कषाय जगना, यह अपना विनाश है, पर उनकी क्रियाओं से जनता में भी धर्मप्रवृत्ति नहीं रह पाती इसलिए व्यवहार धर्म का भी विनाश है।

**गर्दभ स्वभाव वाले पुरुशों द्वारा धर्मविनाश**—दूसरे स्वभाव वाले लोग हैं गधा जैसे स्वभाव वाले। गधे का नाम ही लोगों को असह्य है। जो बच्चा कुछ पढ़ता लिखता नहीं उसे मास्टर लोग गधा कहकर पुकारते हैं। घर में भी बुद्धिहीन बालक को लोग गधा कहकर चिल्लाते हैं। गधा, बेवकूफ, आदि और वह गधा एक अज्ञानी प्राणी है, वह केवल दूसरों का बोझ ढोता है और खुद के लिए नहीं। यदि गधा कोई चंदन की लकड़ी लादे लिए जा रहा हो तो उस चंदन की गंध का मौज उस गधे को नहीं मिलता, वह तो बोझ लादे है। पर स्वयं उसको कोई गंध नहीं मिल पाता, दूसरे तो उससे किसी प्रकार का फायदा उठा लें, पर यह खुद कुछ लाभ नहीं ले सकता, वह पुरुष गधे की प्रकृति वाला कहलाता है। एक धोबी के घर एक गधा था और एक कुतिया भी। प्रायः करके ऐसे लोग कुत्ता या कुतिया पाला करते हैं। गधा तो रोज बोझ ढोने के काम आता और जो कुछ रुखा सूखा उसे खाने को मिल गया बस उसी में संतुष्ट रहता, और कुतिया काम कुछ नहीं करती फिर भी उसे मालिक से प्यार मिलता। तो एक बार उस धोबी के घर पत्नी हुई कुतिया ने बच्चे पैदा किए, उसके छोटे छोटे बच्चों से धोबी बड़ा प्रेम करता था। वे कुतिया के बच्चे मालिक के ऊपर पंजे भी मारते, मुख से काट भी लेते फिर भी मालिक उनसे प्यार करता। यह दृश्य वहाँ बँधा हुआ गधा देखा करता था। एक दिन उसके मन में आया कि देखो मैं इस मालिक की कितनी तो सेवा करता, इसका बोझ ढोता, गृहस्थी चलाता, फिर भी हमसे प्रेम नहीं करता और ये कुतिया के बच्चे इसके किसी काम नहीं आते फिर भी इनसे बड़ा प्रेम करता।

आखिर उस गधे की समझ में आया कि वे कुतिया के बच्चे चूँकि उसे पँजों से मारते हैं, मुख से काटते हैं इसलिए मालिक उनसे प्रेम करता है, सो मुझे भी वैसा ही करना चाहिए ताकि मालिक से प्यार मिले। बस क्या था, गधे ने उस धोबी को अपने पैरों से दुलत्ती



मारना शुरू किया और मुख से काटना भी। वहाँ धोबी ने डंडा उठाया और उस गधे को पीटना शुरू किया। तो जैसे कुतिया के बच्चों का कार्य देखकर गधे का भी उस प्रकार का कार्य करना एक अज्ञानतापूर्ण कार्य था ऐसे ही अज्ञानीजन ज्ञानियों की बाह्य क्रियाओं को देखकर उसकी वास्तविकता को न समझकर उन जैसी क्रियायेंक रने लगें तो वह भी उनका अज्ञानतापूर्ण कार्य है। ऐसा अज्ञानतापूर्ण कार्य करने का जो स्वभाव रखते हैं, जिन्हें कुछ विवेक नहीं वे गधा जैसे स्वभाव के होते हैं। और वे स्वयं भी धर्म में नहीं है और धर्मप्रवृत्ति का भी नाश करते हैं।

**भवान स्वभाव वाले पुरुशों द्वारा धर्मविनाश**— इसी तरह कुछ लोग होते हैं कुत्ते के स्वभाव वाले। कुत्ते में भी अज्ञान है, और एक अज्ञान ऐसा विकट है कि कोई पुरुष अगर उसे लाठी मारे तो वह लाठी को चबाता है। उसकी सिंह जैसी दृष्टि नहीं बन पाती कि मुझे मारने वाली यह लाठी नहीं है किन्तु यह पुरुष है। तो जैसे कुत्ते को कोई मारे तो वह लाठी चबाता है ऐसे ही तो मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानीजीव दुःख भोग रहा है तो कर्मोदय से दुःख भोग रहा, सो अपने कर्म पर तो दृष्टि देता नहीं और बाहरी पदार्थों पर दृष्टि देता है कि इसने मुझे दुःखी किया। और भी कुत्ते में अवगुण होते। अपनी जाति के दूसरे प्राणियों को देख करके भौंकना। कोई कुत्ता नये मुहल्ले से निकले तो वहाँ के कुत्ते उससे बहुत लड़ते हैं, तो ऐसे ही कुत्ते जैसा स्वभाव साधर्मियों में प्रीति न होना और बाह्य पदार्थों पर अधिक दृष्टि होना, निमित्ताधीन दृष्टि होना, ऐसी प्रकृति के जो मनुष्य हैं वे स्वयं तो धर्म करेंगे ही क्या। पर वे व्यवहार धर्म का भी विनाश करते हैं। वैसे कई दृष्टियों से कुत्ता भला होता है। पहरेदारी करे, घर की रक्षा करे, कोई दो टुकड़े खिला दे तो पूँछ हिलाकर विनय प्रदर्शित करे, और सिंह में कोई गुण ही नहीं है, बड़ा क्रूर होता, खूंखार होता मगर यह क्या फर्क आया कि अगर किसी मनुष्य की कोई ऐसी तारीफ करे कि यह तो सिंह के समान है, शेर दिल है तो ऐसी बात सुनकर वह बहुत खुश होता है। हालांकि उसने तो यह कहा कि यह शेर के समान है मायने खूंखार है, दूसरों को दुःख देने वाला है, कोई काम का नहीं है, अर्थ तो यह निकला मगर वह सुनने वाला बड़ा खुश होता है कि मुझे शेर के समान कहा। और यदि किसी को कह दिया जाय कि यह कुत्ते के समान है तो इसमें हुई प्रशंसा कि विनयशील है। कृतज्ञ है, रक्षा करने वाला है, मगर उसे सुनकर लोग बड़ा खेद मानते हैं। बताओ यह फर्क कहाँ से आया? तो वह फर्क मूल में यही है कि सिंह की दृष्टि तो होती है यथार्थ। जैसे सिंह को कोई लाठी मारे तो वह लाठी को नहीं चबाता, वह तो उस हमलावर पर ही हमला करता है, उसे सही ज्ञान है कि मुझको तो इसने पीटा है और कुत्ते को ऐसा ज्ञान होता कि मुझको तो उस लाठी ने पीटा है। तो जिसमें अज्ञान बसा हो, वस्तु के स्वरूप का सही परिचय न हो, साधर्मियों को देखकर गुर्गये वह पुरुष न स्वयं धर्म कर पाता है और न वह व्यवहार धर्म का ही प्रवाह रख सकता है।

**गज व्याघ्र जैसे स्वभाव वाले पुरुशों द्वारा धर्मविनाश**—कुछ पुरुष होते हैं हाथी जैसे स्वभाव के। हाथी के विषय में समयसार में भी वर्णन आया है कि अज्ञानवस्तु सतृणाभ्यवहारकारी आदि। हाथी को कोई यदि हलुवा भी खाने के लिए उसके सामने धर दे और घास भी तो वह उन दोनों को एक साथ मिलाकर खा जाता है। वह हलवा का विवेक नहीं कर सकता। इसी तरह अज्ञानी जीव भी ज्ञेय में रहकर ज्ञान का स्वाद लिया करते हैं, ज्ञान का स्वयं अलग से स्वाद नहीं ले सकते। और ले तो रहे हैं स्वाद ज्ञान का मगर ध्यान बनाते हैं कि हम इन पदार्थों का स्वाद लेते हैं। तो उनको विवेक नहीं है। धर्म नाम है अपने सहज ज्ञान स्वरूप की उपासना करने का। जो पुरुष इस ज्ञानतत्त्व को नहीं

जानते और बाहरी ज्ञेय पदार्थों पर ही आशक्त हो रहे हैं वे पुरुष न स्वयं धर्म पाते हैं और न व्यवहार धर्म का प्रवाह रख सकते हैं। कोई पुरुष होते हैं व्याघ्र जैसे स्वभाव के, क्रूर, जिससे किसी को कोई लाभ नहीं है बल्कि प्राणघात का ही संशय बना रहता है। तो ऐसे ही जो दुष्ट है, क्रूर है, जिससे किसी का भी भला नहीं, काम का आना तो दूर रहा, उल्टा वह प्राणघात करे, दोषदर्शी हो, ऐसा पुरुष व्याघ्र जैसे स्वभाव का है। वह न तो स्वयं धर्म में लग सकता है और न व्यवहार धर्म की रक्षा कर पाता है। कुछ पुरुष होते हैं सूकर जैसे स्वभाव के।

**भाकर कच्छप पक्षी जोंक स्वभाव वाले पुरुषों के द्वारा धर्मविनाश—** सूकर भी एक बहुत बुरी गाली जैसी बात बन गई है तो इसमें कोई अवगुण ही तो है। वह स्वच्छता को तो पसंद ही नहीं करता। कीचड़ गंदगी में ही मस्त रहता, जिसका भोजन भी बहुत दुर्गंधित वस्तु है, ऐसे ही जो अभक्ष्य भक्षण करें, अपवित्रता के आचरण से रहने में ही मौज मानें ऐसे पुरुष न तो स्वयं धर्म कर पाते हैं और न व्यवहार धर्म की रक्षा कर सकते हैं। कुछ पुरुष होते हैं कछुवा जैसे स्वभाव के, याने जो स्वयं मंदबुद्धि हों, आलसी प्रकृति के हों, कठोर हृदय के हों, ऐसे ही जो पुरुष मंद बुद्धि के हों, आलसी हों, कठोर हों, वे न तो स्वयं धर्म कर सकते हैं और न व्यवहार धर्म की रक्षा कर पाते हैं। कुछ पुरुष होते हैं पक्षी जैसे स्वभाव के। जहाँ बैठे, जहाँ निवास हैं वहाँ ही स्थान गंदा करें, अपवित्र करें, अपने उठने बैठने के स्थान को भी वे पवित्र और स्वच्छ रख ही नहीं सकते, ऐसे ही जो पुरुष अपने ही धाम को गंदा करें, विवेक नहीं वे पुरुष न स्वयं धर्म कर सकते न व्यवहार धर्म का प्रवाह बना सकते। कुछ पुरुष होते हैं जोंक जैसे स्वभाव के। जैसे जोंक यदि गाय के थन में भी लग जाय तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है ऐसे ही कुछ मनुष्य ऐसे होते कि जो किसी भी संग प्रसंग में रहें मगर वे उसके गुणों को नहीं ग्रहण करते, दोषों पर ही दृष्टि रखा करते हैं, क्योंकि वे स्वयं दोषप्रिय हैं। तो उन्हें दूसरे के दोष देखने में कुछ मौज आता है। तो जोंक जैसी प्रकृति के लोग जो दोषग्राही हैं, गुण को अलग कर देने वाले हैं वे पुरुष न स्वयं धर्म कर सकते और न धर्म की रक्षा कर सकते, ऐसी प्रकृति के पुरुष धर्म का विनाश करते हैं।

**सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।**

**तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणविकट्ठमिदि जिणुद्धिट्ठं ।।43।।**

**सम्यक्त्व गुण की उत्कृष्टता—** सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न होगा। इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन होता है स्वानुभवपूर्वक। तो जिसको स्वानुभव हुआ है उसे स्वका ज्ञान सम्यक है और जो स्वानुभव से हीन है वह आत्मा का ज्ञान पुस्तकों से करता, चर्चाओं से करता मगर उसका वह स्वाद नहीं पाता। तो सम्यग्दर्शन हो तो वह ज्ञान सम्यक् कहलाता है और सम्यक्चारित्र का लक्षण है कि अविकार निज सहज चैतन्य स्वरूप में रमना, जिसको इसका पता नहीं वह रमेगा ही क्या? और जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है उसने परिचय पाया है उस सहज निज तत्त्व का कि जिसमें इसको रमना है। तो सम्यग्दर्शन के बिना न तो सम्यग्ज्ञान होता और न सम्यक्चारित्र होता। इसी कारण रत्नत्रय के पाठ में सम्यक्त्व गुण को उत्कृष्ट कहा है जिनेन्द्र देव ने। यह तो मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। जैसे पहली सीढ़ी चढ़े बिना कोई ऊपर महल पर नहीं पहुँच सकता ऐसे ही सम्यग्दर्शन पाये बिना उन साधनों को भी न पालेगा और मोक्ष में न पहुँच सकेगा। तो सम्यग्दर्शन रत्नत्रय धर्म का सर्वोत्कृष्ट गुण है। सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है वह मुनि होकर शुक्ल लेश्या करके अपने व्रत नियम को भली भाँति पाल करके स्वर्गों से भी ऊपर ग्रैवयकों में उत्पन्न हो ले, जहाँ सब अहिमिन्द्र हैं वहाँ कोई छोटा बड़ा नहीं है, सब

एक ही समान ऐश्वर्य वाले हैं। बड़ी आयु 30 सागर तक की आयु, उत्कृष्ट 31 सागर तक भी चलती है। इतनी बड़ी आयु के होकर भी वह अहमिन्द्र च्युत होता है, संसार में रुलता है, मोक्ष का मार्ग नहीं पाता, क्योंकि उसे सम्यक्त्व नहीं हुआ। आत्मा की पवित्रजा सम्यग्दर्शन से है, और उस ही पवित्र आत्मा में सम्यग्दर्शन आता है। जिससे कि वह पूज्य होता है। सम्यग्दर्शनहीन साधुओं की क्या विडम्बना होती है इसका चित्रण दर्शनपाहुड़ में कुन्दकुन्दस्वामी ने किया है कि वे स्वयं दुर्गति में जाते हैं और जो ऐसे लोगों की सेवा करते हैं वे भी दुर्गति में जाते हैं। मगर निश्चय सम्यक्त्व का तो कोई पता पाड़ नहीं सकता, पर व्यवहार सम्यक्त्व भी जिसके न जंचे ऐसे पुरुष खुद डूबते हैं और दूसरों को डुबाते हैं। तो सम्यक्त्व तो रत्नत्रय में सबसे प्रधान गुण है।

**तणुकुट्टी कुलभंगं कुण्ड जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।**

**दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छत्तमेव हो कट्ठं।।44।।**

**मिथ्यात्व द्वारा आपत्ति का दिग्दर्शन—** जिस प्रकार शरीर का कोढ़ी पुरुष अपने वंश को भंग कर देता है याने रक्त सम्बन्ध के कारण वह अपने कुल का भंग कर देता, विरूप बना देता इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव याने अंधविश्वासी अपने आत्मा के कुल को भंग कर देता है। अर्थात् सदा के लिए उस आत्मतत्त्व से दूर हो गया और इतना ही नहीं, वह अज्ञानी पुरुष दान आदिक सदगुणों का भी विनाश कर देता है और सद्गति का भी विनाश कर देता है। इसमें मिथ्यात्व की विडम्बनायें बताया है। जो धर्म के कार्यों में भी लग रहे हैं, जिसे व्यवहार में लोक में धर्म मानते हैं, बड़ी बड़ी सेवायें करना, धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध की सेवायें करना, पूजा पाठ विधान आदिक के कार्य करना आदि, मगर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अपने कुल को नहीं बढ़ा सकता। आत्मा का कुल है चैतन्यस्वरूप, उसकी प्रगति नहीं रक सकता। इस मनुष्य जीवन में जो पुरुष विभूति को ही महत्त्व देता है और अपने आत्मा के स्वरूप का महत्त्व दृष्टि में नहीं हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की तुलना में वैभव जिसे कुछ नहीं नजर आता वह तो है ज्ञानी और जिसको वैभव की तृष्णा है, जिसके आगे सम्यक्त्व ज्ञान का धर्मपालन ये गौण हो गए हैं, जो केवल परिजनों की ही सेवा करने में अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और जिनके मिथ्याभाव है वे पुरुष अपने ही कुल को भंग कर रहे हैं याने अपने चैतन्यस्वरूप की प्रगति नहीं कर पाते, विकास नहीं कर पाते। तो अज्ञानीजन अंधविश्वासी लोग यों समझिये कि जैसे कोढ़ का रोगी पुरुष वह खुद तो विडम्बना में पड़ा है, और उससे कुलसंतति भी नहीं चलती, कुल का भंग हो जाता है, विरूप हो जाता है, ऐसे ही अंधविश्वासी मिथ्यादृष्टि, वैभव ही जिसकी दृष्टि में सर्व कुछ है वह पुरुष अपने आप के कुल का घात करता है याने चैतन्य स्वरूप ही घात कर रहा है।

**दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग करने का संदेश—** यह मानव जीवन बड़ा दुर्लभ भव है। यहाँ आकर तो आत्मविकास, आत्मदृष्टि, आत्मप्रगति करना चाहिये था मगर यह घमंड और तृष्णा के वश होकर अपने आपका अहित कर रहा है सो मनुष्यजन्म पाना न पाना बेकार रहा, क्योंकि जो कुछ कर रहा है यह मनुष्य ये काम तो पशु-पक्षी बनकर भी किये जा सकते थे। आहार करना, भय करना, मैथुन करना और परिग्रह जोड़ना ये चार संज्ञायें तो पशु पक्षियों में भी है। और इन्हीं चारों संज्ञाओं का आदर किया इस मनुष्य ने तो उसका मनुष्य होना, न होना या पशु बनना यह सब एक ही समान बात है। अपनी इतनी हिम्मत होनी चाहिए कि दरिद्रता आये तो आये, यह जीवन का गुजारा तो हर प्रकार से किया जा सकता, मगर आत्मा का गुजारा तो आत्मा के ही ढंग से किया जा सकता। आत्मा को जानें, आत्मा का महत्त्व समझें और आत्मा में ही लीन होने की उमंग बनावें, पर

अज्ञानी जीव आत्मा को समझते ही नहीं, उनके लिए तो अपना परिवार ही सब कुछ है। परिवार के लिए ही उनका तन हाजिर है। कितना ही श्रम करना पड़े, सब श्रम उसको मंजूर है। मगर परोपकार के लिए यह अपने शरीर से कुछ भी श्रम नहीं करना चाहता। मन में निरन्तर परिवार का ही चिंतन किए रहता है। ये मेरे हैं, बड़े अच्छे हैं, यही मेरे सब कुछ हैं। ऐसे मन से भी कुटुंब का ही चिंतन करेगा, कुटुम्ब का ही गुण गायगा, जैसे मेरी पत्नी बहुत धर्मात्मा है, खूब मंदिर में रहती है....., उसके परिचय में ही अपना सब कुछ माने, और तन, मन, धन, वचन सब कुछ उन परिजनों के लिए ही है, और किसी भी बात के लिए उसके चित्त में यह नहीं समाता के जैसे और जीव हैं वैसे ही ये जीव हैं। कुछ दूसरों के उपकार के लिए भी खर्च करे, यह बात उनके चित्त में नहीं आती। तो तन, मन, धन, वचन सब कुछ मिथ्यादृष्टि अपने कुटुम्ब के लिए अर्पित करता है और जो अनेक मायाचारों से धनोपार्जन किया उसका पाप, उसका कष्ट तो खुद ही भोगेगा। उसे कोई दूसरा नहीं भोग सकता। तो जो अज्ञानी जीव है, जिसको परतत्त्व ही प्यारा है वह पुरुष न स्वयं धर्म कर सकता है और न वह व्यवहार धर्म का प्रवाह बना सकता है।

**देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवायार मोक्खगइ भेयं।**

**जिणवयणसुदिट्ठविणा दीसइ किह जाणए सम्मं।।45।।**

**असम्यग्दृष्टि द्वारा देवस्वरूप के तथ्य के यथार्थज्ञान की आकांक्षिता—**  
सम्यग्दृष्टि के बिना अन्य कोई प्राणी इस बात को कैसे समझ सकता है देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तप, आचार और मोक्षगति का रहस्य एवं जिन वचन। इनको सम्यग्दृष्टि ही जान पाता है। देव का स्वरूप क्या है? ऐसा पवित्र आत्मा जिसमें विकार रंच नहीं रहा और अपने ही स्वरूप तेज से पूर्ण विकसित हुआ है याने जो सर्वज्ञ और वीतराग है ऐसा पवित्र आत्मा देव कहलाता है। देव के बारे में चर्चा तो सभी कर लेते हैं, शब्द भी बोल लेते हैं कि यह देव हैं। उनका गुणानुवाद भी करते, उनका कुछ चारित्र भी बनाते, पर चूँकि समझने वाला पुरुष स्वयं ज्ञानवान है, चेतन है, सो चाहे कैसे ही चरित्र बनाया हो देवों के, पर उनमें भी कुछ सुधार कर डालते हैं, फिर भी वह देवों का स्वरूप कुछ नहीं समझ पाता। जैसे मानो किसी देव का चरित्र हो कि वह दूध, घी, मक्खन, दही चुराकर खात था, और यह भी कह दिया कि वह सब भगवान की लीला थी। चलो उनकी तो लीला में निभ गई और यहाँ कोई वैसे ही चुरा करके खाये तब तो उसकी हमारी समझसे जेललीला ही कहलायगी। तो सुधार भी लेते हैं फिर भी देव के सही स्वरूप को नहीं समझ पाते। अपने आत्मा के सहज स्वरूप को जाने बिना देव का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। अज्ञानीजन ज्ञानियों की महिमा को तो नहीं जान सकते। जो स्वयं विकार का रुचिया है वह अविकार देव को कैसे जान सकता है? सम्यग्दर्शन होने पर ही यह सही मायने में देवका स्वरूप समझ पाता है।

**असम्यग्दृष्टि द्वारा गुरु स्वरूप के तथ्य के यथार्थ ज्ञान की आकांक्षिता—**  
ऐसे ही गुरु, जिनका ध्यान, तप ही कार्य है, जो निरन्तर अन्तर्दृष्टि की ही रुचि बनाये हैं, जिनको संसार का कोई भी समागम रुचता नहीं है। केवल जिन वचन, आत्मधर्म, स्वरूप में मग्न होने की धुन, यह ही जिनके है वे कहलाते हैं गुरु। जो सट्टा न बताये, खोट का तंत्र न करे वह लोगों की निगाह में गुरु ही नहीं है। अज्ञानीजन ज्ञानियों की महिमा को न समझ पायेंगे। तो ज्ञानी तो हैं गुरु अथवा देव और अज्ञानी जीव हैं मिथ्यात्व के उदय वाले पुरुष, तो वे जैसे देव के स्वरूप को नहीं समझ सकते ऐसे ही गुरु के स्वरूप को भी नहीं समझ सकते। गुरु अपने अन्दर में क्या कर रहे हैं, यह बात मिथ्यादृष्टि के चित्त में नहीं उतर सकती। इसका रहस्य सम्यग्दृष्टि जानता है।

**असम्यग्दृष्टि द्वारा धर्म के तथ्य के यथार्थ ज्ञान की अभाव्यता—** धर्मात्मा की शुद्ध परिणति का नाम धर्म है, इसे अज्ञानीजन कैसे समझ पायेंगे? जिसने शुद्ध परिणति का आधार शुद्ध स्वभाव नहीं जाना वह धर्म की बात कैसे कर सकता है? उसके लिए ऊपरी ही छोटी-छोटी बातें सर्वस्व धर्म बनती हैं। और वह जानता है कि मोक्ष का उपाय यही है कि पूजा कर लो, तप कर लो, इस भेष में रह लो, या जो कुछ भी बाहरी बातें हैं उनको ही करके संतुष्ट होता है। धर्म के तथ्य का परिचय अज्ञानी को नहीं हो सकता। यह आत्मा स्वयं साक्षात् धर्मरूप है। यह उनकी ही निगाह में आयगा जिन्होंने आत्मा के सहज स्वरूप के नाते से अपने में अपने को परखा है। अज्ञानी जनइ स बात को नहीं समझते। जैसे कोई दुःखी पुरुष दूसरे के दुःख को जल्दी पहिचान सकता है, पर जो सुखी हो, मौज में रहता हो, वह दुःखियों के दुःख का सही परिचय नहीं कर सकता। एक कहावत में कहते हैं कि “जाके पैर न फटी बेवाई, वह क्या जाने पीर पराई?” जिस को कभी कुछ दुःख नहीं आया, जिसने जो कार्य नहीं किया कभी वह उस तथ्य को कैसे समझ सकता है? तो ऐसे ही जिसकी धर्म पर दृष्टि नहीं, धर्म मायने आत्मस्वरूप, मैं आत्मा अपने आप अकेला ही अपने स्वरूप में किस स्वभावरूप हूँ, यह परखना प्रकाश देता है। केवल प्रतिभासमात्र, चेतनामात्र वह मैं हूँ। विकार आया है तो यह कर्म की छाया है, दर्पण में फोटो आयी है तो यह उपाधि का सान्निध्य पाकर बना है। औपाधिक है। दर्पण की निजी चीज नहीं है, ऐसे ही जितने अन्य भाव हैं केवल एक प्रतिभास के अतिरिक्त वे सब औपाधिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं है। मैं तो प्रतिभासमात्र हूँ। यह तथ्य जिसकी दृष्टि में नहीं आया वह क्या समझेगा कि धर्म किसका नाम है। तो सम्यग्दर्शन बिना धर्म का मर्म नहीं जान सकते।

**असम्यग्दृष्टि के द्वारा गुण व चारित्र के तथ्य के यथार्थ ज्ञान की अभाव्यता—** गुण आत्मा में क्या गुण हैं अथवा आत्मा जब मोक्षमार्ग में बढ़ना चाहता है तो उसके क्या गुण होते हैं। गुण के अतिरिक्त गुण की कला यह है कि इस जीव को स्वभाव की ओर जाने का अवसर देवे। इसके लिए ही गुण है। इसके लिए ही व्रत है। व्रत कहीं मायावी लोगों को दिखाने के लिए नहीं हैं। यदि दिखावा की बात रखी तो वह तो फिर अव्रत हो गया। व्रत नहीं है, किन्तु स्वयं स्वयं की ओर झुक सके, रम सके, ऐसा अवसर मिले इस वृत्ति से वह कहलायगा व्रत। तो गुण का भी तथ्य रहस्य अज्ञानी नहीं समझ सकता। चारित्र आत्मा के स्वरूप में रम जाना चारित्र है। स्वरूप जिन के ध्यान में है और स्वरूप में रम जाना जिनके ध्यान में है, सिद्ध भगवान का स्वरूप जिन की समझ में है उनकी तो यह धुन रहती है कि मुझे तो सिद्ध भगवान बनना है। इसके अतिरिक्त कोई भी चारा नहीं है संसार में रहकर कि मैं संकट आपत्तियों से बच जाऊँ, और सिद्ध भगवान होना पराधीन नहीं है। इसलिए सरल है। अपने ही अविकार स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण और इनकी ही धुन बने तो मुक्ति का लाभ सरल है और अपने आत्मस्वरूप की धुन बनाने वालों को जो कुछ भी करना पड़े, खुशी से करते हैं। बड़ा लाभ पाने के लिए कुछ भी उत्सर्ग करना पड़े तो लोग करते हैं ना। तो उस मुक्ति का लाभ पाने के लिए इसको मोह छोड़ना पड़ेगा, राग छोड़ना पड़ेगा, पर के प्रति का आकर्षण छोड़ना पड़ेगा। बस इसके लिए वह तैयार रहता है। सो अज्ञानियों को यह नजर आता ज्ञानी के लिए कि इसका कुछ दिमाग ठीक नहीं है, और ज्ञानियों को अज्ञानी यों नजर आते कि क्या पागलपन छाया है। तो यहाँ ज्ञानी को सब लोग अच्छा नहीं कह सकते। जो ज्ञानी होगा वह ही जान सकता कि ज्ञानी की यह महिमा है। बताओ ज्ञानियों की संख्या जगत में अधिक है या अज्ञानियों की? अज्ञानियों की संख्या अधिक है। अज्ञानी लोग, जिनको कीर्ति के लिए यह चाह है कि मेरे पर सब खुश हों, उनकी दृष्टि होती मायामयी पुरुषों पर।

ज्ञानी पुरुष की ऐसी दृष्टि नहीं रहती। उसकी दृष्टि होती अपने आप की ओर। वह अपने ज्ञान की धुन में रहता है, उसे यह परवाह नहीं होती कि जगत में कौन क्या कह रहा है। महावीर भगवान को भी उनके समय में अनेकों लोग मायाचारी, कपटी आदि कहने वाले थे। इतिहास को उठाकर देखो, जो परमात्मा बन गए। भगवान हो गए उनके प्रति भी बुरा कहने वाले अनेकों लोग उस समय में भी थे। पर उनके कहने से प्रभु का कुछ बिगड़ता था क्या? विवेकी पुरुष वह है जिसको अपने सहज ज्ञान की धुन लगी है और उस धुन में यह मायामय जगत चाहे कैसा ही व्यवहार करे, यह उसके लिए कुछ भी नहीं है। कुछ अपने आप आत्मा की ओर झुके और प्रयोग बल से आत्मा के सहज स्वरूप का स्वाद ले, अनुभव करे तो यह बात झट समझ में आयगी कि देव गुरु धर्म गुण चारित्र्य क्या होते हैं।

### **असम्यग्दृष्टि द्वारा तपाचार आदि के तथ्य के यथार्थ ज्ञान की**

**अप्राक्यता**— तपाचार तपश्चरण में तपस्वी को अलौकिक आनन्द आता है। वह आनन्द तपश्चरण का नहीं है। वह आनन्द कायक्लेश का नहीं है। वह आनन्द सूर्य की गर्मी का नहीं है। उस प्रकार से जो बाह्य तपश्चरण बन रहा उससे नहीं है, किन्तु वह तपश्चरण एक ऐसे वातावरण से बना है कि उसका जगत में किसी विषय के प्रति रुचि नहीं रहती, और उस समय में यह जीव अपने आत्मा का ध्यान करे तो वह सुगमता से कर सकता है। उस तपाचार के रहस्य को कौन जानता है? ज्ञानी जानता है। वह मोक्षमार्ग में बढ़ने का वातावरण बनाता है। एक देश मुक्ति किस तरह होती है और उस समय अन्तः आत्मा का क्या वातावरण रहता है, इन सब बातों को सम्यग्दृष्टि बिना और कौन जान सकता है? इसी प्रकार जिन वचन—इन जिन वचनों का, इन शास्त्रों का हम पर कितना ऋण है, जो आचार्य ग्रन्थ लिख गए उनको प्रमत्त दशा आयी और कितने ही विकल्प बने, उतने समय, पढ़ते समय, धरने उठाने के समय न जाने कितने कितने विकल्पों का कष्ट होता है, क्या है उनमें? वीतरागता, जिनकी लेखनी अनुभव सहित चलती थी। आज जो यह विशाल साहित्य पाया जाता है यह तो ऐसी देन है कि जो जगत भी अर्पित कर दे कोई तो भी उससे उद्धार नहीं हो सकते। पर मिथ्यादृष्टिजन क्या जानें इस रहस्य को? सम्यग्दृष्टि बिना इन तथ्यों को कोई पहिचान नहीं सकता। इससे अपने में यह प्रयोग बनायें कि इन सब तथ्यों को हमें समझकर ही रहना है। सही मायने में देव क्या, गुरु क्या, धर्म क्या, व्रत क्या, सबका निर्णय करना है, क्योंकि जीव जितना अपने आपकी ओर भीतर बढ़ेगा समझो उतना तो है इस जीवका लाभ और इसे छोड़कर अन्य किसी गप सप रूप में रहेगा तो वह अपना ऐसा दुर्लभ जीवन यों ही बिता डालता है। तो इन सब तथ्यों के रहस्य को सम्यग्दृष्टि ही पहिचान पाता है।

**एककु खणं ण विचिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्प साहा वं।**

**अणिसं चिंतइ पावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ।।46।।**

**मोह में मोक्षनिमित्त निजात्मस्वभाव के क्षणमात्र भी चिन्तन का अभाव**— यह जीव मोक्षप्राप्ति के कारणभूत निज आत्मा के स्वभाव को एक क्षण भी नहीं चिन्तन करता। रात दिन की जो चर्चा है, जो कुछ किया करते हैं घर में, दुकान में, बाहर में या परिजनों में मोह रखने में, अनेक बातों में समय तो गुजार लिया जाता, पर मोक्ष के निमित्त अपने आत्मा के स्वभाव को जानने की इच्छा भी नहीं होती, उमंग की तो बात ही क्या कही जाय? तो जो अपने स्वभावको जानने और अनुभवने की मन में उमंग नहीं लाते वे पुरुष जीवित रहकर भी किसलिए मनुष्य हुए हैं, उसका कोई जवाब न बनेगा।

**आत्मस्वरूप के परिचय के अभ्यास की सफलता**— निज आत्मा को ध्यावो, कैसे आत्मा को ध्यावो? भेद करके, विवेक करके, वैभव से अपने को न्यारा निहार कर अविकार चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करें। जो जिस तरह का अनुभव करता है वह उस तरह की अपनी बना लेता है। जैसे किसी आदमी से कोई कहने लगे कि भाई आज तो तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ है, दूसरा कहे—आज आपको क्या परेशानी हो गई, तीसरा बोले—क्या आज आप की कुछ खराब तबियत है? लो तीन चार लोगों की बात सुनकर खराब भी न हो तो भी खराब हो जाती है, क्योंकि उसने अपने को अनुभवा तो है बारबार इसी प्रकार। तो जब इन लौकिक बातों के बारबार उपयोग में आने से इसका अनुभव बना लेता है यह जीव। तो अपने आत्मा का सहज स्वभाव चैतन्यमात्र भीतर दृष्टि देकर जितना चैतन्य है वह तो मैं हूँ और जितने विकार हैं, रागादिक, क्रोधादिक, चेष्टायें हैं वह सब कर्मरस की छाया है, फोटो है। यह मैं हूँ ही नहीं। यह जीव परेशान क्यों हैं कि उन विकारों को अपना स्वरूप मान लेता है। सम्यग्दृष्टि का अपने भीतर का ग्रहण क्यों है कि उसने विकार को, कर्मरस की प्रतिक्रिया को अपना न मानकर केवल ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप को ही अपना तत्त्व समझा है। वह प्रसन्न रहता है। तो यह जीव मोक्षके निमित्त अपने आत्मस्वभावका एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता, भीतर में प्रोग्राम भी नहीं बना रखा कि मेरा वास्तविक कार्य तो अपने सत्यस्वरूप का अनुभव करना है। मैं यह हूँ, यह उपयोग जब बाह्य पदार्थों में जाया करता है तो उस समय की स्थिति अनमिल रहती है याने ज्ञेय में ज्ञान अब नहीं बैठ सकता और यह अज्ञानी जीव फिट बैठालने की बेहद कोशिश करता है क्या बात? ज्ञान को ज्ञेय में फिट बैठालने के लिए, मगर वस्तु का स्वभाव ही नहीं है ऐसा कि कोई द्रव्य पर में मिल सके। कितने ही निमित्त हो, पर प्रत्येक पदार्थ अपने में अपने से अपने ही ढंग से परिणमता है, उसमें दूसरा कुछ भी हेर फेर नहीं कर पाता। जो उस अंतस्तत्त्व को जान ले वह इन सब समस्याओं का समाधान आसानी से कर सकता है। एक कला आ तो जाय यह।

**ज्ञानप्रकाश जाग जाने पर समस्या का सहज समाधान**— बुन्देलखण्ड की एक घटना है अंग्रेजी राज्य की कि वहाँ कोई राजा गुजर गया, उसके एक छोटी उमर का लड़का था, सो राजा के मरे के बाद सरकार ने उस राजा की सारी जमीन कोर्ट कर लिया। कुछ दिन तक यों ही चलता रहा। जब वह बालक 18-19 वर्ष का सयाना हो गया तो राजमाता ने सरकार को नोटिस दिया कि मेरा बालक अब सयाना हो गया है, उसके पिता का राज्य अब उस बालक को दे दिया जाय। तो सरकारी बड़े साहब ने राजमाता को यह खबर दिया कि पहले तुम्हारे बालक की बुद्धिमानी की परीक्षा होगी। यदि वह परीक्षा में सफल हो गया तो उसे राज्य पद अवश्य दे दिया जायगा। तो राजमाता ने उस बेटे को दसों बातें अच्छी प्रकार सिखा दिया—बेटा, यदि साहब तुमसे यों पूछें तो यों उत्तर देना, यों पूछे तो यों उत्तर देना, पर वहाँ वह बालक बोल उठा और माँ यदि उस साहब ने इन दसों बातों में से एक भी बात न पूछा, कुछ और ही बात पूछा तो फिर उसका क्या उत्तर देंगे? तो राजमाता उस बेटे की तर्कणा भरी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोली—बेटे जब तुम इतना तर्क उठा सकते तो मैं अब समझ गई कि तुम जरूर सही सही उत्तर देकर आवोगे। आखिर जब वह राजकुमार पहुँचा साहब के पास बुद्धिमानी की परीक्षा देने हुत तो पूछा तो कुछ नहीं। बस उसके दोनों हाथ तेजी से पकड़ लिया और कहा—हे राजकुमार अब तू मेरे आधीन बन गया, बोल तेरी रक्षा अब कैसे हो सकती? तो वहाँ राजकुमार बोला—साहब अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया, अब मुझे क्या फिकर रही? कैसे पूर्ण रक्षित हो गया? ....अच्छा सुनो देखो जब शादी ब्याह में कन्या की भांवर पड़ती है तो जिसका

सम्बंध उसके साथ होना है वह उस कन्या का एक हाथ पकड़ता है, तो उस एक हाथ के पकड़ने के फल में वह उस कन्या की जिन्दगी भर रक्षा करता है और फिर आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए, फिर मुझे क्या फिकर? मैं तो अब अपने को पूर्णरक्षित समझता हूँ, इस प्रकार का मार्मिक उत्तर सुनकर वह साहब दंग रह गया और उस राजकुमार को उसका राज्य पद दे दिया। तो जैसे उस राजकुमार को सही-सही उत्तर देने के लिए कुछ सिखाना नहीं पड़ा इसी प्रकार जिस ज्ञानी में अपने सहज स्वभाव के दर्शन की कला आ जाय तो उसे मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए कुछ सिखाना नहीं पड़ता। वह सभी प्रकार की समस्याओं को अपने आप सुलझाता रहता है।

**अज्ञान में आत्मानुरूप चिन्तन की असंभवता**— कोई अपने स्वभाव को परखने वाला नहीं और रूढ़िवाद से व्रत तप आदि में लग गया तो उसे जरा जरा सी बात में पूछना पड़ता है कि कैसे क्या करें? और तिस पर भी वह दृष्टि और कला नहीं आ पाती जिससे कि कर्म खिरते हैं। तो यह अज्ञानी जीव अपने आत्मस्वभाव का एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता और केवल रातदिन पाप का ही चिन्तन करता रहता है। तन, मन, धन, वचन मोह राग द्वेष पाप में ही प्रवर्तता रहता है और निज आत्मतत्त्व का उसे चिन्तन नहीं हो पाता और जिसको रुचि है कल्याण की, हित की, वह सब अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की ओर आता है। तो अज्ञानी जीव इन विषय कषायों की ही चर्चा करता है, उनका ही चिन्तन करता है, वह आत्मस्वभाव को क्षण मात्र भी अपने ध्यान में नहीं रख पाता। यह गल्ती बतलायी जा रही है। उसमें यह अनुरोध पड़ा है कि इस गल्ती को दूर करें और एक साहस बनावें कि जो बाहर गुजरे सो गुजरे, मुझे तो अपने आत्मस्वभाव की ही उपासना बनाना है। मेरा तो सिद्ध भगवान होने का प्रोग्राम है, चाहे कितना ही समय लगे, दूसरी बात चित्त में नहीं है।

**मिच्छामइ मयमोहासवमत्तो बोलए जहा भुल्लो ।**

**तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्भभावाणं ।।47।।**

**मिथ्याबुद्धि में अपनी भूल**— जिनकी बुद्धि मिथ्या है याने पर वस्तु व अपने को एक मानता है अर्थात् दो पदार्थों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व जिनके ध्यान में नहीं है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, अन्य से नहीं। यह विवेक न होकर एक का दूसरे से कुछ संबंध मानते हैं, अपना जगत में कुछ समझते हैं, ऐसी मिथ्याबुद्धि वाले पुरुष मद और मोहाश्रव में उन्मत्त हो रहे हैं। वैभव मिला तो उसका भी एक मद किया। मैं इतना वैभववान हूँ, रूप मिला, बल मिला उसका अभिमान आ गया। मेरा ऐसा सुन्दर रूप है। मुझ में इतना बल है। मैं ऐसी कला जानता हूँ इस प्रकार नाना तरह से अपने बारे में जिनकी मिथ्याबुद्धि है वे मदोन्मत्त होते हैं और आश्रव उनके होता रहता है। ऐसे पुरुष अपने को भूल जाते हैं और यथा तथा बोला करते हैं। अधिक बोलना भी पापाश्रव का हेतु बताया है, मन, वचन, काय की व्यर्थ क्रियायें करते हैं। पापाश्रवका कारण है और फिर यथा तथा ये मिथ्याबुद्धि वाले बोलते रहते हैं। जैसा समझते हैं ये विनोद, मौज, गैर जिम्मेदारी से केवल अपने आपके दिल को प्रसन्न रखने के लिए जैसा चाहे बोलते हैं, और यह मेरा है। यह मेरा है इस तरह बोलना ही क्या, भीतर में श्रद्धा भी रखता है, पर संसार, शरीर भोगों से विरक्ति आये, ऐसी बुद्धि नहीं बनती, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में इस प्रकार का परिणमन होता है।

**मनुष्यभव के सदुपयोग का चिन्तन**— यह मनुष्यभव पाया है तो कुछ चिन्तन यह करना चाहिए कि क्या इसही भव में रहना है, आगे भी तो जन्म होगा, फिर क्या दशा होगी? कैसे जन्म होगा, इसका भी तो कुछ ख्याल करना चाहिए। जो अपने आप को सुखी



नहीं रखना चाहता भविष्य में, वर्तमान में तो ऐसी कोई जरूर मिथ्या बुद्धि उपजी है कि यथा तथा प्रवृत्ति में अपना मौज माने। 5 इन्द्रिय के विषय के भोगों में अपने को सुखी अनुभव करता है, मेरे पास खूब मौज है। खूब परिवार है, खूब वैभव है, इस तरह की दृष्टि यह पाप का कारण बनता है। कहाँ तो यह चाहिये था कि जो परिग्रह मिला है, संग मिला है उससे उपेक्षा होना चाहिये था कि ये मेरे से जुदा चीजें हैं। इनका मेरा क्या साथ, क्या संबंध? क्या पूर्वभव से आया है। क्या आगेभव में जायगा, ये सब मुझसे भिन्न हैं, पर गृहस्थावस्था में हैं अतएव कुछ सम्हालना होता है, व्यवस्था करना होता है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि इन पदार्थों में उसका कुछ लगता है। मिथ्याबुद्धि में जैसा चाहे बोल जाते हैं। सारा विश्व मेरा है, यह घर मेरा, यह मेरी इज्जत है, यह मेरा यश है, यों अपनी अपनी प्रशंसा में चित्र बना रहता है और निन्दा से घबड़ाहट होती है। निन्दा में घबड़ाहट होना और प्रशंसा में चित्त रम जाना ये दोनों एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। जिसको निन्दा बुरी लगती है उसका अर्थ है कि इसको प्रशंसा भली लगती है। हाँ अपने आपको अनुचित काम न होना चाहिए। जो संसार की परिपाटी बढ़ाये, जो मोह कर्म को बढ़ाये, ऐसी अपनी वृत्ति न होनी चाहिए। अपने लिए अपनी ईमानदारी चाहिए और उस ही सच्चाई के साथ बर्ताव, फिर जहान में क्या होता है वह सब जीवों का परिणमन है कोई जीव कुछ बुरा बोलता है तो यह उसकी कषाय का परिणमन है, कोई यदि प्रशंसा कर रहा है तो यह भी उनकी कषाय कहो अथवा गुणानुराग कहो, उसको परिणमन है। मद और मोह इन दोनों आश्रवों से जो रहित है वह पुरुष अपने आपके तथ्य को जान सकता है। मनुष्य भव पाने की एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी समझना चाहिए कि मुझको यहाँ करना है सब कुछ, जिससे कि मेरा भविष्य सुधरे। अपने विषयों के साधन, अपनी मूर्छा यह ही जिनको सुहाती है वे पुरुष अपने को भूले हुए हैं। और वे आत्मा को भी नहीं जानते। और सिद्ध के स्वरूपको भी नहीं जानते। समताभावको भी नहीं जानते।

### **आत्महित के लिये आत्मस्वरूप व भ्रान्तिस्वरूप दोनों के ज्ञान की**

**आवश्यकता—** आत्मस्वरूप और शान्तिभाव दोनों का ज्ञान करना अति आवश्यक है। मेरा स्वरूप क्या और शान्ति का स्वरूप क्या। यद्यपि आत्मस्वरूप जानने में सब कुछ आ गया फिर भी भेदविवक्षासे इन दोनों बातों का निर्णय होना ही चाहिए। मेरा स्वरूप क्या? मेरा पहिचाननहार दूसरा न कोई। मैं वह अमूर्त दर्शन ज्ञानमय अंतस्तत्त्व हूँ कि जो यथावत् मेरा स्वरूप है उस स्वरूप का यहाँ कोई पहिचाननहार नहीं। हाँ वह पहिचाननहार हो सकता है जिसने अपने स्वरूप की भी पहिचान की। ऐसे आत्मतत्त्व को यह मिथ्याबुद्धि वाला भूला हुआ है। और वह आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जानता। समताभाव अथवा शुद्ध स्वरूप उसको भी नहीं जानता। जिसको कुछ देना हो तो दो बातें तो उसको देखना ही चाहिए। जिसको देना है वह और जो दिया जाना है वह। इन दो बातों का तो पचिय होता ही है जो किसी को कुछ दें। तो ऐसे ही अपने आत्मा को शान्ति देना है तो एक तो आत्मा का परिचय करें कि मैं वास्तव में क्या हूँ और उस शान्त स्वरूप का परिचय करें कि वह शान्त स्वरूप क्या कहलाता है। जगत की ओर देखें, आँखें खोलकर देखें तो अपने आप की ओर से गया, अपने आप की ओर देखा तो जगत से गया। यद्यपि किसी स्थिति में दोनों ही बातें, दोनों ही धारायें चलती हैं। कर्मधारा और ज्ञानधारा, लेकिन अंत में ज्ञानधारा ही शेष रहती है, कर्मधारा समाप्त होती है। एक उपेक्षा से रहना और एक आशक्ति से रहना, दोनों में अन्तर है। लालिमा सुबह भी है और शाम को भी। सुबह की लालिमा तेजी को लेकर है और शाम की लालिमा मिटने के लिए है। शाम की लालिमा जैसा राग होता है ज्ञानी के जिसने अपने आत्मा के स्वरूप का दर्शन किया—मैं हूँ सहज ज्ञान स्वरूप और अनुभव बने,

अनुभव का परिचय होता है आनन्द से। जिसने अलौकिक सहज आनन्द पा लिया है उस पुरुष को बाहर में आनन्द कैसे आ सकता है? तो उस आनन्द से अपरिचित जो पुरुष हैं वे बाहरी पदार्थों के विषय में जो चाहे बोलते हैं। वे आत्मा को नहीं जानते, अपने समता स्वरूप को भी नहीं जानते। यह है मूढमती अज्ञानियों की स्थिति, जिसका परिणाम है संसार में भ्रमण करना।

**पुव्वट्ठयं खवइ कम्मं पविसुदु णो देइ अहिणवं कम्मं।**

**इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ।।48।।**

**अविकार आत्म स्वरूप की आराधना में मोह का प्रक्षय—** जब मोहनीय कर्म प्रबल रहता है उस समय की क्या स्थिति होती है, उसका वर्णन इससे पूर्व गाथा में आया था। और, जब मोहनीय का उपशम होता है तब क्या स्थिति होती है यह वर्णन इस गाथा में चलेगा। उपशमभाव, यहाँ उपशम का अर्थ सामान्यतया दूर होने में लिया गया है। कहीं मोह को दबाकर रखना, ऐसे उपशम की यहाँ चर्चा नहीं है। सिद्धान्त में कहे गए उपशम की बात यहाँ नहीं कह रहे किन्तु नीति में, रूढ़ि में उपशम शब्द कहा जाता है उससे हट जाने को, शान्त हो गया, दूर हो गया। तो जिसने मोह का उपशम किया है वह पूर्वबद्ध कर्म का क्षय करता है। कर्म का क्षय जानकर नहीं किया जाता कि यह कर्म है, मुझे इसका विनाश करना चाहिए। ऐसी दृष्टि रखकर जतो चलेगा उसके कर्म नष्ट नहीं होते, और बँधते हैं, क्योंकि मोहकर्म दूर होने का एक ही तंत्र है। कर्म आने का जो द्वार है मोहराग द्वेष जोकि विकार है, उससे विविक्त अपने सहज सत्त्व में जो कुछ है उस रूप अपने को मानने लगना। जैसे लोक में एक बात कही जाती कि “बड़ी मार करतार की, दिल से दिया उतार”। घरों में बहुत से लोग होते हैं, उनमें जो मुखिया है उसे अगर घर के किसी की बात नहीं सुहाती, परिजन की बात नहीं सुहाती तो वह उन सबसे मुख मोड़ता है, उनसे प्रीति नहीं दिखाता तो वे लोग अपने को ऐसा अनुभवते हैं कि “बड़ी मार करतार की, दिल से दिया उतार। अपने घर में आये हुए इन कर्मों को भी, कर्म सदा के लिए दूर करना है और यह जंच गया है कि कर्मों का बंधन इस जीव के लिए कष्ट है। तो बड़ी मार करतार की, दिल से दिया उतार। तो उस कर्म पर द्रव्य को उस कर्म पर द्रव्य का निमित्त पाकर होने वाले प्रतिफलन विकार को दिल से उतार दीजिये—वे मेरे नहीं है। मैं उनसे निराला ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अन्तर अनुभव जाय तो मोह तड़ातड़ टूटेगा, कर्म की बेड़ियाँ टूट जायेंगी।

**कर्मापशमन में यथोचित विशुद्धि की कारणता—**भैया करने का काम एक यह ही है कि हम अपने सहज ज्ञानस्वरूप में अपना अनुभव करें, और ऐसा करने के लिए पात्रता चाहिए। वह पात्रता है सदाचार, जिसको दुराचार प्रिय है, जो दुराचार की भावना में रह रहा है उसे इस भगवान आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि उसका उपयोग, उसकी धुन तो खोटे कार्यों के लिए है। वहाँ मोक्षमार्ग का प्रकाश कैसे आ सकता? इसी कारण यह बताया गया है कि सप्तव्यसन का त्याग कर अष्ट मूलगुणों का पालन करें। कोई सप्त व्यसन को त्यागे हुए हो दिल से कि उन व्यसनों के बाबत भावना ही न जगे तो उसको पवित्रता आती है और यह सम्यक्त्व का पात्र होता है, एक समस्या सामने होती है कि परिणाम शुद्ध बनें तो कर्मों का विनाश हो और कर्मों का विनाश बने तो परिणाम शुद्ध हों। यह तो एक इस तरह की समस्या बन गई कि जैसे जो बिना चाभी के ताला बंद हो जाते उनमें से कोई ताला की चाभी तो रख दी गई ट्रंक के अन्दर और बाहर से ताला मार दिया गया, तो देखिये वहाँ यह समस्या आ गई कि ताला खुले तो चाभी निकले और चाभी निकले तो ताला खुले। ठीक ऐसी ही समस्या यहाँ बन गई कि कर्मों का विनाश हो तो हमारा मोह भी उपशान्त हो जाय और मोह अगर उपशान्त हो तो कर्मों का विनाश हो।

ऐसी स्थिति उसमें भी नहीं बन सकती। न कर्म का नाश बन सकता, न मोह का उपशम। तो क्या ऐसा ही है कि कोई कार्य न बनेगा? ऐसा नहीं है। जिन जीवों को मन मिला है और वे थोड़ा बहुत स्वाध्याय कर सकते हैं, बुद्धि मिली है, ज्ञान भी मिला है तो वे पुरुषार्थ पूर्वक स्वाध्याय ध्यान चर्चा, उसी ओर उमंग दृष्टि यह कार्य बने तो यह कार्य जैसे बनता है तो उसका निमित्त पाकर सम्यक्त्व घातक प्रकृतियों का बल क्षीण होता है। अंतःकरण हो, उनका उपशम हो। तो इस अभ्यास से तो उन प्रकृतियों का बल क्षीण हुआ और इस तरह की धारा बनी रहे तो कर्मों का बल क्षीण हो होकर उपशान्त हो जाता है और यह ही उपशांत हुआ कि फिर विशुद्धकरण बन जाता है। तो यहाँ शिक्षा यह लेना है कि अपने को तो पौरुष करना है, आत्मा की बात जानें, आत्मा का ध्यान करें, आत्मा की दृष्टि बनावें, अभ्यास इस अंतस्तत्त्व का बने तो कर्मों का बल क्षीण होता जाता है। अपनी दृष्टि एक ही रहनी चाहिए कि मेरी दृष्टि में मेरा सहज स्वरूप बना रहे कि मैं यह हूँ।

**आत्मविस्मरण में आकुलता होने की प्राकृतिकता**—जो अपने को भूला है वह आकुलित होता है। एक बाबूजी अपनी चीज सामान की व्यवस्था बनाने में बड़े कुशल थे। उनेक घर पर ही उनका आफिस था। एक दिन की बात है कि वह अपनी व्यवस्था बना रहे थे, सभी चीजों को ढंग से रखते जाते थे जैसे छाते की जगह छाता, टोपी की जगह टोपी, कोट की जगह कोट, घड़ी की जगह घड़ी, जूतों की जगह जूजे, और उस जगह उस चीज का नाम भी लिखते जाते थे। धीरे-धीरे उसी प्रसंग में रात्रि के 10 बज गए। थकावट विशेष आ जाने से खाट में लेट गए, तो खाट में लेटते समय खाट के पाये में लिख दिया मैं, याने यहाँ मैं धरा। और सो गए। जब प्रातः काल हुआ और बाबूजी सोकर जगे तो देखने लगे कि मेरी सब व्यवस्था सही है या नहीं। छाते की जगह छाता, ओ० एस० ड़्खीक, दवात की जगह दवात, जूते की जगह जूते, बिल्कुल ठीक, छड़ी की जगह छड़ी, कोट की जगह कोट, टोपी की जगह टोपी, ओ० यस० बिल्कुल ठीक। और, जब देखा के पलंग की पाटी पर लिखा है 'मैं' तो उस मैं को खोजने लगा, यह मैं कहाँ धरा है? लिखा हुआ तो बराबर ही सो वह घबड़ा गया कि और सभी चीजें तो ज्यों की त्यों मिल गई पर यह मैं कहाँ गुम गया। पलंग के छेदों में देखा, नीचे देखा, कहीं चिपका तो नहीं है। पर जब वह 'मैं' कहीं न मिला तो बाबूजी बहुत घबड़ाये और अपने पुराने नौकर को पुकारा—अरे मनुआ ओ मनुआ यहाँ आना। मनुआ (आकर) क्या है बाबूजी, क्या हुक्म है? ...अरे देखो कहीं मेरा मैं गुम गया। ...इस तरह की पागलों जैसी गड़बड़ बात सुनकर उस नौकर को हँसी आ गई। बाबूजी (नौकर को हँसते देखकर) अरे यहाँ तो बड़ा गजब हो गया, तुझे हँसने की पड़ी है। वह नौकर पुराना था, अनुभवी था, सब बात समझ गया कि बाबू जी क्यों ऐसा अटपट बोल रहे? तो नौकर बोला—बाबू जी धैर्य धरो, आप थके हुए हैं, आराम से लेट जाइये। आप विश्वास कीजिए, मैं आपका "मैं" अवश्य खोज दूँगा। बाबू जी को उस नौकर पर बड़ा विश्वास तो था ही, सो उसकी बात पर विश्वास करके आराम से खाट पर लेट गया। जब अपने शरीर पर विश्राम से हाथ फेरा तो वह नौकर बोल उठा—अब देख लीजिए बाबू जी, आप स्वयं खाट पर लेटे हैं तो आपका मैं मिल गया ना? तो बाबूजी को उस 'मैं' का याद आ गया, अरे इस खाट पर मैं धरा, पड़ा था सो मैं लिखा था, ओ० यस० मेरा मैं मुझे मिल गया। तो देखिये इस कथानक में बाबूजी की पागलों जैसी बात सुनकर आप लोगों को हँसी आ रही होगी, पर जरा अपने आपके संबंध में विचारों, उन बाबू जी जैसी हालत बन रही है या नहीं। आपका मैं आपसे गुम चुका है तभी तो बाह्य पदार्थों में सुख ढूँढते फिर रहे हैं। सुख का ही तो नाम है मैं, ज्ञान का ही तो नाम है मैं, फिर बाहरी पदार्थों में सुख और ज्ञान क्यों प्रवर्ते? इसका मतलब है कि मेरा

मैं मेरी दृष्टि में नहीं है इसलिए यह श्रद्धा बनाये फिर रहे कि मेरे को सुख बाह्य वस्तु से मिलगा, मेरा ज्ञान कोई दूसरा दे देगा।

**आत्मोपासना बिना सर्वज्ञता की प्राप्ति की असंभवता**—सीखने से ज्ञान कोई कितना बढ़ा लेगा? मान लो कोई 10-15 साल पढ़कर बी० ए०, एम० ए० हो गया तो क्या उसने सब जान लिया? सीखते सीखते कोई कितना जान सकता है, सो तो बताओ। क्या कोई समस्त विश्व को सीख सी, कर अभ्यास करके, प्रयत्न करके, जान जानकर सारे विश्व को जान लेगा? नहीं जान पायगा। और, कोई एक व्यक्ति जिसको अपने असलियत का पता है और समस्त बाह्य पदार्थों की असारता का परिचय है वह सबसे उपेक्षा करके अपने ही ज्ञानस्वरूप की भावना में लग जाय, नहीं पढ़ा लिखा है वह अधिक, मगर अपनी चीज अपने को दिख जाय, यह तो मन वाले कर सकते हैं। संजी जीव कर सकते हैं। तो ऐसा ही कोई करे कि अपने ही ज्ञान को अपने ही ज्ञानस्वरूप में अपने ही ज्ञान से देखें और उसमें एक तान हो जाय, यह स्थिति अगर बना सके कोई तो उसको होता है केवलज्ञान। केवलज्ञान एक-एक बात सीख सीख करके नहीं पाया जा सकता, शिक्षा के बल पर कि किसी ने दो पदार्थों को जाना, अब तीन को जान लिया, अब चार को जान लिया, ऐसा एक-एक से बढ़-बढ़कर मैं सारे विश्व को जान लूँ, इस तरह ज्ञान नहीं बढ़ता, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की उपासना के कारण यह ज्ञान अमर्याद एकदम बढ़ जाता है।

**सहज स्वरूप की आराधना के बल से कर्मनिर्जरण व कर्मसर्वर**—जिसने अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना की उसके पूर्वबद्ध कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं और नवीन कर्म प्रवेश के लिए नहीं आने पाते। अर्थात् सम्बर और निर्जरा ये दोनों होते हैं। जैसे नाव में पानी भर गया छेद होने से तो नाविक पहले छेद को बंद करता है, फिर पानी उलीचता है। अगर छेद पहले बंद न करे और पानी उलीचता रहे तो उससे पानी का आना बंद नहीं होता और अगर छिद्र बंद कर दिया जाय और फिर पानी उलीचा जाय तो धीरे धीरे वह नाव के अन्दर आया हुआ सारा पानी खत्म हो जाता है। तो पहला काम है यह कि पहले छिद्र को बंद करें, ताकि नया पानी उसमें न आये। फिर आये हुए उस पानी को फेंक दें तो उसके अन्दर का सारा पानी खत्म हो जाता है, ऐसे ही मित्यात्व पाप कषाय योग क्रिया, मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ, ये हैं छिद्र और इन छिद्रों के आश्रय से नवीन कर्मों का आना होता है। अब यदि किसी अज्ञानी को आत्मा का तो निर्णय है नहीं किन्तु बाहरी तप बहुत करे तो चूँकि उससे कहीं पाप कर्म खिरते तो नहीं है फिर भी कुछ न कुछ फर्क तो आ ही जाता है। मान लो थोड़े बहुत कर्म खिरे और आ रहे हैं उससे अनन्तगुने कर्म तो इससे उसका क्या लाभ? तो पहले कर्मों के आने का द्वार रोका जाय वही कहलाता है सम्बर और कर्मों को हटाया लाय, यह कहलाती है निर्जरा तो ऐसा यह ज्ञान स्वरूप कर्म की निर्जरा कराता, नवीन कर्मों को नहीं आने देता और इहलोक व परलोक में अपना माहात्म्य प्रकट करता है।

**अज्जवसप्पिणि भरहे पउरारुद्धट्ठज्जाणचादिट्ठा।**

**पाठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्हणीलकारुदा।।49।।**

**अवसर्पिणि पञ्चमकाल में भारत क्षेत्र में रौद्रध्यानी व आर्तध्यानी लोगों की प्रचुरता**—आज अवसर्पिणी काल में इस भरत क्षेत्र में ऐसे लोग अधिकतर देखे जाते हैं कि जो रौद्रध्यानी और आर्तध्यानी हैं। आर्त कहते हैं क्रीड़ा के प्रसंग में जो ध्यान बनता है उसे कहते हैं आर्तध्यान। किसी को इष्ट का वियोग हुआ तो उसमें उस इष्ट की बारबार याद करना और उससे मिलने की भावना करना और उस ही स्मरण में दुःखी होना यह

आर्तध्यान हौ किसी अनिष्ट पदार्थ का संयोग हो जाय, अपने को न रुचे तो उस संयोग में दुःखी रहना और वियोग हो जाय तो उस इष्ट वस्तु का ध्यान बनाये रहना, शारीरिक पीड़ा हो जाय तो उसमें वेदना का अनुभव बने और नाना प्रकार की आशायें बढ़ाकर अपने को आकुलित रखना, मैं परभव में धनिक बनूँ, देव बनूँ राजा बनूँ आदिक वासनायें बनाना ये सारे आर्तध्यान कहलाते हैं, तो इनकी प्रवृत्ति आजकल बहुत देखी जाती है। रौद्रध्यान क्या है कि कोई हिंसा करता हो तो उसमें मौज मानना, खुद हिंसा करे उसमें मौज मानना, दूसरे ने हिंसा की तो उसमें अनुमोदना करना ऐसा मौज मानने को रौद्रध्यान कहते हैं। आशय क्रूर है और उसमें वह सुख मान रहा है। झूठ बोलने में आनन्द मानना, झूठ बोलने का प्रसंग बनाये, यह सब रौद्र ध्यान हैं। चोरी करने में आनन्द मानना, नाना प्रकार के विषयों की रक्षा करने में, परिग्रहों के जोड़ने में आनन्द मानना यह सब रौद्र ध्यान हैं। आज इस पंचम काल में आर्तध्यान और रौद्रध्यान का बहुत जोर है।

**प्राचीनकाल व साम्प्रतिक काल में अन्तर—** जैसा कि पुराणों में सुनते आये कि किसी भी समय किसी राजा को वैराग्य हुआ तो सब राज्य पाट छोड़ने में उसे देर न लगती थी, ऐसी अनेकों घटनायें हो जाती थीं, लेकिन आज इस समय में ऐसा वैराग्य कहाँ दिख रहा जो अन्दर से ही आत्महित की भावना से हो। और, यह बात वहाँ मालूम पड़ती है जब कि कोई विद्वान या धनी त्यागी होता हो, साधु होता हो तो वहाँ परिचय होता है कि इसके अवश्य वैराग्य होगा, अन्यथा इतने बड़े धन वैभव को छोड़कर न आता। इसी प्रकार पढ़े लिखे पंडित व्यक्ति जो हर तरह से अपनी बुद्धि से अनुभव कर रहे हों। कोई वैराग्य ही हुआ अन्यथा यह न आता। यद्यपि यह नियम नहीं है कि कोई गरीब या कम पड़ा लिखा व्यक्ति त्याग मार्ग में आये तो वह कोई ढंग का न होगा, ऐसा कोई नियम नहीं बना रहे मगर प्रायः करके इन दो बातों में सत्यता अधिक विदित होती हैं। आज यह परम्परा नहीं है, न ही ऐसा वैराग्य है। वृद्धावस्था हो जाती है तो भी अपने हाथ से तिजोरी की चाभी नहीं देता। अपने नाम से जायदाद हो तो वह जिन्दा में नहीं छोड़ सकता। आजकल कहाँ वह वैराग्य है जो कि पहले था, बल्कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान का जोर है। यही तो पंचम काल कहलाता है कि जहाँ खोटे ध्यान का प्रभाव अधिक रहे और अच्छे ध्यानों का समागम न मिले पाये या विरक्त रहे यही तो यह पंचमकाल है। तो यहाँ आर्तध्यान, रौद्रध्यान वाले बहुत देखे जाते हैं।

**नष्ट दुष्ट कष्ट पापिष्ठजनों की पंचमकाल में बहुलता—** दुष्ट अभिप्राय के लोग जिनमें द्वेष भरा हुआ है, क्या क्या कपट, क्या क्या सोचना, सारे विश्व को पालूँ ऐसी भावना वासना रहा करती है। सब पर मैं अपना शासन जमाऊँ, मैं सब में उच्च कहलाऊँ आदिक अनेक वासनायें बनती हैं। इस पंचम काल में ऐसे भाव वाले बहुत हैं जिनके पापों में ही चित्त बसा रहता है। व्यसन छोड़े नहीं जाते और उच्च कुल में उत्पन्न होकर भी मदिरापन बीड़ी सिगरेट तो मामूली सी चीजें हैं। दुराचार की ओर प्रगति रहती है ऐसा यह काल है आजकल यह बड़े खेद की बात है कि उच्च कुल में उत्पन्न हुए लोग भी अथवा जैन कुल में उत्पन्न हुए भी आज लोग बताते हैं कि मद्यपाइयों की संख्या कई परसेन्ट हो चुकी है, आज बालक या जवान बुजुर्गों के कहने में नहीं रहे, सब अपनी-अपनी स्वच्छंदता में लगे हुए हैं। कोई नियंत्रण, सामाजिक बंधन या धर्म की श्रद्धावश दुराचार से बचे ये बातें आज प्रायः लुप्त हो रही हैं और ऐसी स्थिति है तो उसका परिणाम स्पष्ट है कि बस पतन की ओर ही समाज या संग है। पंचमकाल में ऐसे खोटे ध्यान के लिए बड़ा भाव रहा करता है। जिस किसी को आत्महित की इच्छा हो उसको अपना जीवन सात्विक रखना चाहिए, मायने जो खोटी चीजे हैं मदिरा सिगरेट वगैरह इनसे बचकर रहना चाहिए क्योंकि उनसे

बचकर रहने में स्वास्थ्य का लाभ है। बुद्धि काम करती है, और वह आत्मा के ज्ञान का पात्र है, सो भले ही विरले लोग हैं पर हैं आज भी कि जो अपने आत्महित की साधना में लगे हुए हैं। पर बहुत संख्या तो आर्तध्यानी, रौद्रध्यानी, कष्ट में पड़े हुए, नष्ट से हो रहे, पापों में जिनका चित्त रम रहा, ऐसे पुरुष अधिक हैं।

**पंचम काल में कृष्ण नील कापोत लेश्यावालों की बहुलता—** कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, और कापोत लेश्या इनका अधिक आदर है लोगों के चित्त में। ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं कहलाती हैं। एकेन्द्रिय हों, दो इन्द्रिय हों तो विवशता कही जाय कि क्या कहा जाय, ये जीव संजी नहीं हैं, ये शुभ लेश्या कर ही नहीं सकते हैं। जिनके मन है, उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं वे अपनी शुभ लेश्याओं में न आयें, और इतने से कुछ नहीं बनता, सम्यक् अध्ययन में स्वाध्याय में न आयें, ज्ञानसाधना में न आयें तो इस मनुष्य जीवन को पाने का कोई अर्थ नहीं है, कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं जो प्रचंड क्रोधी हो, जो एक दूसरे से वैर बाँधे, दुश्मनी न छोड़े, भंड वचन बोले, दुष्ट स्वभाव हो, दया धर्म उसके चित्त में नहीं है, विषयों की आशक्ति है, ये सारी बातें खोटी लेश्यावालों में होती हैं। नील लेश्या में आये तो वहाँ भी खोटे ही भाव हैं। विषयों से प्रीति, परिग्रह की बुद्धि, ये सारी बातें वहाँ आती हैं। कापोत लेश्या में हो तो अपनी कीर्ति के लिए सब कुछ करना, प्रशंसा में खुश होना आदिक बातें वहाँ भी रहती हैं ऐसे स्वभाव वाले इस काल में प्रचुर हैं।

**अज्जवसप्पिणी भरहे पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा।**

**सम्मत पुव्वसायारणयारा दुल्लहा होति।।50।।**

**पञ्चमकाल में मिथ्यामतियों की सुलभता व सम्यग्दृष्टि श्रावक व मुनियों की दुर्लभता—** यहाँ दुर्लभता की बात बतला रहे हैं कि इस पंचम काल में मिथ्यादृष्टि जीव तो सुलभ हैं पर सम्यग्दृष्टि मुनि हों अथवा गृहस्थ हों, वे रिले हैं, दुर्लभ हैं। जब तक अपने आत्मा के सहज स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक धर्म का प्रारम्भ नहीं है। धर्मका नाम लेकर धर्म करने वाले भी बहुत मिलेंगे। पर्व आया तो सारा समय देना और पर्व खतम हुआ तो कुछ भी समय न देना। बताओ ये धर्मरुचि के लक्षण हैं क्या? जिसको धर्म से रुचि है उसे म्याद नहीं पड़ी है कि इन 10 दिनों में मैं खूब धर्म करूँ और बाकी समय तो छुट्टी है। धर्मरुचि वाले के चित्त में रोज रोज ही प्रभु का स्मरण, आत्मस्वरूप का ध्यान जो जो भी स्वाध्याय आदिक धर्म के साधन हैं, कभी कम हुए कभी अधिक हुए, ये तो होते मगर धर्म प्रेमी के धर्म साधना बारहों महीने ही चलती है। और फिर आत्मा के सहज स्वरूप के ज्ञान बिना धर्म का प्रारम्भ ही नहीं है। भले ही धर्म के लिए बड़ी उमंग करे, बड़े समारोह करे, तो उनमें मनका ही बहलावा हुआ। मगर जिसे कहते हैं मुक्ति का रास्ता, संसार के संकटों से छूटने का उपाय वह अणु मात्र भी नहीं बनता जिसको आत्मा के सहज स्वरूप की सुध नहीं है। यह कितने महत्त्व की चीज है। अपने आत्मा का सही परिचय पाना, इस यथार्थ परिचय का साधन है ज्ञान उत्पन्न करना। ज्ञान के साधन सुहाना, ज्ञान की बात सुहाना। ज्ञान के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देना। इतना अन्दर में उत्साह है तो वह भव्य संसार समुद्र से पार हो सकने वाला है।

**अकलंक निकलंक देव का बाल्य काल से ही ज्ञान प्रभावना का पौरुष—** अकलंक निकलंक देव हुए उन्होंने बचपन में ही ब्रह्मचर्य धारण किया, ज्ञान के लिए सब तरह के प्रयत्न किया। वे जानते थे और उस समय में लोगों को सन्मार्ग पर लाना था, दुर्भावनाओं से लोगों को हटाना था। और घटना भी हुई ऐसी कि जब वे बौद्धशाला में पढ़ रहे थे तो वहाँ अचानक ही उनके गुरु जो दर्शनशास्त्र पढ़ा रहे थे, वहाँ स्याद्वाद का एक

प्रकरण आया। उस प्रकरण में कोई शब्द अशुद्ध था जिसकी वजह से अर्थ नहीं लग रहा था, तो वह गुरु उस पुस्तक को बंद करके कक्षा से बाहर चला गया। मौका पाकर अकलंक निकलंक ने उस पुस्तक में वह शब्द सुधार दिया। दूसरे दिन फिर वह गुरु आया, उस प्रकरण को देखा तो उसमें वह शब्द सुधरा हुआ था। यह सुधार की सूझ गुरु के दिमाग में भी न थी और अकलंक निकलंक बच्चों के चित्त में थी। अकलंक तो एक बार ही पाठ को पढ़ ले या सुन लें तो याद हो जाय और निकलंक दो बार सुन लें तो याद हो जाय। तो गुरु को वह घटना देखकर संदेह हुआ कि हमारी इस पाठशाला में कोई कुशाग्रबुद्धि वाला जैन बालक रहता है। उस समय बौद्धों का इतना जोर था कि जैन का नाम सुन लें तो उसको जेल में रख दें। मानो धर्म का मीसा चल रहा था, उसको प्राणदंड दे दिया जाता था। तो गुरु ने परीक्षा करने के लिए अनेक उपाय किए।

**अकलंक निकलंक का परीक्षण व उपद्रवग्रस्तपना**—जैन को पकड़ने के लिये एक उपाय तो यह किया कि एक जिनेन्द्र देव का प्रतिबिम्ब लाया गया और सब लड़कों से कहा कि इस प्रतिमा को उल्लंघ जावो। तो अन्य सभी लड़कों को उसके लाँघने में कोई दिक्कत ही न थी। दिक्कत तो अकलंक निकलंक के सामने थी। सो अन्य सब तो झट लाँघ गए उस प्रतिमा को पर अकलंक निकलंक ने क्या उपाय किया कि उस प्रतिमा पर एक सूत का धागा डालकर उसे रागी समझकर उसको लाँघ गए। उस पर सूत डालकर यह समझ लिया कि अब यह दिगम्बर मूर्ति नहीं है, यह परिग्रह वाली मूर्ति हो गई, उसमें उस प्रतिमा की अवज्ञा न कहलायी। और और भी परीक्षाएँ गुरु ने की। उनमें एक परीक्षा यह भी थी कि जब विद्यार्थी लोग प्रातः काल चार बजे अपना पाठ याद करने के लिए उठते थे उस समय ऊपर की छत से बहुत तेज आवाज करने वाली थालियाँ गिरवाया, इस प्रयोजन से कि थालियों की अचानक ही भारी आवाज को सुनकर विद्यार्थी लोग सहसा ही जग उठेंगे और भय के मारे अपने अपने इष्ट देव का स्मरण करेंगे, उस समय पता पड़ जायगा कि इनमें से कौन विद्यार्थी जैन बालक है। बस वह पकड़ में आ जायगा। आखिर थालियों की उस आवाज को सुनकर सभी विद्यार्थी घबड़ा कर जगे और अपने अपने इष्ट देव का स्मरण करने लगे अकलंक निकलंक णमोकार मंत्र कास पाठ करने लगे, क्योंकि अचानक ही नींद खुल जाने पर उन्हें कुछ याद न रहा कि क्या होगा इसका परिणाम। आखिर वे दोनों बालक अकलंक निकलंक पकड़ में आ गए, जेल में बंद कर दिए गए, जेल में बंद कर दिए गए, फाँसी का आर्डर दे दिया गया। रात्रि व्यतीत हुए बाद बस फाँसी ही होनी थी। वहाँ जेल में पड़े हुए वे दोनों बालक चिंतन कर रहे थे कि अब क्या होना चाहिए। अपने मर जाने का तो कुछ भय नहीं मगर जो जैन शासन की प्रभावना करना सोच रखा है वह फिर कुछ न कर सकेंगे। बस उसी चिंता में उन्हें रात्रि भर नींद न आयी। तो एक देवी प्रकट हुई और कहा कि तुम दोनों बालक कुछ चिन्ता न करो हम अपनी माया से इन पहरेदारों को सुलाये देते हैं, अब मौका पाकर तुम दोनों निकल जावो। आखिर पहरेदारों को नींद उ आ गई और मौका पाकर वे दोनों बालक जेल से बाहर निकल गए। जब प्रातः काल हुआ, दोनों बालक जेल के अन्दर न दिखे तो राजा ने क्रोध में आकर जल्लादों को आदेश दिया कि तुम लोग अपनी नंगी तलवारें लेकर चारों ओर निकल पड़ो और जहाँ कहीं वे दोनों बालक दिखें उनका शीश काटकर मेरे पास लावो। सो वे जल्लाद चारों ओर नंगी तलवारें ले लेकर घोड़ों पर बैठकर निकल पड़े।

**अकलंक निकलंक देव का बलिदान व आत्मशिक्षण**— वे दोनों भाई कुछ ही दूर पहुँच पाये थे कि कुछ जल्लाद लोग उनके पास पहुँच गए और समझ गए कि ये ही वे दोनों बालक हैं। उस समय उन दोनों बालकों में यह सलाह हुई कि हम तुम दोनों में एक

भाई पास के इस तालाब में छिप जावे और एक भाई अपने प्राण इन जल्लादों को दे दे क्योंकि ये मानेंगे नहीं। आखिर वे बालक एक दूसरे से कहे कि आप छिप जावें और दूसरा कहे कि आप छिप जावे। दोनों ही अपने मरण और दूसरे को जीवित रहने की इच्छा रख रहे थे। बहुत बहुत कहा जाने पर विवश होकर अकलंक को सरोवर में छिपना पड़ा और डर के मारे निकलंक आगे भगा। उस निकलंक को भगते देखकर एक धोबी का लड़का भी उसके साथ भगा। जब जल्लाद लोग आये तो उन दोनों बालकों का शीश काटकर ले गए। तो आप देखो कि जिस जैन शासन की वृद्धि और प्रभावना के लिए निकलंक ने अपना बलिदान किया और उससे भी अधिक बलिदान किया अकलंक ने जो आँखों देख रहा था कि भाई गुजर रहा और जैन शासन की प्रभावना के लिए बचना पड़ा। अकलंक देव के ग्रन्थ जैन शासन में न्याय से लेकर इतने उच्च कोटि के हैं कि बड़े बड़े दार्शनिकों ने अकलंक देव का स्मरण किया है। तो धर्म प्रभावना के लिए अपने प्राण तक का भी समर्पण किया, किसने? अपने ही कुल में उत्पन्न हुए पुरुषों ने और यहाँ धर्म के लिए साहस नहीं, समय नहीं, पौरुष नहीं करते। जैसा जीवन अभी तक चला आया उसमें कोई फर्क डालने की मन में वाञ्छा भी नहीं तो ऐसे पुरुष इस पंचम काल में बहुतेरे मिलते हैं। पर जिनमें आत्महित की अभिलाषा है और आत्महित के लिए जो अपना सर्वस्व समर्पण करने का साहस रखते हैं ऐसे पुरुष इस जगत में बिरले हैं। यही बात इस गाथा में कहीं जा रही है कि इस अवसर्पिणीकाल में भरत क्षेत्र में पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि जन सुलभ हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि जन गृहस्थ अथवा मुनि, ये मिलना दुर्लभ है।

**अज्जवसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदोत्ति।**

**होदिति जिणुद्धिट्ठ णहु मण्णइ सो हु कुदिट्ठी।।51।।**

**कठिन पञ्चमकाल में भी निष्प्रसाद धर्मध्यान की संभवता—** यद्यपि आज का समय कलिकाल है, दुःख का काल है। खोटे भावों की ओर बह जाने की आज की रीति है। तिस पर भी यहीं इस काल में प्रमादरहित धर्मध्यान भी हुआ करता है। क्या चतुर्थकाल में अज्ञानी जन न थे, दुराचारी न थे? पुराणों में भी अनेक जगह वर्णन आता है। तो अच्छे बुरे लोग सब कालों में होते आये मगर अच्छे बहुत होना, बुरे कम होना यह तो है अच्छे काल की निशानी और बुरे बहुत होना और अच्छे बिरले मिलना यह है इस कलिकाल

**कठिन पञ्चमकाल में भी निष्प्रमाद धर्मध्यान की संभवता—** यद्यपि आज का समय कलिकाल है, दुःख का काल है। खोटे भावों की ओर बह जाने की आज की रीति है। तिस पर भी यहीं इस काल में प्रमादरहित धर्मध्यान भी हुआ करता है। क्या चतुर्थकाल में अज्ञानी जन न थे, दुराचारी न थे? पुराणों में भी अनेक जगह वर्णन आता है। तो अच्छे बुरे लोग सब कालों में होते आये मगर अच्छे बहुत होना, बुरे कम होना यह तो है अच्छे काल की निशानी और बुरे बहुत होना और अच्छे बिरले मिलना यह है इस कलिकाल की निशानी। आज कलिकाल है फिर भी प्रमादरहित धर्मध्यान होता है, ऐसा निर्ग्रन्थ देव ने बताया है। जो अपने आत्मा को सम्हाले। आत्मा की दृष्टि करे, हित चाहे उसको धर्मध्यान सुलभ है और जिसको मोह से ही प्रेम है, परिजन ही जिन के लिए देवता बने हैं उनका सुधार तो कठिन है, लेकिन आज भी 7वें गुणस्थान तक हो सकते हैं। प्रमादरहित धर्मध्यान आज भी हो सकता है। श्रेणी तो नहीं है, आज, चारित्र मोह का उपशम अथवा क्षय तो नहीं किया जा सकता है किन्तु उसका क्षयोपशम आज भी है, और जिसमें प्रमादरहित धर्मध्यान हो सकता है, क्योंकि आत्मा की बात है, आत्मा को करना है, आत्मा में करना है, कोई पराधीनता नहीं, धर्मपालन तो बहुत ही स्वाधीन और सुगम है, इस कारण जिनका भवितव्य अच्छा है वे अपने आप में अपने अविकार स्वभाव की रुचि करके अपने में संतुष्ट रहते हैं,



धर्मध्यान में बढ़ते हैं। तो आज भी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है जो ऐसा नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है।

**असुहादो णिरयारु सुहभावादो दुसग्गसुहमाओ ।**

**दुहसुहभावं जणइ जं ते रुच्चेइ तं कुज्जा ।।52 ।।**

**अशुद्ध भाव व शुद्ध भाव का फल—** अशुभ भाव से नरकायु मिलती है और शुभ भाव से स्वर्ग के सुख मिला करते हैं, और सुख दुःख को तो यह जानता ही है। संसार का सुख क्या है और संसार के दुःख क्या हैं, इससे लोग परिचित ही हैं। दुःख मिलता है अशुभ भाव से और सुख मिलता है शुभभाव से। अब जहाँ रुचि हो वहाँ लगियेगा। अगर दुःख ही पाना है। नरकादिक दुर्गतियाँ ही पाना है तो उसका उपाय है खोटे भाव करना। अशुभ भाव क्या है सो आगे विस्तार से बताया जायगा, पर संक्षेप में इतना ही समझिये कि जो पापभाव है वह अशुभ है, जो पुण्यभाव है वह शुभ है। एक पहिचान मोटी और है। जो भाव सबको न सुनाये जा सकें, जो बात सबके आगे न की जा सके वह अशुभ भाव है करीब करीब। जो सब को दिखाकर भी किया जा सके जो अपने भाव भी बताये जा सकें वे भाव पुण्यभाव ही होते हैं, कोई समाज में, कोई सभा में कोई भीतर अपने पाप की बात कह सकता क्या? और पुण्य की बात चित्त में आये, शुभ की बात तो हर कोई कहते हैं। न भी आये तो भी बनाकर कहते हैं कि हमारी तो बड़ी शुद्धभावना है। तो एक मोटी सी बात है। अरे, अशुभ भाव और शुभभाव को कौन नहीं जानता? पाप की बात और भली बात इनको तो कुत्ता बिल्ली भी जानते। कुत्ता अगर चोरी से आपके रसोईघर में से रोटी चुरायगा तो कितना दबा हुआ जायगा, अगल बगल भी देखेगा, पूँछ दबाकर जायगा और उसको आप अपने हाथ से रोटी दें तो कैसा खुश होकर पूँछ हिलाकर और कुछ शब्द करके प्रसन्नता से खाता है। तो वह कुत्ता भी जानता है कि यह चोरी का काम है तो जो अशुभ भाव है उनसे नरकायु मिलती। अशुभ भावों में प्रधान अशुभ कौन है? बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, विषयों में आशक्ति, इनसे ही नरकायु का आश्रव होता है। बहुत काम बढ़ा लिया, कई जगह काम कर लिया उनमें आशक्ति है। परिग्रह बहुत जोड़ा है उसे देख देखकर खुश होते हैं, विषयों में बड़ी आशक्ति है। पञ्चेन्द्रिय के विषय उसे बहुत प्रिय लगते हैं, तो ये बातें जीव के हित के लिए नहीं हैं।

**जीवोपकार व देहोपकार का परस्पर विरोध व कर्मफल का निर्देश—** आचार्य देव ने बताया है कि यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्। यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्—जो बात जीव के उपकार के लिए है वह बात देह के अपकार के लिए है। व्रत नियम, तप, त्याग, संयम आदि ये जीव की भलाई करने वाले हैं तो इन कामों से शरीर सूखता है, इनको करने के लिए कोई तैयार कहाँ होता? और, जो बात शरीर का उपकार करने वाली है वह बात जीव का बुरा करने वाली है। खूब खावें दो बार, चार बार, छह बार, शरीर को बहुत पुष्ट करें तो इसमें जो विषय भाव बने वे तो इस जीव के अपकार के लिए हैं। तो लोग थोड़ा धन वैभव पाकर, थोड़े साधन पाकर अपने आपको भूल जाते हैं। वहाँ अशुभ भाव बनता और उनका फल आगे भोगना होता है। आज कोई जन्म से ही धनी है कोई दरिद्र है कोई पूर्ण अंग वाला है। किसी के गर्भ में ही कोई हाथ पैर बिगड़ गए। जन्मते ही हाथ पैर बिगड़ गए। आँखें बिगड़ गईं, बड़ा मोटा सिर हो गया या छोटा सिर रह गया। दिमाग काम नहीं देता, जन्मते ही मनुष्यों में यह फर्क कहाँ से आ गया? वह जन्म लेता, 10—5 वर्ष का होता, फिर खोटे काम करता तब बन जाता लंगड़ा लूला, अपाहिज, अंधा। मगर जन्म से ही ऐसा पैदा हो गया। तो यह फर्क कहाँ से आया? जो लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने बनाया सबको और पहले यह जीव था ही नहीं, नया नया

पैदा कर दिया तो नया-नया पैदा करने में पैदा के समय फर्क क्यों? वह तो एक समान होना चाहिए था। पहले तो यह था नहीं, पहले तो इसका कोई कर्तव्य था ही नहीं। सत्ता ही न थी अब नया बना है एक चीज, तो शुरु-शुरु में फर्क कैसे आ गया?

यह फर्क सिद्ध करता है कि जीव पहले था। जैसे भाव हुए, जैसे कर्म बंध हुए उसके अनुसार यह अन्तर पड़ रहा है। तो आज जो खोटे कर्म किए जायेंगे तो ये आगे अपना फल न देंगे क्या? अन्तर न आयगा क्या? तो अशुभ भावों से बचना, शुभ भावों में रहना, यह एक कर्तव्य है। एक रीति रिवाज के कारण लोग 8-10 दिन तक पर्व मना रहे तब तक तो धर्म होड़ लगाकर किया जा रहा है, अन्तस्तत्त्व का परिचय नहीं तो धर्म कुछ नहीं हो रहा, धर्म तो आत्मा के सहज स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण है। न उसके पहले कोई धर्म की भावना और न उसके बाद भावना। तो लोग कह देते कि चलो इतना ही अच्छा है। जैसे जिसके कोई संतान नहीं होती और हो जाय एक कानी लड़की तो लोग कहते हैं कि चलो न होने से कानी ही अच्छी है। तो ऐसा संतोष धर्म के मामले में कोई कर ले कि चलो 10 दिन ही सही, धर्म के काम में अपना कुछ समय तो लगाया, तो ऐसी बात मोक्षमार्ग के लिये न चलेगी।

**शुद्ध अन्तस्तत्त्व का लक्ष्य रखने के शुभ भाव की वृत्ति होने व अशुभ भाव से बचने का कर्तव्य**— अरे आत्महित के नाते से कुछ सोचना पड़ेगा। ये परिवार के लोग, ये बाहरी धन वैभव आदिक समागम, ये कुछ भला न कर देंगे। ये धार्मिक क्रिया काण्डों की ऊपरी-ऊपरी बातें भी कुछ भला न कर देंगी, ये तो एक साधन हौ देव पूजा, गुरु सेवा, वंदना आदिक जो जो भी करते हैं, वे साधन हैं। ये ही साध्य नहीं हो गए कि जो यह संतोष कर लिया जाय कि हमने तो विधान कर लिया, बस पार हो गए। सो वे साध्य नहीं हैं। वे एक साधन है कि उनमें गुजरते हुए हम अपने आत्मा का ध्यान, आत्मा की भावना बनावें, अशुभ भाव न होने दें, शुभ भाव चलने दें। इन शुभ भावों के फल में अच्छा कुल मिले, स्वर्ग के देव हुए तो जिनेन्द्र देव के दर्शन करने का मौका मिलेगा। धर्म में स्थित बने रहेंगे, आगे बढ़ते जायेंगे। तो नरक गति से स्वर्ग गति तो भली ही है। संसार के नाते से तो एक बराबर है। स्वर्ग में गए तो संसार में रहे, नरक में गए तो संसार में रहे मगर एक प्रेक्टिकल ढंग से देखा जाय तो नरक से स्वर्ग भला है। अनेक प्रसंग मिलते हैं धर्म के। तो आचार्यदेव कहते हैं कि अशुभ भावों से नरकगति होती है जिसमें कठिन दुःख है। शुभ भावों से स्वर्ग गति मिलती है जिसमें कि लौकिक बहुत सुख हैं। अब तुम्हारी जैसी मर्जी हो वैसा काम कीजियेगा तो समाधान तो यह ही होगा कि दुःख में रुचि नहीं है सुख में रुचि है। अगर सुख में रुचि है तो शुभ भाव कीजिए, सुख शान्ति रहेगी, अगर दुःख से ही प्रेम है तो वह तो करने ही जा रहे हो। जो अशुभ भाव किए जा रहे हैं उनका फल है क्लेश।

**हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणसु पक्खवाएसु ।**

**मच्छरिएसु, मएसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेसेसु ।।53 ।।**

**विकहाइ सुरुद्धज्झाणसु असुयगेसु दंडेसु ।**

**सल्लेसु गारबेसु खाईसु जो बट्टए असुहभावो ।।54 ।।**

**हिंसा झूठ चोरी व कुशील में प्रवर्तन का अशुभ भाव**— अशुभ भाव क्या कहलाता है इसका वर्णन इन दो गाथाओं में किया गया है। हिंसा आदिक में प्रवृत्ति हो वह अशुभ भाव है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि जितने भी खोटे भाव हैं उनमें भावहिंसा होती है अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप का घात होता है, उसी कारण वह हिंसा है।

दूसरे जीव के प्राण जाते हैं तो खोटे भाव किया दूसरे ने, मारने वाले ने और उससे प्रेरित होकर प्रवृत्ति बनी कि दूसरे की जान गई मगर हिंसा लगी भाव के खोंटे होने से। उसकी प्रवृत्ति से हिंसा नहीं है। देखिये किसी दूसरे जीव ने घात किया तो भाव बनाया तब घात हो पाया तो वहाँ हिंसा प्रकट है। किसी के बारे में झूठ बोला तो भाव खोंटा किया। उस परिग्रह से तृष्णा लगी या अन्य कोई स्वार्थ हुआ या अपना दिल बहलाने की चेष्टा की और उसमें झूठ बोलना पड़ा तो उस झूठ बोला जाने में जो भीतर का भाव स्वच्छंद हुआ और दूसरे को कष्ट का संकल्प हुआ उस भाव से उसको हिंसा हुई। तो झूठ बोलने में भी अशुभ भाव समझिये। किसी दूसरे की चीज चुरा ली तो उसमें पहले बहुत खोटा भाव बनाना पड़ा, और धन तो एक लोक में प्राण सा माना जाता है, तो किसी का धन चोरी से हरा तो मानो उस का प्राण ही हर लिया हो। खोटे भाव करना पड़ा तो उन खोटे भावों के कारण उसको पाप है और दुर्गति का वह पात्र है। कुशील सेवन, परस्त्री, वेश्या गमन, आदि ऐसी खोटी दुर्भावना करने वाले के खोटे भाव हुए। खोटे भाव यों हैं कि आत्मा का जो स्वभाव है केवल जाननहार उसकी उसे खबर नहीं, वह लग रहा बाह्य पदार्थों में और वे परस्त्रीगमन वेश्यागमन आदि ऐसे दुर्भाव हैं कि उनमें चित्त व्यवस्थित नहीं रहता। लोक में निन्दा का भी डर रहता, पैसा भी अपना व्यर्थ जाता, वह धर्म कर्म का पात्र नहीं रह पाता। तो चूँकि उसमें खोटे भाव हुए तो वह अपनी हिंसा हुई और जो अपने भावों की हिंसा करता है वह दुर्गति प्राप्त करता है।

**परिग्रह पाप का अशुभ भाव**— परिग्रह जोड़ने का भाव, तृष्णा, यह भी एक उतना बड़ा पाप है जैसे कि कुशील आदिक माने जाते मगर यहाँ चूँकि सभी तृष्णा वाले हैं तो कौन किसे बुरा कहे? जैसे एक कहावत है—चोर चोर मौसेरे भाई। उन चोरों में कौन किसे बुरा देख सके। तो ऐसे ही जब सब तृष्णावान हैं संसार के लोग तो एक दूसरे को बुरा देख नहीं सकते। कोई तृष्णा करने वाला व्यक्ति अगर कुछ धनिक बन जाये तो उसकी प्रशंसा करने वाले तो बहुत मिलेंगे मगर उसकी तृष्णा की निन्दा करने वाला कोई नहीं है इस तृष्णा भाव के अन्दर भीतर में कितना क्लेश है इसको तो निरखिये। कल्पनावश तृष्णा बढ़ती है। मानो किसी को किसी काम में 50 हजार का फायदा हुआ और आशा यह कर रखा है कि अभी तो 20 हजार का फायदा होगा। मगर कुछ दिन बाद हुआ क्या कि फायदे में 10 हजार ही और रह गए तो वह वहाँ खेद मानता है। 10 हजार की हानि समझकर दुःखी होता है। अरे बताओ उसमें दुःख मानने की क्या बात? आखिर फायदा ही तो रहा, टोटा तो नहीं पड़ा, पर तृष्णा का भाव होने से वर्तमान में जितना जो कुछ मिला हुआ है उसका भी सुख नहीं लूट पाते। तो यह तृष्णा का भाव, परिग्रह का संरक्षण यह सब जीवों को दुर्गति का पात्र बनाने वाला है। ज्ञानी रहकर घर में रहे तो यह भव भी भला है और आगे भी उसके लिए भला रहेगा और तृष्णावी, आशक्त अन्यायी बनकर मौज भी पाये तो भी उसको न वर्तमान में शान्ति है और न आगे शान्ति है। तो ये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन 5 पापों में जिनका मन लगा है समझिये वह अशुभ भाव है और अशुभ भाव का फल ऊपर बताया ही है कि नरक गति प्राप्त होती है।

**क्रोध कषाय में वर्तने का अशुभ भाव**— क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकार की कषायों में जो अपने को लगाता है सो वह अशुभ भाव है। क्रोध—(गुस्सा) जरा जरा सी बात पर गुस्सा आना। गुस्सा किसे आती है? जिसको अनेक सुविधायें मिली हैं और कोई कमी रह जाय तो उसे गुस्सा आती है। और जिसके पास पहले से ही कुछ साधन नहीं वह गुस्सा काहे पर करेगा? जिसको प्यार करने वाले बहुत हैं घर में उसके प्रति अगर किसी दिन किसी का प्यार कम मिल पाये तो उसको उस पर गुस्सा आ जाती है। देखिये घर में

जिस बच्चे को सभी से बहुत-बहुत प्यार मिलता, सभी लोग उसे अपनी गोद में लिए लिए फिरते वह भी यदि देखता है कि मेरे से कोई प्यार कम कर रहा तो वह रुठ जाता है। या किसी ने अगर उसे गोद से नीचे उतार कर बैठा दिया तो वह रोने लगता है। भला बताओ क्या कोई कष्ट है उस बच्चे को? सब प्रकार के मौज हैं फिर भी वह अपने में ऐसी कल्पना करता कि मैं इतने ऊपर चढ़ा था पर अब इन्होंने मुझे नीचे पटक दिया। बस उसे उस कल्पना से गुस्सा सी आ जाती और और रोने लगता है। अब बताओ गुस्सा करने से लाभ क्या मिलता है इस जीव को? अपने में एक गुण होना चाहिए सहनशीलता का। जब आप जानते हैं कि यहाँ पर किसी का किसी पर कुछ अधिकार नहीं तो फिर उनके पीछे अपने परिणाम बिगाड़ने से फायदा क्या। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कुछ अधिकार नहीं तब फिर दुनिया में किसी भी वस्तु का कुछ भी परिणाम हो, उससे मेरा क्या वास्ता? यों सहनशीलता होना और तत्त्वज्ञान सामने रहना, यह जीव को सुखी बनाती है। किसी भी प्रसंग में कष्ट न मानना चाहिए। जो होता है सो ठोक। आज मानो कुछ कानून बनते जिनमें यह समस्या सामने खड़ी हो जाती कि मेरा तो इतना वैभव कम हो जायगा तो उसके पीछे भी क्या कष्ट मानना? अरे उसे यों समझ लो कि जैसे मानो पहले से ही मुझे न मिला था, या पहले ही मिट चुका था। क्या ऐसा हो न सकता था? अर्थात् हो सकता था। बस इस प्रकार की दृष्टि बन जाने से हर स्थिति में यह चैन में रहता है। ज्ञान की बड़ी विचित्र लीलायें हैं। तो क्रोध भाव में जो जीव रहता है वह अशुभ भाव है।

**मान कषाय में वर्तने का अशुभ भाव—** घमंड के भाव में जो जीव रहता है वह अशुभ भाव है। कितना अज्ञान है? काहे का घमंड? कुछ ज्ञान पा लिया तो पा लिया। अब इसमें किसी दूसरे पर एहसान क्या? और पा भी क्या लिया? केवल ज्ञान के समक्ष कुछ नहीं, श्रुतज्ञान के समक्ष कुछ नहीं और पा भी लिया कुछ तो उसका दूसरे पर एहसान अथवा उन पर गर्व करना और तुच्छ मानने का कौनसा तुक है? पाया है ज्ञान तो अपने में खुश रहो, प्रसन्न रहो, अपने को निरखो, तृप्त रहो, ऐसे ही धन रूप, बल आदिक सभी की बातें हैं। इन्हें पाया है तो किसी दूसरे पर रौब जमाने के लिए पाया है क्या? घमंड किस बात का? घमंड करने वाला दूसरों को तो तुच्छ मानता है मगर उसे यह पता नहीं कि ये सब दूसरे बहुसंख्या के लोग मुझको तुच्छ मान रहे। घमंड करने वाले को यह पता नहीं रहता। जैसे किसी 7-8 मंजिल के ऊपर की छत पर बैठा हुआ पुरुष नीचे चलने वाले हजारों लाखों लोगों को बहुत छोटा कीड़ों जैसा अनुभव करता है मगर उसे यह पता नहीं कि नीचे चलने वाले हजारों लाखों लोगों की दृष्टि में हम भी बहुत छोटे कीड़े की भाँति लग रहे होंगे। तो भाई घमंड करने से लाभ कुछ नहीं मिलता बल्कि दुर्गति ही होती है। अशुभ भावों का फल नरक गति है। सीता को रावण ने हर लिया, कुछ ऐसा ही बानक बना, पर रावण अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग रहा। उसने यह प्रतिज्ञा ली थी अनन्तवीर्य अरहंत भगवान के सामने कि दुनिया की जो नारी मुझे न चाहेगी, उसके साथ मैं बलात्कार नहीं करूँगा। उसको उस समय भी घमंड था कि मैं इतना रूपवान हूँ, वैभववान हूँ, भला जगत की ऐसी कौन सी नारी (स्त्री) होगी जो मुझे न चाहेगी। ऐसे भाव के कारण भी समझिये उसने प्रतिज्ञा ले ली मगर वह अडिग रहा। उसने सीता के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया और अन्त में यह मन में आ गया कि मैं सीता को यों ही वापिस न कर दूँगा। पहले राम लक्ष्मण को लड़ाई में जीत लूँ बाद में सीता वापिस कर दूँगा। यदि यों ही वापिस कर दिया तो दुनिया कहेगी कि रावण ने डर के मारे सीता को वापिस कर दिया। आखिर उसका यह एक घमंड ही तो था। उस घमंड के कारण ही उसकी दुर्गति हुई। तो यह मान कषाय एक अशुभ भाव है, उसमें जो रहता है वह दुर्गति का पात्र है।

**माया कषाय में वर्तने का अशुभ भाव**— मायाचारी छल कपट, जिसके मन की बात सहसा समझी न जा सके, किया कुछ और है, मन में कुछ और है। वह कपटभाव अशुभ भाव है। संसार में कौन सी बात, कौन सा पदार्थ इस जीव को कल्याणकारी है जिसके लिए मायाचार किया जाय? कपट करने वाला सदा भयभीत रहता है और कितने ही गुंतारे लगाता रहता है। कपट अशुभ भाव है। पाप का बंध कराने वाला है, जिसका फल दुर्गति है।

**लोभ कषाय में वर्तने का अशुभ भाव**—ऐसे ही लोभभाव पाप है लोग बोलते ही हैं लोभ पाप का बाप बखाना। बाप मायने जनक और लोभ मायने पाप का जनक। सारे पाप इस लोभ कषाय के मूल से हुआ करते हैं। तो जो लोभ भाव में रहता है वह भी दुर्गति का पात्र है। जैसे कोई बाजार गया और वहाँ से कोई सस्ती चीज खरीद लाया, मानो सस्ते वाले से ही खरीद लाया और वे निकल गए खराब तो उनको फेंकना ही पड़ा, या उनमें से कोई तिहाई चौथाई ही काम में आ सके, यह लोभ का ही तो फल है। अगर लोभ न करके अच्छे महँगे वाले सेब ले आता तो कम से कम वे सब काम में तो आते। जिसके लोभ कषाय है उसको आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं होता। लोभी को कोई कोई तो कहते हैं कंजूस, और कोई कहते हैं मक्खीचूस। कंजूस का अर्थ है कण कण याने एक एक दाने से सेवा करे, एक एक दाना जोड़ जोड़ कर रखता जाय, उसमें से कुछ खर्च न करें उसे कहते हैं कंजूस और मक्खीचूस किसे कहते? तो मान लो घी में मक्खी गिर गई तो उस मक्खी को पकड़कर उसमें से एक एक बूँद घी जो टपकाले उसे कहते हैं मक्खीचूस। ये सब तृष्णा के भाव हैं। यही अशुभ भाव है। इन अशुभ भावों के फल में जीव को घोर दुःख उठाना पड़ता है।

**मिथ्याज्ञान में वर्तने का अशुभ भाव**— इससे पहले की गाथा में यह बताया था कि अशुभभाव करने से नरकायु मिलती है और शुभ भाव करने से स्वर्गसुख मिलता है। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि वे अशुभ भाव क्या क्या हैं? तो इसमें यह बात आती कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन 5 भावों में रमना यह अशुभ भाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में रमना अशुभ भाव है। अब कह रहे हैं कि मिथ्याज्ञान में रमना अशुभ भाव है। मिथ्याज्ञान, झूठा, ज्ञान, वस्तु है अन्य भाँति और मान रहे अन्य भाँति, इससे बड़ी अन्य कोई विपत्ति नहीं। इस जीव को कभी राज्य पद भी मिले, स्वर्ग सुख भी मिले। बड़े लौकिक जन भी मिले और हो मिथ्याज्ञान तो उसको आकुलता ही रहेगी, शान्ति न मिलेगी। और, जहाँ सही ज्ञान आ गया वहाँ शान्ति मिल जायगी। मिथ्याज्ञान क्या? जैसे शरीर आत्मा तो नहीं है, शरीर जुदी चीज है और आत्मा जुदी चीज है। मरने पर देखते हैं कि आत्मा चला जाता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। यह शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है, शरीर गलने सड़ने वाला है, आत्मा भगवान ज्ञान ज्योति है। अनन्त शान्ति का धाम है, बड़ा अन्तर है शरीर में और आत्मा में। अगर शरीर को ही समझे कि यह मैं हूँ तो यह मिथ्याज्ञान है। इसका फल क्या है? संसार में परिभ्रमण करते रहना। तो थोड़ा यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि हम मनुष्य हुए हैं तो इसका सदुपयोग यही है कि अपने आत्मा को जानें कि इसका सही स्वरूप क्या है। और जो सही स्वरूप है वह मुझे रुचिकर हो, उस ही में मेरी स्थिरता हो तो यह मानव जीवन सफल है और एक आत्मा की ही बात न आये तो आप अन्य अन्य बातें देख लो, वैभव खूब जोड़ लिया तो उससे आत्मा को क्या लाभ मिलेगा?

जिन परिजनों से इतना मोह कर रहे हैं वे परिजन भी मानो पुष्ट हो गए तो उससे आपके आत्मा को क्या मिलेगा? इस लोग में सैकड़ों जीवों ने प्रशंसा कर दी तो आपके आत्मा को

क्या मिलेगा? और यदि आत्मा का सही ज्ञान हो गया और उसकी ही दृष्टि हो गई कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, स्वयं ज्ञान दर्शन, आनन्द शान्ति का भण्डार हूँ। आखिर इसका विकसित रूप ही तो सिद्ध भगवान हैं। सिद्ध भगवान भी हम आप की ही तरह संसार में रुलने वाले जीव थे। जब उन्होंने अपने आत्मा को समझा, सत्य ज्ञान का आदर किया तब उनकी मुक्ति हुई। जीव का धन ज्ञान ही है। ज्ञान को छोड़कर अन्य कोई वैभव नहीं है इस आत्मा का। परभव में यह ज्ञानदृष्टि ही मदद करने वाली है। इसमें सम्यग्ज्ञान तो शुभ भाव है और मिथ्याज्ञान करना अशुभ भाव है जिसके मिथ्यात्वभाव बना हुआ है उसको सब कुछ पाप भाव है।

**मिथ्यादृष्टि के कदाचित् कुछ शुभ भाव होने पर भी सतत धर्म विमुखता—** पाप भाव के करते हुए भी कुछ थोड़ा कभी दया, दान का शुभ भाव होता है तो उससे लौकिक वैभव आदिक का फल मिलता है, मगर मिथ्याज्ञान के रहते हुए संसार के संकटों से छुटकारा नहीं रहता। अपने आप पर कुछ दया करना चाहिए। दया यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे विरक्त होकर कुछ आत्मतत्त्व की साधना बनाना चाहिए। वही साधना तो क्षमा, मार्दव आदिक दशलक्षण धर्म में बतायी गई है, पर साधना करे उसका फल है और सिर्फ मुख से बोले उसका फल नहीं है। एक बाबूजी कलकत्ता जा रहे थे तो पड़ोस की सेठानियाँ आयीं, एक सेठानी बोली—बाबूजी कलकत्ता से हमारे मुन्ने को खेलने की मोटर ले आना, दूसरी ने कहा हमारे मुन्ने को खेलने का हवाई जहाज ले आना, एक ने कहा रेलगाड़ी का इंजन ले आना और यह कहकर वापिस लौट गई, उसके बाद एक गरीब बुढ़िया अपने हाथ में दो पैसे लेकर आयी और बाबूजी के आगे रखकर कहा बाबूजी ये लीजिए, मेरे दो पैसे इनसे हमारे मुन्ने को खेलने का मिट्टी का खिलौना ले आना। तो बाबूजी बोले—बुढ़िया माँ मुन्ना तो तेरा ही खेलेगा, बाकी तो मुख से कह भर गई। तो ऐसे ही समझो कि जिसने अपने आत्मा को पहचाना, आत्मा को ग्रहण किया उसको ही मुक्तिलाभ शान्तिलाभ होगा और जो सिर्फ मुख से कहता फिरेगा और हृदय में न उतारेगा उसे लाभ कुछ नहीं मिलने का। तो देखो अपनी एक सद्भावना ही बनाना है। सद्भावना के बनने पर आपका श्रम सफल हो जायगा और एक सद्भावना न रहे, आत्म-भावना न रहे तो यह श्रम थोड़ा बहुत कोई स्वर्ग मिल जाय या कुछ मिल जाय, पर उससे पूरा नहीं पड़ता। तो जो जीव मिथ्याज्ञान में रमता है वह अशुभ भाव है।

**पक्षपात में वर्तने का अशुभ भाव—** जिसका चित्त पक्षपातों में लगा है वह अशुभ भाव है। पक्षपात क्या? किसी को मान लिया कि यह मित्र है, यह मेरा रिश्तेदार है तो कोई घटना आये निर्णय के लिए तो उसमें पक्ष अपने इष्ट का लेना, यह कहलाता है पक्षपात। जहाँ अपना कुछ संबंध हो, खुदगर्ज हो उसका पक्ष लेना यह है पक्षपात। जो पक्षपातों में रमता है वह अशुभभाव है। एक कथानक है कि एक बार एक हंस और हंसनी दोनों किसी सरोवर की ओर उड़ते हुए जा रहे थे। रास्ते में शाम हो गई, रात्रि भर ठहरना आवश्यक हो गया। वह स्थान था कौवों का। तो हंस कौवों से इजाजत लेने लगा वहाँ ठहरने के लिए। तो एक कौवे ने कहा—ठीक है आप लोग आराम से ठहर जाइये। सो रात्रि भर वे दोनों हंस हंसनी वहीं ठहरे रहे। जब प्रातः काल हुआ तो वे दोनों सरोवर की ओर उड़ने लगे। वहाँ उस कौवे ने रोक लिया ठहरो तुम मेरी स्त्री (हंसनी) को कहाँ लिए जा रहे हो। हंस यह बात सुनकर बड़ा हैरान हो गया। आखिर उसने पंचायत जोड़ा। पंचायत करने वाले पंच भी वहाँ कौवे थे। 4 कौवे तो बन गए पंच और एक कौवा बन गया सरपंच। वहाँ हंस ने अपनी बात रखी कि देखो यह कौवा मेरी स्त्री हंसनी को अपनी स्त्री बताता है। हमें इस हंसनी को लेकर जाने नहीं देता है आप लोग उसका निर्णय कर दें कि यह हंसनी

वास्तव में किसकी स्त्री है। तो वहाँ उन पंचों ने पूछा उस कौवा से कि भाई किसकी स्त्री है? तो कौवा बोला—मेरी। तो फिर हंस बोला देखो अब तुम्हीं लोग समझ लो कि यह हंसनी इस कौवे की स्त्री कैसे हो सकती? यह कौवा तो है काला और यह हंसनी है हमारे जैसी सफेद तो वहाँ कौआ ने कहा कि यह कोई नियम तो नहीं कि काले की स्त्री काली ही हो, सफेद न हो। तो वहाँ दो कौवों ने अपना यह निर्णय दिया कि यह हंसनी उस कौवा की स्त्री है और दो ने यह निर्णय दिया कि यह हंसनी उस हंस की स्त्री है। अब तो रह गया निर्णय सरपंच साहब के ऊपर। तो सरपंच साहब ने (कौवा ने) अपना यह निर्णय दिया कि यह हंसनी तो इस कौवा की स्त्री है। उसने अपनी जाति का पक्ष लिया तो इस प्रकार का जातीय पक्ष लिये जाने पर उस कौवे के हृदय में एक बहुत बड़ी चोट पहुँची और उसे गश आ गया, बेहोश हो गया, कुछ बेहोशी दूर होने पर उस सरपंच कौवे ने पूछा—भाई तुम्हारे माफिक ही तो निर्णय दिया गया फिर भी तुमको मूर्खा किस बात की आयी। तो वह कौवा बोला—देखो हमें मूर्खा इस बात से आयी कि सरपंच तो एक परमेश्वर सारिखे होता है, वही अगर अन्याय करे तो फिर अन्य जगत के जीवों का क्या हाल होगा। यह हंसनी हमारी स्त्री नहीं फिर भी तुमने अपना जातीय पक्ष लेकर निर्णय दिया तो यह कितना महान अन्याय है। तो भाई यह पक्षपात का भाव एक अशुभ भाव है। इसका फल है दुर्गति।

**मात्सर्य मदिरादिसेवन व मदमें वर्तने के अशुभ भाव—** एक अपनी उन्नति की बात विचारें वह तो सही बात है। लौकिक भी उन्नति बनायें और पारलौकिक भी। अगर कोई दूसरे लोग विशेष उन्नति में पहुँच रहे हैं तो उनके प्रति ईर्ष्याभाव रखना यह एक अशुभ भाव है। इस अशुभ भाव का फल खोटा ही होता है। और देखिये जितने खोटे भाव हैं चाहे उनकी विपत्ति आज पुण्योदय वश न मालूम पड़े किन्तु जैसा भाव है, जैसा कर्मबंधन है वैसा उदय में आता है और उस विपत्ति से छुटकारा पाना कठिन है। इससे मनुष्य का धन है सदाचार। आचरण से गिर गये तो उसका भला नहीं होने का। यदि कोई बड़े शुद्ध आचरण से रह रहा, शुद्ध खानपान, भक्ष्य का त्याग, मद्य, मांस, मधु आदिक की तो चर्चा ही क्या करे, जैसे गोभी का फूल, बाजार का दही, बाजार की सड़ी गली मिठाइयाँ जलेबी वगैरह। इन सब अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग हो और अपना शुद्ध सात्विक भोजन रहे तो इसमें कुछ हानि है क्या? किसके लिए बुरे ऐब लगाये जाते? शराब तो बुरा ऐब है ही मगर उसकी छोटी सहेली है बीड़ी, सिगरेट। बअ आप खूब अंदाज कर लो कि जो तम्बाकू बीड़ी या शराब आदि नशीली चीजों के व्यसन में रहता है उसका कलेजा जलता है। हाथ भी खराब होता है। मुख भी खराब होता है, स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। बुद्धि भी व्यवस्थित नहीं रहती। तो ऐसी अभक्ष्य चीजों का सेवन न करें जिससे स्वास्थ्य गिरे और पापों का बंध हो, भावना भी बिगड़े। इससे इन अभक्ष्य पदार्थों से दूर रहना चाहिए। और यदि मालूम पड़ जाय कि इस उच्च कुल वाले अमुक व्यक्ति में मदिरा पीने या किसी नशीली चीज का सेवन करने की लत पड़ गई है तो पड़ोसियों का कर्तव्य है कि उसको भली भाँति समझा बुझा कर सही रास्ते पर लायें। वैसे तो कुछ बड़ी अवस्था होने पर उसे खुद पता पड़ जाता कि उसका क्या बुरा परिणाम होता है। तो ऐसे अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना यह भी अशुभ भाव है।

**दुरभिप्राय में रहने का अशुभ भाव—** खोटा अभिप्राय है, इसमें बहुत बड़ी विपत्ति है किसी के प्रति हानि का अभिप्राय रखने में। उसकी हानि का, विपत्ति का अभिप्राय रखना, द्वेष रखना वे सब खोटे अभिप्राय कहलाते हैं। खोटा अभिप्राय किया कि तत्काल ही कर्मबंध हुआ। कर्मबंध तो तत्काल होता रहता है। चाहे एकान्त में पाप करे कोई चाहे यह समझे

कि मेरे छोटे अभिप्राय को जान कौन रहा है, मैं तो दूसरों को मूर्ख बना रहा हूँ, लोग मेरी इस दुर्भावना को नहीं समझते....। अरे कोई चाहे मत जानों मगर कर्मबंध को और आत्मा के विकार भाव को, निमित्त नैमित्तिक भाव को कौन रोक सकता है? जैसा भाव किया वैसा ही कर्मबंध होता है। कर्म कर्म तो सभी लोग बोलते हैं मगर कर्म चीज क्या है? एक ऐसी सूक्ष्म धूल रज समझिये। पुद्गल कर्मवर्गणायें समझिये जो किसी से छिड़ती नहीं वे कर्म वर्गणायें इस जीव के साथ लगी हैं। और जैसे ही जीव ने भले बुरे भाव किया वैसे ही वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं और उन कर्मों का जग उदय होता है तो इस जीव की बड़ी विडम्बना बनती है। लौकिक आराम सुख सम्पदा समृद्धि जो कुछ भी जिसको प्राप्त है उसका वह मौज न माने, उसका ज्ञात दृष्टा रहे कि कर्मोदय होने पर ऐसी ऐसी स्थितियाँ मिलती हैं, और आनन्द माने अपने स्वरूप की दृष्टि में। एक अपना प्रोग्राम होना चाहिए कि मेरे को तो निर्विकार पवित्र बनना है। आज यहाँ माना कि ये मेरे हैं और मरकर जहाँ भी गए वहाँ मान लेंगे कि ये मेरे हैं तो यह तो भूत पिशाच लगने जैसा बकवाद है। वस्तुतः तो विचारिये कि गृहस्थावस्था में गुजारा करने के लिए कमायी भी करना चाहिए, प्रीति का व्यवहार भी करना चाहिए। ये सब कर्तव्य हैं मगर अन्दर में ऐसा मिथ्या विश्वास न दरहे कि ये सब मेरे हैं। यदि ऐसा विश्वास रहा कि ये सब तो मेरे हैं, मेरा ही यह सब कुछ है तो यह मिथ्याभाव है। इस के फल में बड़े छोटे पापकर्म का बंध होता है। इन छोटे अभिप्रायों में जो रमता है वह अशुभभाव है।

**अशुभ लेश्याओं में रमने का अशुभ भाव**— अशुभ लेश्यायें भी अशुभ भाव हैं, छोटे भाव हैं। कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्यायें अशुभ लेश्यायें कहलाती हैं और पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्यायें शुभ लेश्या कहलाती हैं। लेश्याओं के बारे में अनेकों जगह चित्र भी बने मिलते हैं। कहीं कहीं तो भीट पर चित्र बने होते, कहीं कहीं कागजों पर, उनमें यह दिग्दर्शन कराया जाता कि देखो 6 आदमी कहीं परदेश को चले तो रास्ते में उन्हें एक जगह जामुन का वृक्ष मिला। उस वृक्ष में जामुन बहुत अच्छे पके हुए लदे थे। वे भूखे तो थे ही सो उस वृक्ष को देखकर उनके मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न हुए—एक के मन में यह भाव जगा कि मैं इस वृक्ष को नीचे से काट गिराऊँ फिर मनमाने जामुन के फल तोड़ तोड़ खाऊँ। दूसरे के मन में यह भाव आया कि मैं इस वृक्ष की एक मोटी साखा काटकर नीचे गिरा लूँ फिर मनमाने फल तोड़कर खाऊँ। तीसरे के मन में यह भाव आया कि मैं इस वृक्ष की एक उपसाखा, छोटी टहनी काटकर गिरा लूँ, फिर मनमाने फल खाऊँ, चौथे के मन में ऐसा भाव आया कि इस वृक्ष में से एक फलों का गुच्छा तोड़ लूँ, फिर मन चाहे फल खाऊँ। 5वें के मन में यह भाव आया कि मैं इस वृक्ष पर चढ़कर पके पके फल तोड़कर उन्हें खाकर अपनी भूख मिटाऊँ, और छठे के मन में यह भाव आया कि कितने ही फल इस वृक्ष के नीचे पड़े हैं उन्हें बीनकर खाऊँ और अपनी भूख मिटाऊँ। ऐसा विचार कर वे सब वैसी ही प्रवृत्ति करने लगे। तो उदाहरण दिया है कि जो जड़ से वृक्ष को काटकर गिराना चाहता है उसके तो कृष्ण लेश्या होती है। जिसके कृष्ण लेश्या होती है वह बड़ा वैरी, क्रोधी, दुष्ट पुरुष होता है। जो एक शाखा को ही गिराकर खाना चाह रहा था वह नील लेश्या का दृष्टान्त है। कृष्ण लेश्या से कम छोटे भाव इसमें हैं। जो छोटी डाली को गिराने का भाव रखे था उसके उससे भी कम छोटे भाव हैं। तो ये तीन (कृष्ण, नील, कापोत) लेश्यायें खोटी हैं। बाकी तीन लेश्यायें (पीत, पद्म, शुक्ल) उत्तरोत्तर शुभ हैं। जो अशुभ लेश्याओं में रहता है वह अशुभ भाव है और उस अशुभ भाव के फल में वह नारकादिक दुर्गतियों को पाता है।



**विकथावों में रमने का अशुभ भाव**— विकथायें, खोटी कथायें, गप्प सप्प बहुत पसंद होना अशुभ भाव है। प्रायः दुनिया के लोगों को इन गप्प सप्पों में बड़ा आनन्द आता है, पर सही बात कुछ नहीं आती। दिल में एक मौज सा मान लिया और गप्प चक्र में पड़ गए। कहीं कहीं तो उन गप्पों के फल में लड़ाइयाँ भी हो जाती हैं, बुराइयाँ भी हो जाती हैं और ये विकथायें और गप्प सप्प तब तक नहीं खत्म होतीं, जब तक कि उनमें कुछ परस्पर में अनबन न हो जाय। जैसे बच्चों का खेल तब तक नहीं खत्म होता जब कि उनमें कुछ न कुछ लड़ाई न हो जाय, इसी तरह गप्पें तब तक चलती रहतीं जब तक कि कुछ बुराई या कुछ अनबन सी न हो जाय। ये विकथायें चार तरह की होती हैं—(1) राज कथा, (2) राष्ट्र कथा, (3) भोजन कथा और (4) स्त्री कथा। राज कथा—अमुक राजा ऐसा था अमुक राजा वैसा था, यों राजाओं की बुराई सम्बंधी कथा करना राज कथा है। राष्ट्र कथा—देश की बुराई सम्बंधी कथायें करना राष्ट्र कथा है, भोजन कथा—खाने पीने के भोजन सम्बंधी कथायें में करना भोजन कथा है। और स्त्री कथा—जिससे राग बढ़े ऐसी स्त्री संबंधी वार्ता करना स्त्री कथा है। इन विकथाओं में जो रमता है वह अशुभ भाव है। आर अशुभ भावों का फल है नारकादिक दुर्गतिका पाना।

**रौद्र आर्तध्यानो में वर्तने का अशुभ भाव**— कुछ पीड़ा वाला ध्यान अथवा पाप में आनन्द मानने वाला ध्यान यह आर्तध्यान है। 4 आर्तध्यान 4 रौद्रध्यान ये बड़े दुर्ध्यान हैं। देखिये हम आप जीव वास्तव में क्या करते हैं? दुनिया में? भाव करते हैं, ज्ञान करते हैं। कषाय करते हैं। सोचते हैं, इसके अलावा अन्य कुछ नहीं कर पाते। तो कौन सोचेगा कि दुकान बनाया, मकान बनाया, अन्य अन्य बातें भी करते, क्या इनको नहीं करते? हाँ इनको नहीं करते, पर इस आत्मा ने पहले जो पुण्यबंध किया भावों द्वारा, उस पुण्योदय का फल है कि ऐसी ऐसी सामग्रियाँ मिलती हैं। पर जो भाव कर रहा वर्तमान में उसका फल नहीं, उसका काम नहीं है कि सम्पदा मिले। वह तो कर्मविपाक है। खूब सोच लो, चाहे मंदिर में हो, चाहे घर में हो, चाहे जंगल में हो, एक अपनी भावनाओं के सिवाय अन्य कुछ नहीं करते। बाकी तो हो जाता है तो उसे बोलते हैं निमित्त नैमित्तिक योग। कर्म उदय का योग। पर जीव का अधिकार सिर्फ भावना पर है।

**सद्भाव में वर्तने का अनुरोध**— जब भाव ही हम कर पाते, अन्य कुछ नहीं कर पाते तो फिर अच्छे भाव करें, बुरे भाव क्यों करें? जैसे बच्चों का एक पंगत वाला खेल देखा होगा। पंगत का अर्थ है प्रीतिभोज। बच्चे लोग कुछ पत्तियाँ तोड़ लावे, कुछ कंकड़ बीन लाते और प्रीतिभोज का खेल खेलते, कहते लो रोटी, लो गुड़...। तो उनमें से कोई चतुर बालक बोलता—अरे भाई यह तो केवल भावभाव का ही प्रीतिभोज है। यहाँ कुछ परोसा तो नहीं जा रहा जब भाव भावकी ही बात है तो फिर भावों में कंजूसी क्यों करते? अरे रोटियों को पूड़ी कहकर परोसो और गुड़को लड्डू कहकर परोसो। याने ऊँची बात बोलो, छोटी बात क्यों बोलते? ठीक यही बात अपने आप पर घटावें कि हम जगत में कुछ भी दूसरा काम नहीं कर सकते, सिवाय भावना के। भावना एक ऐसा आधार है कि जैसी भावना हम रखते हैं उसके अनुरूप हमारा काम बनता है। तो जब हम भावना के ही अधिकारी हैं तो फिर अपने भावों में उच्चता, उदारता क्यों न रखें? देखिये सबसे बड़ा ज्ञानप्रकाश यही है कि यह बात ज्ञान में समायी रहे कि ये जो मायामय पदार्थ मिले हैं मकान, परिजन, धन वैभव आदिक, इनसे मेरा कोई संबंध नहीं। मेरा आत्मा इनसे बिल्कुल जुदा है। केवल ज्ञानस्वरूप है। और इसके स्वरूप में ही ऐसी महिमा है कि विकास होवे तो अनन्त ज्ञान उत्पन्न हो, अनन्त आनन्द उत्पन्न हो। अगर इन पदार्थों में लगाव रखकर हम संसार का बढ़ावा ही करते रहे, सुख शान्ति का उपाय नहीं है तो बाह्य पदार्थों को अपने से भिन्न

समझना, असार समझना, इनके लगाव को पाप समझना यह बात चित्त में जम जाय तो करना तो गृहस्थी में यह ही पड़ेगा जो कर रहे हैं मगर ज्ञान जग जाने पर जो आत्मा में पवित्रता आयगी और पाप के बजासय उसके पुण्य बंध विशेष होगा। काम वही है जो गृहस्थी में करते आये मगर सच्चा ज्ञान रखते हुए काम बने तो उसमें इस लोक का भी फायदा है और परलोक का भी फायदा है और यदि मिथ्याबुद्धि रखकर लिपटे रहे तो यहाँ भी अशान्ति है और परलोक में भी अशान्ति रहेगी। इससे अशुभ भावों से दूर रहना और शुभ भावों में आना इसका मुख्य ध्यान रखना चाहिए।

**सम्यग्दृष्टि के ही प्रशस्त शुभभाव की संभवता—** प्रकरण यह चल रहा है कि अशुभ भाव का फल है नारकादिक दुर्गतियों में जाना और शुभ भावों का फल है स्वर्ग सुखों का पाना। एक बात बहुत से सम्बंध रखकर जानना चाहिए कि वास्तव में शुभभाव सम्यग्दृष्टि के हो पाते हैं जो कि मोक्षमार्ग में चलते हुए होते हैं। जिन को अपने सहज अविकार आत्मस्वरूप का अनुभव है। सो जब तक इन भावों में स्थिरता नहीं होती तब तक जो उसेक बाह्य पदार्थों के प्रसंग में भाव होंगे तो वे ज्ञानमय भाव होंगे। भले ही विषय बाह्य पदार्थ हैं, पर अज्ञानपने को लिए हुए नहीं हैं। एक बार की एक घटना सुनो—श्रीमती चिरौंजाबाई जी जिन्होंने गुरु गणेशप्रसाद वर्णी जी को पढ़वाया था, उनकी एक ललिता नाम की ननद थी, वह पढ़ी लिखी न थी। तो बाई जी ने यह कह रखा था उस ललिता से कि तुम्हें कोई कागज पड़ा हुआ दिख जाय तो उसे उठाकर अलमारी में धर देना, कहीं बाहर कूड़े वगैरह में न फेंक देना, क्योंकि तुम पढ़ी लिखी नहीं हो। न जाने उसमें कौन सी धर्म की बात लिखी हो। खैर कुछ दिन ऐसा चलता रहा पर एक दिन कोई कागज बाई जी को कहीं कूड़े में पड़ा हुआ दिख गया, उसे उठाकर देखा तो उसमें भक्तामर का एक काव्य लिखा था। उस समय बाई जी को कुछ गुस्सा सा आया और ऊपर पहुँचकर ललिता की चोटी पकड़ा और भीट पर अपना हाथ रखकर उस पर ललिता का सिर जोर से मारा। अब भला बताओ—ऐसा करने पर चोट किसके लगेगी? बाई जी को खुद को। अब देखो गुस्सा के बेग ने तो अपना काम किया, पर विवेक ने भी वहाँ अपना काम किया। वहाँ ज्यादा चोट लगेगी तो बाई जी को खुद को ही लगेगी। क्योंकि भीट पर पहले खुद का हाथ धरा बाद में उस पर ललिता का सिर मारा। तो ऐसी ही बात आप सर्वत्र जानना कि जिसने अंतस्तत्त्व का अनुभव पाया है उसका भाव अज्ञानमय न चलेगा। चाहे किसी भी प्रमाद में रहे, पर ज्ञान विवेक का संसर्ग कुछ जरूर ही रहेगा। हाँ तो अशुभ भाव का फल है दुर्गति और शुभ भाव का फल है सुमति। तो उन अशुभ भावों का वर्णन चल रहा था कि अशुभ भाव क्या क्या कहलाते हैं?

**असंयम भाव में वर्तने का अशुभ भाव—** असंयम रूप प्रवृत्ति भी अशुभ भाव है। मन, वचन, काय का संयम न होना, स्वच्छंद विचार, स्वच्छंद बोलचाल, स्वच्छंद का चेष्टा ये अशुभ भाव हैं और इनका फल दुर्गति है। कोई लोग तो इतना तक स्वच्छंद हो जाते हैं कि असंयम की प्रशंसा करेंगे और व्रत, तप, संयम आदि की मजाक उड़ायेंगे। ऐसे अनेक तरह के शब्दजाल हैं कि जिनमें अपने असंयमपाने की तो महिमा बढ़ायेंगे और संयमभाव की निन्दा करेंगे। तो ये सब भाव अशुभ भाव हैं और उन अशुभ भावों का फल खोटा है। शल्य भी अशुभ भाव हैं मिथ्यादर्शन, मायाचार और निदान ये शल्य कहलाते हैं। मिथ्याभाव क्या कि बाह्य पदार्थों में यह मेरा है यह मैं हूँ ऐसा आशक्तिपूर्वक लगना यह मिथ्याभाव है। और, मायाचार क्या, छल कपट। धर्म के प्रसंग में कपट होना यह शल्य है और निदान—अगले भव के लिए कोई आशा बनाना कि मैं ऐसा राजा बनूँ, धनी बनूँ, ऐसी इच्छायें रखना यह निदान है। जब तक अज्ञानभाव नहीं मिटता और यह असार है, इसका

अच्छी तरह अनुभव नहीं होता और उसका स्वयं का सहज स्वरूप ही स्वयं सार है, इसका आलम्बन लेंगे तो पार होंगे, इसका जिसे अनुभव न हो उसको बाह्य अर्थों से प्रीति होती है और उस प्रीति में इसे मायाचार करना पड़ता है और निदान भी रखना पड़ता है। ये सब अशुभ भाव है।

**गर्व में वर्तने का अशुभ भाव—** घमंड (गारव) भी अशुभ भाव है क्योंकि उसे तो अपनी कुछ सुध नहीं है तब ही तो उसे घमंड आ रहा है। अपनी सुध होने के मायने है कि उपयोग झुककर अपने आप में लीन हुआ है, तो जहाँ उपयोग अपने आपकी ओर नम्र बन गया तो उसके भावों में कठोरता आ ही नहीं सकती। कठोरता आती है, घमंड होता है तो मिथ्याभाव में। जिसने देह को माना है कि यह मैं हूँ और यह मेरा है सब कुछ तो उस देह को निरख निरखकर उसको मद बआ गया, तो घमंड करना भी अशुभ भाव है। घमंड किन-किन विषयों में होता है यह पहले किसी प्रकरण में विस्तार से बताया गया था कि ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल जाति, बल, ऐश्वर्य, तपश्चरण आदिक ये अभिमान के आश्रय होते हैं। तो अभिमान करना भी एक दुर्भाव है। अभिमान करना यह अपने आप की अशान्ति के लिए है और जिन लोगों के बीच अभिमान करेंगे उन लोगों को भी कष्ट होगा, क्योंकि वे भी तो कुछ क्लेश मानते हैं। उन्हें अरुचिकर होता है। तो अभिमान में खुद भी दुःखी होंगे और दूसरे भी कष्ट मानेंगे।

**ख्याति कामना में वर्तने का अशुभ भाव—** इसी प्रकार ख्याति भी प्राप्त हुई है, ख्याति की वाञ्छा, नाम की वाञ्छा नाम का मोह। अभी कोई फर्श बन रहा है तो उसमें लोग जहाँ से पैर रखकर चलते वहाँ अपना नाम लिखवाते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि उन पर पैर रखकर चलने से कितना अविनय होती है। आखिर उस नाम में जो अक्षर लिखे जाते वे आगम के ही तो एक अंग है। उन्हीं अक्षरों पर लोगों के पैर पड़ते तो फिर यह अविनय ही तो कहलाया। देखिये—जितने भी अक्षर हैं वे सब एक यंत्र के अंग है। आप लोग यंत्र बनाते हैं। कोई सा भी यंत्र हो उस यंत्र में सिद्धचक्र यंत्र भी है। स्वर और व्यञ्जन ये सब उनमें लिखना होता है। ये ही तो मंत्र में अक्षर लिखे होते हैं। मगर अपनी ख्याति का इतना अधिक व्यामोह है कि बस मेरा नाम तो ऐसी जगह में आना चाहिए कि लोगों को कमरे के अन्दर घुसते ही पहले मेरा नाम दिख जाय। लोग चलेंगे तो नीची निगाह करके चलने पर नीचे फर्श पर लिखे हुए नाम पर निगाह पड़ेगी और ऊपर निगाह करके चलने पर भीट पर लिखे हुए नाम पर निगाह पड़ेगी, तो अपने नाम की ख्याति का उद्देश्य रखकर कहीं पर अपना नाम लिखाना यह सब अशुभ भाव है। अपना नाम लिखवाने में पैसा भी खर्च किया और पाप भी बाँधा। किसी भी प्रकार हो, अपनी ख्याति की चाह बनाना यह सब अशुभ भाव है क्योंकि इसका मिथ्या अभिप्राय से सम्बंध है। जिसमें इसकी विशेष ख्याति हो उस काम को तो छोड़ बैठे, उसके लिए तो उत्साह न जगे और जिन कामों से पापकर्मों का बंध हो उनको करने के लिए उमंग बढे तो ये सब अशुभ भाव हैं। एक मिथ्याभाव में ये सब अशुभ भाव हैं। पहले जमाने में गुप्त त्याग करने की बड़ी महिमा थी। एक दूसरे की मदद करना, उपकार करना, धार्मिक कार्यों में दान देना, ये सब गुप्त रूप में हुआ करते थे और अब भी कुछ ऐसे लोग होते हैं कि जिनको अपनी ख्याति की भी कुछ वाञ्छा नहीं होती। ख्याति भी एक अशुभ भाव है। इस प्रकार इस अशुभ भाव में जो बर्तता है उसका फल है संसार परिभ्रमण। अब इसके आगे शुभ भावों का वर्णन करते हैं कि शुभ भाव क्या क्या होते हैं।

**दव्वत्थिकाय—छप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।**

**बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ।।55।।**

रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दया इसद्धम्मे ।

इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ।।56।।

**द्रव्यों के यथार्थ ज्ञान से मोह का अभाव व मोह के अभाव से प्रशस्त शुभ भाव की संभवता—** सुगति के कारणभूत शुभ भाव हैं जिनका इन दो गाथाओं में वर्णन है। छ द्रव्यों में जो वर्तना करता है वह शुभ भाव है। मायने 6 द्रव्यों के बारे में यथार्थ बोध रखना, द्रव्य 6 नहीं होते, द्रव्य 6 प्रकार के होते हैं। द्रव्य तो अनन्तानन्त हैं। जीव अनन्तानन्त, पुद्रल उससे भी अनन्तानन्त, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य। इन प्रत्येक द्रव्यों की सत्ता जुदी-जुदी है। अपने आपके स्वरूप से सत् है, पर रूप से असत् हैं, इतना ही किसी को बोध हो तो मोह न रहेगा उसे, अब मोह न रहेगा यह सुनना भी कुछ लोग पसंद नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि बिना मोह किए घर नहीं चलता। मान लो किसी लड़के को घर से मोह न रहा तो वह कहीं घर छोड़कर चल न दे, घर का काम फिर कैसे चलेगा, यह सोचकर लोग मोह छोड़ने की बात पसंद नहीं करते, पर उन्हें यह पता नहीं है कि इस जीव के साथ जो मोह निबद्ध है यह तो इस जीव के लिए कलंक है। यह ही इस जीव को संसार में रुलाता है। अगले भव का तो किसी को कुछ नहीं मालूम, तो अगले भव में आप मोह न करें यह बात तो आप मान लेंगे मगर इस भव में कोई कहे कि मोह न करो तो यह बात सुनकर किसी-किसी को चोट पहुंच सकती है कि हमारा तो बड़ा अच्छा सब कुछ चल रहा है और यह क्या बात कहीं जा रही है। अच्छा तो अगले भव का तो कुछ पता नहीं इसलिए यह कहा जाय कि अगले भव में मोह न करना, तो इस बात को मजे में सुन लेंगे। अच्छा चलो आगे नहीं करना मोह और यहाँ जो आज किया जा रहा है सो यह कितने वर्ष तक कर लेंगे? आखिर छोड़ना तो सब पड़ेगा ही, यह मोह ही इस जीव पर विपत्ति है और जिन शासन का, जिन वाणी का रहस्य यह ही है कि जिन वचनों को सुनकर मोह छूटे। मोह छूटना कहो या यह कहो कि अपने अविकार स्वरूप का परिचय मिले।

**शास्त्रोपदेश का उद्देश्य अविकार चित्स्वरूप का दर्शन—** सभी शास्त्रों में वर्णन इस उद्देश्य के लिए है कि मुझे तो अविकार चैतन्य-स्वरूप का अनुभव मिले। तब जो भी आप पढ़ें आगम में उसको इस निगाह से पढ़ें कि इसमें से मुझे को अविकार चैतन्तस्वरूप के लिए, दृष्टि के लिए उत्साह मिल रहा या नहीं। जिन वचनों से राग बढ़े, स्वच्छंदता के लिए, विषयवृत्ति के लिए उत्साह जगे वे आगमवचन नहीं। समस्त आगम वचन में यह ही कला भरी पड़ी है कि उन वचनों से प्रेरणा मिलती है अविकार चैतन्यस्वरूप की साधना की। अब इस कुञ्जी के आधार पर आप सभी पदार्थों का निर्णय कर सकते हैं।

**निश्चय नय व व्यवहारनय का विषय पृथक् होकर भी अविरोध—** देखिये निश्चयनय और व्यवहार-नय ये दो नय बताये गए हैं। इनके अलावा और भी कुछ बताये गए क्या? हाँ बताये गए। व्यवहार और उपचार। तो अब कितने हो गए? चार बातें—(1) निश्चयनय (2) व्यवहार-नय (3) व्यवहार और (4) उपचार। अच्छा इनके अतिरिक्त और भी कुछ हैं क्या? हाँ हैं। वह है शुद्धनय। तो अब आप के सामने 5 बातें आयीं। (1) शुद्धनय (2) निश्चयनय (3) व्यवहारनय (4) व्यवहार और (5) उपचार। शुद्धनय के मायने यह है कि निश्चयनय परम शुद्ध निश्चयपय का जो विषय है वह बिना ही कुछ तरंग और विकल्प के बिना ही ध्यान में रहे, न निश्चयनय का विकल्प रहे न व्यवहारनय का, किन्तु निश्चयनय के विषय का ही एक निर्विकल्प विधि से ज्ञान चले। यह शुद्धनय उपकारी है और इसके विषय का जब तक अपने को दर्शन है तब तक यह जीव सुरक्षा में है। निश्चयनय एक ही वस्तु

को निरखता, एक ही द्रव्य में 10 द्रव्यों की बात देखता। निश्चयनय में यह ही नियंत्रण है केवल। अब इस नियंत्रण में रहते हुए भी निश्चयनय इतना फैला हुआ है कि इसकी कई बातें व्यवहार-नय में पहुंच जाती हैं। निश्चयनय में तीन प्रकार हैं (1) परमशुद्ध निश्चयनय (2) शुद्ध निश्चयनय (3) अशुद्ध निश्चयनय। शाश्वत अविकार स्वरूप को उस ही द्रव्य में निरखना परमशुद्ध निश्चयनय है, और आत्मा की शुद्ध परिणति को उस ही आत्मा में एक है, उसमें है, इस अभेद से देखना शुद्ध निश्चयनय है। देखिये भेदनाम क्या? शुद्ध पर्याय विशिष्ट द्रव्य को देखना। तो जब भेद दृष्टि बनी, वही व्यवहारनय बन गया। जब एक ही द्रव्य में देखने का अभेद बना तो वही निश्चयनय बन गया। अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध पर्याय को उस ही द्रव्य में देखना, जैसे जीव रागी है। देखिये व्यवहार जैसी बात बनी, यहाँ भेद डाला, विकार जाना फिर भी उस ही द्रव्य में देखा जा रहा इस कारण निश्चयनय है। वही चीज भेद की ओर से देखें तो व्यवहार है। अभेद विधि से देखे तो निश्चयनय है। व्यवहारनय-निमित्त नैमित्तिक भाव बताना, अनेक सम्बंध बताना, घटना बताना व्यवहारनय है। जैसे जीव कर्म से बँधा है, यह व्यवहारनय का विषय है। मगर यह गलत है क्या अभी? गलत तो नहीं है मगर एक द्रव्य को ही निरखकर नहीं बताया गया इस कारण व्यवहारनय है।

**व्यवहार व उपचार से समझ व प्रवृत्ति**— इन सब नयों का निश्चयनय और व्यवहारनय इनका कथन किया जाय तो व्यवहार और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में आरोप करके कथन किया जाय तो उपचार। आगम में सभी रीतियों का अनुसरण किया है। उपचार बिना भी कुछ लिखा नहीं जा सकता, व्यवहार बिना कुछ समझा नहीं जा सकता। अब इन सब कथनों में अपनी ऐसी कला रखिये कि सभी कथनों से मुझे अपने अविकार चैतन्य स्वभाव की दृष्टि मिले। यह हो सकता है। निश्चय से क्या, उपचार तक से भी कुछ शिक्षा ले सकते हैं। जैसे जब जाना, कि यह शरीर, ये मनुष्य तिर्यज्च ये पशु जीव हैं। यह बात उपचार से है, क्योंकि देह जुदा है जीव जुदा है। इस देह में जीव का आरोप किया है। यह ज्ञान जिसको है क्या उसको स्वभाव की खबर नहीं है? जिसको अपने स्वभाव की खबर नहीं वह उपचार को उपचार भी नहीं समझ सकता। जिसको सच की खबर नहीं वह झूठ को झूठ भी नहीं समझ सकता। तो उपचार को भी सही ढंग से समझें उससे अपने स्वभाव के आश्रय की शिक्षा मिलती है।

**निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय का फल विकार से हटकर अविकार स्वभाव की ओर गमन**— व्यवहारनय से जाना कि जीव में जो ये रागादिकभाव हो रहे हैं वह सब कर्मरस का प्रतिफलन है। कर्मरस की फोटो है। समयसार में वस्तु को बताया है कि मिथ्यात्व दो तरह का है—कर्ममिथ्यात्व और जीव का मिथ्यात्वभाव। राग दो तरह का (1) कर्म प्रकृति का राग और (2) जीव में उत्पन्न हुआ रागभाव। तो जैसे—दर्पण के आगे कोई नीला पीला कपड़ा रख दिया तो वह कपड़ा तो नीला पीला है ही। चाहे सामने रखें चाहे कहीं रखें—वह पर्दा तो नीला पीला है ही, मगर जब वह कपड़ा दर्पण के सामने आया तो दर्पण भी नीला पीला आदि रूप हो गया, तो दर्पण भी नीला पीला है और उधर कपड़ा भी नीला पीला है। कपड़े का नीला पीलापन है कपड़े में तादात्म्यरूप रखता हुआ और दर्पण में नीले पीले कपड़े का सन्निधान पाकर दर्पण की स्वच्छता का विकार रूप, तो वहाँ झट समझ बैठती है कि दर्पण का फोटो अलग चीज है और कपड़े का रंग अलग चीज है। यदि उस, रंगीन कपड़े को दर्पण के सामने से हटा दिया जाय तो वह नीला पीला आदि रंगीन फोटो भी हट जायगा। और ज्ञान है कि यह नीला पीला आदि प्रतिबिम्ब औपाधिक है। यह दर्पण ने निजी स्वरूप से नहीं है। यह हटाया जा सकता है। जहाँ

निमित्त भाव का ज्ञान हुआ कि ये रागादिक भाव कर्मरस की फोटो हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, औपाधिक हैं इसलिए ये हटाये जा सकते हैं। एक शूरता प्रकट होगी निमित्त भाव समझने पर। जहाँ यह जाना इस प्रसंग में कि राग भाव तो मेरे को परेशान कर रहे, मेरे में उत्पन्न हुए, मेरे ही कारण से हुए तो अब मैं क्या करूँ? ये कैसे मिटेंगे? मोक्ष का कोई रास्ता ही नहीं वहाँ। विकार मेटने का रास्ता वह बना सकता है। जो विकारों को औपाधिक पर भाव मानेगा और जो रागादिक को अपनी ही चीज मानेगा वह उन्हें मिटायेगा किस तरह से? तो निमित्त भाव का कथन जानकर कितना इसमें स्वभाव का आलम्बन लिया, यह मैं नहीं। मैं तो अविकार चैतन्यमात्र हूँ। निश्चयनय एक ही आत्मा को देखेगा। रागी है तो यह राग आत्मा की परिणति है। इसका आधार यह आत्मा है, यों सब देखेगा।

**व्यवहारनय का उपकार—** तो एक बार तो निश्चयनय के सहारे से निश्चयनय में भी शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, परमशुद्ध निश्चयनय की बात नहीं कह रहे, उसमें तो शुद्धनय की निकटता है, पर जहाँ शुद्ध पर्याय को अशुद्ध पर्याय को निश्चयनय देखा जा रहा है, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय तो उसके द्वार से तो एक बार स्वभाव का आश्रय करने में विलम्ब हो सकता है, पर ये विकारभाव औपाधिक हैं, पर भाव हैं, नैमित्तिक हैं। मेरा इनसे क्या मतलब। मैं तो अविकार चैतन्यमात्र हूँ। वह इस रास्ते से स्वभाव की ओर जल्दी आ सकता है। प्रयोजन यह है कि जिस प्रकार आप अपने सहज अविकार चैतन्य स्वरूप की ओर आ सकें वह काम करना है। यह ही उपदेश का उद्देश्य है। यह ही धर्म में मुख्य काम है। जिनका भवितव्य उत्तम है उनको ही इस धर्म तत्व के जानने की, मानने की, सुनने की रुचि जगती है। एकत्वसप्तति में बताया है कि जिसने इस अंतस्तत्व की बात प्रेम से सुनी, समझी वह निश्चयभव्य है, और भविष्य में वह निर्वाण का पात्र है। तब कुछ सोचना जरूर चाहिए कि जिस रास्ते से चल रहे हैं प्रारम्भ से, धन कमाना, तृष्णा करना, खूब अच्छा खाना पीना और अपनी स्त्री पुत्रादिक परिजनों को मानना कि ये ही मेरे सब कुछ हैं। इनके लिए ही मेरा तन, मन, धन, वचन सर्वस्व हाजिर है। और, तो मानो अन्य किसी में कुछ जान ही न हो, उनको तो मानो कुछ दिखता ही न हो। ऐसा अगर मोह से रंगा हुआ हृदय है तो यह तो कोई दया नहीं है इसमें अपने भगवान आत्मा का घात है। यहाँ किसका कौन? खुद के लिए का फल खुद को ही भोगना होगा। दूसरा कोई साथी न होगा। शुभ भाव करेंगे तो सुगति, अशुभ भाव करेंगे तो दुर्गति। और अपने अविकार चैतन्य स्वभाव का परिचय करेंगे और वही रुचेगा और उसमें ही स्थिर होने का एक दृढ़ प्रतिज्ञ बनेगा तो वह मोक्ष पायेगा। अब जो रुचता हो सो करना चाहिए। रागद्वेष मोह के प्रसंग का फल, इन बाह्य पदार्थों में आशक्ति का फल यह संसार भ्रमण है, सो सब दिख ही रहा है। कोई एकेन्द्रिय हैं। कोई कीड़ा मकोड़ा है, कोई कुछ है। यह ही बनना पड़ता है उसे। जिसको अपने स्वरूप की रुचि नहीं जगती और बाह्य विषय, बाह्य साधन, परिजन आदिक ये ही जिनके लिए सब कुछ हैं, देवशास्त्र गुरु में जिन के श्रद्धा भक्ति नहीं उमड़ती है उनको क्या फल मिलता है सो देख लो, ये जो कीड़ा मकोड़ा आदिक की खोंटी गतियाँ संसार में दिख रहीं, बस यही मो इसका फल है।

**यथार्थ वस्तु परिचय की महिमा—** यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि अशुभ भाव से तो नरकादिक दुर्गतियाँ मिलती हैं और शुभ भाव से स्वर्ग सुख मिलता है; उसी सिलसिले में यहाँ शुभ भाव का वर्णन चल रहा है। वे शुभ भाव कौन कौन से हैं? तो अभी वर्णन था कि 6 द्रव्यों का यथार्थ बोध करना, उसकी चर्चा में रहना, यह शुभ भाव हैं। अब कह रहे हैं कि अस्तिकाय विषयक ज्ञान चर्चा में रहना, यह शुभ भाव हैं। चर्चा कुछ कठिन लगती होगी पर जीवन में यदि जैनशासन के कुछ तथ्यों का परिज्ञान न किया, प्रयोजनभूज थोड़ा

भी तो अपने आप से पूछो कि यह जीवन किसलिए पाया, क्योंकि बाहरी परिकर जोड़कर धन वैभव धन वैभव कुटुंब परिजन को सर्व समर्पण कर करके कौन सा लाभ पा लोगे? अरे ये सब मरण होने पर सब एक साथ छूट जायेंगे। तो अपने चित्त में एक यह बात लाना चाहिए कि कुछ कठिन पड़े तो भी अभ्यास कर कर के जैन शासन के तथ्यों को समझना ही होगा। यहाँ वर्णन कर रहे हैं अस्तिकाय का। अस्तिकाय 6 द्रव्यों में गर्भित हैं, पर द्रव्यों का वर्णन होता है और ढंग से, अस्तिकाय का वर्णन होता है और ढंग से। जीव के बारे में ये चारों बातें आयेंगी। (1) जीवद्रव्य (2) जीव अस्तिकाय (3) जीवतत्त्व और (4) जीव पदार्थ। कहने का सब एक बात है लेकिन विभाग अलग-अलग हैं। उद्देश्य सब का एक हैं। मगर भाग जुदे-जुदे हैं।

**द्रव्य क्षेत्र काल भाव से वस्तु का परिचय**— वस्तु की पहिचान होती है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से। कोई भी पदार्थ जाना। मानो एक चौकी को ही जानना है, उसका परिचय पाना है तो यह चौकी पदार्थ है। जैसा भी है, सामने मजबूत जैसी भी काम में ले रहे हैं, तो यह तो हुआ द्रव्य की ओर से उत्तर, यह चौकी पदार्थ है। क्षेत्र की ओर से उत्तर होगा कि यह इतनी ऊँची लम्बी चौड़ी है, समझा चौकी को ही, मगर क्षेत्र से चौकी पदार्थ को समझो तो इस तरह समझा काल की दृष्टि से समझा तो यह पुरानी है, नवीन है, मजबूत है, यह समझा और भाव की दृष्टि से समझा तो उसके गुण जाना, उसकी शक्तियाँ जानी, किसी भी पदार्थ को समझना हो तो इन चार विधियों से जाना जाता है, तो ऐसे ही जीव को भी समझना था। तो द्रव्य एक है पिण्ड, द्रव्य के समय समय पर कई अर्थ हो जाते हैं, यहाँ व्यवहृत अर्थ लेना तो जब द्रव्य की ओर से देखा, पिण्ड की ओर से देखा तो जिसको हम भी जीव कहते हैं देखकर, जो एक अखण्ड पिण्ड, वह जीव पदार्थ है। जब क्षेत्र दृष्टि से देखा तो उसका नाम पड़ता है जीव-अस्तिकाय। अस्तिकाय का वर्णन चलेगा, कितना बड़ा है, देह प्रमाण है, इसे अस्तिकाय में बताया। काल से वर्णन किया जायगा तो उसका नाम पड़ेगा जीव द्रव्य। जो परिणमन करें, जिसमें पर्याय बनें, जिनकी पर्याय हुई, जो पर्यायों को पाता रहेगा उसका नाम है द्रव्य और भाव से देखें तो उसका नाम पड़ता जीवतत्त्व। एक ज्ञानस्वरूप चैतन्यमात्र सहज भाव पर नजर गई, स्वभाव पर दृष्टि गई तो जैसे किसी आदमी के प्रयोजनवश 4-4 नाम भी हो जाते, वही पुजारी, वही सेठ, वही पंडित और अगर किसी का रिश्तेदार है तो सबको प्रसिद्ध हो गया वही लालाजी। अब बात एक ही है मगर पूजा करते समय उसे कोई कहने लगे सेठजी तो यह बेतुकी बात हो गई, वहाँ पुजारी ही कहना चाहिए था। वही पुरुष जब समाज की सभा में बैठा हो या घर द्वार में बैठा हो तो कहना लाला जी, और वहाँ कोई कहे कि आवो पुजारी जी तो वह बेतुकी बात हो गई। जब वही पुरुष शास्त्र पढ़ रहा हो तो उस समय लाला जी कहना तो यह बेतुकी बात है। उस समय पंडित जी कहना चाहिए। दुकान की गद्दी पर बैठा हो तो क्या उस समय पुजारी कहोगे? उस समय कहना चाहिए सेठजी। तो जैसे प्रयोजनवश चार बातें पुकारी जाती है ऐसे ही परिचय की विधियों के कारण इस जीव को चार नामों से पुकारा गया है। (1) जीव द्रव्य, (2) जीव अस्तिकाय, (3) जीव तत्त्व और (4) जीव पदार्थ यहाँ वर्णन चल रहा है अस्तिकाय का। अस्तिकाय उसे कहते हैं जहाँ बहुत प्रदेश हों, एक न हों, अनेक हों। काय नाम है शरीर का। शरीर में जैसे बहुत प्रदेश हुआ करते हैं उस प्रकार से जहाँ बहुत प्रदेश हो उसका नाम है अस्तिकाय। तो द्रव्य बताये गए थे 6 प्रकार के जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये ही अस्तिकाय है। पर काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह सदा ही एक प्रदेशी रहता है। उसका किसी से सम्पर्क भी नहीं होता

कि उसे कभी बहुप्रदेशी होने का मौका मिले, इसलिए काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं गिना है। इन सब बातों के निर्णय से अपने आत्मा के बारे में विशिष्ट परिचय होता है।

**ज्ञान की समीचीनता का मूल**— ज्ञान नाम उसका है जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जान जाय। ज्ञान कहो या आत्मा कहो, एक ही बात है। भाव और भाववान में संज्ञायें हैं। ज्ञानमय आत्मा। तो यह ज्ञान इस ज्ञान के ही स्वरूप को जान ले तो वह कहलाता है सम्यग्ज्ञान। और, जो ज्ञान अपने आप के स्वरूप को नहीं समझ पाता और बाह्य वस्तुओं को जानने में बहुत उमंग रखता, जानता भी है। हर्ष भी करता है, तो कितना भी वह जान ले, पर वह संसार से छुटाने वाला ज्ञान नहीं। यह ज्ञान तो बहुत मोटा लौकिक है, पर ऊँचे ऊँचे विज्ञान भी कोई पा ले जैसे रेडियो, वायरलेस, टेलीविजन आदि की अद्भूत बातें, जिनके लिए बड़े बड़े विभाग बने वे भी जान ले अन्य प्रकार से तो ज्ञान की तो तरक्की है लौकिक हिसाब से, मगर संसार से मुक्ति पाने के लिए तो वह ज्ञान कुछ भी सहायक नहीं है। जो ज्ञान स्वरूप को जाने उसको कहते हैं सम्यग्ज्ञान। तो जीव तत्त्व को जानने में अनेक प्रकार से परिचय बनाना पड़ता है।

**जीव पदार्थ की चर्चा**— जीव को, पिण्ड रूप से जाने तो यह है, जो गुण पर्यायों का पिण्ड है, ज्ञानानन्द का पुञ्ज है वह है जीव। क्षेत्र से जाना तो देह प्रमाण, काल से समझे तो ऐसे ऐसे विचार वाला, ऐसी परिणति वाला। भाव से समझे चैतन्यस्वरूप। सहज आनन्दस्वरूप। ये अस्तिकाय है। कैसा यह भगवान परमात्मतत्त्व घट-घट में विराजमान है। सब ही वह परमात्मस्वरूप है, अनुपम अलौकिक आनन्द का अधिकारी प्रभु, स्वामी यह आत्मा अपने आपको न जानकर यह मानव जीवन बाह्य पदार्थों की कल्पनाओं में ही बिता कर खो रहा है। अपना महत्त्व नहीं आँकता। अपने लिए आप ही महान मगर यह देह वाला नहीं महान। दुनिया की नजर में आने वाला यह जीव महान नहीं, किन्तु जिसका कोई पहिचाननहार नहीं वह स्वयं ही पहिचाननहार है। स्वयं के ही अनुभव में आने योग्य है ऐसा वह परम ब्रह्म स्वरूप चित्प्रकाश भगवान आत्मतत्त्व, वह मकान है। उसकी जिसने सेवा की, उपासना की, उसके भव-भव के बाँधे कर्म कट जाते हैं। धर्म में विकल्प कहीं नहीं। जहाँ धर्म के नाम पर विसम्वाद हो या ऐसी उमंगें और प्रवृत्तियाँ हों वहाँ कभी भी धर्म नहीं। प्रत्येक आत्मा का धर्म उस ही आत्मा के सहजस्वरूप में हैं देख सके तो स्वयं में ही मिलेगा। ज्ञानपुंज होकर भी आज यह पापरूप में बर्त रहा है। फिर भी स्वभाव अधर्म का न बनेगा। चाहे कोई कितना ही पाप करे, स्वभाव तो धर्मरूप ही है, मगर उसको जो देख लेगा, अनुभव कर लेगा, वह तो कर रहा है धर्मपालन और जिसने इसको कभी नहीं तका और बाह्य वस्तु में धर्म के नाम पर कितना ही कष्ट उठा ले। धर्म रंच भी वहाँ नहीं मिलता। आत्मा का स्वभाव आत्मा का धर्म है उसके पहिचाने बिना धर्म का ही लाभ नहीं होता। स्वयं स्वयं में महान है। पर वह स्वयं क्या जो निरेपेक्ष पर संबंध रहित अपने आपकी सत्ता से सहज अंतः प्रकाशमान चिद्ब्रह्म, उसकी दृष्टि आने पर यह जीव होता है सम्यग्दृष्टि।

**पुद्गल अस्तिकाय**— शुभ अशुभ के प्रकरण में तो यह बताया जा रहा है कि अस्तिकाय 5 होते हैं जिसमें पहला अस्तिकाय हुआ जीव। दूसरा अस्तिकाय है पुद्गल—जिसमें रूप, रस, गंध स्पर्श पाये जायें वे सब पुद्गल हैं जतो यहाँ जितना जो कुछ दिख रहा वह सब पुद्गल। पुद्गल शब्द एक ऐसा विचित्र शब्द है कि जिसके बोलने का रिवाज जैन शासन में है अन्यत्र नहीं। पुद्गल का अर्थ क्या? तो वैसे तो पुद्गल शब्द के अनेक अर्थ हैं—जैसे भौतिक पदार्थ, अचेतन पदार्थ, पर पुद्गल शब्द स्वयं कह रहा है कि पुद् गल अर्थात् जो पूरे और गले। पूरी आप्यायने धातु से पुद् बना और गल स्रवणे धातु से गल बना, दोनों का



मिलकर पुद्गल बना, याने जो पुद् अर्थात् पूरे (बने) और गल अर्थात् गले (नष्ट हो) उसे कहते हैं पुद्गल। यह कला इस पुद्गल में पायी जाती है कि रहकर बढ़ जाय और बिछुड़ कर घट जाय उसका नाम है पुद्गल। ये सब दृष्यमान चीजें पुद्गल हैं। एक शब्द और अधिक बोलने में आया करता कि ये सब मायामय हैं। माया का अर्थ क्या है? कुछ न कुछ तो बोलेंगे ही मगर हृदय में नहीं बैठ पाता कि कोई है माया, कोई है इन्द्रजाल, कोई है पदार्थ। इसका यह प्रभाव है। अब माया शब्द का बहुत ही सीधा अर्थ है। सीधी परिभाषा है कि जो मिलकर बना हो उसका नाम है माया और जो केवल अकेला द्रव्य हो वह है परमार्थ। एक कुञ्जी दी जा रही है जिसके आधार पर परमार्थ और माया का सही चित्रण आ सके। जो द्रव्य केवल अपनी सत्ता मात्र हो वह तो हैं परमार्थ और जहाँ मिल गए हों दो मिले हों, तीन चार मिले हों। अनन्त मिले हों उसे अनेक कहते हैं। जो एक नहीं अनेक पदार्थों का मिला हुआ जो रूप है उसको कहते हैं माया। अब आप यह देखो कि आँखों से जो कुछ दिखता है वह सब परमार्थ है या माया? सब माया है। भीट, पुरुष, पशु, पक्षी आदि ये देह जो भी नजर आ रहे हैं वह अनेक द्रव्यों का मिला हुआ रूप है अनन्त परमाणुओं का मिलकर देह है, अनन्त परमाणुओं का मिलकर यह मकान हैं। जो भी नजर आ रहा वह सब माया है और परमार्थ क्या है? तो स्वयं में जो एकाकी जीव तत्त्व है, चिद्रूप, चेतनामात्र, बराबर उसकी दृष्टि होने से, उसका अभ्यास बनने से वह तत्त्व प्राप्त हो जाता है। 5 अस्तिकायों की चर्चा चल रही है जीव और पुद्गल। पुद्गल अणु-अणु, अणुओं का पुँज।

**धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, व आकाशद्रव्य अस्तिकाय का निर्देश—** धर्मद्रव्य एक सारे लोकाकाश में फैला है जिसको कोई एक ईश्वर सूक्ष्म कोई ऐसा शक्तिमान द्रव्य कहते हैं कि जिसके रहने से जीव पुद्गल का गमन होता है। जैसे आज के ढंग में तरंग कहो, वातावरण कहो, जहाँ तक गति होती है। तो गमन का हेतुभूत है धर्म-द्रव्य और चलते हुए ठहर सके उसका निमित्त है अधर्मद्रव्य। और, यह सब आकाश। जहाँ सब विराजे हैं। सब स्थित हैं और काल भी अणु हैं, प्रत्येक जगह पर एक-एक कालाणु हैं कि हजिसके परिणमन से वहाँ रहने वाला पदार्थ भी परिणमता है। ऐसे 6 द्रव्यों में 5 अस्तिकाय हैं। इनका जानना, इनकी चर्चा में आना, इनमें जो उपादेय तत्त्व हैं जीव, स्वयं, आत्मा, उसकी दृष्टि बनाना, ऐसा पौरुष करना यह कहलाता है शुभ भाव।

**सप्त तत्त्व की चर्चा में वर्तने का शुभ भाव—** अब सात तत्त्व की बात सुनो—तत्त्व शब्द कैसे बना? तस्यभावः तत्त्वं, अनेक लोग तो इस तत्त्व शब्द के लिखने में भी गलती करते हैं। डबल आधा त (त्) यह कहाँ लिखना है कहाँ नहीं लिखना है इसका कुछ विवेक नहीं होता। जैसे किसी ने लिखा अस्तित्व तो वह डबल आधा त (त्) कर देंगे, जैसे अस्तित्व और वस्तुत्व में भी डबल आधा त कर देंगे जैसे वस्तुत्व, पर वहाँ डबल आधा त नहीं हैं। वहाँ होना चाहिए इस तरह—(अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। जो तकारान्त शब्द हैं उसके आगे त्व लगे तो वहाँ डबल आधा त (त्) होता है—जैसे सत्त्व, सत् त्व, महत्त्व, महत् त्व, तत्त्व, तत् त्व। अब वस्तुत्व में वह डबल आधा त (त्) कहाँ से आ गया? तो तत्त्व शब्द में यह भाव बताया है—तस्यः भावः तत्त्वं। पदार्थ का जो स्वरूप है वह पदार्थ हैं। जब कभी पदार्थ निसार हो जाता तो कहते हैं कि आत्मा से तत्त्व तो निकल गया, जो उस का प्राण है जिसके रहने से उसका सत्त्व है, उसे कहते हैं तत्त्व। ऐसे तत्त्व 7 कहे गए हैं—(1) जीव, (2) अजीव, (3) आश्रव, (4) बंध (5) संबर (6) निर्जरा और (7) मोक्ष। इन 7 तत्त्वों की जानकारी जिसे नहीं है वह कभी भी विकार से हटकर अविकार चितस्वरूप में नहीं आ पाता। तत्संबंधी फुटकर ज्ञान तो प्रायः लोगों को होता है मगर उसका एक

सिस्टेमेटिक (अनुपद्धति) विधिवत ढंग से उसका परिचय होना चाहिए। ताकि अपना अविकार स्वरूप अपनी दृष्टि में स्पष्ट रहे।

**सप्ततत्त्व में जीवतत्त्व की चर्चा**— 7 तत्त्व में मूल क्या बताया? जीव और अजीव, ये आस्रवादिके आधारभूत हैं, यहाँ जीव से मतलब है चेतन पदार्थ से, और उसको निरखा जाता है दो दृष्टियों से। सामान्य और विशेष। सामान्य से जीव को निरखना यह तो है धर्मसंबंधित निरख और विशेष से जीव को निरखना यह है धर्म संबंधित निरख का सहायक। लोक में विशेष का बड़ा आदर किया जाता। कोई विशिष्ट पुरुष आये तो उनका सम्मान होता और सामान्य का कोई आदर नहीं करता। अध्यात्मशास्त्र में विशेष तो उपेक्षा के योग्य है और सामान्य उपादेय है। सामान्य में कितना महव है। सामान्य कहो या साधारण। जब कभी किसी नगर में दंगा हो जाता, परस्पर में कोई झगड़ा या अनबन हो जाती और सरकारी प्रबंध वहा चलता, जब कुछ ड़्खीक बन गया तो कहते हैं कि अब उस नगर में स्थिति साधारण है। तो इसका अर्थ है कि अब बहुत अच्छा है। साधारण शब्द की महिमा देखो। तो आत्मा में भी साधारण सामान्य जो तत्व है वह पाया जाता है विकल्प में कर और विशेष तत्व पाया जाता है विकल्प करके। तो जीव को दो निगाहों से निरखना है। एक तो चैतन्य सामान्य, जो अंतः सतत् और दूसरी निगाह के पर्याय प्रकाशमान है।

**स्वभावदृष्टि के परिचय में एक उदाहरण**— जैसे जल का स्वभाव ठंडा है, एक दृष्टान्त ही कह रहे—जल भी एक पर्याय है, पदार्थ नहीं है, फिर भी उसको समझने के लिए दृष्टान्त कह रहे। जल जिस समय खूब गरम हो गया तो जल का कोई हिस्सा ठंडा रहा क्या? लेकिन जब पूछेंगे कि इस जल का स्वभाव कैसा है तो क्या आप यह कहेंगे कि इसका गरम स्वभाव है, यह ही कहेंगे कि इसका ठंडा स्वभाव है और जब कहेंगे कि अच्छा आप इसे पी जावें तो उसको पीते समय आप को तेजगरम लगेगा फिर भी आप यह कहेंगे कि इस जल का स्वभाव ठंडा है। अब बताओ जल के गरम हो जाने पर उसका वह ठंडा स्वभाव कहा गया? तो वह ठंडा स्वभाव उस सारे जल में है। दिखता तो नहीं है। हा वह अदृश्य है, फिर कैसे मानें कि यह ठंडा है? कहते हैं कि जो गरमी आयी है वह पर का संग पाकर आयी है, इस कारण वह आगंतुक है, औपाधिक है, थमने वाला नहीं, स्थिर होने वाला नहीं, प्रयोग करके वह गरमी हटायी जा सकती है। और उपाधि सम्बंध से तो गरम रहेगा जल और उपाधि न मिले, अग्निसम्पर्क न मिले तो वह ठंडा रहता है। तो जल में जो ठंडा स्वभाव है वह शक्तिरूप है, सारा जल गरम हो गया फिर भी जल में अन्तःप्रकाशमान है वह शीतस्वभाव, ऐसे ही यह जीव विकृत हो गया। रागद्वेष में लिप गया, कषायों से अनुरंजित हो रहा फिर भी इस जीव में चैतन्यस्वरूप वह ज्ञातृत्व शक्ति वह अंतः प्रकाशमान है। वह दिखेगा नहीं पर जानने चलेंगे तो अनुभव में आ सकता है।

**ज्ञान की अप्रतीघातता**— इस ज्ञान को अपने लक्ष्य में जाने से कोई रोक नहीं सकता। यह किसी से छिड़ता नहीं, इसे कोई पकड़ सकता नहीं। जैसे मानो आप यहा शास्त्रसा में बैठे हैं और आप यहा बैठे-बैठे घर के अन्दर तिजोरी के भीतर रखे बक्ख के भीतर किसी छोटे डिब्बे में एक छोटी पोटली में बँधी अंगूठी का ध्यान करने लगे तो क्या आपका ज्ञान वहाँ तक पहुंच नहीं जाता? उसके जानने में ये भीट, किवाड़, तिजोरी, बक्स या छोटी डिब्बी वगैरह ये कोई आड़े आते हैं क्या? इनमें ज्ञान अटक जाता है क्या? अरे इनमें कहीं न अटककर सीधा उस अंगूठी में ज्ञान पहुंच जाता है। यह तो ज्ञान की बात है। मगर जो बाहरी बातें हैं, हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र एकसरा यंत्र होता है, उस पर आप खड़े हो जायें तो वह एकसरा यंत्र आप की हड्डी का फोटो ले लेगा। वह आप के शरीर के बाल, चाम, खून, मांस मज्जा आदि में न अटक कर सीधे आप की हड्डी का फोटो ले लेता है।

और अगर कैमरे से हड्डी का फोटो लिया जाये तो वह फोटो न ले सकेगा। यह तो बाहर में दिखने वाली चीज का ही फोटो ले सकेगा। तो एक्सरा यंत्र के संबंध में जो बात कही गई कि वह बाहर में दिखने वाले रोम, चाम, खून, मांस मज्जा आदिक का फोटो न लेकर सीधे हड्डी का फोटो ले लेता है। यह तो बात यहाँ की हैं पौद्गगलिक पदार्थों की। ज्ञान तो एक अद्भुत आदित्य है, वह जहाँ जायगा, प्रकाश करता हुआ जायगा और पा लेगा। जब इस ज्ञान से अपने आपके स्वरूप में अन्तः बसे हुए इस स्वभाव को निरखसंगे तो इसको जरूर पा लेंगे। अगर अज्ञानतावश इसको परिचय नहीं है तो यह तो बाहर ही बाहर निरखता है, और बाहर के मिले हुए प्रसंगों से ही यह अपने में गौरव अनुभव करता है कि मैं कुछ हूँ, पर यह नहीं समझ पाता कि यह सब कीचड़ है, पंक है, कलंक है, मैं तो एक शुद्ध ज्ञानपुंज आत्मपदार्थ हूँ। इस ही बात को समझने के लिए 7 तत्त्वों का परिचय करना होगा। तो उन 7 तत्त्वों में यह एक जीवतत्त्व की बात कहा है। अब अजीव तत्व की बात कहेंगे। यह प्रकरण सुनने और मनन करने के योग्य है और ध्यान से अपने भीतर घटाते हुए इसके सुनने से लाभ है।

**अजीव तत्त्व पौद्गगलिक कर्म की चर्चा**— शुभ भाव क्या क्या होते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में, यह गाथा चल रही है 7 तत्त्वों के विषय में जानकारी, चर्चा, मनन के जो भाव हैं, वे शुभ भाव हैं। जीव तत्व का कुछ वर्णन किया गया था, अब अजीव तत्व के सम्बंध में कह रहे हैं। अजीव तो होते हैं 5 प्रकार के—(1) पुद्गल, (2) धर्मद्रव्य, (3) अधर्मद्रव्य (4) आकाशद्रव्य और (5) कालद्रव्य। मगर 7 तत्व मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत बताये जा रहे हैं, सो यहाँ अजीव से ग्रहण किया गया है कर्म का। कर्म पुद्गल हैं। बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि कहने वाले तो बहुत हैं—तकदीर, देव, भाग्य, कर्म, विधि, रेखायें, कई नामों से बोलते हैं, पर स्पष्ट कुछ नहीं हैं प्रायः लोगों को कि कर्म क्या वस्तु होते हैं? जैसे कि यहाँ किसी चीज को सामने दिखा देते हैं कि यह है चौकी यह है स्पीकर — ऐसे कर्म भी कुछ समझ में नहीं कि ये हैं कर्म। सो यद्यपि कर्म सूक्ष्म हैं, वे आँखों से नहीं दिखते, पर कुछ मन से समझ में भी तो आना चाहिए। तो कर्म बताया गया है पुद्गल पिण्ड कार्माण वर्गणा जाति का पुद्गल स्कंध। पुद्गल तो यद्यपि सभी हैं, पर जातियाँ सबकी अलग-अलग हैं। जैसे शरीर जिन पुद्गलों से बना हैं वे कहलाते हैं आहार वर्गणा के पुद्गल। हर एक अणुओं से शरीर नहीं बन जाता। वर्गणा जाति ही जुदी है। ऐसे ही कर्म जो बने हैं वे कार्माण वर्गणा जाति के पुद्गल हैं। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि किसी भी पदार्थ में अगर विकार होता है। कोई पर्याय ऐसी होती कि क्षण भर को नष्ट हुई फिर नहीं रही, तो वहाँ यह निश्चय समझें कि किसी बाह्य उपाधि का संबंध है तब इस तरह की प्रवृत्ति की, यह बात पूर्णतया निश्चित है।

**जीव और अजीव के विपरिणमन में निमित्त नैमित्तिक योग की चर्चा**— यहाँ प्रकाश है, पहले न था, अब है तो इस गैस के सन्निधान में यह प्रकाश हुआ। कोई दूसरी चीज है तब यह प्रकाश है। छाया हुई तो यह छाया पहले न थी, अब हुई तो कोई दूसरी वस्तु का सामना है तब यह छाया हुई, ऐसे ही आत्मा में कभी क्रोध आया, कभी मान हुआ, कभी माया हुई, कभी लोभ हुआ, इच्छा हुई, धर्म के भाव हुए, ये जो शुभ भाव अथवा अशुभ भाव होते हैं वह समझना चाहिए कि उस जाति के कर्म सामने आये हैं तब ये भाव हुए हैं। जैसे कोई पुरुष आया तो उसकी छाया हुई, वह छाया उस पुरुष से कोई 20 हाथ दूर है, इस पुरुष ने उस फोटो में कुछ नहीं किया, वह तो अपनी जगह खड़ा है, वह अपनी हाथ पैर मुख आदि चलाने की सारी क्रियायें अपने आप में कर रहा है, फोटो से वह काफी दूर है, मगर एक निमित्त नैमित्तिक योग कैसा स्पष्ट है कि इस पुरुष का सामना पाकर वह

फोटो ऐसा छाया रूप परिणम गई। यों उल्टा न बोल सकेगा कोई कि जब फोटो का छायारूप परिणमन हुआ तब पुरुष सामने हाजिर हो गया। इसमें निमित्त नैमित्तिक भाव नहीं बनता। अगर ऐसा कोई बोले तो फोटो की छाया तो निमित्त कहलायगी और पुरुष की वह क्रिया नैमित्तिक कहलायगी। जिसके वाक्य प्रबंध में “जब” लगता है वह निमित्त है और जिसके वाक्यप्रबंध में “जब” लगता है वह नैमित्तिक है। तो यह मानना ही होगा कि इस ज्ञानमय जीव पदार्थ में जो नाना तरह के भाव जगते हैं, राग होता है, द्वेष होता है, कषाय जगी, जो नाना तरह के भाव इस जीव में बनते हैं तो वह उपाधि अवश्य है जिसका निमित्त पाकर बन रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने आप अविकार शुद्ध हुआ करते हैं, अशुद्धता आती है पर के सम्पर्क से। स्वयं ही कुछ अकेला हो तो वह अशुद्धता नहीं हो सकती। तो अनुमान बना ना कि जीव के साथ कर्म लगे हैं।

**कर्म नामक वस्तु का संक्षिप्त स्पष्टीकरण—** कर्म, भाग्य, दैव कहते तो प्रायः सब लोग हैं मगर वे कर्म क्या वस्तु हैं जो जीव के साथ लगे हुए हैं? तो सामान्यतया अनुमान से तो सिद्ध हो ही गया कि जब जीव में जो एक कल्लोल हो रही है, तरंग बदल रही, कभी अच्छे भाव, कभी बुरे भाव तो नियम से समझो कि जीव के साथ कोई दूसरी विपरीत वस्तु है। जिस कारण ये नई नई विविध घटनायें चल रही हैं। वह वस्तु है कर्म। और वह है सूक्ष्म पुद्गल। बहुत सूक्ष्म मैटर, वह कैसा होता है सो वह आगम के आधार से जानना चाहिए। वह एक पुद्गल स्कंध है और जीव के साथ सदा लगा है जब जीव कषाय करता है, शुभ अथवा अशुभ भाव करता है तो उन कार्माणि वर्गणाओं में मायने एक प्रकार के स्कंध हैं वे, उनमें कर्मत्व आ जाता है। पहले उनमें कर्मपना न था और जीव ने कषाय की तो उसका निमित्त पाकर उन कार्माणि वर्गणाओं में कर्मपना आ जाता है। आ गया कर्मपना, उनकी स्थिति भी बँध गई कि ये कर्म इतने समय तक जीव के साथ रहेंगे। बँधते के ही साथ उनमें अनुभाग पड़ गया कि यह कर्म इतनी शक्ति का फल देगा। अब वे सामने पड़े हैं, सत्ता में हैं। जब तक वे सत्ता में हैं तब तक उनका नुकसान नहीं हो रहा। नुकसान तो जीव का सदा हो रहा है मगर कर्म का टोटा थोड़े ही है। बँधे हुए कर्म तो दनादन उदय में आ रहे, पर जो कर्म उदय में नहीं आ रहे उनसे जीव में विकार नहीं जगता। जब वे कर्म सामने आते हैं उनमें अनुभाग फूटकर तो वे जीव में झलकते हैं और जीव रागी द्वेषी नाना तरह से विडरूप बन जाता है।

**विकार प्रादुर्भाव व विकार प्रक्षय—** जैसे किसी पुरुष का बहुत छोटी कन्या से विवाह हुआ जैसी कि पुराने जमाने में प्रथा थी, तो जतब तक वह कन्या बहुत छोटी है तब तक उसके निमित्त से पुरुष को विकार नहीं हो सकता, और जब वह कन्या अपनी तरुणार्थ पर आती है तो उसके निमित्त से पुरुष में विकार आता है, ऐसे ही ये कर्म जो बँधे हैं, सो जब तक वे सत्ता में हैं तब तक उनके कारण विकार नहीं होता, और जब वे कर्म अपनी जवानी पर आते याने उदय में आते उस समय उनमें विस्फोट होता तो वह सब रस उनमें झलकने लगता। एक मौका है, जब एक सत्ता में पड़े हैं कर्म तब तक ज्ञान बल बढ़ा लीजिए और आत्मस्वरूप की धुन बना लीजिए तो बँधे हुए ये कर्म भी अव्यक्त फल देकर दूर हो जायेंगे। जैसे वही पुरुष जिसकी स्त्री अभी बहुत छोटी बच्ची है उसमें उस बच्ची का निमित्त पाकर विकार नहीं जगता और उस बच्ची के तरुण (जवान) बनने से पहले ही अगर पुरुष विरक्त हो गया, ज्ञानी हो गया, साधु हो गया तो वह उस विकार से भी हट गया, ऐसी विधि लीला देखकर स्त्री भी विरक्त हो गई। लो दोनों ही विकारहीन हो गये। ऐसे ही आत्मा में ज्ञानबल बढ़े। ज्ञान ज्योति जगे और अपने अविकार सहज चैतय स्वरूप में दृष्टि लगाये तो उसे जगत में फिर कष्ट नहीं, विकार टला, और कर्मों में बड़ी उधेड़बुन

हुई सो वहाँ भी विकार टला। कष्ट तो भैया अभी मिट जायगा। जिसे भी कष्ट मेटना हो उसे कष्ट मेटने की करतूत अपने आप में ही करनी होगी। बाहरी पदार्थों को असार जानकर, भिन्न जानकर, कि उनसे मेरा कुछ संबंध ही नहीं है, मैं मात्र कल्पना से ही तो उनको जोड़ता रहता हूँ, अतएव अत्यन्त भिन्न हैं, असार हैं, मेरे से संबंध नहीं हैं, ऐसा जानकर उनका ख्याल करना छोड़े दें और अपना सारभूत जो आन्तरिक चैतन्यस्वरूप है बस यह मैं हूँ। यही मैं हूँ। निरन्तर अवच्छिन्न धारा से, अखण्ड धारा से, टूटे नहीं यह प्रवाह, इस तरह से कोई कुछ समय जानता तो रहे फिर संकट कैसे न दूर होंगे? पर ऐसा बन नहीं रहा। अच्छा बन तो नहीं रहा, मगर ज्ञान तो कर सकते। ज्ञान ही सही। जिसकी जानकारी ही नहीं उसमें हम फिर बढ़ेंगे कैसे? जब उसका ज्ञान होता है तो उस ज्ञान के समय में भी संकट दूर हो जाते हैं। फिर यदि उस प्रकार का प्रयत्न हो तो फिर वहाँ संकट का नामो निशान नहीं रहा। जितना सुख दुःख संकल्प विकल्प, हर्ष विषाद आदि जो कुछ भी विकार चल रहे हैं सो वे पूर्व में बाँधे हुए कर्मों के उदय में चल रहे हैं। वे हैं कर्म।

**आश्रवतत्व**— अभी तह दो तत्व मूल में बताया—जीव और अजीव। अब इन दो के सहारे वे 5 तत्व आ गए जिनका जानना भी बहुत आवश्यक है। उन 5 में पहला है आश्रव। आश्रव कहते हैं चारों ओर से चूकर आने को। जैसे बरसात के दिनों में छत में से पानी की कुछ बिन्दू वें बूँद के रूप में छत के निचले हिस्से से कहीं से चूकर आ जाया करती हैं, उनका पता नहीं पड़ता कि कहाँ से आयीं, ऐसे ही इस जीव के साथ सर्व प्रदेशों में जितना जीव का विस्तार है देहप्रमाण उतने ही विस्तार में वे कार्माणवर्गणायें लगी हैं। तो जिस समय जीव कषाय करता है उस समय के कार्माण—वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं, है वही का वही, सिर्फ एक रिश्ता हो गया कर्मपने का और उसके होने से इनमें अन्तर आ गया। तो जीव में कर्म का आना, कार्माण वर्गणाओं में कर्मपना आना। इस जीव में विकार आना, ये सब आश्रव कहलाते हैं। तीन—तीन प्रकार से यह जानना है। (1) भावाश्रव (2) द्रव्याश्रव और (3) उभयाश्रव। कार्माण—वर्गणाओं में उस ही स्कंध में कर्मपना आ गया यह है द्रव्याश्रव, इस जीव में विकार आ गया यह है भावाश्रव और जीव के साथ कर्म बँध गया यह हो गया उभयाश्रव।

**बन्धतत्व**— जो आया है वह कर्म स्थित हो जाय, बहुत समय के लिए यहाँ स्थान बना ले रहने का, इसे कहते हैं बंध। अब वह बंध गया सो उन अजीव कर्मस्कंधों में कर्मपना की स्थिति आयी यह हैं द्रव्यबंध और जीव में विभावों का संस्कार बनाना यह है भावबंध विकार का संस्कार, और जीव के साथ कर्म बँध गया, यह हुआ उभयबंध। बात यहाँ जानना। जब शाम को गाय आती हैं घास खाकर जंगल से तो उसको किसी गिरवां से बाँध दिया जाता है, अब वहाँ बताओ गाय को गिरवां से बाँधा गया क्या? नहीं बताया गया। अगर गाय को गिरवां से बाँध दिया जाय तो गाय मर जायगी। वहाँ गाय के गले से रस्सी में गाँठ नहीं लगाई गई, रस्सी का एक छोर रस्सी के दूसरे छोर से बाँधा गया, याने रस्सी का रस्सी से बंध हुआ, गाय से नहीं हुआ, पर वह बंध इस जाति का है कि उस रूप से बँध जाने की स्थिति में गाय परतंत्र हो गई। जीव हैं अमूर्त, आँखों से दिखने वाला नहीं, कर्म हैं मूर्त। यद्यपि वे आँखों से नहीं दिखते फिर भी उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं। जैसे लोहा जल्दी मिट्टी बन सकता, कोई 400—500 वर्ष में ही लोहा मिट्टी बन सकता। कहीं पड़ा रहे ऐसे ही आधे पानी की जगह में जहाँ कि उसमें बराबर जंब लगती रहे और उसका बल घटता रहे उसकी पुद्गल वर्गणयें मिट्टी बन जायें, और चाँदी को मिट्टी बनने में उससे बहुत अधिक दिन लग जायेंगे, और स्वर्ण को मिट्टी बनने में उससे भी कई गुना अधिक दिन लग जायेंगे, मानो लाख करोड़ वर्ष में मिट्टी बन जायगा। ये सब पुद्गल हैं, पर उनमें

एक ऐसा सामर्थ्य है कि कोई अपनी जाति में बहुत दिन तक टिक सकता, कोई कुछ कम दिन, कोई उससे कम दिन, पर ये चूँकि पुद्गल हैं इसलिए वे कभी भी दूसरे रूप बन सकते हैं। कार्माण वर्गणा जाति के पुद्गल की एक बहुत लम्बी स्थिति है जिसकी कल्पना नहीं कर सकते कि क्या यह भी कभी दूसरे रूप बन जायगा।

**वस्तुतः कर्म का कर्म से बन्धन**— देखो मूर्त हैं कर्म सो कर्म से कर्म बँधा। जैसे रस्सी से रस्सी बँधी ऐसे ही कर्म से कर्म बँधा, पर बँधा तो जीव के प्रसंग में ना, तो निमित्त नैमित्तिक योगवश यह जीव परतंत्र हो गया। आज यह जीव शरीर में बँधा है, कोई चाहे कि शरीर यहीं धरा रहे और मैं चार हाथ आगे आ जाऊँ तो ऐसा कोई नहीं कर सकता। आप आयेंगे तो शरीर को साथ लेकर आयेंगे। तो मानो यह शरीर विस्तर जैसा पिण्डोला है, उसके बिना कोई आ नहीं सकता। एक पुरुष ने अपने एक मित्र को निमंत्रण दिया, कहास कि भाई साहब कल के दिन आपका मेरे घर निमंत्रण है, पर मैं बड़ा गरीब आदमी हूँ, कृपा करके आप अकेले ही आना। और मेरे घर कोई बुलाने वाला भी नहीं है सो आप करीब 10 बजे घर आ जाना। ——ठीक है भाई। अब दूसरे दिन पहुंचा वह मित्र उसके घर करीब 10 बजे। तो वहाँ वह मित्र बोला, आइये साहब बैठिये—आपने मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा की, मगर हमने तो कह दिया था कि हम बड़े गरीब आदमी हैं, अकेले आना, किसी दूसरे को साथ न लाना, फिर भी आप अकेले नहीं आये। तो वह मित्र बोला—अरे अकेले ही तो आये हैं। —— अरे कहाँ अकेले आये, अपने साथ में यह शरीर का भारी पिण्डोला भी तो ले आये। अब बताओ कोई कैसे आ सकता इस शरीर को छोड़कर? अगर यह कला किसी में बन जाये तो इसी को तो कहते हैं सिद्ध भगवान। इसी को तो कहते हैं आत्मा का अंतिम विकास। यह आत्मा केवल अकेला रह जाय, जो अपने सत्व में हैं वही निर्लेप हो जाय इसी को कहते हैं सिद्ध भगवान होना, प्रभुता पाना, परम विकास होना। धर्म किसलिए किया जाता? इसीलिए किया जात, जिसके चित्त में यह बात नहीं समायी है कि मुझको शरीर से, कर्म से, विकार से अत्यन्त जुदा केवल अपनी चैतन्य सत्ता मात्र रहना है, इसके लिए मैं धर्मपालन का यत्न कर रहा हूँ, जिसको यह पता नहीं उसका धर्मपालन कैसा? धर्म का स्वरूप, धर्म का धारण ये दोनों बातें जिसके स्पष्ट हैं, धर्म पालन उसी के ही तो हो सकेगा। तो यह दृष्टि होनी चाहिए कि मुझको तो सबसे पृथक होकर अकेला रहना है। इतना ऊँचा उद्देश्य कोई कब रख सकता है जब कि खुद का जीवन सदाचारमय हो। अब काम तो ऐसा करे कोई कि कैसे विकल्प बढ़े, भय बढ़े, चिन्ता बढ़े और दिल हल्का हो जाय और चाहे कि मैं केवल रहूँ, इसके लिए यत्न करूँ उससे सम्भव नहीं हो सकता।

**अन्तस्तत्त्व की धुन का प्रभाव**— कैवल्य के दर्शन की कला तब ही बनती है जब उसकी धुन लग जाय पूरी, लौकिक काम में धुन लगे तो रात दिन उसके लिए ही सब कुछ यत्न करते, सोते हुए में भी उसी के स्वप्न आने लगते। तो जिसको आत्मा की धुन लगी है, इस आनंद—घन चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व की जिसकी धुन लगी है बस उससे कोई काम अनुचित नहीं बन सकता, और सो भी जाय तो भी उसे अपने इस परमात्वतत्त्व के विकल्प रहेंगे। आत्मानुभव होता है जागृत अवस्था में, पर यह प्रारम्भ वाली बात है। सोने में भी जब बाहरी पदार्थों का ध्यान आता है स्वप्न में तो बाहरी पदार्थों के बजाय क्या आत्मा का ख्याल नहीं आ सकता? जब जगते हुए में जिसका ख्याल बराबर बनाये वह ध्यान सोते में भी आता है, तो जिसने आत्मा का ध्यान निरन्तर बनाया उसको क्या सोते में आत्मा की बात नहीं दिख सकती? और, इस पर हमें आस्था हुई एक घटना से। अभी कुछ ही साल पहले की बात है, हम गोहद से मऊ पैदल जा रहे थे, साथ में ब्र० छोटे लाल जी थे। वह

करीब 20-21 मील का पैदल का रास्ता था। गोहद से हम जल्दी ही भोजन करके चले। तो चलते गए, चलते गए। उसी रास्ते में करीब 16 मील की दूरी पर ब्र० छोटेलाल जी का गाँव था। उस गाँव का नाम तो याद नहीं रहा, खैर वहाँ पहुँच गए तो काफी थके हुए तो थे ही, सो हम तो शाम को सामायिक करके जल्दी लेट गए। वहाँ कुछ लोगों ने यह भी कहा कि महाराज जी कुछ प्रवचन कर दो, पर हमने यही कह दिया कि तुम लोगों को ब्र० छोटेलाल जी ही कुछ सुनायेंगे, हम अभी आराम करेंगे। खैर हम लेटे रहे, ब्रह्मचारी छोटेलाल जी कुछ सुनाते रहे। उसी सिलसिले में हमको नींद आ गई, तो उस नींद में भी वही धर्मचर्चा हमारे चित्त में बसी रही रही और ऐसा स्वप्न देखने में आया कि हम पद्मासन से बैठे हुए हैं, सामायिक कर रहे हैं वहाँ हमारे सामने कोई दो स्त्रियाँ मानो देवियाँ ही हों वे आकर कुछ गा रही हैं, स्तवन कर रही हैं। और उस स्तवन के पहिले तथा बीच में कुछ गहरे ध्यान में डूब गया, उस समय कुछ अलौकिक आनन्द सा आ रहा था। (यह सब स्वप्न की बात है) जब वहाँ आँखें खुलीं तो देखा कि वहाँ कुछ न था। मैं उस समय यह विचार कर रहा था कि यदि वैसी ही नींद और भी बनी रहती तो कुछ देर और भी वह अलौकिक आनन्द बना रहता। तो वह था कोई अलौकिक आत्मीय आनन्द अंतस्तत्त्व के अनुभव वाला। तो हमारा यह ख्याल है कि दिन भर जिस चीज में उपयोग जमा रहे, ध्यान लगा रहे तो स्वप्न में उसका ख्याल आया करता है, जब बाहरी चीजों का ख्याल आता है तो आत्मा का ख्यान क्या आ न सकेगा? पर धुन होनी चाहिए, ऐसी केवल अपना यह अविकार स्वरूप आत्मा ही अपना प्रिय रहे, रुचिकर रहे, यह ही शरण है, ऐसी अपनी आस्था बने, यहाँ ही रमकर अपने में तृप्ति पायें, यदि ऐसी धुन हो तो यह ही दृष्टि में रहेगा, और यह ही एक ऐसा ज्ञानबल है कि जिसके कारण ये भव भव के बाँधे कर्म कट जाते हैं। इस संसार की मायारूप बातों के लिए क्या मरना? क्या इनके लिए उतावला होना, क्या इनको ही अपना सर्वस्व प्राण समझना। ये तो सब छूटेंगे, जो न छूटे मुझसे वह है मेरी चीज, और जो छूट जाय वह मेरी नहीं। मेरा स्वरूप, मेरा चिदानन्द स्वरूप यह परम, ब्रह्म, यह मेरे से अलग कभी नहीं हो सकता। यह ही मेरा सर्वस्व धन है। इसकी उपासना से ही अपना भविष्य उज्ज्वल बनता है।

**संवरतत्त्व**— प्रकरण यह चल रहा है कि जो 7 तत्त्वों के विषय में जानकारी चर्चा चिंतन मनन है वह शुभ भाव हैं। इन 7 तत्त्वों में जीव, अजीव आश्रव और बंध इनका वर्णन हो चुका, अब संवर तत्त्व का वर्णन चलता है। संवर के मायने रोक देना। भले प्रकार निरोध करना सो संबर हैं। 'आश्रव निरोधः संवरः' आश्रव का निरोध करना सो संबर है। आते हुए को रोकना यह नहीं है संबर, किन्तु आना ही न होने देना यह संबर है। कर्म आयें तो आते हुए को कौन रोके? पर आने ही न दें, कर्म में कर्मत्व आये ही नहीं इसको कहते हैं संबर। आश्रव निरोध का यह भाव है। तो यह संबर तत्त्व भी कर्म में हैं, जीव में हैं और दोनों के विषय में हैं। कार्माण वर्गणाओं में कर्मत्व न आना यह द्रव्य संबर है। आत्मा में विकार भाव न आने देना सो संबर है, और जीव में कर्मका न आने देना, जैसा कि आश्रव आता था वह न आये तो यह उभय संबर है। संबर तत्त्व शुद्ध तत्त्व है। जहाँ अविकार शुद्ध स्वरूप की दृष्टि है। वहाँ कर्म भटक नहीं सकते। परस्पर का निमित्त नैमित्तिक भाव एक अचूक भाव है। करता कोई किसी को कुछ नहीं। कोई भी द्रव्य अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से हटकर दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में, लगे ऐसा नहीं है, अथवा अपने स्वरूप में भी रहे, परके स्वरूप में भी रहे, ऐसा नहीं है। किसी का घनिष्ट सम्पर्क हो, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही रहता है। सो जीव उन कार्माण वर्गणाओं में कुछ नहीं करता, कार्माण वर्गणायें जीव में कुछ करती नहीं, किन्तु एक ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि जब

जीव के शुद्ध भाव हुए तो कर्मों में कर्मत्व आता ही नहीं है यही हुआ संबर। संबर उपादेय तत्त्व है, संबर के बिना मोक्ष मार्ग नहीं चलता।

**संवरपूर्वक निर्जरा की कार्यकारिता**— जैसे कोई नाव पानी में चल रही है उस नाव में छिद्र हो तो उस छिद्र के जरिये नाव में पानी आता है और पानी आने से भरने से नाव डूबने लगती है। उस समय वह कुशल मल्लाह क्या करता है कि पहले नव के उस छेद को बंद करता है कपड़ा वगैरह से, फिर आये हुए पानी को उलीचता है। वह छिद्र कुछ बंद गया था, और पानी विशेष आ रहा था, उसको यदि उलीचना ही शुरू करता तो पानी वहाँ आता रहता तो वह सिर दर्द तो बना ही हुआ था इसलिए पहले पानी के आने के द्वार को रोके, फिर पानी उलीच दे, आने के द्वार को रोकना संबर है और आये हुए पानी को उलीच देना यह निर्जरा है। तो नये कर्म आये नहीं और पुराने बँधे हुए कर्म झड़ जायें यह उपाय है मोक्षमार्ग का। संबर तत्त्व संबर तत्त्व आश्रव का विरोधी है, तो जहाँ आश्रव की सम्भावना है उन परिस्थितियों में संबर का एक वर्णन है। पर एक दृष्टि से निरखा जाय तो संबर तत्त्व तो अनन्त काल उसको रोकेगा, अन्य तत्त्व तो बिछुड़ गए, शुद्ध हो गए, अब निर्जरा काहे की करे? आश्रव बंध होता नहीं। तो अब नवीन कर्म जो नहीं आ रहे यह बात तो सदा रहेगी ना? और वह है शुद्धोपयोग का बल। संवर तत्त्व इतना उपकारी है और इस जीव का मित्र है कि संवर बिना मोक्ष नहीं बनता।

**आत्महित के ध्यान की मुख्यता**— एक बात ध्यान में लाना चाहिए कि अपने को जन्म लेना, मरण करना यह पसंद है या नहीं? अब मरेंगे तो अवश्य। और उसके बाद दूसरा जन्म मिलेगा, फिर मरेंगे, फिर जन्म मिलेगा। बताओ यह जन्म मरण पसंद है अथवा नहीं? अब धर्म पर्व के दिन हैं सो मुख से तो सब कह देंगे कि हमको पसंद नहीं जन्म मरण मगर वर्तमान जीवन में जो राग बना है यह यह सिद्ध करता है कि इसको जन्म और मरण पसंद है, नहीं तो वर्तमान जीवन में मोह और राग क्यों है? देह को अपनाना, देह में राग करना, देह में मोह करना, यह तो है देह मिलते रहने का कारण और देह से निराले अपने ज्ञान स्वरूप को निहारना और ज्ञानस्वरूप में ही रुचि आना यह है देह के दूर होने का साधन। जन्म मरण न चाहिए तो इस देह से मोह और राग न होना चाहिए। बहिरात्मा जनों को देह से मोह है किसी ने निन्दा की, बुरा लगा तो क्यों बुरा लगा कि वह देह को आत्मा मान रहा था और इस बात पर उसका यह निर्णय बना कि यह मेरी निन्दा कर रहा, यह मुझसे कुछ कह रहा, बस उसे बुरा लगने लगा। दूसरा आदमी क्यों नहीं बुरा मानता कि वह यह समझता है कि मुझको नहीं कह रहा यह, जो गाली दे रहा है सो मुझको नहीं दे रहा, यह बात ध्यान में है तो उसे बुरा नहीं लगता। तो यदि इस ज्ञानस्वरूप को निहार कर सोचे कोई कि इसमें गाली आती ही नहीं, इसको कोई जानता ही नहीं, जिसको जाना नहीं उसको गाली न देगा, मेरे को कुछ नहीं कहा, उसे इसका दुःख न होगा। इष्ट अनिष्ट के समागम में, रिश्तेदारों में, अनेक प्रसंगों में आपत्तियों का अनुभव करना इसका आधार है देहका मोह। जो अपने अकेले स्वरूप को निरखे उसको कोई कष्ट ही नहीं। बाहरी पदार्थ जो जैसा परिणम रहा उसका ज्ञाता रहेगा, यों हो रहा, क्या मतलब है?

**परतत्त्व की यथार्थ पहिचान का प्रभाव**— एक किसान किसाननी थे। विवाह हुए कोई 10-12 वर्ष हो गए थे। किसाननी बड़ी चतुर थी। उससे कोई ऐसा अपराध ही न बन सका था जिससे कि वह कभी किसान द्वारा पीटी जा सके। छोटे लोगों में प्रायः ऐसी प्रकृति होती है कि वे जब तक अपनी स्त्री को पीट न लें तब तक वे अपने को मर्द नहीं समझते। एक बार उस किसान के मन में आया कि कोई ऐसा उपाय करें कि जिससे स्त्री को पीटने का मौका मिले। सो क्या किया कि ग्रीष्मकाल में जब वह किसान अपने खेतों



की जुताई कर रहा था तो वहाँ वह किसाननी प्रतिदिन करीब 11 बजे उस किसान को खाना पीना पहुंचाया करती थी सो सोचा कि आज जब स्त्री आयगी तो किसी न किसी बहाने से उसकी पिटाई करनी है। उपाय भी मिल गया। क्या किया कि अपने दोनों बैलों को औंधा सीधा जुवारी (माँची) में जोत दिया और हल फाँस दिया, सोचा कि स्त्री आयगी, इस तरह से देखेगी वो कुछ तो कहेगी ही, बस उसके पीटने का बहाना मिल जायगा। आखिर पहुंची वह किसाननी खाना लेकर खेत में तो देखते ही समझ गई कि आज तो हमको पीटने के लक्षण दिखाई दे रहे, सो आकर झट खाना रखा और यह कहते हुए वापिस लौट गई कि आप चाहे औंधा जोतें चाहे सीधा, हमारा तो काम है खाना देने का, सो यह रखा है, मैं चली। लो किसान इतने दंद फंद करके भी बस देखता ही रह गया, पीट न सका। यदि कोई समग्र बाह्य पदार्थों को इस निगाह से देखे कि चाहे इस विधि से परिणमे चाहे अन्य विधि से परिणमें, वह तो उन पदार्थों का काम है, उससे मेरे में क्या बिगाड़? मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे में किसी भी पर पदार्थ की परिणति से कुछ सुधार बिगाड़ नहीं। यह बात चित्त में रहे तो उसे कोई दुःख नहीं है। मगर मोह छूटता ही नहीं है।

**वहिरात्मत्व की हेयता व परमात्मत्व की उपादेयता**— तीन तरह के जीव (आत्मा) होते—(1) बहिरात्मा (2) अंतरात्मा और (3) परमात्मा। इसे यों भी कह सकते—मूर्ख, ज्ञानी और भगवान। ये तीन तरह के आत्मा हैं, सो उनकी क्या स्थिति है, सो सुनो। जैसे बरसात के दिनों में मेंढक बहुत हो जाते और वे मेंढक एक दूसरे के ऊपर चढ़कर बैठते, तो एक जगह तीन मेंढक एक के ऊपर एक बैठे हुए थे। तो सबसे ऊपर बैठा हुआ मेंढक बोला—‘हेच न गया’, मने मुझे कोई तकलीफ नहीं और न कोई गम है आराम से बैठे हैं, तो दूसरा मेंढक बोला—“कुछ कुछ कम”, माने तुम्हारी अपेक्षा हमें कुछ कुछ तकलीफ है, तुम्हारे आराम से हमको कुछ ककम आराम है, और तीसरा बोला “मरे तो हम” याने तुम सबसे अधिक तकलीफ में तो हम हैं, हमको तो जरा भी आराम नहीं, क्योंकि तुम दोनों हम पर लदे हो। तो परमात्मा तो मानो यह कहता—हेच न गम, याने हम तीन लोक के सिर पर विराजमान हैं, द्रव्य कर्म, भावकर्म, नौकर्म से रहित, ज्ञानानन्द का निरन्तर अनुभव करने वाले हैं। अब बताओ परमात्मा को क्या कष्ट? तो संसार में रहने वाला ज्ञानी अन्तरात्मा छदमस्थ मानो कहता है कि “कुछ कुछ कम”, याने ज्यादा कष्ट तो हमको नहीं है, क्योंकि दर्शन मोह का उदय नहीं, चारित्र मोह का उदय है सो कुछ कुछ कष्ट है मगर अधिक नहीं। तो मानो बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी जीव कहता है कि मरे तो हम। अज्ञानी में इतनी भी अक्ल नहीं कि अपनी विपत्ति भी पहिचान सके और हो रहा है दुःखी। तो जहाँ आत्मस्वरूप का परिचय नहीं वहाँ सर्व विडम्बनायें होती हैं।

**मिथ्यात्व महापाप का बड़प्पन**— सबसे बड़ा पाप है अज्ञान मिथ्यात्व। अपने स्वरूप की समझ न बनाना, नहीं तो आप इसका समाधान दें। एक पुरुष किसी को कुछ सता नहीं रहा, आराम से घर में रहता है, सबसे सुन्दर व्यवहार है मगर वह इस देह को निरखकर मान रहा कि मैं यह हूँ, बस इतनी सी बात, और कोई अधिक अपराध नहीं कर रहा। अभी कोई मनुष्य बड़ी अच्छी तरह व्यवहार करता हो और मान रहा इस देह को निरखकर कि मैं यह हूँ तो उसको सब लोग जानते कि क्या बिगाड़ है उसका और कौन सा बड़ा पाप वह कर रहा है। आखिर भीतर ही तो सोच रहा है कि यह जो शरीर है सो ही मैं हूँ। मगर इतना सोचना, इतनी एकत्वबुद्धि होना यह इतना बड़ा अपराध है कि इसके फल में नरक निगोद, स्थावर विकलत्रय आदिक दुर्गतियों में जन्म मरण करना पड़ता है। अरे ऐसी मिथ्या मान्यता ही सर्व पापों का मूल है। तब उसका इतना बड़ा दंड मिल रहा। जो अपने भगवान

आत्मा को तिरस्कृत करे वह तो एक बड़ा भारी अपराध है। कोई छोटे आदमी का तिरस्कार करे लोक में तो उसका भी दंड मिलता है मगर यह अज्ञानी तो अपने अंतः बसे हुए भगवान आत्मा का तिरस्कार कर रहा तो उसको दुर्गति का दण्ड मिल रहा तो इसमें क्या आश्चर्य है? अपने अंतस्तत्त्व का परिचय पाये बिना कर्म का आना नहीं रुकता, संवर तत्त्व नहीं प्राप्त होता और वह संवर इसकी शुद्ध वृत्ति से पहिचाना जाता है। पापों का त्याग है। असंयम की प्रवृत्ति नहीं, निरन्तर अपने आत्मस्वभाव में ध्यान है, यह ही सब परिचय है कि इसके संवर तत्त्व बना रहता है।

**निर्जरा तत्त्व**— जिसने संवर तत्त्व पाया उसके इच्छानिरोध के कारण, अन्तर्दृष्टि के कारण जो कर्म झड़ रहे हैं वह कहलाती है निर्जरा। झड़ते जा रहे, झड़ झड़कर सब झड़ चुके, इसे कहते हैं मोक्ष। निर्जरा—बँधे हुए कर्मों में से कर्मत्व का हट जाना, यह निर्जरा है। निर्जरा कहलाता है एक देश और क्षय कहलाता है पूर्ण। किसी भी एक प्रकृति का क्षय होता है तो एक देश निर्जरा होते होते क्षय होता है और, उस निर्जरा में कैसा बल दौड़ जाता है कर्म का, कैसे कर्म क्षीण होते, यह सब वर्णन करणानुयोग में विस्तार से है। उसके कहने का इस समय कोई विशेष अवसर नहीं है, पर ये कर्मशत्रु जब नाश को प्राप्त होते तो उससे पहले इन कर्मों में खलबली शुरू हो जाती है। आगे की स्थिति के कर्म निषेक वर्तमान में कुछ में मिल जाते हैं। उनके फल देने की शक्ति विधिपूर्वक फूटती है और कम अनुभाग वाले में मिल जाती है। ऐसी असंख्यात गुणी निर्जरा हो होकर कर्म का क्षय होता है, तो बँधे हुए कर्मों में से कर्म का झड़ना यह निर्जरा है और अपने भावों में से संस्कार का झड़ना, विभावों का झड़ना, विकार न होने पाना, दृष्टि स्वरूप की है, विकार का उदय चल रहा—अव्यक्त फल मिलकर झड़ जाते हैं, तो जीव में जो उनका असर नहीं होता, व्यक्तपना नहीं हो पाता, यह ही है भाव निर्जरा। और, जीव में से कर्म का झड़ जाना यह उभय निर्जरा है।

**मोक्ष तत्त्व**— इसी प्रकार मोक्ष तत्त्व भी परखिये। कर्म में से कर्मत्व पूरा नष्ट हो जाना, यह है द्रव्य मोक्ष। जीव का मोक्ष हो रहा तो कर्म का भी तो मोक्ष होना चाहिए। कर्म का यह मोक्ष है कि उन कामों में कर्मत्व खत्म हो गया। पहले ही जैसी सीधी कार्माण वर्गणायें रह गई, यह हुआ द्रव्य मोक्ष और जीव के स्वभाव में से विकार बिल्कुल समाप्त हुए या स्वभाव विकास मात्र रहा, यह है जीव मोक्ष और जीव से कर्म जुदे हो गए तो यह है उभय मोक्ष। इन 7 तत्त्वों में जीव अजीव तो ज्ञेय तत्त्व हैं, आश्रव और बंध हेय हैं। संबर और निर्जरा कथंचित उपादेय हैं। मोक्ष उपादेय है और दृष्टि के लिए सर्वथा उपादेय है आत्मा का सहज स्वभाव। तो स्वभाव का जो शरण गहता है वह संसार से पार होता है, उसका परिचय होना चाहिए। स्वभाव में दृष्टि जम सेक और उसमें ही यह मैं हूँ ऐसा अनुभव बन सके। यह तो बड़ी विपत्ति है जो मोह बन रहा है परिजन में, वैभव में, लौकिक इज्जत में। अब विपत्ति में पड़ा हुआ भी खुश हो रहा है। दूसरों की विपत्ति को देख कर मानना कि ये देखो ये बड़ा दुःख मान रहे हैं, पर स्वयं की विपत्ति का कुछ भान नहीं है, यह कैसी विडम्बना है। कोई एक पुरुष वन में गया। वहाँ उसने क्या देखा कि कुछ ही देर में उस जंगल में आग लग गई। और थोड़ी ही देर में आग उतनी तेज बढ़ गई कि चारों ओर फैल गई। वह पुरुष अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से उसी जंगल में एक वृक्ष पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर चढ़ा हुआ वह क्या देखता कि वह देखो अग्नि मेरी ओर भी बढ़ती आ रही। वह देखो अग्नि में खरगोश जला, वह देखो हिरण जला, वह देखो गया जली, यों सब दृश्य वह देख देखकर खुश हो रहा था, पर उस बेचारे को यह भान नहीं कि अभी जल्दी ही यह आग यहाँ आकर इस वृक्ष को भी जला देगी और मैं भी मर जाऊँगा। तो ऐसे ही

इस मोही जीव को यह भी होश नहीं मेरा भी मरणकाल आयगा मुख से तो वह सब कुछ बोल लेता मगर उसके भीतर में यह बात ठीक-ठीक नहीं बैठ पाती। तो पर द्रव्यों के प्रति मोह होना, उनको अपना सर्वस्व मानना, यह बहुत बड़ी विपत्ति है। जो जीव आज घर में आये है, बजाय उनके कोई दूसरे जीव आते, यह बात हो नहीं सकती थी क्या? हो सकती थी, फिर ये जीव आपके क्या कुछ कहलाते? अर्थात् कु न कहलाते, पर इस जीव को मोह करने की एक ऐसी आदत पड़ी है कि जो जीव घर में आ गए उन्हीं से मोह करने लगता। तो यह सब इस जीव की एक कल्पना की बात है। और कल्पनायें करके मोही बनकर यह जीव अपना जीवन गुजार देता है और आगे जन्म मरण करता रहता है। यदि इन संकटों से छूटना है तो एक बहुत बड़ा साहस करना होगा और साहस भी क्या, कष्ट की उसमें कुछ बात ही नहीं। अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचान लिया बस सारे कष्ट दूर हो गए। सब कष्टों की जड़ तो यह मोह है। मोह दूर हुआ कि सारे संकट दूर हुए।

### **तत्त्व विषयक विपरीत श्रद्धा हटा कर सम्यक् श्रद्धा में आने का अनुरोध—**

अन्तस्तत्त्व परखने के लिए ये प्रयोजनभूत जीवादिक 7 तत्त्व ज्ञातव्य हैं, इनका यथावत श्रद्धान करना, मैं जीव चैतन्यमात्र हूँ, यह तो है सच्ची श्रद्धा और यह देह मैं हूँ, ऐसा समझना यह है विपरीत श्रद्धा। शरीर उत्पन्न हुआ तो माना कि मैं उत्पन्न हो गया, शरीर नष्ट हो रहा तो माना कि मैं नष्ट हो रहा, इस प्रकार की उल्टी श्रद्धा जीव के बारे में चल रही है। देह को मानें कि यह पद्मगल का पिण्ड है और मैं सबसे निराला चैतन्यमात्र हूँ तो यह जीव की सच्ची श्रद्धा है। आश्रव के संबंध में यह श्रद्धा होना कि ये रागादिक विकार दुःखदायी हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरे को बरबाद करने के लिए यह कर्मरस झलका है। यह मैं नहीं, यह तो है सच्ची श्रद्धा और रागादिक भाव आये तो उनसे लगाव लगावे, उन कषायों को अपनाये यह है आव में विपरीत श्रद्धा। फल मिल रहे अनेक, कभी दरिद्र रहे, फिर धनिक हुए साता मिली, असाता हुई, ये सब पुण्य पाप के फल हैं। इनसे मैं निराला हूँ और मैं तो अपने स्वरूप में ही आनन्दमय हूँ, ऐसी श्रद्धा हो तो यह है सच्ची श्रद्धा। और, ऐसा जानें कि पुण्य का फल तो अच्छा है और पाप का फल बुरा है, पुण्यफल में रम जाय तो यह बंध की विपरीत श्रद्धा है। ऐसा यह जीव इस देह के बारे में उल्टी श्रद्धा रखकर संसार में भ्रमण कर रहा है। सो तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान चले तो वह एक शुभ भाव है और उसका फल सुगति का पाना है। आत्मा का हित तो है ज्ञान व वैराग्य वह कष्टकारी जचे तो यह है संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा। इच्छानिरोध तप है सो वह तो सुहाता नहीं और इच्छावों के करते रहने में मौज अनुभवना निर्जरा की विपरीत श्रद्धा है। मोक्ष है निराकुलस्वरूप सो उसकी तो प्रतीक्षा नहीं की जाती है और मायामय संघर्ष इसे अच्छे लगते हैं यह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है। यथार्थ श्रद्धान हुए बिना संकटों से छुटकारा नहीं हो सकता। अतः विपरीत श्रद्धा दूर कर सहज अविकार अन्तस्तत्त्व में लीन होने के प्रयास में मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत जीवादिक सप्त तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करिये।

### **अशुभ से हटकर शुभ में आने का अनुरोध किये जाने का कारण—**

प्रकरण यह चल रहा है कि अशुभ भाव करने से जीव को नरक गति प्राप्त होती है और शुभ भाव करने से जीव को स्वर्गादिक सुख प्राप्त होते हैं, यह कहने का प्रयोजन यहाँ नहीं है कि स्वर्गादिक में जाने का पौरुष बनाओ। वह तो जब तक संसार शेष है तब तक ज्ञानी जीव को सुगतियाँ मिलेंगी, पर अशुभ भाव करके खोटी गतियों में या मनरहित होना इसका पाना भला है या शुभभाव से देवादिक गतियों में उच्च कुल वाले मनुष्यों में जन्म लेना भला है, तुलना करके समझिये। बल्कि उच्च कुल के मनुष्य हुए या अच्छे देव हुए तो वहाँ अनेक बार देव शास्त्र, गुरु के मनन दर्शन के मौके मिलेंगे, धर्म में प्रगति करने का मौका मिलेगा।

तो इस तुलना में यहाँ रयणसार ग्रन्थ में श्रावकों के प्रकरण में यह बतलाया जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ में आवो और लक्ष्य रखना है शुद्ध का। शुद्ध का लक्ष्य रखते हुए जब शुद्ध होना होगा तो सहज होंगे। बुद्धिपूर्वक आप क्या करेंगे? क्या बुद्धिपूर्वक कोई शुद्ध हो सकता है? जो शुद्ध होगा, शुद्धोपयोगी होगा वहाँ बुद्धि काम नहीं देती, वह तो योग्य जीव के सहज होती है। तो बुद्धिपूर्वक क्या करेंगे? शुद्धोपयोग के लिए जो पुरुषार्थ करें जो तरकीब बनायें वही शुभ भाव है। बुद्धिपूर्वक जो क्रिया बनेगी वह सब शुभ भाव है। इससे अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ हो? इसलिए शुभभाव में ये सब बातें बतलायी जा रही हैं। 7 तत्त्व 9 पदार्थ उनके बारे में श्रद्धान चिंतन चर्चा होना यह शुभ भाव है।

**सात तत्त्वों में पुण्य व पाप ये दो पदार्थ मिलकर पदार्थों की नवसंख्या—**

7 तत्त्वों के वर्णन के बाद 9 पदार्थों का वर्णन आ रहा है। पदार्थों में 7 तो वही हैं जो तत्त्व में हैं, पुण्य और पाप इनको बढ़ाया गया सो पुण्य पाप कुछ न्यारे हों 7 तत्त्वों से सो बात नहीं है, जो आश्रव है, जो बंध है उस ही के दो भेद कर दिया—पुण्य और पाप। पुण्य को सुशील कहा और पाप को कुशील कहा मगर ज्ञानी की दृष्टि में सुशील पुण्य की भी इज्जत नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह है कि पुण्य भी आखिर संसार का ही तो फल देगा। तो कहीं कहीं तो पुण्य का फल बड़ा अनर्थ पैदा कर देता। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा कि पुण्य किया, पुण्य के फल में बल गए राजा, बन गए बड़े राष्ट्र सेठ, तो अब करता क्या है वह कि न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनता क्योंकि उसे धन अधिक मिला है। जिस पर जो चाहे सो कर लिया, सो अनेक अन्याय भी करता, जैसी मन में आया अनेकों कषायें भी करता, उससे होता पाप का बंध और उसके फल में गया नरक। तो न राजा बनता, न बड़ा सेठ होता और न पाप बनता, न दुर्गति मिलती। इस दृष्टि से कभी—कभी पुण्य भी बड़े अनर्थ का कारण ज्ञात होता है मगर यह उसकी गलती है। पुण्य के फल में तो ऐसा अवकाश मिलता है कि वह खूब संगति बनाये, धर्मात्माओं की सेवा में रहे, धर्म का अभ्यास बनायें, ज्ञान सीखे, उसे तो खूब अवसर मिला है।

**पुण्यफल में महान होकर भी अज्ञान व प्रमाद से पाप का आह्वान करने**

**वालों पर खेद प्रदर्शन—** अहो देखो कैसा पाप का उदय है उसका कि जो महान होकर भी बड़ा होकर भी बड़प्पन को स्थिर नहीं रखता, नहीं तो सब कुछ साधन पाने पर कर्तव्य तो यह है कि ज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र धर्मात्माओं की सेवा संगति, ऐसे कामों में अधिक समय बिताते, उसी से तो मनुष्यजीवन सफल होता। मगर जब मोह का उदय है, मिथ्यात्व का उदय है तो कोई अवसर मिलता है कि भाई तुम संसार से निकलने का उपाय बना सकते मगर नहीं बनाते। एक उदाहरण दिया गया है कि एक अंधा खुजैला पुरुष था याने वह अंधा भी था और उसके खाज भी थी और वह दरिद्र भी था। उसने सुन रखा था कि अमुक नगर में बहुत सज्जन लोग हैं और खूब पालन पोषण होगा सो उस नगर को चल दिया। उस नगर के चारों ओर घिरा था कोई, दुर्ग, किला और उसमें थे सिर्फ 4 दरवाजे चारों दिशाओं में। तो अब वह अंधा लाठी लेकर हाथ से टटोलते हुए चला। उसने समझ लिया था कि नगर के अन्दर जाने के लिए चारों ओर दरवाजे मिलेंगे सो किले की भींट को टटोलता हुआ चला, पर जब वह पहले दरवाजे के पास पहुँचा तो वह अपने सिर की खाज खुजाने लगा, पैरों से चलना बंद न किया, फिर आगे बढ़ने पर दूसरा दरवाजा मिला वहाँ भी वैसा ही किया, यों सारे दरवाजे ही निकल गए पर वह नगर के अन्दर न जा सका, तो ऐसे ही समझो कि जब इस जीव को कल्याण का अवसर मिलता है, कोई आजीविका संबंधी चिन्ता नहीं, सब साधन बिल्कुल ठीक मिले हुए हैं। और अगर चिन्ता भी करनी पड़ती तो शैकीला काम बंद कर दें, एक सीधे सादे ढंग का अपना व्यवहार रखें,

जैसा कि पुराने जमाने में लोग सीधा सादा व्यवहार रखा करते थे। वहाँ बहुत कुछ आकुलतायें हट जायेंगी। इस शरीर को बड़े मौज में रखने से लाभ कुछ नहीं मिलता। अगर आत्मा की दृष्टि का विशेष अभ्यास बने तो उसको सारा लाभ मिलेगा। तो मतलब यह है कि पुण्योदय में अगर बड़प्पन मिला है सब प्रकार की सुविधायें मिली हैं तो कर्तव्य यह है कि धर्मसाधनों में, रत्नत्रय साधनों में, धर्मात्माओं की सेवा में अपना अधिकारिधक समय लगाना चाहिए। इससे खुद का आत्मा भी पवित्र होगा और जब तक संसार में रहेंगे तब तक सद्गति भी मिलेगी। यहाँ पुण्यपाप की चर्चा चल रही है कि जब एक शुद्ध तत्त्व की ओर दृष्टि देते हैं तब तो पुण्य पाप दोनों ही हेय हैं, दोनों ही जन्म मरण के कारण हैं, किन्तु जब इन दोनों पर ही तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो कहना पड़ता कि पुण्य भला है और पाप बुरा है। तो पुण्य और पाप ये दोनों मिलकर 9 पदार्थ होते हैं।

**जीव के बन्ध पर विचार—** बंध और मोक्ष के विषय में चिंतन चर्चा में भाव रहे तो वह शुभ भाव कहलाता है। मेरे को बंधन क्या? साक्षात् बंधन, निमित्त बंधन या संबंध का बंधन, साक्षात् बंधन तो है कि मेरा ज्ञान ऐसा जघन्य गुण वाला है कि वह कल्पनारूप परिणमता है। यह सबसे बड़ा भारी बंधन कहो, विपदा कहो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका काम है जानना, तो बस जानते रहो। यह कल्पना रूप क्यों बनता है? कल्पना रूप न बने तो कोई हानि है क्या? बल्कि लाभ है। पर घबड़ाने की क्या बात है? एक लक्ष्य तो बन जाना चाहिए कि मुझको अब क्या करना योग्य है जिससे कि मेरा भला हो। मेरे क्या करने योग्य है? सहज आत्मस्वरूप का निर्णय और उस सहज चैतन्य स्वरूप को निरखकर तृप्त होना। एक लक्ष्य बना लिया जाय तो कभी न कभी उसकी पूर्ति अवश्य होगी, पर लक्ष्यविहीन है तब तो जिन्दगी में अनेकों काम भले ही करते रहें, मगर उनका अर्थ कुछ नहीं। जैसे कोई पुरुष रात्रि में किसी समुद्र या नदी में सैर करने के लिए तैयार हुआ, पहुँच गया, सो रात्रि भर नाव को खूब खेया, बड़े खुश भी हुआ, मगर जब प्रातःकाल हुआ तो क्या देखा कि नाव तो ज्यों की त्यों खड़ी है। वहाँ बात क्या हुई कि वह नाव खूँटे से बँधी ही रह गई। नाव को रस्सी से खूँटे से बाँध दिया करते हैं ना? तो उस नाव को खूँटे से छुड़ाना भूल गए और काम बहुत किया, पर उससे लाभ क्या? सुनते हैं कि कोई एक ऐसी घटना कभी हुई थी कि वहेलना ग्राम में जो एक किला है उसमें कोई ऐसी खास बात कुछ लोगों को दिखी कि उन्होंने उस किले को वहाँ से उठाकर अपने गाँव ले जाने का विचार किया। सो उन लोगों ने क्या किया कि उस किले के चारों ओर रस्से डाल दिया और उसे खींचना शुरू किया, जब रात्रि को चंद्र थोड़ा खिसककर इधर से उधर हुआ तब उनकी समझ में आया कि यह किला अब काफी खिसक आया है, सो सारी रात उसको बहुत बहुत खींचते रहे। परन्तु जब प्रातःकाल हुआ तो क्या देखा कि वह तो ज्यों का त्यों खड़ा है। यह लक्ष्य विहीनता की बात कही कि लक्ष्यविहीन होकर कोई कितने ही श्रम कर डाले पर वे सब श्रम अकारथ जाते हैं।

**पुण्योदय होने पर प्राप्त समागम में मौज मानने की व्यर्थता—** आज जिसका पुण्य विशेष है उनको इस पर्याय में अपने मौज पर गर्व भी हो सकता है मगर उनका गर्व करना ठीक नहीं। गर्व करने का फल दुर्गति है। आज ऐसे श्रेष्ठ भव को पाया है तो इस भव को पाने का अर्थ है कि एक मौका मिला है अपूर्व कि अपने आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान, आचरण ठीक ठीक बना लें, संसार के संकटों से जन्म मरण से मुक्ति पाने का कोई प्रोग्राम रख लें, एक यह मौका मिला है। अगर इस मौके को छोड़ दिया और रहे केवल परिवार के मोह में, धन के संचय में या लौकिक नटखट में तो मनुष्य भव के पाने का कोई अर्थ न रहा, क्योंकि भोजन किया, सुख मिल रहा इस मनुष्य को तो बताओ इन पशुपक्षियों को

भोजन का सुख नहीं मिलता क्या? अरे वे भी स्वच्छंद होकर बन में विहार करते हैं। एक वृक्ष से उड़कर दूसरे में, दूसरे से उड़कर तीसरे में यों जहाँ चाहे बैठकर जैसे चाहे फल खाकर बड़ा मौज मानते हैं। वे पशु पक्षी मनुष्यों से तो कितने ही अच्छे हैं। किन्तु मनुष्यों से? जो धर्महीन है। जिन्होंने मोक्षमार्ग के उपाय की बात नहीं सोची। एक अपना निश्चय बनाओ कि यदि हम अपने आत्मा का ज्ञानदर्शन आचरण की बात नहीं पा सकते या पाने का कोई इरादा नहीं है, लक्ष्य नहीं है तो मनुष्यत्व पाना बिल्कुल बेकार है। उस आत्मा के लिए तो कुछ लाभदायक न रहा।

**जीव के लिये कल्पना व विकारों का कठिन बन्धन**— विचार करिये कि हम आपको जीवों का बंध किन किन बातों से है। साक्षात् बंधन तो यह है कि हूँ तो मैं ज्ञानस्वरूप, मगर यह ज्ञान कल्पना के रूप में चल रहा है। एक यह बड़ी विपत्ति है मूल में। कल्पना के रूप में ज्ञान बने और चले यह मेरा स्वभाव नहीं है। मगर एक विपत्ति ही लग गई। तो पहला बंधन यह है। अपना बंधन देखिये—अपनी विपत्तियाँ निरखिये। आज कुछ पुण्य योग से सुख साधन पाये और मौज में फूले रहे तो यह वृत्ति कुछ भली वृत्ति नहीं है। कुछ ख्याल करना चाहिए कि हम किन किन विपत्तियों में फँसे हैं। पहली विपत्ति यह है कि मेरा ज्ञान कल्पनारूप बन-बनकर चल रहा है, यह सही शुद्ध निर्लेप निस्तरंग अपनी सही चाल से नहीं चल सकता। दूसरा बंधन और विपत्ति यह है कि मेरी ज्ञान भूमि पर ये रागद्वेषादिक ये कर्म विपाक के आकार यहाँ प्रतिफलित होते हैं। यद्यपि जो बंधन बताये जा रहे हैं और बतायेंगे उन सब में परस्पर सहयोग है, स्वतंत्र स्वतंत्र बात नहीं है फिर भी अवस्था भेद से सुनना है। मेरे में जो मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। स्वच्छ ज्ञानाकार हूँ वहाँ कर्म विपाक का रस प्रतिफलित होता है जिससे उसकी स्वच्छता ढक गई। जैसे दर्पण के आगे कोई लाल, पीला, काला, नीला आदि किसी भी रंग का पर्दा पड़ा है तो वहाँ दर्पण की स्वच्छता ढक जाती है ऐसे ही मेरी स्वच्छता इस कर्ममल रस से ढक गई। यह एक बड़ी विपत्ति है कि पुद्गल के टुकड़ों को पाकर या किसी प्रकार का एक कल्पित वैभव इज्जत मानकर मौज मानना यह अपने को धोखे में डालना है। एक अन्तर्दृष्टि करके निहारे कि मेरी भलाई किस दृष्टि में है।

**जीव के लिये कर्म और कार्माण विस्रसोपचयों का बन्धन सम्बन्धन**— तीसरा बंधन है कर्म का बंधन। यह बात ध्यान में रखना कि जब बंधन परस्पर सहयोगी हैं। अकेले अकेले ये बंधन न बन पायेंगे। कर्म बंधन से कितना चिकना रूखा है यह जीव। आत्मा की बात कह रहे। जैसे चिकने रूखे पुद्गल के साथ दूसरा पुद्गल बँध जाता तो यह आत्मा भी कैसा विचित्र चिकना रूखा बन रहा है। चिकना तो है राग में और रूखा है द्वेष में, इसकी इस रागद्वेष की वृत्ति से ये कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बँध जाती हैं। तो ये कार्माण वर्गणायें जो अभी कर्मरूप ही नहीं बनी वे इस जीव के साथ लगी फिर रही हैं। जो कर्म बँध गए वे उसके साथ लगे हैं। उनका बंधन है। वहाँ तक तो यह समझ लो कि चलो अब व्यवस्था सही बन रही, कुछ ईमानदारी की बात हुई, मगर जो कर्मरूप ही नहीं हैं अभी और कर्मों से अनन्त गुणे कर्मों के विस्रसोपचय हैं जीव के साथ, जो कि मरने पर भी इस जीव के साथ जाते। कहाँ जाये यह जीव? यह भी क्या कम विपत्ति है कि शरीर के पिंडोले में यह आत्मा बंधन में पड़ गया। अब इस बंधन में रहकर दूसरे दूसरे ढंग की वृत्तियाँ बन रहीं, यह क्या इस भगवान परमात्मस्वरूप आत्मा के लिए कोई शोभा की बात है। कितनी विडम्बना, कितना बंधन हैं और फिर भी यह जीव उसी में राजी हैं।

**निन्द्य पद में रमने की निन्द्य आदत**— एक कोई राजा था, उसने किसी मुनिराज से पूछा कि महाराजा मैं यहाँ से मरकर क्या बनूँगा? तो तो मुनिराज बोले—राजन् तुम अमुक

दिन यहाँ से मरकर अपने ही घर की संडास में संडास के कीड़े बनोगे तो राजा को यह बात सुनकर बड़ा दुःख हुआ और तुरन्त ही अपने लड़के के पास जाकर कहा—बेटा मैं अमुक दिन मरकर अपने ही घर की संडास में संडास का कीड़ा बनूँगा, तुम वहाँ आकर मुझे मार डालना। कहाँ तो मैं राजा और कहाँ विष्टा का कीड़ा, यह मेरे लिए योग्य बात नहीं। आखिर वह राजा मरकर उसी घर में विष्टा का कीड़ा बना। उसे जब मारने के लिए उसका लड़का पहुंचा, लकड़ी में मारना चाहा तो वह अपने प्राण बचाने के लिए उसी विष्टा में छिप गया। तो यहाँ कोई मरना नहीं चाहता, जो जिस पर्याय में पहुंचता वह उसी में राजी रहता। अभी इन सूअरों को देख लो, ये गंदी चीज खाते, सारे शरीर में विष्टा भिड़ा रहता, कीचड़ भिड़ा रहता फिर भी वे उसी में राजी रहते। ऐसी ही तो ये मनुष्य लोग भी कर रहे, बड़े छोटे कार्य कर रहे, दुर्भावनाओं से भरे रहते, निरन्तर दुःखी रहा करते फिर भी उसी में खुश रहते। आज कुछ पुण्य का उदय पाया है तो उसमें अपना स्वच्छंद प्रवर्तन कर रहे हैं, पर यह स्वच्छंदवृत्ति कुछ भली नहीं हैं। संसार का कौन सा ऐसा स्थान, ऐसा पद है जो इस जीव के रमने लायक हो? कुछ नहीं हैं। भैया अपने अंतःस्वरूप को निहारो और उसी में रमो। इसी में भगवान के दर्शन हैं। यही भगवान का प्रसाद है। लोग कहते हैं कि भगवान घट घट में विराजे हैं। तो एक ही भगवान अगर घट घट में बिराजे तो कहाँ कहाँ वह अपने पैर धरेगा, कहाँ कहाँ खड़ा होगा, कुछ कल्पना तो करो। अरे उसका अर्थ है कि भगवान घट घट में बसा है। घट घट में सभी भगवतस्वरूप हैं। वह भगवतस्वरूप बसा है। उसको निहार लें तो पार हो जायेंगे। तो अपने बंध और मोक्ष की चर्चा में जो प्रवर्तता है वह शुभ भाव है। तो बंधन क्या आ रहा? आया तो कर्म तक कार्माण विम्वसोपचय तक। कहते हैं ना कि जिसके दिन बुरे होते हैं उसके ऊपर आफत पर आफत आती है। तो इस संसारी जीव के सारे ही दिन बुरे हैं। वहाँ क्यों यह छटनी करें कि इतने दिन तो मेरे अच्छे गए और इतने बुरे। अरे सारी जिन्दगी संकटों में गई। अब तक निःसंकट कोई समय नहीं मिला। निःसंकट समय तो वह है कि जिस क्षण आपको अपने में यह समझ बने कि यह अमूर्त ज्ञान ज्योति परिपूर्ण सत् ज्ञानानन्द घन यह परमात्मतत्त्व यह स्वयं आनन्दमय है। इसमें संकट का काम नहीं, लेकिन जब इस दृष्टि से अलग होते हैं और बाह्य में किसी पदार्थ में दृष्टि लगती है तो बस, संकट आ गए। तो अपनी बंध दशा को देखो और वर्तमान कल्पित मौज में मग्न मत होओ।

**मुक्ति के उपाय की संभवता—** मुक्ति कैसे मिले उसको भी जरा निरखिये। एक चौकी मैली है मगर जिस पर बीट पड़ी, कूड़ पड़ा और किसी से कहा कि इस चौकी को साफ कर दीजिए तो उस चौकी को वह साफ करता है क्यों साफ करता है कि उसको यह श्रद्धा है कि साफ करके जैसी चौकी बनेगी वैसी ही यह चौकी अब भी भीतर है। यह मैल ऊपर ऊपर का सम्पर्क है। पर चौकी तो वैसी ही है जैसी कि साफ करने पर वह दिखेगी। अगर यह श्रद्धा न हो तो वह चौकी को साफ कर ही नहीं सकता। यह एक साधारण सी बात है, सबके अनुभव की बात है सभी लोग जानते हैं, चौकी मूल में साफ है। शुद्ध है, ऊपर से यह मैल प्रसंग लगा हुआ है। यह निकाला जा सकता, दूर हटाया जा सकता, क्योंकि चौकी तो ऐसी है जो उसने ज्ञान में सोचा। हटा देता है। इस आत्मा को बंधन से छुटाकर मोक्ष में ले जाय याने आत्मा की सफाई करें, रागद्वेष का बंधन न रहे, कल्पना की चाल न चलें। कर्मों का संपर्क न रहे, इन सबकी सफाई करियेगा। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं वे बराबर सफाई कर लेते हैं उनको यह श्रद्धा है कि रागद्वेष कर्ममल उनको हटाने पर जो बात प्रकट हो सकती है स्वरूप है इस आत्मा का अभी भी अगर नहीं है स्वरूप तो हजारों उपाय करने पर भी वह विशुद्धि नहीं जग सकती। तिल में तैल है तो

उसे मीड कर निकाल लीजिए और बालू में तैल नहीं है तो उसे कितना ही मीडा जाय पर तैल नहीं निकल सकता। यह ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। तो यह ज्ञानानन्द किसी किसी बहाने विकृत रूप ही सही, यह जीव पाता रहता है। किसी बाह्य वस्तु से आनन्द नहीं आता आनन्द का अपना ही स्वरूप है वहाँ से आता है। तो ऐसे केवल ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का जिसे विश्वास है वह वैसी ही दृष्टि बनाकर उस ही विशुद्ध स्वरूप में अपने सत्त्व का अनुभव करता है और वह इन बंधनों से मुक्ति पाता है। तो जो इस स्वरूप के मनन में रहता है वह शुभ भाव है और शुभ भाव का फल सुगति लाभ है।

### **बन्धकारण चिन्तनरूप शुभभाव के वर्णन में बन्ध कारणत्व का एक**

**दृष्टान्त—** प्रसंग यह चल रहा है कि शुभ भाव होने से स्वर्गादिक सुख प्राप्त होते हैं। वे शुभ भाव कौन कौन से हैं? उनमें से आज बताया जा रहा है कि जो बंध के कारण स्वरूप में और मोक्ष के कारण स्वरूप में अपना निर्णय रखता है उसके यथार्थ ज्ञान है कि वह भाव शुभ मात्र है। कल बताया था कि बंध और मोक्ष के स्वरूप में सही चिन्तन। हम आप ये सब जीव यहाँ विकट बंधन में पड़े हैं तो उसका कारण क्या है? एक दृष्टान्त से सोचिये। एक पहलवान पुरुष लंगोट पहिनकर शरीर में तैल लगाकर हाथ में नंगी तलवार लेकर एक बाग में तलवार चलाने की कला सीखने के लिए पहुँच गया। गर्मी के दिन थे। वहाँ सूखी रेत बहुत सी पड़ी थी और वहाँ पर वह तलवार चलाने लगा, बहुत से केले के ताड़ के तथा अन्य प्रकार के पेड़ कट कट गिर रहे थे। थोड़ी ही देर में वह पहलवान क्या देखता है कि हमारा सारा शरीर धूल से लथपथ हो गया है। अब एक बात यहाँ बतलावो कि उसके शरीर में जो धूल का बंधन हुआ उसका कारण क्या है? तो कुछ लोग तो यों कहेंगे कि वह धूल भरे स्थान में पहुँचा इसलिए धूल चिपकी, पर यह बात नहीं है। क्योंकि वही पुरुष अथवा कोई दूसरा पुरुष बिना तैल लगाये यदि उस रेतीले स्थान पर जावे तो वहाँ धूल नहीं चिपकती। अब कोई यों भी कह सकता है कि उसने जो इतने पेड़े काटे, उनका विनाश कर दिया तो धूल न चिपकेगी तो होगा क्या? पर उसका कहना यह भी ठीक नहीं। कोई पुरुष बिना तैल लगाये यदि वृक्षों का विनाश करे तो उसके धूल तो नहीं चिपकती, और कोई कह सकता कि उसने अपने हाथ पैर आदिक बड़े तेज चलाये इसलिए धूल चिपकी तो उसकी यह बात यों गलत कि बिना तैल लगाये पुरुष कितनी ही हाथ पैर की चेष्टायें करें पर वह धूल धूसरित नहीं होता। अब कोई यह भी कह सकता कि वाह वह तो तलवार किए था, अनेकों बातों से सजा धजा था इसलिए धूल चिपकी तो उसका कहना भी गलत है क्योंकि बिना तैल लगाये कोई पुरुष कितना ही सज धजकर जावे पर उसके सारे शरीर में धूल नहीं चिपकती। तो शरीर में धूल चिपकने का मूल कारण क्या रहा? मूल कारण रहे शरीर में तैल का लगना।

**कर्मबन्ध के कारणत्व का निर्णय—** अब यह ही बात जरा यहाँ घटावो—यह जीव कर्मों से भरे हुए संसार में भटकता फिर रहा है। यहाँ सर्वत्र वे सूक्ष्म मैटर भरे हैं कार्माणवर्गणायें कि यह जीव कषाय करता है तो उसी समय वह कर्मरूप बन जाता है। तो ऐसे कार्माण वर्गणाओं से भरे हुए इस संसार में मन वचन काय की प्रवृत्ति करता हुआ यह मोही जीव अनेकों जीवों का वध करता है तो उनका कर्मबंध होता है। तो यहाँ यह बताओ कि इस जीव को कर्म का बंध क्यों हुआ? क्या इस कारण हुआ कि वह कर्मों से भरे हुए संसार में रह रहा था इससे बंध हो गया तो प्रभु कहाँ रहते सो तो बताओ? इस दुनिया से कहीं बाहर रहते क्या? अरे वे भी तो इस लोक में रहते हैं। सिद्धलोक के अन्त में उनका निवास है। इस लोक में तो सभी जगह कार्माण वर्गणायें भरी पड़ी हैं, उनको क्यों नहीं बंध होता? तो कोई कहेगा मेरे द्वारा इतने जीवों को कष्ट विशेष है इस कारण से उसे कर्म



बँधा यह भी बात सही नहीं। कोई प्रमांद रहित साधु बड़े ध्यान से जमीन देखकर चल रहा परम कृपालु मुनि और चलते ही बीच में कोई अचानक सूक्ष्म जीव आकर दब कर मर गया उसके तो कर्मबंध नहीं होता। अब कोई कह सकता है कि उसने मन, वचन, काय इनको खूब चलाया उससे कर्म बंध हो गया तो भला प्रभु सदेह परमात्मा जिनके शरीर भी है और जो परमात्मा हैं वे भी तो विहार करते हैं, उनका भी तो उपदेश होता है। तो क्या उनकी काय नहीं चली, क्या उनके वचन नहीं चले? इतने चले, पर उनके कर्मबन्ध तो नहीं होता। तो कोई कहेगा कि इतने आडम्बर रख रहा है, यह जीव, परिग्रह रख रहा है, बाह्य चीजों के संग में पड़ा है इसलिए कर्मबंध होता। तो सशरीर परमात्मा अरहंत भगवान सकल परमात्मा सगुण ब्रह्म वह भी तो कितना ठाठ में रहते हैं। उनका ठाठ देव करते हैं। बड़ी शोभा का वह समवशरण बड़ा श्रङ्गार, इन्द्र की ही तो रचना है, उसके बीच सिंहासन पर विराजमान है उसपर स्वर्णकमल है और उस पर प्रभु विराजे हैं। ऊपर छत्र लटक रहे हैं। चमर दुर रहे हैं, इतना बड़ा ठाठ है फिर भी उनको कर्मबंध तो नहीं होता। तो कारण क्या है? कारण यह है कि इस जीव को जो मोह लगा है, राग लगा है। प्रीतिभाव जगता है, बाह्य पदार्थों को अपना मानता है, ऐसा तो अंतःमोह राग का परिणाम है उसके कारण बंध होता है। तो बंध का कारण क्या कहलाया? मोह रागद्वेष।

**ज्ञानी और अज्ञानी का विकार के प्रति व्यवहार**— एक बात और समझने की है कि कोई ऊँचा ज्ञानी पुरुष है, उसके साथ भी पूर्वभव के बँधे हुए कर्म हैं, अब के भी अज्ञान अवस्था के बँधे हुए कर्म हैं, अब उसको ज्ञान है, अपना जो सहज अविकार ज्ञानस्वरूप है उसकी ही धुन है, उसकी ओर ही दृष्टि है, और आ रहे पहले के बँधे हुए कर्मों की छाया प्रतिफलन रस तो यह ज्ञानी जीव उस रस से विरक्त है और अपने ज्ञानरस का ही अनुरागी है। तो वहाँ कर्म उदय में तो आये, रागप्रकृति भी उदय में आयी, राग का प्रतिफलन भी हुआ, पर उस राग को इसने उपयोग भूमि में नहीं चलाया, इस कारण उसे बंध नहीं होता और जितना है राग करणानुयोग कहता है कि होता है मगर अपना तो काम बुद्धिपूर्वक है, हमारे ज्ञान में आया उसकी ही तो चर्चा है। वह बंध नहीं होता, और अज्ञानी जीव, मोही जीव जो राग आया, जो मोह जगा, जो विकार आया उसको यह पकड़कर रखता है। कभी किसी को देखा होगा कि बड़े क्रोध में लड़ाई करता है और जरा थोड़ी देर हो गई तो क्रोध तो हमेशा रहता नहीं, थोड़ी देर बाद कम होने लगता, तो क्रोध भी कम होने लगा, मगर वह भीतर में ऐसी कोशिश करता है कि यह मेरा क्रोध कम न हो जाय। नहीं तो इससे बदला क्या लिया जा सकता? तो उसको क्रोध से प्रेम हुआ ना, विकार से प्रेम हुआ। राग में राग होना मोह है और राग होना राग है। बाह्य पदार्थों के विषय में राग हो गया, यह तो है राग की मुद्रा पर उस राग में भी राग बने, ऐसा राग उसके सदा काल रहे तो उसको कहते हैं मोह।

**मोह और राग के विश्लेषण पर एक दृष्टान्त**— बहुधा लोग कहने लगते कि मोह और राग एक ही बात है, पर एक बात नहीं है। इसमें तो बड़ा अन्तर पड़ा। एक दृष्टान्त लो, कोई रईस बीमार हो गया तो उसका कमरा सुरक्षित रखेंगे, साफ रखेंगे, एक दो नौकर बढ़ाये जायेंगे, फूफा, बुआ, चाची मौसी मौसा आदिक कितने ही लोग उसकी सेवा में हाजिर रहेंगे, पलंग भी बड़ा कोमल बिछाया जायगा, डाक्टर लोग भी समय-समय पर हाजिर रहेंगे, दवाई भी समय समय पर मिलती रहेगी, उसे सब प्रकार के आराम के साधन दिये जाते और उस रईस सेठ को उन सब साधनों से राग भी है, तभी तो उन साधनों में कुछ कमी दिखने पर वह झल्लाने लगता है। जैसे दवाई देने में देर हो गई तो झल्लायेगा, डाक्टर के आने में देर हुई तो झल्लायेगा, यों उसे राग तो है पर बताओ उसे उन सबके

प्रति मोह भी है क्या? क्या वह यह चाहता है कि ऐसी ही दवाई मैं जिन्दगी भर पीता रहूँ, इसी तरह से मैं आराम से बिस्तर पर पड़ा रहूँ, सब प्रकार की सेवायें चलती रहें? अरे उसके चित्त में तो यह बात बसी है कि कब मुझे यह दवा पीने से फुरसत मिले और मैं प्रतिदिन एक दो मील जगह घूम आया करूँ। अच्छा फिर उसे राग क्यों है उन सब चीजों से? तो भाई राग तो परिस्थिति करवा रही है, बीमार है सो इतना राग उसे करना ही पड़ेगा। औषधि क्यों पी रहा? मेरी औषधि पीना छूट जाय इसलिए पी रहा। कहीं ऐसा वह नहीं सोचता कि यह औषधि मुझे जीवन भर मिलती रहे। तो उसे मोह नहीं है उन किसी भी चीजों से।

**मोह और राग के विश्लेषण पर द्वितीय दृष्टान्त—** अब आप मोह और राग का अन्तर समझते जाइये। मानो किसी लड़की या लड़के का विवाह हुआ तो उस विवाह में तो लोग बड़ी बड़ी खुशियाँ मनाया करते हैं। जिस दिन लड़के की बारात जाती है उस दिन एक रिवाज है कि उस लड़के को सब जगह दर्शन कराया जाता, जिसे लोक व्यवहार में घोड़चढ़ी बोलते हैं। उस घोड़चढ़ी के मौके पर गांव की समस्त नारियों को बुलावा दिया जाता है गीत गाने के लिए। गाँव की सभी नारियाँ आती हैं और मुख से मुख मिलाकर बड़ी उमंग से एकतान होकर गीत गाती है—मेरा दूल्हा बना सरदार, राम लखन सी जोड़ी आदि, कितने ही गीत गाते हैं, पर किसलिए? कोई छटांक आधपाव बतासों के लिए। वहाँ वे स्त्रियाँ इतनी परिश्रम कर डालती हैं कि उनका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो जाता है, पर यह तो बताओ कि उन स्त्रियों को उस दूल्हे से मोह है क्या? नहीं है मोह। हाँ राग अवश्य है। राग बिना तो वे वहाँ जाती ही नहीं। कैसे समझा कि मोह नहीं है सो सुनो अगर वह लड़का घोड़े से गिर पड़े और उसकी टाँग टूट जाय तो उसके प्रति वे सब स्त्रियाँ रोवेंगी नहीं। रोना तो उसकी माँ को पड़ेगा। यद्यपि उसकी माँ उस कामकाज में इतना व्यस्त होती कि उसे एक मिनट भी फुरसत नहीं मिल पाती। बाहरी रूप से उस लड़के के प्रति कोई ममता नहीं दिखती और उन स्त्रियों में बाहरी रूप से बड़ी ममता दिखती, पर उन स्त्रियों को उससे ममता नहीं, वे तो जहाँ काम निपटने को हुआ कि बस अपने घर जाने के लिए जल्दी मचाती हैं। मोह तो उसकी माँ को होता, उसे ही मोह होने से रोना पड़ता है। तो मोह और राग में अन्तर है। राग तो परिस्थितिवश होता और मोह अज्ञानतावश होता। राग में राग होना मोह है अज्ञान है और संसारवर्द्धक है। ऐसा जानकर मैं राग में राग क्यों करूँ? हाँ परिस्थितिवश राग करना पड़े तो वह कहलाती कर्म की बलवत्ता। चाहते नहीं है पर ऐसा ही उदय चल रहा। कितनी ही बातें ऐसी होती कि अन्दर में भाव नहीं होता करने का किन्तु परिस्थितिवश करना पड़ता है।

**मोह और राग के विश्लेषण पर तृतीय दृष्टान्त—** सम्यग्दृष्टि पुरुष को भी संसार में प्रवृत्ति करने का भाव नहीं होता पर करना पड़ता है। जैसे किसी लड़की का विवाह हुई कई साल बीत गए। अनेकों बार वह अपनी ससुराल हो आयी। कई बाल बच्चे भी हो गए मगर जब जब भी वह अपने मायके जाती और उस मायके से ससुराल के लिए चलने लगती तो रोकर चलती। बताओ उसे अपनी माँ का घर (मायका) छोड़कर ससुराल जाने में कुछ कष्ट हो रहा है क्या? अरे एक लोक रीति है सो उसे परिस्थितिवश रोना पड़ता है। उसके मन में कोई कष्ट नहीं। अब उसे कष्ट नहीं यह कैसे जाना सो सुनो? उसके मन में यह बात पहले से बसी होती कि अब तो मेरा घर वह है ससुराल का घर। वहीं से मेरा सब कुछ पूरा पड़ेगा। और मैं अब तो बरषात के दिन आ गए, चावल अमुक जगह रखे है, गेहूँ अमुक जगह रखे हैं, कहीं बरषात न हो जाय और भीग न जायें इसलिए अब वहाँ जल्दी पहुँचना जरूरी है। ससुराल पहुँचने के लिए उसके मन में बड़ी उमंग है,

और कभी कभी तो खबर भी भेज देती अपने लड़कों के पास कि तुम जल्दी आकर हमें लिवा ले जावो, इतना सब कुछ होकर भी जब वह उस मायके के घर से ससुराल के लिए जाती है तो रोकर जाती है। बताओ उसे उस मायके के प्रति अब मोह है क्या? अरे मोह नहीं है, पर राग अवश्य है। उसके मन में रोने की इच्छा नहीं होती फिर भी परिस्थितिवश उसे रोना पड़ता है क्योंकि एक लोक रूढ़ि है तो ठीक ऐसी ही हालत सम्यग्दृष्टि पुरुष की है। उसके मन में संसार की ये बाह्य प्रवृत्तियाँ करने का भाव नहीं होता फिर भी परिस्थितिवश करना पड़ता है। उसे यहाँ किसी चीज से मोह नहीं होता, हाँ परिस्थितिवश राग करना पड़ता है। राग और मोह में कहान अन्तर है। राग तो परिस्थितिवश किया जाता पर मोह अज्ञान दशा में होता है। इस मोह और राग वश ही तो इस जीव को कर्मों का बंध हो रहा।

**मोक्ष हेतुत्व का चिन्तन रूप शुभ भाव**— अगर यह जीव मोह और राग न करे तो वही मोक्ष का कारण बन जायगा। अब ये मोह इऔर राग न रहे उसका उपाय क्या है? तो बाहरी उपाय तो बहुत से किए जाते जिनसे मोह मिटता नहीं, पर मोह मेटने का एक ऐसा सही उपाय है कि जो कभी निष्फल नहीं जाता। जैसे वृक्ष के पत्तों पर कितना ही पानी डाला जाय पर वह सब निष्फल रहता है, सूख जाता है, उससे कहीं वृक्ष हरा भरा नहीं रह सकता, पर यदि वृक्ष की जड़ों में पानी डाला जाय तो वृक्ष हरा भरा बना रहता है। ऐसे ही मोह के छूटने के बाह्य कितने ही उपाय कर लिए जायें वे सब निष्फल रहेंगे, पर एक उपाय ऐसा है कि वह कभी निष्फल नहीं जाता। अब मोह मेटने का वह सही उपाय क्या है सो सुनो—अपने स्वरूप को जानने का एक अच्छा अभ्यास बनावें, यह मैं आत्मा स्वयं सहज अपने ही सत्त्व के कारण विकारशून्य हूँ, किसी भी पदार्थ में खुद में अकेले ही पर सम्पर्क बिना विकार नहीं आया करते। कहीं भी आप देख लीजिए तो मैं तो अपने सत्त्व मात्र हूँ। किसी बाह्य पदार्थ का संबंध बना तो वह मेरा स्वरूप तो नहीं बना। मैं जो स्वयं सत् हूँ वह केवल अकेला हूँ, विकाररहित हूँ, यह दृष्टि दृढ़ हो जाय, अपने में ऐसा ही अनुभव बने जिस भव्य जीव का उसका मोह दूर हो जाता है और मुक्ति का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

**सिद्धि की अन्तः प्रयोग साध्यता**— भैया केवल बार बार बोलने चालने मात्र से मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता, किन्तु भीतर में ऐसे ही ज्ञान का अनुभव हो तो मिलता है। इसके संबंध में एक दृष्टान्त देखिये—एक ब्राह्मण के यहाँ तोता पाला हुआ था, वह तोता पालने का शौकीन था। एक दिन मौका पाकर वह तोता कहीं उड़ गया। ब्राह्मण को दुःख हुआ और तुरन्त ही तोता खरीदने बाजार पहुँचा। उस बाजार में किसी दुकानदार के पास एक तोता था। उस तोते को दुकानदार ने एक पाठ सिखा रखा था—‘इसमें क्या शक’। तोते तो वाक्य के वाक्य बोलना सीख जाते, दोहे तक बोल देते। तो उस तोते को सिखा दिया—इसमें क्या शक। बस उसी तोते को देख लिया उस ब्राह्मण ने, वह तोता उसे सुहा गया और पूछा कि भाई यह तोता बेचोगे? तो वह दुकानदार बोला—हाँ हाँ बचेंगे। ... कितने का दोगे? ...100 का। ..अजी 100 की इसमें क्या बात है। तोते तो 8-8 आने के या 1-1 रुपये के मिला करते हैं। तो दुकानदार बोला—अजी इस तोते में बड़े गुण हैं, अब इसी से पूछ लो कि तुम्हारी कीमत 100 है या नहीं? तो उस ब्राह्मण ने तोते से कहा—ऐ तोते बताओ तुम्हारी कीमत 100 है या नहीं? तो वह तोता बोला—इसमें क्या शक? इतनी बात सुनकर उस ब्राह्मण के मन में आया कि यह तोता तो बहुत समझदार, गुणी मालूम होता है सो झट 100 में खरीद लिया जब घर ले गया तो घर पर उसके सामने वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण आदि लेकर बैठ गया और कथायें सुनाने लगा। मानो

श्रीरामचन्द्रजी की पहले कथा सुनाया—श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए, वह बड़े गम्भीर रघुकुल तिलक हुए आदि — /फिर तोते से पूछा—कहो तोते ठीक हैं ना? तो तोते ने क्या कहा? इसमें क्या शक? तोते का इस प्रकार का उत्तर सुनकर ब्राह्मण ने समझा कि यह तोता तो बहुत ही ज्यादा समझदार मालूम होता है सो बड़ी ऊँची ऊँची चर्चायें उसके सामने करने लगा—मानो सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण की चर्चा छेड़ दिया, वहाँ पूछा—बताओ तोते ठीक हैं ना? तो वहाँ भी वह तोता बोला—इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मण ने समझा कि यह तोता इससे भी अधिक समझदार समझ में आता है सो उसेक सामने ब्रह्मस्वरूप की चर्चा छेड़ दिया—ब्रह्मस्वरूप, अपरिणामी, सर्वव्यापक, सबका स्रोत — कहो तोते ठीक हैं ना? तो फिर वही उत्तर—इसमें क्या शक। अब तो उस ब्राह्मण को भी शक हो गया कि कहीं यह तोता सिर्फ इतना ही तो नहीं बोलना जानता सो पूछ बैठा—कहो तोते क्या मेरे 100 पानी में गए? तो तोता बोला—इसमें क्या शक! अब बताओ एक ही बात तो उस तोते को रटा रखी थी। केवल कुछ शब्दों के रट लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती, किन्तु उसके लिए भीतर में ज्ञानानुभव होना चाहिए। अभी आप लोग भी यहाँ पर पूजा पाठ रट लिया करते और वही वही पाठ प्रतिदिन बोल दिया करते, पर जब तक उसका भीतर में सही ढंग से अनुभव नहीं होता तब तक उसे कार्यकारी न समझें। पद्य में रटा हुआ पाठ बोलने से पाठ भी पूरा हो जाता पर उसका भाव चित्त में नहीं जम पाता। भला उस को गद्य में बोलते तो उसका कुछ भाव चित्त में जम सकता था। एक रटा रटाया पाठ कार्यकारी नहीं होता। तो जब तक अपने उपयोग में निर्मलता नहीं होती याने उपयोग में सिर्फ ज्ञानस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप अविकार प्रकाश, यह मैं ही हूँ, यह बात न समाये, और ऐसा ही प्रभु में न निरखे तब तक मोक्षमार्ग नहीं मिलता। इस मोक्ष का कारण है अविकार सहज स्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करना।

**अनुप्रेक्षणों में वर्तने का शुभ भाव—** यहाँ शुभ भाव का वर्णन किया जा रहा है। शुभ भाव साक्षात् तो सांसारिक सुख के कारणभूत पुण्य कर्म का बंध करते हैं किन्तु विशिष्ट शुभ भाव हों तो उनकी धारा में, उनकी परम्परा में चलता हुआ जीव शुभ भाव से हट कर शुद्ध भाव को प्राप्त कर लेता है। इस कारण शुद्धि का परम्परा कारण भी है। उस शुभ भाव का वर्णन चल रहा है। बारह अनुप्रेक्षाओं में भी होता है शुभ भाव। अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? अनुप्र ईक्षा ऐसे इसमें 3 शब्द हैं। अनु और प्र ये तो उपसर्ग हैं और ईक्षा तकना मायने देखना उसे कहते हैं ईक्षा। जिसमें आत्मा का हित हो प्रकृष्ट रूप से उस तत्त्व को निरखना से अनुप्रेक्षा है। जिसे सुगम शब्दों में कहते हैं भावना। इनका चिंतवन करने से समता का सुख प्राप्त होता है। उन तत्त्वपूर्ण भावनाओं का बारबार विचार करने को भावनायें कहते हैं। वे बारह होती हैं। (1) अनित्य (2) अशरण (3) संसार (4) एकत्व (5) अन्यत्व (6) अशुचि (7) आश्रव (8) संबर (9) निर्जरा (10) लोक (11) बोधिदुर्लभ और (12) धर्म। भावनाओं का बड़ा सहारा है इस जीव को संकटों से छूटने के लिए। बाहर में कहीं कोई वास्तविक सहारा नहीं इस जीव का। सब ही प्राणी मोह में कल्पनायें करके इस जीवत्व को बरबाद कर रहे हैं। और देखिये धर्म तो सब करते हैं, करना चाहते हैं, कुछ धर्म की प्रवृत्ति में लगे हैं, पर जब तक यह बात चित्त में न जमी हो कि मेरा तो मेरा आत्मस्वरूप ही सरोवर है। इसको छोड़कर जगत का कोई भी अणु मेरा नहीं है। मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। उनके लगाव से ही संसार का संकट है। इतना निर्णय जिसके नहीं है वह धर्म क्या कर रहा होगा? धर्म की स्थिति उसके नहीं आ सकती। बाह्य क्रियाकाण्डों से धर्म नहीं मिलता किन्तु बाह्य क्रियाकाण्ड तो एक वातावरण है ऐसा कि जिसमें रहकर कोई आत्मदृष्टि करे तो धर्म हो जायगा, सो उसको कारण में कार्य का उपचार करके बोलते हैं।

**अनित्य भावना के मनन का शुभ भाव—** अनित्य भावना क्या? सारा जगत दृश्यमान यह लोक जो भी दिखता है वह सब मायास्वरूप है और वह नियम से विनाशीक है यह शरीर, ये सब प्राणी, ये सब पुद्गल पदार्थ विनाशीक है। देखो बहुत बड़ी विपत्ति है यह कि जिस में सार नहीं, जो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं उनमें लगाव है। उनकी पकड़ है, उनको अपना सर्वस्व मानते हैं, यह एक बहुत बड़ी विपत्ति है। जो समझ लेता है वह अपना बोझ हल्का कर लेता है। धर्म में लग लेता है। जो नहीं जान पाता वह इसी तरह संसार बढ़ाया करता, जैसा कि अनादि से अब तक चला आया। अनित्य भावना कही जा रही है। अगर कोई इन सब समागमों को विनाशीक समझ लेवे तो उनका वियोग होने पर उसे दुःख न होगा। जो समझता ही नहीं, ऐसी अगर दृढ़ता का निर्णय है कि यह घर, यह कुटुम्ब समागम, यह वैभव जो भी मिला है वह नियम से बिछुड़ेगा, ऐसा जिसका निर्णय है वह बिछुड़ने पर दुःखी नहीं होता। वह तो समझेगा कि देखो जो जानता था सो ही हो गया, किन्तु जो मिले हुए समागमों को नित्य ध्रुव हितकारी अपना मानता है वह दुःखी होता है। तो अनित्य भावना में बताया है कि यह सारा समागम विनाशीक है और जरा ध्यान से परखें तो इसके अन्दर एक बात और छिपी हुई है। यह ज्ञानी यह समझ रहा है कि मेरा जो सहज अविकार आत्मस्वरूप है बस वह तो नित्य है और बाकी जो परिणमन हैं वे सब अनित्य हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो द्रव्यस्वरूप है वह तो सदा रहने वाला है मगर उसकी परिणति यह विनाशीक है। तो अनित्य भावना में जब सबको विनाशीक निरख रहे हों तो यह श्रद्धा भी होना आवश्यक है कि मेरे जो आत्मा का सहज स्वरूप है वह विनाशीक नहीं। तो उस अनित्य भावना में सार्थकता हो जायगी। मैं आत्मद्रव्य वस्तु स्वरूप तो कभी नष्ट होता नहीं, पर जो दशायें चल रही हैं, मनुष्य हुआ जो जो भी अवस्थायें चलती हैं ये सब विनाशीक हैं। ऐसी भावना रखें तो उसको धर्ममार्ग मिलता है।

**अनित्यता के निर्णय से वियोगज दुःख का अभाव—** लौकिक हिसाब से भी देखो—एक घटना लावो चित्त में कि लोग विवाह बारात में सैकड़ों रुपयों की आतशबाजी फूँक देते हैं और खुश होते हैं। कुछ कष्ट नहीं मानते और उनका अगर एक दो ढाई रुपये का पेन खो जाये तो उसका कष्ट मानते हैं। तो उस पेन के खोने पर कष्ट मानने का कारण क्या है कि उस आतशबाजी के प्रति पहले से ही यह निर्णय कर लिया था कि यह तो फूँकने के लिए ही है। मगर पेन के प्रति यह विश्वास बना रखा था कि यह तो मेरी जेब में सदा रहेगी, तो ऐसे ही समझिये कि जो सारे जगत को, समस्त समागम को यह निर्णय कर रखा कि ये सब नष्ट होने वाले हैं तो विकार होने पर उसको कष्ट न होगा और जो यह मानकर रहे कि नष्ट तो अन्य लोगों के हुआ करते हैं, मेरे घर के लोग या मेरे घर की चीजें नष्ट नहीं होती तो ऐसा निर्णय पहले से ही होने से उनके वियोग पर कष्ट अवश्य होगा। यह बारह भावनाओं की बात कही जा रही है। इनकी रोज रोज भावना रखना चाहिए। पहली है अनित्य भावना—राजा राणा छत्रपति, बड़े बड़े लोग, हाथियों के असवार सबको एक दिन मरना है। सबका समय आता है, उसमें अपने को भी शामिल करके समझियेगा। यह पर्याय भी विनाशीक हैं। दुःख काहे का होता?

**प्राप्त समागमों के अनित्यत्व के निर्णय से धर्मोत्साह—** एक नीति है—अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युन्न धर्ममाचरेत्। हितोपदेश में बालकों को यह नीति पढ़ाई जाती कि विद्या और धन इनका उपार्जन वहीं पुरुष कर पाता है जो अपने को अजर अमर की तरह मानता है, और जो मानता कि हम तो कल ही मरने वाले हैं तो वह संस्कृत पढ़ने में अपने दाँत क्यों खटखटायगा? जब वह समझता है कि हमको बहुत दिन जीना है तो वह विद्या का भी अर्जन करता और धन का भी। जैसे

मानो किसी को फाँसी का हुक्म हो गया तो एक रिवाज है कि फाँसी देने के 5 मिनट पहले उससे पूछा जाता कि बताओ कि तुम क्या चीज खाना चाहते हो या किससे मिलना चाहते हो? जो चाहे ऊँची से ऊँची चीज खा लो तो भला बताओ जिसका मरण अभी 5 मिनट बाद में होने वाला है उसको खाना पीना भी रुचेगा क्या? न रुचेगा, तो ऐसे ही जिसको यह निर्णय है कि मृत्यु ने तो मेरे केशों को पकड़ रखा है, किसी भी दिन झटक देगी और मरना पड़ेगा। जो मृत्यु को अपने सिर पर मंडराता हुआ देखेगा वह धर्म का आचरण कर सकेगा, क्योंकि जीवन का कुछ भरोसा नहीं। धर्मकार्य कर लें, जितना अपने ज्ञानस्वरूप की भावना बना लेंगे उतना तो यह साथ जायगा बाकी यहाँ का कुछ भी साथ नहीं जाने का।

**अनित्य भावना में अन्तरंग बहिरंग दोनों तथ्यों का निर्णय**— अनित्य भावना में दोनों बातें ध्यान में रखना कि मेरा जो सहज अविकार स्वरूप है वह तो नित्य है। शाश्वत है और जो दशा बन रही है। जो विकार चल रहे, परिणमन हो रहे वे सब अनित्य हैं। यह निर्णय रखना, इससे लाभ क्या है कि जिसको अनित्य समझ लिया उसमें आपको प्रीति न आयगी और जिसको अपना स्वरूप और नित्य समझ लिया उसमें आपको उमंग जगेगी। तो भावनाओं का ही क्या, जितने भी धार्मिक कार्य हैं उन सबका प्रयोजन एक है विकार से हटना और स्वभाव में लगना। अगर यह बात नहीं बन पाती तो वह धर्मकार्य नहीं है। एक कुन्जी है जिससे आप सब निर्णय कर पायेंगे। चाहे आप के पर्व हों चाहे कोई समवशरण हो, चाहे आपकी दैनिक चर्या हो, धर्म के उद्देश्य को लकर, तो वहाँ आप यह परख लेंगे कि हमको इन विकारों से, कषायों से, रागद्वेषादिक भावों से हटने की उमंग मिल रही या नहीं, और मेरा जो अविकार सहज स्वरूप है उसमें लगने की प्रेरणा मिल रही या नहीं? अगर मिलती है तो आपका वह धर्म पर्व है। धर्म समारोह है। धार्मिक क्रिया है और यदि विकार से हटने की उमंग नहीं मिलती, स्वभाव में लगने की प्रेरणा नहीं जगती तो वे सब ऊपरी काम हैं। लौकिक काम है। धर्म के अभिमुख करने वाली आपकी क्रिया नहीं है। तो भावनाओं में आप यह लखते जायेंगे कि मुझको इस भावना के भाने से, इसके मनन से विकार से हटने की उमंग यों मिल रही और स्वभाव से लगने की ऐसी प्रेरणा जग रही है। अनित्य भावना में दो निर्णय हुए कि मेरा यह सहज स्वरूप तो ध्रुव है और ये औपाधिकभाव जो क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे वे सब अनित्य हैं। अनित्य से क्या प्रेम करना और आनन्द धाम ज्ञानस्वरूप जो अपना सहज अविकार रूप है उसमें प्रीति करना।

**अध्यात्म मनन की प्रतिदिन आवश्यकता**— आप लोग प्रायः रोज सुनते आये हैं और सोचते होंगे कि एक ही बात रोज रोज कही जा रही है क्या कि आत्मा का जो सहज अविकार स्वरूप है उसमें लगना। तो हम भी सोच सकते हैं कि आप लोग रोज रोज वही वही दाल रोटी चावल खाते रहते हैं फिर भी कोई दिन ऐसा नहीं होता जिस दिन आपके मन में आ जाय कि आज तो मेरा दाल रोटी चावल का खाना बंद। उसकी लालसा रोज रोज लगी रहती है, मानो कल खाया था तो आज फिर भूख लगेगी, आज खा लिया तो कल के दिन फिर भूख लगेगी। तो ठीक है खावो, उससे कोई हानि नहीं, तो ऐसे ही यहाँ समझिये कि कुछ आत्मस्वरूप की दृष्टि की थी कल शाम को और उसके बाद अनेककों कामों में लगने से चित्त यहाँ वहाँ डोलता रहा, तो वे जो सारे क्रियाकाण्ड थे अपने आत्म उपवन में वे सबके सब हमने नष्ट कर दिया और फिर हम रीते के रीते रहे। अब फिर आत्म जागृति की आवश्यकता हुई। आनन्द दो प्रकार के होते हैं—एक तो क्षणिक, पराधीन, कल्पित आनन्द और एक शाश्वत स्वाधीन स्वाभाविक आनन्द। अच्छा और जिसको चाहो उसको पा सकते। शाश्वत स्वाभाविक आनन्द उससे भी अधिक स्वाधीन है। पर पुण्य

वाला आनन्द उसमें बहुत सी अपेक्षाएँ भी होती हैं। तो क्षणिक सुख पाकर क्या लाभ होगा? उसमें क्यों रमते हैं? आत्मा का जो अविनाशी आनन्द है उसमें क्यों नहीं कोशिश करते। ज्ञाता दृष्टा रहें, साक्षी रहें, यथार्थ जानते रहें।

**यथार्थ तथ्य के ज्ञानी होकर परिस्थितिवश प्रवृत्ति करने में विवेक—** भैया, आप लोग घर में रहते हैं, कुटुम्ब के लोग हैं। इसी तरह घर में रहना हुआ करता है। धर्म, अर्थ, काम, पुण्य, धन की कमायी और पालन पोषण ये तीन काम आवश्यक रहा करते हैं, किये जा रहे हैं, पर मेरा परमाणु मात्र भी इस लोक में नहीं है। ऐसा अपना भीतरी निर्णय रखें। और न रखेंगे तो कष्ट कौन भोगेगा? कोई एक किसान था तो हल चलाते हुवे में एक साँप निकल आया और उस साँप पर बैल का पैर पड़ गया और साँप ने उस किसान को काट खाया। तो साँप के काटने पर उस किसान के 5-7 मेहर (लहर) चढ़ गई। तो उस स्थिति में वह अटपट बकने लगा, मानो उसने अपने को साँप रूप अनुभव किया तो साँप की ओर से वह बोलने लगा—अरे तूने मेरे ऊपर पैर क्यों धर दिया और बैल को डंडे से पीटना भी शुरू कर दिया। बहुत देर तक पीटता रहा। जब उसका पीटना बंद न हुआ तो पड़ोस के लोगों ने उसे समझाया—अरे तेरे पास दो ही बैल है। यदि इनमें से एक बैल मर गया तो फिर तेरा जीवन दुःखी रहेगा...। उसने किसी की न सुनी, पीटना शुरू रखा, पर एक व्यक्ति ने उसके कान में कहा—अरे भाई तुम व्यर्थ में इस बैल को मत पीटो, तुम्हारा विष तो उतर जायगा पर बैल मर गया तो वह वापिस कहाँ से आयगा? तुम कैसे खेती करोगे? बच्चों का पालन पोषण कैसे करोगे, तुम बड़े दुःखी हो जावोगे, इसलिए बैल को मत पीटो। तो उसकी समझ में बात आ गई और बैल का पीटना बंद कर दिया। तो ऐसे ही धर्म के विरुद्ध हम आप प्रवर्तन करते हैं। मोह रागद्वेष में हम बढ़ते रहते हैं तो उसका फल दुर्गति में जाना है। अगर दुर्गति में जाना है तो इसी भाँति आत्मघात करते रहो और अगर दुर्गति में नहीं जाना है तो कुछ अपने पर दया करके कुछ समताभाव लाना है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के बोझ से लदे हुए हैं अज्ञानी प्राणी, कुछ अपने आप पर दया तो कर, अपने आपको कुछ हल्का तो अनुभव कर। एक क्षणमात्र को भी अपने आपको हल्का नहीं अनुभव कर पाते। मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूँ। मेरा कहीं कुछ नहीं, कोई विकल्प ही न आये और एक आनन्द घन यह चित्प्रकाश इसके ध्यान में रहे।

**अनित्य भावना का सदुपयोग न करने के दुष्परिणाम—** आत्मसावधानी की स्थिति यदि नहीं मिल पाती तो उसका फल यही है कि जो संसार में भ्रमते फिरते रुलते हुए ये संसारी जीव प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में दिख रहे। एक शराबी पुरुष किसी शराब वाले की दुकान पर पहुँचा और बोला—मुझे बहुत अच्छी शराब चाहिए। तो दुकानदार बोला—हाँ भई हमारे पास बहुत अच्छी वाली ही शराब है। उसका कोई नाम भी ले लिया। तो फिर वह शराबी बोला—अजी, बहुत ही बढ़िया वाली शराब चाहिए। ...हाँ जी बहुत ही बढ़िया वाली शराब हमारी दुकान में है। और यदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखना है तो चलो हमारे साथ। (दुकान के पीछे ले जाकर) ये देखो तुम्हारे चाचा, मौसा, दादा आदि बेहोश हालत में नापदान में पड़े हैं, अपना मुख फैलाये हैं। कुत्ते लोग आ आकर उनके मुख में पेशाब भी कर रहे हैं। तो उस दृश्य को देखकर वह शराबी समझ गया कि सचमुच इस दुकान में बहुत अच्छी वाली शराब है। तो ऐसी ही बात इस संसार में समझिये। यहाँ जो कीट पतिंगे, शूकर गधा, मुर्गा मुर्गी आदिक पशुपक्षी बड़ी खोंटी स्थितियों में दिख रहे हैं वे ही इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि एक इस आनन्दघन चित्प्रकाश अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा का ध्यान न करने से इस जीव की ये खोटी दशाएँ होती हैं। जो लोग इस शरीर को ही देखकर मानते हैं कि मैं तो यह हूँ, उनको इस मिथ्या मान्यता के कारण पर्याय में आत्मा की बुद्धि हो

जाती है। इस पर्याय में ही अहंबुद्धि हो जाती है। इसी के प्रति ममत्वबुद्धि भी बन जाती है, पर इसका फल दुर्गति है। यह दृष्टामान शरीर एक दिन नष्ट हो जायगा, मरने के बाद लोग इसे श्मशान भूमि में ले जाकर जला देंगे—इसके संबंध में एक घटना देखें—कोई दो मित्र थे, तो उनमें से जब एक मित्र मरने वाला हो गया तो वह बोला—“यार मरते वक्त होगा, एक बेअदबी का कार। यार तो पैदल चलेंगे, हम जनाजे पर सवार।” याने हे मित्र हमने जीवन भर तुम्हारा अविनय नहीं किया, पर मुझे खेद है कि अब मरने पर मेरे द्वारा आपका अविनय होगा। कैसा अविनय? अरे आप सभी लोग तो पैदल चलेंगे और मैं आप सबके सिर पर लदकर जाऊँगा। अर्थी में ऐसा ही तो होता है। तो भाई एक न एक दिन मरना यहाँ सभी को होगा, ऐसा जानकर पर्याय में आत्मीयता की बुद्धि छोड़ दें। शरीर में ममत्व न रखें। इन पाये हुए समस्त समागमों को अनित्य जानकर उनसे प्रीति न करें, अपने स्वरूप को नित्य जानकर उसमें लगे। यह है (1) अनित्यभावना की शिक्षा।

**अशरण भावना के ममन का शुभभाव—** (2) अब दूसरी भावना है अशरणभावना—मेरा जगत में कोई शरण नहीं। किसी भी एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से कुछ सहारा नहीं। जो कल्पना में आ रहे कि ये लोग मेरे मददगार हैं तो वे कोई इस जीव के मददगार न बनेंगे। हाँ आज कुछ पुण्य का उदय है सो कुछ ऐसा लगता कि देखो ये लोग कैसा मेरे मददगार बन रहे हैं, पर वास्तव में यहाँ कोई किसी का मददगार नहीं। खूब विचार लो, मेरे लिए यहाँ कोई शरण नहीं। जैसे फुटबाल को कहाँ कहीं शरण मिलती? वह बेचारा जिस बालक के पास शरण लेने पहुँचता बस वहीं से उखोकर मिलती। कोई बालक उसे गोद में लेकर चूमता तो नहीं, ऐसे ही यह जीव जिन जिनकी शरण में पहुँचता वहीं से इसको निराशा की ठोकर लगती या यों कहो कि वियोग की लात लगतीख जिसके फल में यह दर दर ठोकरें खाता है और दुःखी होता है। बाहर में कोई भी पदार्थ मेरे को शरण नहीं। “मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।” पर इसके साथ यह भी ध्यान दें कि मेरे आत्मा का जो शाश्वत स्वरूप है चैतन्य प्रकाश, वह मेरे को कभी धोखा नहीं देता। उसकी दृष्टि अगर कोई करे तो वह नियम के उसके लिए शरण है और इसके अतिरिक्त बाहर में कोई भी पदार्थ इस जीव का शरण नहीं। बाहर में अशरण अंतः स्वयं शरण, ऐसी दृष्टि बने। बाहरी पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, सब कुछ उनका उनमें है उनसे मेरे में कुछ नहीं आता। फिर कोई मेरे को कैसे शरण होगा? मेरे लिए मैं ही सदा शरण हूँ। घबड़ाने की बात नहीं। अपना स्वरूप अपनी दृष्टि में रहे तो वहाँ किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है। जहाँ अपने भगवतस्वरूप को भूले, उस स्वरूप से, उस ज्ञानज्योति से, उसकी भक्ति से हटे कि बस सारे दुःख ही दुःख मिलते हैं।

**एकमात्र अन्तस्तत्त्व की शरण्यता—** ज्ञानी जीव बाहरी पदार्थों की ओर से तो अपने को अशरण समझता है और अपने आप के स्वरूप की ओर से सशरण समझता है। बाहर में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो मेरे लिए शरण हो। कुछ कभी शरण सा लगता है तो वहाँ दो घटनायें होती हैं—एक तो इसका पुण्य का उदय और दूसरे कोई अपना स्वार्थ। ऐसा योग होने पर लगता है कि मेरे को अमुक शरण है, पर शरण कोई किसी का नहीं है। मोह की कल्पना है। काम कोई आये या न आये, आता तो है ही नहीं फिर भी मोहवश उसकी ओर दृष्टि रहती है। मनुष्यों की बात तो छोड़ो, तिर्यज्चों में परख लो—कुतिया का बच्च (पिल्ला) या गाय का बच्चा (बछड़ा) ये बड़े होने पर अपनी माँ की कुछ मदद करते हैं क्या? कुछ भी तो मदद नहीं करते फिर भी ममता ऐसी है कि ये बिल्ली, गाय वगैरह अपने बच्चे को किसी को छूने न देंगी। यह मोह की ही तो बात है। मोह से माना है इस जीव ने कि मेरे को यह शरण है। शरण तो अपने आप में अंतः प्रकाशमान सत्य स्वरूप



सहजज्ञान एक ज्योति जो प्रतिभास स्वरूप है उसकी दृष्टि हो तो वह शरण है। अशरण भावना में यह बताया गया है कि बाहर में कहीं कुछ शरण नहीं। अपना स्वरूप अपने को शरण है। विकारों से हटने की, बाह्य पदार्थों के लगाव से हटने की और अपने स्वरूप में रमने की प्रेरणा मिलती है।

**संसार भावना में संसरण व संसरण हेतु का चिन्तन**—तीसरी भावना है संसार भावना। संसार कैसा है उसका यथार्थ चिन्तन करना। प्रथम तो यह ही विचारें कि संसार नाम किसका है। यह क्षेत्र इतना, यह आकाश क्या इसका नाम संसार है? अगर क्षेत्र और आकाश का नाम संसार है तो इससे तो मेरा कुछ बुरा नहीं होता है, पड़ा है। उससे मेरे को क्या कष्ट? संसार से तो कष्ट होता है। तो संसार नाम है अपने विकार का। अपना विकार ही अपना संसार है। विकार न रहे तो संसार समाप्त। कल्पना, मोह, रागद्वेष, यी अच्छा, यह बुरा ऐसी बुद्धि यह सब है संसार और संसार असार है याने बाह्य पदार्थ विषयक जो भी भाव उठता है वह सब असार है, क्योंकि बाह्य से मेरा संबंध नहीं, उनका अस्तित्व निराला, मेरा अस्तित्व निराला। आज घर के जिन लोगों से राग मोह हो रहा है मानो ये जीव न आये होते, कोई दूसरे ही जीव आये होते तो इसको तो मोह करने की आदत है, उनसे मोह करता। कहीं अन्य जीव के साथ इसकी सत्ता नहीं है, किसी के साथ कोई संबंध नहीं है, किन्तु स्वयं कषायवश अपनी कल्पना करता है और दूसरों को अपना मानता है। मिथ्यात्व इस जीव का बहुत बड़ा बैरी है। अब तक संसार में भ्रमण किया उसका कारण है। मिथ्यात्व “ऐसे मिथ्या दृग ज्ञान चरन, वश भ्रमत भरत दुःख जनम मरण।” संसार का मूल है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है। अगृहीत और गृहीत। अगृहीत मिथ्यात्व तो सब जीवों के है जितने भी मिथ्यादृष्टि हैं। शरीर को मानना कि यह मैं हूँ, रागभाव से मानना कि यह मेरा है, इससे मुझे सुख मिलता है, ऐसी मान्यताओं को कोई सिखाता नहीं है। कहीं कोई ऐसी पाठशाला नहीं खुली है कि जिसमें सिखाया जाय कि तुम इस शरीर को अपना मान लो। यह तो बिना करवाये ही चल रहा है—मोह और गृहीत मिथ्यात्व क्या है कि देखा देखी या किसी के समझाने से जो मान्यता बनती है—रागी द्वेषी जीवों को देव मानना, आरम्भी परिग्रही मुनि को गुरु मानना, यह तो सिखाया जाता है, इसे कहते हैं गृहीत मिथ्यात्व। तो यह जीव इस मिथ्यात्व के वश होकर संसार में जन्म मरण करता रहता है। यह मिथ्यात्व है सो संसार है।

**संसार की असारता व असंसार सहज भाव की सारता**— मिथ्यात्व सारहीन है। मेरे भगवान अंतस्तत्त्व का घात करने वाला है और बाहरी दृष्टि से देखें तो कहते हैं ना—“दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान। कहुँ न सुख संसार में, सब जग देखहु छान।” इस लोक में बताओ तो सही कि कौन है सुखी? जिसके पास दाम नहीं वह तो तरस कर दुःखी है और जिसके पास दाम है वह तृष्णावश दुःखी है। यों दुःखी सब हैं। तृष्णा होने पर जो अपने को मिला है उसका भी सुख नहीं लूट पाता। जो नहीं मिला उस पर तो दृष्टि रहती है और जो मिला है उस पर दृष्टि नहीं रहती और सोचता है कि ऐसा तो होता ही है। तो तृष्णावश यह जीव दुःखी है। यहाँ संसार में कोई सुखी नहीं। सुखी केवल ऋषिराज हैं, जिन्होंने समस्त आरम्भ परिग्रहागों का विकल्प भी छोड़ दिया है। तब सार क्या है? सार है अपना अमूर्त स्वरूप, जिसमें कोई बाधा दे सकता नहीं, जिसमें कष्ट का नाम नहीं, स्वयं आनन्दरस से भरा हुआ है वह है सारभूत। तो ऐसे बाह्य तत्त्वों की असारता का अंतस्तत्त्व की सारता का चिन्तन करना संसार भावना है। इसमें भी विकार में हटने की और स्वभाव में लगने की प्रेरणा मिलती है। ये शुभ भाव हैं। शुभ भावों का फल है सद्गति का लाभ।

**एकत्व भावना व अन्यत्व भावना में विकार से उपेक्षा होने व स्वभाव में लगने की प्रेरणा—** (4) एकत्व भावना—अपने आपके अकेलेपन के विषय में चिन्तन करना। इस लोक में अकेला ही हूँ। दूसरा मेरा कुछ नहीं। एकत्व और अन्यत्व भावना ये परस्पर सहयोगी हैं और एक में दूसरा अपने आप सिद्ध है। मैं अकेला हूँ अर्थात् मेरा कोई दूसरा साथी नहीं है। सब जीव अकेले हैं, अणु अणु अकेला है। एक स्कंध में अनन्त अणु मिलते हैं फिर भी प्रत्येक अणु स्वतंत्र है, वह अपनी सत्ता से है, एक का दूसरे के साथ स्वरूपतः संबंध नहीं बाहरी तो संबंध है तब तो यह पुद्गल स्कंध बनाकर प्रत्येक अणु अपने आपके स्वरूप में ही है। कोई किसी के स्वरूप में नहीं है। (5) अन्यत्व भावना—यों तो सब जानते हैं कि यह जीव खुद अकेला जन्मता, खुद अकेला मरता है अकेला ही सुख दुःख भोगता है पर और भीतर चलकर उस एकत्व को देखिये तो शाश्वत है, अविकार है। केवल चैतन्यस्वभाव मात्र है। उसकी दृष्टि हो तो शरण है, सहाय है, सारभूत अपना उद्धार है और एक अपने सहज स्वरूप की सुध नहीं है तो बाहर में कितना ही कुछ कर लिया जाय चाहे धर्म के नाम पर, पर उसकी रच भी प्रगति नहीं होती। मैं मैं हूँ, मैं अन्य कुछ नहीं हूँ। तन धन मित्र परिवार इन सब की परिणति इनके ही साथ है, फिर मेरा कुछ क्या होगा? ऐसा चिंतन करना अन्यत्व भावना है। इससे भी प्रेरणा लीजिए विकार से हटने की और स्वभाव में लगने की।

**अशुचि भावना में देह की अशुचिता का दर्शन—** (6) अशुचि भावना—अशुचि कहते हैं अपवित्रता को। अपवित्र कौन है? तो व्यवहार में लोक में तो देह को अपवित्र समझा गया। यह शरीर अपवित्र है। हाड मांस खून आदिक अनेक धातु उपधातुर्वे हैं जो कि अपवित्र हैं। उनका यह पिण्ड है एक कथानक आया है कि कोई एक राजपुत्र अपनी बग्घी पर बैठा हुआ शहर की गलियों से जा रहा था। अचानक ही उसकी दृष्टि किसी एक मकान के ऊपर गई तो वहाँ उसे एक सेठ की नई बहू दिख गई उसके रूप तथा सौन्दर्य को देखकर राजपुत्र मोहित हो गया। वह जब अपने घर पहुँचा तो उसे कुछ खाना पीना ही न सुहाये, बस वही एक धुन, उस स्त्री विषयक विशेष चिन्तन। उस राजपुत्र की ऐसी दशा देखकर किसी दासी ने कहा—हे राजकुमार आप सच सच अपनी उदासी का कारण बताओ। तो वहाँ उस राजपुत्र ने दासी ने अपनी उदासी का कारण बता दिया। तो दासी बोली—यह यह कौन सी बड़ी बात। मैं उस स्त्री के पास जाकर तुम्हारी सारी बात बता दूँगी और उससे तुम्हें मिला दूँगी। ...ठीक है। अब वह दासी (दूती) पहुँची उस सेठ के घर और उस बहू से राजकुमार की उदासी का कारण कहा। तो वह सेठ की बहू बड़ी बुद्धिमान थी, चतुर थी, सो बोली—ठीक है, तुम उस राजकुमार से जाकर बोल देना कि यह 15 दिन बाद हमारे घर आवे। ...ठीक है। दासी ने यही बात राजकुमार से कह दिया। अब उधर उस स्त्री ने क्या किया कि एक बड़ा सजा सजाया मटका तैयार किया और दस्त की दवा लिया, जुलाब किया, और उसी घड़े में वह दस्त करती जाय। यही काम उसने लगातार 15 दिन किया। अब विचारो तो सही 15 दिन जिसके दस्त लगें उसके शरीर की क्या हालत होगी। एक दो दिन में ही दस्त लगने से सारा शरीर शिथिल हो जाता है। पंद्रह दिन लगातार दस्त चलते रहने से वह स्त्री सूखकर काँटा हो गई, शरीर कान्तिहीन हो गया। 15 दिन बाद वह राजपुत्र उस सेठ के घर पहुँचा और उस सेठ की बहू को देखा तो देखकर दंग रह गया। अरे कहाँ गया वह रूप? कहाँ गया वह सौन्दर्य? आश्चर्य भरे शब्दों में पूछता है—क्या आप ही हैं वही स्त्री जिसे मैं 15 दिन पहले देखा था? —हाँ वही स्त्री है जिसके पास आपने अपनी दासी भेजी थी और 15 दिन बाद मिलने का वायदा किया था। — बताओ क्या हो गया तुम्हें? कहाँ गया वह रूप और सौन्दर्य?

— हमारा वह सारा रूप और सौन्दर्य एक जगह रखा है चलो चलकर दिखायें, उससे आप खूब प्रीति करो। (कुछ चलकर) वह देखो इसे घड़े के अन्दर रखा है। राजपुत्र ने जब उसे खोलकर देखा तो मारे दुर्गन्ध के वह घृणा से विह्वल हो गया और शर्मिन्दा होकर अपने घर चला गया।

### **अशुचि देह से उपयोग का हटाव और शुचि आत्मा में उपयोग का**

**लगाव**— शरीर की अपवित्रता की बात कह रहे। इसमें काहे की सुन्दरता? यह शरीर तो महा घिनावना है। इसमें मल मूत्रादिक महा गंदी चीजें भरी हैं। इसमें जो ऊपर से चिकना चाम दिखता उससे सुन्दरता जचती पर उसके अन्दर क्या भरा है, इस पर यदि विचार किया जाय तो पता पड़ेगा कि यह शरीर महा अपवित्र है। बताओ इस अपवित्र देह के मिलने का कारण क्या है? तो उसके कारण है मोह, मिथ्यात्व देह से मोह है सो देह मिलते रहते हैं तो असली अशुचि कौन रहा? मोह। यह मोह महा अपवित्र है और मेरा जो ज्ञानस्वरूप हैं वह स्वभाव पवित्र हैं। अब अपवित्र का नेह छोड़कर पवित्र की ओर आइये। देखिये चित्त में यदि यह बात जगती है कि हमें आज यह दुर्लभ मानव जीवन मिला है, इस जीवन का कुछ भरोसा नहीं कि कब तक है। आखिर जल्दी ही किसी न किसी दिन इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। जब शरीर छोड़कर जायेंगे तो फिर यहाँ का मेरा क्या रहा? आगे नये नये समागम मिलेंगे। उनमें अपना मोह रखेंगे। तो मुझे क्या करना चाहिए जो ये संकट टलें और प्रभु की तरह सदा के लिए संकटों से छूट जायें। अगर यह भावना चित्त में बन जाय तो कल्याण निकट है, पर जिनका होनहार भला है उनकेही तो यह भावना बनती है। उन्हीं में क्यों न अपना नाम समझना? अशुचि है यह शरीर और शुचि है इस शरीर से निराला, विकार से निराला यह हैं सहज ज्ञानमात्र परमात्मतत्त्व। विकार से हटना है और स्वभाव में लवलीन होना है। यह इस अशुचि भावना से शिक्षा मिलती है। (7) आश्रवभावना—“आश्रव दुःखकार घनेरे” याने आश्रव घने दुःख देता है। आश्रव मायने ये विकार राग द्वेषादिक भाव, मोह करते अघाते नहीं, राग करते थकते नहीं, विकार करने के लिए उमंग बनी रहती है। यह इतनी बड़ी भारी विपत्ति है। यह भावना लाइये कि कब वह समय आये कि मेरे में विकार रंच न जगे और मैं अपने सहज ज्ञानस्वरूप का ही ज्ञान करता रहूँ देखो मन में है कि नहीं कि मुझे सिद्ध भगवान होना है। अगर यह बात मन में नहीं है और यह ही बात बसी हुई है कि यह परिवार यह समागम, ये ही मेरे लिए सब कुछ हैं, इनकी बढोतरी हो, बस यह ही चाहिये। यदि यहाँ तक ही चाह है तो वह जीव अज्ञानी है। क्यों चाह करता है? ये क्या तेरे साथ जायेंगे? ये क्या तेरा साथ निभायेंगे! ये तेरे को दुःख नहीं देते, किन्तु अपने आपकी जो भूल है वह इस जीव को दुःख देती है। ये बाहरी पदार्थ दुःख देने वाले नहीं, किन्तु भीतर में जो रागद्वेष भाव आ गए हैं वे मुझको दुःख देते हैं जैसे पीपल या छेवले वगैरह किसी पेड़ में लाख लग जाय तो वह पेड़ कभी जल्दी ही सूख जाता है। वह लाख कहीं बाहर से नहीं आती, वह तो उस पेड़ में से ही प्रकट होती है मगर पेड़ को मेटने के लिए होती है ऐसे ही यह राग, ये कल्पनायें किसी बाहरी पदार्थ से नहीं आयीं, किन्तु कर्मादय का वातावरण पाकर ये जीव की प्रवृत्ति से हो गए हैं, ये इस जीव को बरबाद करने के लिए हुए हैं। इष्ट पदार्थ को देखकर हर्ष मत मानो, अनिष्ट पदार्थ को देखकर खेद मत मानो, क्यों जगत में कुछ भी इष्ट अनिष्ट नहीं, किन्तु भूल से, बेसुधी से यह जीव किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट मानता है यहाँ कुछ नहीं रखा तथ्य और स्वरूप अपना सही विकसित हो तो वहाँ अपना हित है। तो इन आश्रव भावों से तो प्रीति हटायें, इन बाह्य पदार्थों से तो आशक्ति दूर करें और अपने

आपका जो आनन्दधाम स्वरूप हैं उस स्वरूप में रमकर तृप्त हों। 'आश्रव दुःखकार घनेरे' यह भावना, यह चिन्तन शुभ भाव है, इस जीव को सुगति के देने वाली हैं।

**संवर भावना में संवरतत्त्व की महिमा का चिन्तन**— संवर भावना में अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को ही निरखते रहें तो कर्म न आयेंगे। और, कर्म न आयें तो भविष्य के लिए कष्ट न रहेगा और वर्तमान में चूँकि शुद्धभाव हैं किसी रागद्वेष प्रसंग में नहीं हैं तो इस समय भी वह शान्त रहेगा। तो जहाँ अपने शुद्ध अंतस्तत्त्व पर दृष्टि हो वहाँ अपना शरण है, वहाँ संसार बंधन नहीं; कर्मबंध नहीं। एक ही सारभूत बात अपना स्वरूप है अविकार जगत से न्यारे, दुःख का जहाँ कुछ काम ही नहीं। स्वरूप ही आनन्द है, वह दृष्टि में रहे तो इस जीव का भला है। निर्जरा भावना में जो यह शुद्ध भाव है वहाँ पहले के बाँधे हुए कर्म झड़ जाते हैं। कर्म सब के साथ लदे हैं, उनका बंधन है, उनका उदय विपाक में आये तो इस जीव को वेदना होती है, पर जो ज्ञानी जीव है, जिसने अपने स्वरूप को जाना है कि मेरा स्वरूप केवल जाननहार रहने का है और जो विकल्प प्रतिफलन हो रहा वह सब कर्मोदय का एक निमित्त है। मैं वह हूँ जो अपने आप हूँ, मैं वह नहीं जो निमित्त पाकर हुआ है। ऐसा अपना स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व में अनुभव करें कि मैं यह हूँ, उसके होती है, कर्म की निर्जरा, उस कर्मनिर्जरा के ही भाव हैं ये दशलक्षण। यदि कोई यह सोचता हो कि दशलक्षण के दिनों में शास्त्र भी सुनें, पूजा पाठ भी करें, जाप भी दें, बस उतना कर लेने मात्र से हमारा धर्म हो जायगा, तो ठीक है, हो तो जायगा मगर जिसमें धर्म की बुद्धि आयी है वह यह सीमा न रखेगा कि बस मेरे लिए तो ये 10 ही दिन धर्म करने के हैं।

**संसार में दुःख न आने की अभ्यर्थना के बजाय सहनशीलता की अभ्यर्थना में लाभ**— अरे यह संसार बड़ा दुःखमय है। इसमें विजय वही पा सकता है जिसका ज्ञान सही और पुष्ट हो। यह भावना क्यों बनाना कि जगत में मेरे को दुःख न आये। कैसे दुःख न आयगा? जब जगत में रह रहे, जगत ही इष्ट हो रहा तो कष्ट क्यों न आयगा? एक घटना देखिये—कोई सेठ किसी अपराध में पहुंच गया जेल खाने में। वह ही क्लास का जेल था। अब वहाँ सेठ को उस जेल के अन्दर सभी प्रकार के कार्य करने पड़ते थे, जैसे चक्की पीसना, झाड़ू गोहारू करना, फावड़ा चलाना, व पुलिस मैन की गालियां सुनना आदि, इन सब बातों से वह सेठ अपने को बड़ा दुःखी अनुभव कर करके रोया करता था। वह सेठ अपने घर के ऐश आराम के सारे साधनों का ख्याल करके और भी अधिक रोता था। उसकी ऐसी दशा देखकर किसी दूसरे कैदी को सेठ पर दया आयी और सेठ के पास आकर बोला—सेठ जी आप यह तो बताइये कि इस समय आप कहाँ हैं? तो सेठ बोला—जेल में। — कया करना होता है जेल के अन्दर? — बस यही चक्की पीसना, झाड़ू गुहारू करना, भूख प्यास, गाली आदि के दुःख सहना। — तो फिर क्यों व्यर्थ में दुःखी होते और रोते? अरे यह कोई ससुराल या अपना निजी घर तो है नहीं कि जैसे चाहे आराम से रहो। यहाँ जेल में तो यही करना होता है। तो सेठ की समझ में वह बात आ गई और उसका दुःख बहुत कुछ कम हो गया। वह सेठ उस जेल के अन्दर सारे काम भी करता था फिर भी वह अपने अन्दर कोई कष्ट नहीं मान रहा था, क्योंकि वह समझ चुका था कि जेल के अन्दर तो ऐसा ही करना पड़ता है। तो ऐसे ही यह संसार दुःखमय है। यहाँ यह क्यों सोचना कि मेरे को कष्ट न आये। क्या ऐसा हो सकता है कि संसार में रहें और कष्ट न आये? नहीं हो सकता। तब फिर क्या सोचना चाहिए कि हे प्रभो मेरे को ऐसा ज्ञान—प्रकाश मिले कि कितने ही कष्ट आयें उनमें घबड़ायें नहीं। उनसे उपेक्षा करके मैं किसी आनन्दधाम में पहुँचूँ, याने सहनशीलता माँगूँ प्रभु से, कष्ट न हो यब ता मत माँगें, क्योंकि यह बात बनेगी नहीं संसार में रहते हुए, और सहनशीलता माँगें तो

फिर कितने ही प्रकार के कष्ट आयें फिर भी उनमें विह्वलता न होगी, सहनशीलता प्राप्त होती है तत्त्वज्ञान से। तो ज्ञान ही एक श्रेष्ठ तत्त्व है जिसके बल से कर्मों का संबन्ध होता, कर्मों की निर्जरा होती। यह ही भावना बनाइये कि मेरे को तत्त्वज्ञान जगे जिससे कि कर्मों का संबन्ध और निर्जरा हो।

**निर्जरातत्त्व की भावना में शुभभाव**— शुभभाव कौन होते हैं उनका संक्षिप्त वर्णन चल रहा है। बारह भावनाओं के संबन्ध में मनन करना शुभभाव है। (9) निर्जरा तत्त्व—झड़ने का नाम निर्जरा है। झड़ना? कहा तो यह है कर्म का झड़ना, पर कर्म के झड़ने का अर्थ यह है कि कार्माण वर्गणाओं में कर्मत्व का निकल जाना, झड़कर कहाँ जायेंगे? विम्लसोपचय रूप में जीव के साथ रह गए, तो क्या वह झड़ना नहीं कहलाया? रहे आवो जीव के साथ, पर उनमें से कर्मत्व निकल गया तो वह झड़ जाना कहलाता है। जैसे घर में दो चार व्यक्ति रह रहे हैं तो रहे जायें, मगर किसी एक का किसी अन्य से अनबन्ध है, मुख भी नहीं देखना चाहता तो वह घर में रहना क्या कहलाया, न रहना ही कहलाया। ऐसे ही जीव के साथ जो कार्माण-वर्गणायें कर्मरूप बन गई थीं वे अब कर्मरूप नहीं रहती, यह ही उनका झड़ना है। सो कैसे निर्जरा होती है? अपने स्वभाव की दृष्टि रखने से। जैसे कोई महिमान है और उससे बहुत प्रीति बढ़ाई जाय घर जैसी तो वह उस घर खूब रहेगा, बड़े आनन्द से रहेगा और किसी से यदि प्रीति ही न दिखाई जाय तो वह घर आयगा ही क्यों? तो ऐसे ही समझो कि ये कर्म महिमान यहाँ आये हैं, इनमें लगाव लगायें तो ये घर में जम जायेंगे और जमे हुए भी हों पहले से ये कर्म-महिमान और उनसे उपेक्षा हो जाय, उनसे विमुख होकर अपने स्वभाव में लग जायें तो वे भी भाग जायेंगे। महिमान कहते हैं उसे कि जिसकी महिमा न, जिसका कोई बड़प्पन नहीं। घर के छोटे बच्चे का जैसे दिल में जमाव है क्या उस भाँति रिश्तेदार का जमाव बनता है? नहीं बनता, इसलिए उसे महिमान कहते हैं। महिमान मायने जिसकी कोई महिमा नहीं, कुछ बड़प्पन नहीं और नातेदार मायने ना मायने नहीं, ते मायने वे और दार मायने सम्बन्धी, याने जिससे अपना कुछ संबन्ध नहीं उसे कहते हैं नातेदार। लोग तो यह कहते हैं कि मान न मान मैं तेरा महिमान याने तुम मुझे मानो या न मानो पर मैं तुम्हारा महिमान हूँ। ये सब चाहे चेतन हों चाहे अचेतन आपके कोई नहीं लगते। आप ही मोह बनाकर उनके प्रति लगते हैं। तो कर्मों के प्रति कर्मरस के प्रति यदि उपेक्षा है और स्वभाव की ओर दृष्टि है तो ये कर्म झड़ जाते हैं।

**विकार की औपाधिकता के परिचय से विकार से हटने व स्वभाव में जुटने की प्रेरणा**— ज्ञानी जानता है कि ये विकार, ये रागद्वेष भाव, ये कषाय, यह कर्मरस की झलक है। जैसे जिस रंग का कपड़ा दर्पण के सामने हो दर्पण में वैसी ही झलक आती है ऐसे ही जिस प्रकृति का उदय हो वैसी ही प्रकृति इस आत्मा में प्रतिफलित होती है। तो दर्पण में आयी हुई फोटो को सब जानते हैं कि दर्पण की चीज नहीं। यह तो सामने कपड़ा आया तो फोटो आ गया, तो ऐसा अपने भीतर क्यों नहीं समझना चाहते कि ज्ञाता दृष्टा रहने के अलावा जो कुछ भी विकल्प बनते हैं, जो भी कषायें जगती हैं वह सब की सब कर्म की फोटो है। मेरी चीज नहीं है और फोटो तो आयी पर जब उसमें लग बैठे तो अज्ञानी ने अपनी चीज मान ली। मान ली सो उसकी हो थोड़े ही गई पर यह जीव दुःखी होता है जैसे किसी दुष्ट से प्रेम जताये तो उसका फल बुरा निकलता है ऐसे ही दुष्ट स्वभाव वाले इन कर्म रसों से कोई लगाव जताये तो उसका फल बुरा ही निकलता है। क्या फल बुरा निकला? संसार में अब तक जन्म मरण करते चले आये, बताओ यही जन्म मरण करते रहना पसंद है क्या? तो आगे के जन्म मरण के लिए तो भले ही यह कह दे कि हाँ हमको जन्म मरण पसंद नहीं यह तो बड़ी खराब बात है कि जन्मों फिर मरेंगे

यों परम्परा जन्म मरण की चलती रहेगी, मगर वर्तमान जो जन्म है उस जन्म से तो उपेक्षा नहीं हो रही जो वर्तमान संयोग है उसे तो यह भला मान रहा है तो फिर आगे के जन्म मरण क्यों न होंगे? जिनको जन्म मरण न चाहिए वे यहाँ के इन मायावी समागमों को असार जानकर उनसे विरक्त रहें। अगर विरक्त नहीं रह सकते तो दुःखी होना ही होगा। तो निर्जरा क्या कि कर्मोदय में आये और उनके प्रति लगाव न रखें, दृष्टि रखें परमात्मस्वरूप की ओर तो वे कर्म झड़ेंगे और ऐसा झड़ेंगे कि फिर वे नवीन कर्म बँध न कर सकेंगे। जो अव्यक्त बंध हो उसकी यहाँ गिनती नहीं है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ में जो होता है चर्चा उसी की की जाती है।

**निर्जार्ण कर्म का पुनः जीव में अबन्धन**— जब जीव के ज्ञान जगता है तो कर्म जो झड़े वे फिर इसमें कैसे आ सकेंगे? जैसे फल पक जाय और वह वृक्ष से गिर जाय तो वह पका फल फिर वृक्ष में कैसे लग सकता है? जिसने यह जाना कि ये कषाय, ये कर्मरस ये सब जड़ हैं, पौद्गलिक हैं, असार हैं, अज्ञानमय हैं। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा निर्णय रखने वाले के वे कर्म झड़ गए फिर इसमें कैसे लग सकते? अब यह उन कर्मरसों को अपना स्वरूप नहीं मान सकता। यों कर्म झड़ जाते हैं। कोई धोती धोई और खूँटी पर सूखने डाल दिया और खूँटी से गिर गई तो उसमें धूल चिपक गई। तो गैर समझदार क्या करता है कि उस धोती की धूल हाथ से छुटाता है, पर समझदार लोग क्या कहते हैं कि तुम उस धूल को छोड़ो मत, उसे यों ही सूखने के लिए डाल दो। जब सूख जायगी तो सारी धूल झिटका देने मात्र से स्वयं ही झड़ जायगी। तो जैसे धोती की गीलाई, चिकनाई दूर हो गई, धोती सूख गई तो उसमें धूल चिपकी नहीं रह सकती, वह तो झड़ जायगी, इसी प्रकार राग, मोह की गीलाई से जो कर्म इस जीव के साथ चिपके हैं वे इस राग मोह के सूख जाने पर तड़ तड़कर झड़ ही जायेंगे। कर्म वहाँ चिपके नहीं रह सकते। कर्मों का बड़ा बोझ है इस जीव पर। कभी पुण्य का उदय आता और उसमें यह मस्त हो गया तो कर्म का बोझ और भी बढ़ गया, पाप का उदय आया तो उसमें यह खेद खिन्न हो गया, अपने को दुःखी अनुभव करने लगा तो कर्म भार और भी बढ़ेगा, जो सुख दुःख में समता रखता है उनके कर्मभार नहीं बढ़ता। तो निर्जरा तत्त्व एक सारभूत अपना कदम है। इससे यह शिक्षा मिली कि कर्मशत्रु को झड़ाने के लिए विभावों से, विकारों से हटना है और अपने स्वाव में लगना है।

**लोकभावना में शुभभाव**— (10) लोकभावना—इस लोक में कोई सा भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो और मरा न हो। जहाँ हम आप बैठे हैं यहाँ भी अनन्त बार जन्म मरण कर चुका यह जीव। उसका कारण है अज्ञान। अज्ञानवश यह जीव लोक में सर्वत्र अनन्त बार जन्मा और मरा, पर इसका निस्तार नहीं हुआ। यह लोक क्या है? सब द्रव्यों का समूह। शब्द के अर्थ से अगर चलें तो बहुत सी समस्याओं का हल हो जाता है। लोक मायने क्या? लोक—लोक्यन्ते यत्रद्रव्याणि लोकः जहाँ समस्त द्रव्य देखे जायें उसे लोक कहते हैं। लुक धातु से लोक बना, उसका अर्थ है देखना। तो ये सब द्रव्य जहाँ देखे जायें उसे कहते हैं लोक। तो देखे ही तो गए कि किसी के द्वारा बनाये गए? जो सत् हैं वह हैं ही, उसे बनाना क्या? जो नहीं हैं बिल्कुल उसे किसी तरह बनाया ही नहीं जा सकता। तो ऐसे अनादि निधन इस लोक में अज्ञानवश यह जीव दुःख का बोझ उठाता रहा। अब अपने मन की सम्हाल करे, विकारों से प्रीति तजे, स्वभाव के अभिमुख हो तो यह लोक का परिभ्रमण मितेगा। अन्यथा इस लोक में भ्रमते ही रहेंगे और दुःखी होते ही रहेंगे।

**माया में मोह करने की मूढ़ता**— एक बात और भी सोचिये इस भव में आये, अब इस भव से पहले भी कुछ थे ना? चाहे मनुष्य हों चाहे तिर्यज्व हों, कुछ न कुछ अवश्य थे।

तो जब थे तब क्या इस जन्म की बात समझ में आ रही थी कि मेरा यह गाँव है, मेरा यह घर है, मेरे ये परिजन हैं — ? और अब से पहले भव में यदि कुछ भी मैं न था तो मेरे लिए ये कुछ भी तो न थे और इस भव के बाद मरण के बाद जिस भव में जायेंगे, पहुंचेंगे वहाँ मेरे लिए कुछ होगी क्या यहाँ की बात? कुछ भी नहीं। तो यह सब थोड़े दिनों का स्वप्न है जो न पहले कुछ न बाद में, कुछ, और थोड़े समय को जच रहे कुछ, तो वह तो एक स्वप्न है। वह है नींद का स्वप्न और यह है मोह का स्वप्न। एक आदमी को स्वप्न आया कि मुझ पर राजा बड़ा प्रसन्न हो गया और मुझे 100 गायें इनाम में दे दी। अब स्वप्न में ही उन 100 गायों को देख देखकर वह बड़ा खुश हो रहा था। स्वप्न में ही वह क्या देखता है कि कोई एक ग्राहक गायें खरीदने आया। उसे 10 गायें चाहिये थीं। सो पूछा बैठा—भाई गायें बेचोगे? — हाँ हाँ बेचेंगे? कितने-कितने में दोगे? — 100-100 रुपये में। — क्या 50-50 रुपये में न दोगे? — नहीं, 10-10 रुपये में दे देंगे। — अच्छा 60-60 रुपये में बेच दो। — नहीं, 80-80 रुपये में दे देंगे। अच्छा 70-70 रुपये में बेचो तो खरीद लें। — 70-70 में नहीं बिकेंगी। —अच्छा तो हम नहीं लेते यह कहकर चल दिया तो वह आवाज देकर पुकारने लगा—अच्छा भाई लौट आओ, चलो 70-70 रुपये में ही ले लो। इतने में ही उसकी नींद खुल गई और क्या देखता है कि वहाँ तो कुछ भी न था। वह सब स्वप्न की बात थी। वह उस समय बहुत-बहुत अपनी आँखें मीचने लगा कि फिर नींद आ जाय और वैसी ही स्वप्न जैसी बात दिख जाय, पर कहाँ दिख सकती। तो ऐसे ही समझो कि आज को कुछ वर्तमान में मिला है वह न पहले आपका कुछ था न वर्तमान में कुछ है, न बाद में कुछ आपका रहेगा, यह सब थोड़े समय का समागम है। इस समागम में मुग्ध मत हो। एक ऐसा साहस बना लेना चाहिए कि ये सब दृश्यमान वपदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं। आज जिनको अपना माना जा रहा है बताओ वे अब से पहले भव में आप के कुछ थे क्या? आगे भी कुछ रहेंगे क्या, और इस भव में भी कुछ हैं क्या? ये तो कल्पना से मान रहे कि ये तो मेरे हैं और ये पराये हैं। तो दो तरह का कठिन व्यवहार चल रहा। जिनको माना कि ये मेरे नहीं उनसे तो एकदम दृष्टि हट गई और जिनको माना कि ये मेरे हैं उनके लिए अपना तन, मन, धन, बचन सर्वस्व अर्पण करने को तैयार हो जाते। तो अज्ञानवश यह जीव इस लोक में भ्रमण करता है और कष्ट पाता है। इस भवभ्रमण से घूटने का उपाय क्या है? विकार से हटना और स्वभाव में लगना।

**बोधिदुर्लभ भावना में शुभभाव—** (11) बोधिदुर्लभ भावना, बोधि कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को, रत्नत्रय का नाम बोधि है। इस लोक में बोधि दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र, अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप का विश्वास, आत्मा के यथार्थ, स्वरूप का ज्ञान और आत्मा में ही अपने ज्ञान का रमण, यह स्थिति दुर्लभ है, बाकी दुनिया में कुछ चीज दुर्लभ नहीं। धन कन कंचन राज सुख सब ही सुलभ कर जान। दुर्लभ है संसार में एक यथार्थ ज्ञान।" यहाँ सब कुछ मिलना सुगम है पर रत्नत्रय का लाभ मिलना दुर्लभ है। और एक बार लाभ हो जाय ज्ञान का तो फिर यह संसार के संकटों से पार हो जायगा, और ज्ञान नहीं है तो चाहे करोड़ों का भी वैभव हो, राज्य भी मिल गया हो तो भी उसका क्या बड़प्पन? आखिर राजा भी तो मरकर पीट बन जाता, तो उस राजापने का क्या बड़प्पन? बड़प्पन सब कुछ अपने आप में है, निहार लो। लेकिन खेद की बात तो यह है कि यह अपनी पर्याय बुद्धि की हठ से रंच भी हटना नहीं चाहता। जिन्दगी गुजर गई, थोड़ी उम्र रही। बुढ़ापे के सम्मुख है, पर खुद के अन्दर विचारें कि मोह में कुछ अन्तर आया कि नहीं। भले ही उम्र बढ़ती जा रही, और और कलायें भी आ गई, पर यह तो निहारो कि अब तक 10-20-50 दशलक्षण पर्व भी कर चुके होंगे पर यह तो देखिये कि

मुझमें कुछ मोह की मात्रा कम हुई या नहीं। जिन परिजनों को अपना मान रखा उन पर उतना ही मोह रहता है या कुछ भेद ज्ञान भी पाया है, कुछ प्रकाश भी पाया है। परिजनों को हैरान करने की बात नहीं कर रहे, काम सब वही होंगे जब तक कि घर में रहेंगे, पर एक ज्ञानप्रकाश हो गया तो उसका इतना अन्तर आयगा कि उसके अब खोंटी प्रकृतियों का आश्रव नहीं होता। तो यथार्थ ज्ञान होना दुर्लभ है, पर यथार्थ ज्ञान के प्रति रुचि उसके ही हो सकती है जिसका होनहार भला है। जिसका होनहार भला नहीं उसको यथार्थ ज्ञान के प्रति रुचि नहीं जग सकती। उसके लिए तो ज्ञान की चीज कुछ कीमत ही नहीं रखती। मानो कि वह केवल फोकट की ही बात है। मगर तिरेंगे तो ज्ञान द्वारा ही तिरेंगे, और ज्ञान में रुचि जगेगी, ज्ञान के प्रति आदरभाव होगा, ज्ञान के लिए हम अपना सर्वस्व समर्पण करने का साहस रख सकेंगे तो यह संस्कार केवलज्ञान का बीज बनेगा। उस ज्ञान से प्रेम होना बहुत दुर्लभ है। जिसको ज्ञान प्रकाश हुआ है वह विकार से हटकर स्वभाव में लगता है।

**धर्मभावना में शुभभाव—** (12) धर्मभावना—धर्म हितकारी है, धर्म शरण है। धर्म का स्वरूप यह है जो सहज अविकार चैतन्य स्वरूप है, इसकी ओर दृष्टि होना, इसका चाव होना सो धर्म भावना है। देखिये—ज्ञानरुचि जगे बिना धर्म रंचमात्र हो ही नहीं सकता। चाहे सबुह से शाम तक कोई पूजा करे, बड़ी बड़ी बातें बनावे, और और तरह की सेवायें करे, सब कुछ भी कर ले, बड़े बड़े तप भी कर ले, मगर जब तक अपने इस सहज अविकार ज्ञानस्वभाव के प्रति रुचि नहीं बनती तब तक धर्म लेशमात्र भी नहीं हो सकता। अब रही पुण्य की बात तो पुण्य हो जाय, पुण्य तो अन्य रीतियों से भी होता है, जैसे भूखों को खिलाने से भी पुण्य होता है, और और भी पुण्य के कारण होते हैं। एक पुण्य का साधन यह भी बना लिया जाता कि जो 8-10 दिन पर्व के दिनों में धार्मिक क्रियायें कर लेते हैं, पर उन क्रियाओं के करने वाले यदि ज्ञान के प्रति रुचिवंत हैं तो समझो उन्होंने धर्म किया और यदि ज्ञानस्वभाव के प्रति रुचि नहीं है तो समझो कि उन्होंने लेशमात्र भी धर्म नहीं किया। पुण्य करके थोड़ा संतोष हो जाय तो समझ लो कि यह उनकी कल्पना है मगर ज्ञानहीन ये क्रियायें ये मोक्ष के हेतुभूत नहीं बन सकती। तो भला बतलाओ इतना सुगम उपाय, अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि होना, जो कि अपने आधीन है, अपनी ही दृष्टि से पाया जा सकता है उसको तो कोई करे नहीं और अनेक प्रकार के कष्ट सहे तो यह तो कोई भली बात नहीं।

**यथार्थ ज्ञानप्रकाश का लाभ होने पर सत्क्रियाओं का महत्त्व—** एक यह ज्ञान प्रकाश ही कोई पा ले तो समझो कि जितनी बिन्दियाँ हम धरेंगे, (ये बाहरी क्रियाकाण्ड सब बिन्दियाँ हैं) उतना ही इनका महत्त्व बन जायगा और एक ज्ञानस्वभाव की दृष्टि न बने तो बाहरी क्रिया का यह अन्य अन्य तपश्चरण आदि की कितनी ही बिन्दियाँ धरते जायें, पर उन सारी बिन्दियों के जोड़ में एक भी संख्या नहीं आ पायी। और यदि एक (1) का अंक है उसमें एक बिन्दी (0) धर दी गई तो दस गुनी उसकी कीमत हो गई, और उसमें एक बिन्दी और धर दी गई तो 100 गुनी कीमत हो गई। यों जितनी भी बिन्दियाँ उसके आगे रखते जायेंगे उतनी ही अधिक कीमत उसकी बढ़ती जायगी। तो ऐसी ही बात यहाँ समझो, अगर अपने आत्म तेज का ज्ञान यह मुख्य तत्व अगर दृष्टि में है तो आप जो कुछ भी क्रियायें करेंगे वे सब मोक्षमार्ग में वृद्धि करायेंगी और एक यही बात नहीं है तो फिर चाहे कितनी ही क्रियायें कर ली जायें, मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए जरा भी प्रगति नहीं की जा सकती। धर्म कहते किसे हैं? “जो भाव मोह तैं न्यारे, तप ज्ञान व्रतादिक सारे, सो धर्म।” यह ही धर्म है। मोह राग द्वेष से अलग ज्ञानमात्र जो स्थिति हैं वही धर्मपालन हैं। जहाँ धर्म



है वहाँ नियम से शान्ति है। धर्म का फल ही है शान्ति। कहीं ऐसा नहीं है कि धर्म तो अब किया और उसका फल मिले बहुत काल बाद। अरे धर्म करने का फल तो तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है। धर्म किया कि शान्ति प्राप्त हुई हाँ पुण्य में तो यह बात अवश्य है कि पुण्य आज किया और फल मिलेगा कुछ काल बाद। जैसे मान लो यहाँ पुण्य करके देवगतिका बंध किया तो तुरन्त तो उसका फल न मिल पाया मगर धर्म करने का फल तत्काल ही मिल जाता है। जिसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप में वृत्ति है उसे अशान्ति कहाँ? उसके तो कर्म तत्काल झड़ रहे हैं। तो धर्म का बहुत अद्भुत प्रभाव है।

**धर्मरहित जीव का दुष्परिणाम**— जो धर्म न करेगा उसकी दुर्गति निश्चित है। इस संबंध में एक कथानक है कि कोई राजा रानी थे। उनमें रानी तो थी धर्मात्मा और राजा धर्म कर्म को कुछ नहीं मानता था। सो रानी ने उसे बहुत-बहुत समझाया कि देखो धर्म किया करो। अगर धर्म न करोगे तो मरकर ऊँट बनोगे। आखिर हुआ भी वैसा ही। वह रानी तो मर कर एक बादशाह की लड़की बनी और वह राजा मरकर उसी बादशाह की पशुशाला में ऊँट बना। वह ऊँट देखने भालने में बड़ा सुन्दर था। जब वह लड़की सयानी हुई तो बादशाह ने उसका विवाह किया। विवाह में दहेज में उस बादशाह ने सब कुछ दिया, साथ में वह ऊँट भी दे दिया। अब लड़की के ससुर ने सोचा कि इस ऊँट की पीठ पर क्या चीज लाद दी जाय, उसे खाली जाना शोभा नहीं देता, तो उस लड़की का सारा सामान (धोती, लहंगा, गहना आदिक) सब उस ऊँट की पीठ पर लाद दिया। खैर कुछ दूर तो वह ऊँट चलता गया पर रास्ते में उसे जाति स्मरण हो गया—अरे यह तो मेरी पूर्वभव में स्त्री थी जिसका सारा सामान मेरी पीठ पर लदा है, सो स्त्री का सामान मेरी पीठ पर, इस बात का ख्याल उसे बार बार हैरान कर रहा था, सो वह आगे बढ़े ही नहीं। सभी ने बड़ा प्रयास किया, काफी मारा पीटा भी फिर भी आगे न बढ़ा। सभी लोग काफी हैरान हो गए पर वह आगे बढ़े ही नहीं। उसी समय उस लड़की को भी जाति स्मरण हो गया और वह समझ गई कि यह ऊँट क्यों नहीं आगे बढ़ रहा। सो वह लड़की बोली—सभी लोग अलग हो जावें, मैं इस ऊँट को समझाये देती हूँ, तब यह आगे बढ़ेगा। सभी लोग अलग हो गए। वहाँ लड़की ने ऊँट के कान में कहा—देखो मैं तुमसे बार-बार कहा करती थी कि धर्म करो, धर्म करो, नहीं तो मरकर ऊँट बनोगे, पर तुमने हमारी बात नहीं माना सो देखो तुम्हें ऊँट ही बनना पड़ा। अब हम यहाँ किसी के सामने किस मुख से कहें कि यह मेरे पति हैं, इन पर मेरा सामान न लादो। अब तो भलाई इसी में हैं कि बस रहे चलो। यह बात सुनकर ऊँट की समझमें आ गया और आगे चलता गया तो भाई इस कथानक से अपने लिए शिक्षा की बात यह लेना कि जो धर्म के विरुद्ध चलेगा याने अपने जीवन में धर्म का महत्त्व न देगा, अपने जीवन में अधर्म का आदर करेगा उसकी दुर्गति निश्चित है। अतः धर्मधारण करना ही योग्य है।

**रत्नत्रय की भावना में शुभभाव**— पहले बताया था कि अशुभभाव से तो नरकगति होती है और शुभ भाव से स्वर्ग सुख होता है, उसी सिलसिले में अशुभभाव का वर्णन किया गया था और अब शुभभाव का वर्णन चल रहा है, शुभभाव क्या है, इस संबंध में बहुत कुछ कहा गया। अब बतलाया जा रहा है कि रत्नत्रय के स्वरूप में जो वर्तन करता है वह शुभ भाव कहलाता है। रत्न कहते हैं श्रेष्ठ को। पत्थर का नाम रत्न नहीं हैं, किन्तु जो श्रेष्ठ हो उसे रत्न कहते हैं यज्जाते श्रेष्ठं तद रत्नं, जो जिस जाति में श्रेष्ठ है वह उस जाति का रत्न है। अगर रत्न नाम पत्थर का होता तो जो रत्न की उपाधि दी जाती—जैसे धर्मरत्न, जैनरत्न, श्रावकरत्न? आचार्यरत्न आदिक तो क्या उसका अर्थ यह होगा—श्रावक पत्थर आचार्य पत्थर? अरे श्रेष्ठ को रत्न कहते हैं। तो ऐसा वह रत्न क्या है, श्रेष्ठ तत्व क्या है?

तो वे हैं तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के मायने तो मौलिक बात यह है कि अपने आत्मा का जो अविकार चैतन्य स्वरूप है उसमें यह ही मैं हूँ। ऐसा अनुभव बनना और यह ही हितरूप है, ऐसी रुचि जगना और इस तत्व का विस्मरण न होवे ऐसी प्रतीति रहना यह सम्यक दर्शन है। इस जीव ने अब तक सम्यक्त्व नहीं पाया इस कारण संसार में रुल रहा है। सम्यक्त्व बहुत बड़ा वैभव है, मगर यह संसार कभी खाली होने का नहीं है सो तो जीव इतने भरे हैं अनन्तानन्त कि अनन्त भी मोक्ष जायें तो भी अनन्त रहने हैं लेकिन मोक्ष जाने वाले विरले होते हैं। जिसको धर्म के प्रति रुचि जगी है, जिसने इस आत्मतत्व की चर्चा भी सुनी है प्रेमपूर्वक वह निश्चित भव्य हैं, ऐसा पद्मनादि पञ्चविंशतिका में आचार्य देव ने एकत्व सप्तति अधिकार में बताया है, पर जिनका होनहार सांसार में रुलते रहने का है उनको आत्मचर्चा सुहाती ही नहीं है। उनको धर्मचर्चा सुनने का भाव ही नहीं जगता। उपयोग लगा रहता है बाह्य पदार्थों में।

**बहिस्तत्व के सम्पर्क से शान्ति की असंभवता**— अच्छा एक यह ही निर्णय बनावें कि ऐसा वर्तमान में कौन सा उपाय है कि इसी समय शान्ति मिल जाय। कोई कहे कि परभव हम मानते नहीं, परभव देखा नहीं किसी ने और आगे का क्या कहना, क्या हो क्या न हो, तो उसे वर्तमान में शान्ति किस तरह मिल सकती, यह ही सोचकर बतलाओ। क्या पञ्चचेन्द्रिय के विषयों के भोगने में इस वक्त भी अशान्ति हैं? अरे उसमें कितनी हैं आपत्तियाँ हैं। साधन जुटाया तो वे जुटे हुए साधन कहीं बिगड़ न जायें, नष्ट न हो जायें। उनको भोगने के लिए इन्द्रियाँ भी समर्थ चाहिए। तब कहीं वह इन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। मगर वह काल्पनिक सुख है। तत्काल ही नष्ट हो जाता है। इसमें वास्तविक शान्ति नहीं। और भी खूब सोचिये—धन का पहाड़ बनाकर उसके सामने रख दिया जाय तो 'या उससे शान्ति हो जायगी? बताते हैं कि अमेरिका में जो फोर्ड नाम का महान धनिक व्यक्ति है, जिसके पास मोटर का इतना बड़ा कारखाना है कि जिसमें हजारों लाखों की संख्या में लोग काम करते हैं और प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में मोटरें बनती हैं वह भी सुखी नहीं है। वह भी जब छोटे छोटे कर्मचारियों को हँसते, गाते, खुश रहकर काम करते हुए देखता है तो उसके मन में भी इस प्रकार की ईर्ष्या हो जाती कि देखो हमसे तो ये मजदूर लोग मजे में हैं। इन्हें कोई फिक्र नहीं, आराम से कमाते खाते और खुश रहते हैं, यहाँ हमें अनेक प्रकार की चिन्ताये करनी पड़ती, विश्राम करने की भी फुरसत नहीं — तो बताओ इस धन वैभव से शान्ति मिलती है क्या? तो शान्ति का उपाय धन दौलत नहीं।

**शान्ति का उपाय आत्मज्ञान**— शान्ति का उपाय है केवल आत्मज्ञान। ज्ञान सिवाय शान्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं, वैभव नहीं। आत्मा का सर्वस्व ज्ञान ही है। अब इस ज्ञान की जिसको रुचि नहीं, उमंग नहीं, पाये हुए समागम का समर्पण मात्र कुटुम्ब के लिए है, इस ज्ञानतत्व के प्रचार प्रसार या अभ्यास के लिए न तन है। न मन है, न धन है, न वचन है, रुचि ही नहीं है, ऐसे प्राणी पवित्र कैसे बनेंगे? यदि ज्ञान चाहिए तो ज्ञान के प्रति रुचि चाहिए। ज्ञान के लिए तीव्र रुचि है तो यह ही संस्कार केवलज्ञान का बीज बनेगा। तो ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व शरण है। उस सहज ज्ञान में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव बने तो वहाँ सम्यग्दर्शन समझिये—सम्यग्दर्शन हुआ कि वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान था पहले वह अनुभवरहित था, उसमें दृढ़ता न थी, एक परोक्ष जैसा था। अनुभव बनने के बाद, सम्यक्त्व होने के बाद वह सुसम्बेदन प्रत्यक्ष बन जाता और इस ज्ञान में दृढ़ता आ जाती है, तत्व इसी प्रकार ही है, तो सम्यक्त्व के होने से ज्ञान भी सम्यक् बनता और चारित्र भी सम्यक् बनता। चारित्र नाम यथार्थतया शुद्ध ज्ञान की स्थिरता का है। ज्ञातादृष्टा,

एकोहं, मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, एक हूँ, सो इस ज्ञातापन और दृष्टापन की धारा बन जाय, वही तो चारित्र है। तो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र, स्वरूप के प्रति जिसको रुचि है और यही मात्र अभिलाषा है, इसकी भावना है तो वह शुभ भाव है।

**निकटभयों को सन्मार्ग दर्शन—** आत्मा में भीतर की ग्रन्थि खुल जाना और स्पष्ट मार्ग नजर आना यह निकट भव्यजनों को प्राप्त होता है। सम्यक्त्व हुआ तो उसे चारित्र का मार्ग दिख गया। मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए उपाय नजर आ गया और दुःख से छुटकारा पाने का उपाय नजर आ जाय, चाहे उस पर चल भी न सके तो भी उस व्यग्रता नहीं रहती, निराकुलता ही रहती है। जैसे कोई पुरुष शाम के समय अपने गाँव को जा रहा हो अपरिचित जगह से और रास्ते में किसी जंगल में फंस जाय, हो गइर्द रात, 10-11 बज गए, चलता ही जा रहा इस आशा से कि मैं इस जंगल से अलग होकर किसी रास्ते पर आ जाऊँगा, पर भयानक जंगल, बहुत बड़ा जंगल, वह नहीं आ पाता है किसी रास्ते पर, पर इतना विवेक कर लेता है कि मैं अब अधिक आगे न बढ़ूँ। जितना चल गया बस यहीं तक ही रहूँ, फिर सुबह होगा, देखा जायगा। वह रुक गया भयानक जंगल में। इतने में मेघों में एक बिजली चमकी, जिससे प्रकाश हो गया और उस प्रकाश में उसे सड़क दिख गई। बिजली तो समाप्त। जंगल में वह वहीं का वहीं बैठा है। कुछ चल भी नहीं पा रहा है मगर मार्ग चूँकि उसे दिख गया इस कारण वह निराकुल है। सुबह होगा बस वही तो मार्ग है, उससे चला जाऊँगा। तो मार्ग का दिख जाना यह निराकुलता का सम्पादक है। तो मार्ग दिख गया, दृढ़ता से जान लिया यह तो है सम्यग्दर्शन और तद्विषयक जो ज्ञान चल रहा वह है सम्यग्ज्ञान। और सम्यग्ज्ञान, सहज ज्ञान की दृष्टि निरन्तर रहे यह कहलाया सम्यक्चारित्र। सो जो रत्नत्रय के स्वरूप में अपना चिंतन मनन करता है वह शुभ भाव कहलाता है।

**आर्यकर्म में, देवपूजा में शुभभाव—** आर्य कर्म भी शुभभाव हैं, श्रेष्ठ काम हैं, जैसे गृहस्थी को बताये गए देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इनमें वृत्ति चलना यह शुभ भाव हैं। वीतराग सर्वज्ञ देव की वंदना, पूजा, गुणस्मरण, ये शुभ भाव हैं, जिनमें विषय कषाय न पोषे जायें और रत्नत्रय से संबंध हो वे सब शुभ भाव कहलाते हैं। अब देवपूजा करके विषय कषायों को कौन पोषता है और यदि कोई पोषता है, जैसे मेरा यह काम बन जाय जो मैं प्रभु पर छत्र चढ़ाऊँगा या अमुक तीर्थ की वंदना करूँगा या वंदना करके सोचे कि भगवान मेरा यह कार्य बन जाय, मुकदमे का विजय हो जाय या जो भी लाभ चाहता हो, तो इस भाव को अशुभ भाव कहते हैं। भले ही वह तीर्थ में खड़ा, मंदिर में खड़ा मगर उस भाव से पुण्य नहीं बँधता बल्कि पाप बँधता है। तो जिसके विषय कषाय पोषने का भाव हुआ वह सब अशुभ भाव हैं। कोई कहे कि कुदेवों को पूजते थे तो उससे तो बच गए और अपने देव की मान्यता कर रहा। अपना कोई स्वार्थ चाहता तो उससे तो अच्छा है, तो भले ही आगे सुधर सके उस संभावना में अच्छा कह लिया जाय मगर जैसे वह कुदेवों को पूजता था तो यहाँ अरहंत की मूर्ति को भी कुदेव बनाकर पूज रहा है, क्योंकि जिसका स्वरूप ऐसा सोचा जाय कि ये मुझको मुकदमा जितायेंगे, ये मुझको सम्पदा देंगे, इनकी कृपा से पुत्र हो जायगा, ऐसा उनका स्वरूप माना तो उसने तो कुदेव बना दिया। सबके लिए कुदेव की मूर्ति नहीं हैं, पर उसने तो अपने मन में उस मूर्ति का, उस प्रभु का ऐसा स्वरूप सोचा दो देव के स्वरूप से विपरीत हैं तो वहाँ उसे पुण्य कैसे लगा? धर्म कहाँ लगा जो सांसारिक सुख की इच्छा रखता है प्रथम तो वही पाप है और फिर धर्मसाधना करके सांसारिक सुखों को चाहता है तो वह तो निदान नाम का आर्तध्यान है, वहाँ पुण्य की आशा न कीजिए। पुण्य वहाँ होता है जहाँ विषय कषायों का पोषण नहीं,

किन्तु कुछ निर्मल भाव बने। (1) तो देवपूजा यह श्रावक का कर्तव्य है और विवेकसहित देवपूजा में बर्ते तो वह शुभ भाव है।

**गुरुसेवा व स्वाध्याय की क्रियावों में शुभ भाव—** (2) गुरुसेवा रत्नत्रय के धारक आत्मतत्त्व की ही जिसको धुन है, अपने आपके उपयोग में यह सहज अविकार आत्मस्वरूप समाये ऐसा जिसका प्रयत्न है, ऐसे गुरुराज की जो सेवा करना है वह शुभभाव है। शुभभाव से पुण्य बंध होता है। उनके उदय में स्वयं इष्ट समागम मिल जाते हैं, पर गुरुसेवा करके सांसारिक सुखों की आशा रखना कि इस सेवा के प्रसाद से मुझे अमुक सांसारिक सुख मिले, तो वह धर्म का अंग नहीं, किन्तु वह तो पाप का ही बंधक है। गुरु सेवा होती रत्नत्रय की प्रीति से, और गुरु में रत्नत्रय की झलक दिखती रहे। ऐसे भाव को शुभ भाव कहते हैं। (3) तीसरा श्रावक का कर्तव्य है स्वाध्याय। स्वाध्याय बिना इस उपयोग को कौन सम्हाल सकेगा? यह तो मोक्षमार्ग में गमर करें उसमें साधक है आगम ज्ञान। वह होता है स्वाध्याय से। सो 5 प्रकार के स्वाध्यायों को करके उस ज्ञानस्वरूप के अनुभव का सहज आनन्द पायें। गुरु वही होता जो विषयों की आशा के वश न हो। आरम्भ परिग्रह से रहित हो, ज्ञान ध्यान तप में लीन हो, अथवा ज्ञानध्यान तप की ही उसको रटन हो, वह सब शुभ भाव हैं। तो गुरु सेवा में वर्तना शुभभाव है। स्वाध्याय में लगना शुभभाव है।

**श्रावक के संयम तप और दान के आवश्यक कर्तव्य में शुभभाव—** (4) संयम अपनी रक्षा करना और दूसरे जीवों की रक्षा करना। अपनी रक्षा तो विषय कषायों के त्याग में है और परकी रक्षा, उन पर दया करके उनको न सताये इसमें है। तो संयम धर्म का अंग है और इसमें शुभभाव होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह का त्याग और अपने अविकार ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का प्रयत्न, ये सब संयमभाव में मिलते हैं। जिसके समय नहीं वह विरतिभाव के कारण तृष्णा बढ़ा बढ़ा कर दुःखी होता है। संयम हो यावज्जीवन और जो कुछ समय की म्याद लेकर संयम लेता है सो उसका कुछ लाभ तो है कि उसका अभ्यास बनता है मगर भीतर में भाव बना रहता है कि यह दिन निकला तो जाय फिर तो आनन्द से विषय प्राप्त होंगे। जो बनावट से, दिखावट से कोई उपवास करता है तो उसके चित्त में तभी से यह बैठा रहता है कि चौदस की रात्रि पूरी होने तो दो, बड़े सुबह से ही खाना पीना चलता रहेगा, और जो अभ्यास सहज भाव से करता है, खायगा वह भी मगर उसके चित्त में यह उत्सुकता नहीं रहती कि समय पूरा तो हो, बस तुरन्त ही खूब खाऊँगा। तो अपने मन को वश रखना। विषयों पर विजय करना और हिंसा आदिक से दूर रहना, पापों से दूर रहना यह सब संयम है, और संयम में वर्तना शुभ भाव है। (4) संयम—अपनी रक्षा करना और दूसरे जीवों की रक्षा करना। अपनी रक्षा तो विषय कषायों के त्याग में है और इसमें शुभभाव होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका त्याग और अपने अविकार ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का प्रयत्न, ये सब संयमभाव में मिलते हैं। जिसमें संयम नहीं वह विरतिभाव के कारण तृष्णा बढ़ाकर दुःखी होता है। संयम तो यावज्जीवन और जो कुछ समय की म्याद लेकर संयम लेना है सो उसका कुछ लाभ तो है कि उसका अभ्यास बनता है मगर भीतर में भाव बना रहता है कि यह दिन निकल तो जाय फिर तो आनन्द से विषय प्राप्त होंगे। जो बनावट से, दिखावट से कोई उपवास करता है तो उसके चित्त में तभी से यह बैठा रहता है कि चौदस की रात्रि पूरी होने तो दो, बड़े सुबह से ही खाना पीना चलता रहेगा और, जो अभ्यास सहज भाव से करता है, खायगा वह भी मगर उसके चित्त में यह उत्सुकता नहीं रहती कि समय पूरा तो हो बस तुरन्त ही खूब खाऊँगा। तो अपने मन को वश रखना। विषयों पर विजय करना और हिंसा आदिक से दूर रहना, पापों से दूर रहना यह सब संयम है, और संयम में वर्तना शुभ भाव है।

(5) तप गृहस्थ का कर्तव्य है इच्छा निरोध, इच्छाओं को रोकना। अगर इच्छाओं को नहीं रोकते तो कितना ही धन बढ़ जाय तृष्णा के कारण, उसे अशान्ति रहेगी। अपने से अधिक दूसरों को देखकर मन में डाह बनेगा—मैं क्यों न ऐसा होऊँ? और जिसके इच्छा का निरोध है वह दूसरों को कुछ नहीं निरखता कि यह कितना बड़ा हो गया या इसके पास क्या क्या हो गया? ज्ञानी तो अपनी सम्हाल करता है। तो इच्छा निरोध भी तप है और ये बातें छोटे-छोटे प्रयोग से सीखी जाती हैं। जैसे खाने पीने में किसी की इच्छा हुई कि थोड़ी ही देर में उसका त्याग कर दिया। क्यों इच्छा जगी? उसका तो हमें त्याग है और फिर बड़े-बड़े संयमों में प्रवृत्त हो जाता है। और, इच्छा निरोध करके एक परमार्थ तप का प्रयोग करता है। (6) छठा कर्तव्य है दान स्वामी समंतभद्राचार्य ने बताया है कि गृह कार्य से जो पाप उत्पन्न हुए हैं उनको धोने वाला केवल दान है और जो कमायी तो करता रहता है। करते ही हैं सब और उसको ही बढ़ाने की तृष्णा रहे और दान के लिए मन न चाहे तो समझो कि जो पाप कर रहा था उस पाप की ही अनुमोदना की जा रही है। और उसको इसमें विशेष पाप का बंध होता है। तो ऐसे श्रावकों के ये 6 कर्तव्य हैं।

**मुनिजनों की आवश्यक क्रियाओं में शुभभाव—** मुनियों के भी 6 आवश्यक कर्तव्य हैं। (1) समता परिणाम रखना—भक्त पर राग नहीं, शत्रु पर द्वेष नहीं, क्योंकि उसने अपना ध्येय ही कुछ बनाया है, तो इन बाहरी छोटी चीजों में कौन पड़ेगा? (2) सामायिक समता परिणाम (3) वंदन—भिन्न भिन्न तीर्थकरों की वंदना करना, उनका गुणस्तवन करना, यह आर्य कर्म है। स्तवन करना, वीतराग भगवंतों का स्तवन करना, (4) प्रतिक्रमण करना, प्रायश्चित्त करना, जो भी दोष लगते हैं उन दोषों की निवृत्ति के लिए कोई प्रायश्चित्त लिया जाता है। (5) स्वाध्याय करना, जिससे विकारों से हटने की और स्वभाव में लगने की उमंग बने। (6) कायोत्सर्ग करना। शरीर से ममता का त्याग। जिसकी शरीर से ममता छूटी उसके फिर अन्य चीज में ममत्त्व क्या रहा? सबसे कठिन है शरीर का मोह त्यागना। किसी का शरीर कैसा ही दुर्बल हो, हड्डियाँ भी निकली हों। कुरूप हो, उस बुढ़े को कुछ अंधेरे उजले में यदि कोई वह भयानक चेहरा निरखले तो वह डर जायगा, ऐसे शरीर में भी लोग मोह बना रहे हैं। यह मैं हूँ, यह मेरा है। यही सर्वस्व है...ऐसा मानते हैं। भले ही वेदना न सही जाय और उसका प्रतिकार कर ले तो भी तो एक चारित्र मोहकृत कमजोरी है, किन्तु शरीर में यह ही मैं हूँ, यह ही हितरूप है, इस प्रकार का विश्वास बने तो यह दर्शन मोह है। तो ऐसे अशुचि दुर्गंधित शरीर से ममता का त्याग रहता है मुनिराज के। यह है उनका कायोत्सर्ग। बाह्य पदार्थों का भी त्याग किया, शरीर से भी ममता का त्याग किया। केवल एक निज चेतना मात्र अपने स्वरूप को निरखा, ऐसी मुनिराज के यह कायोत्सर्ग नामक क्रिया चला करती है। तो जो धर्म से संबंध रखे ऐसी क्रिया में भाव रहे वह भी शुभभाव है। रत्नत्रय से जिन जिन क्रियाओं का कुछ संबंध नहीं जचता वे सब क्रियायें मिथ्या हैं। वे व्यवहार धर्म भी न कहलायेंगी और जिन जिन क्रियाओं का रत्नत्रय से संबंध है और उस विधि से उन क्रियाओं को करे तो वह कल्याण से पतित नहीं है। जैसे देवपूजा और दान, इनका श्रद्धान से संबंध है। गुरुपास्ति संयम, तप, इनका चारित्र से संबंध है, और स्वाध्याय का ज्ञान से संबंध है। तो रत्नत्रय से जिन क्रियाओं का संबंध हो वे सब क्रियायें व्यवहार धर्म कहलाती हैं और उनमें वर्तना सो यह शुभ भाव है।

**स्वदया परदया के भाव में शुभभाव—** प्रसंग यह चल रहा है कि जीव के अशुभ भावों का फल है नारकादिक दुःख भोगना और शुभ भावों का फल है स्वर्गादिक के सुख भोगना, और धर्मभाव का फल है मोक्ष की प्राप्ति। सो धर्मभाव जब तक नहीं है तब तक शुभभाव ही इस जीव के लिए एक अच्छी चीज है, मगर वह धर्मभाव को न बना सकेगा।

धर्म का लक्ष्य हो फिर अशुभ से बचने के लिए शुभभाव हो, यह है मार्ग। तो धर्म तो बुद्धिपूर्वक बनेगा नहीं, वह तो बनेगा सहज। पौरुष जितना भी किया जाता है वह सब शुभभाव है। कोई धर्म के लिए भी पौरुष बनाये तो जब तक पौरुष है, प्रयत्न है, बुद्धि है तब तक वह शुभ भाव है। उस शुभ भाव का वर्णन चल रहा है। दया आदिक सद्धर्मों की भावना होना शुभ भाव है। दया को धर्म बताया है। वह दया स्वदया और परदया दो प्रकार से होती है। स्वदया तो है अपने आत्मा की रक्षा करना, अपने आत्मा में समता का अनुभव करना, शान्ति धाम निज सहज ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोग को रमा देना यह तो है अपनी दया और परदया भी दो तरह से होती है—एक तो परमार्थ, पर दया भी व्यावहारिक परदया, दूसरे जीव भी इस सहज ज्ञानस्वरूप का अवलोकन करें और इस ही ज्ञानस्वभाव में मग्न हों, इस प्रकार की भीतर में करुणा जगे, यह तो है परमार्थ पर दया, ऐसी दया से तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। दर्शनविशुद्धि में केवल सम्यक्त्व का ही नाम दर्शन विशुद्धि नहीं, जो कि तीर्थकर प्रकृति के बन्ध के हेतुभूत भावना रूप है, क्योंकि अगर सम्यक्त्व से तीर्थकर प्रकृति बँधे तो सम्यक्त्व बिना तो किसी को भी मोक्ष नहीं मिलता। जितने भी सिद्ध हुए उन सभी को तीर्थकर हो जाना चाहिए, तो सम्यक्त्व के कारण तीर्थकर नहीं बनते, किन्तु सम्यक्त्व के होने पर जो परमार्थ पर दया के भाव रखता है उसके तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है, ऐसी विशुद्धि सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती। तो परमार्थ पर दया है यह।

**अलौकिक दया का अधिकारी**— अलौकिक पर दया वही पुरुष कर सकता है जिसने अपने आप पर दया करके अपने आप में अलौकिक आनन्दामृत का अनुभव किया है। जैसे कि बड़ी बूढ़ी महिलायें किसी बात से सुख पावें बच्चों से, अन्य प्रकार से तो उनके मुख से एक ऐसा आशीष निकलता है कि ऐसा ही सुख सबको होवो। तो जिसने अपने आप में अपने स्वरूप का अनुभव किया है उस ही पुरुष को परमार्थ पर दया भाव हो सकता है। जो बात खुद जानी नहीं गई उस बात का प्रयोग दूसरों पर कैसे जा सकता? और व्यवहार पर—दया है—भूखे प्यासे दुःखी रोगी का उपचार करके उसका दुःख दूर हो जाय ऐसा पौरुष करना। तो दया एक सद्धर्म है। उसमें स्वदया पर कुछ अधिक उपयोग देना चाहिए। स्वदया का भाव होने पर स्वदया की वृत्ति होने पर जब तक विकल्प है तब तक परदया तो होवेगी ही। स्वदया में अपने आप की रक्षा करना अपने को विषय कषायों में मलिन भावों में न डालना; आशक्त न होना, यह हैं अपनी आपकी दया। दूसरे जीवों पर क्षमा का भाव रखना, यह अपनी दया है। स्वदया का बड़ा महत्त्व होता है। स्वदया बिना कोई संसार से पार नहीं हो सकता। जो स्वयं में बसे हुए भगवान को सतायेगा वह नरक निगोद अवश्य जायगा, दुर्गति को अवश्य प्राप्त होगा। भला बाहर में किसी एक जीव को सताये तो उसे राजदण्ड मिलता है, कैद मिलता, प्राणदण्ड मिलता, और जो अनन्त गुण का भंडारी निज में अन्तः प्रकाशमान सहज परमात्मा को सतायेगा उसकी संसार में दुर्गति ही है, और वह सताया जाता रहा अब तक, उसका फल है कि अब तक संसार में भ्रमण करता आ रहा। क्षमा का अर्थ है कि दूसरों का अनिष्ट चिंतन न करना, दूसरे प्राणियों के प्रति ईर्ष्या द्वेषादिक बात विकार न रखना और अपने आपके स्वभाव की दृष्टि करना यह है क्षमा का रूप। दया के कार्यों में स्वदया की वृत्ति में सर्वप्रधान है क्षमा। यह जीव अपने आप में अनन्तानुबंधी कषाय का विकार बना बनाकर अपने भगवंत पर अन्याय करता चला आया। हिंसा करता चला आया, मिथ्यात्व का पोषण करने वाली जो कषाय है वह अनन्तानुबंधी कषाय है। सम्यग्ज्ञान को बिगाड़ने की जो भावना है वह अनन्तानुबंधी कषाय है। जिसके यह कषाय है वह क्षमा—भाव नहीं पा सकता।

**ज्ञानपुञ्ज की उपास्यता**— देवशास्त्र, गुरु क्या चीज हैं? ज्ञानमूर्ति, देव क्या? ज्ञान पुञ्ज। वह क्या आँखों से दिख सकेगा? नास्तिक लोग यही तो कहा करते कि भगवान हैं कहाँ, दिखाकर बताओ। क्या यह ज्ञानपुञ्ज आँखों से दिख सकता? यह पावन स्वरूप क्या चमड़े की आँखों से पाया जा सकता है? पावन स्वरूप तो पवित्र ज्ञानवृत्ति से ही पाया जा रहा है। देव क्या है? ज्ञानपुञ्ज। जो देव के शरीर को देखकर, देवों के मुख, नाक, आँख आदि को देखकर और उससे प्रसन्न होकर उसकी भक्ति करके जो अपने को संतोष मान लेता है उसने अभी देव की स्तुति नहीं की। देव की भक्ति नहीं की। देव तो हैं ज्ञानपुञ्ज। जो स्वयं सहज आनन्द से भरा हुआ है। अगर देवभक्ति यथार्थ रूप से होती तो यह कर्मबंधन अपने को न सताता। ज्ञानपुञ्ज की किसने भक्ति की? शास्त्र क्या हैं? ज्ञानपुञ्ज। यह चेतन तो नहीं है, यह स्वयं ज्ञानपुञ्ज तो नहीं हैं, पर उस ज्ञानपुञ्ज की ही बात बतलाते हैं, तो यह है ज्ञान। और, गुरु क्या हैं? ज्ञानपुञ्ज। गुरु के चाम को कौन पूजता। गुरु की शकल आकृति को कौन पूजता है? वह आत्मा जो अपने ज्ञानोपयोग से वजनदार बन गया, गुरु बन गया याने जहाँ ज्ञान विकसित है वह आत्मा गुरु है। तो गुरु क्या कहलाया? ज्ञानपुञ्ज। जो जीव निकट भव्य हैं, जिनको दुर्गति में भ्रमण करना नहीं बदा है उन पुरुषों की ज्ञान की ओर दृष्टि होती है। धर्म ही एक मात्र है ज्ञानदृष्टि। कर्तव्य ही एक मात्र है ज्ञानदृष्टि। और उस ज्ञान से विमुख रहना, जिसे कहते हैं अक्ल के दुश्मन। ज्ञान के बैरी बनना, यह अपने आप पर बड़ी भारी हिंसा है, इसको कोई क्षमा नहीं कर सकता। स्वयं ही किसी भ्राव में कभी भी इस ज्ञान की आराधना के बल से कभी ज्ञान विकसित हो और उस ज्ञान का आदर बन सके तो यह ही जीव अपने उन अपराधों की क्षमा कर सकता है। सो दया क्या है? ज्ञान का आदर करना। पर दया क्या है? ज्ञानपुञ्ज स्वभाववाले संसारी जीव हैं। ज्ञान के विकास की भावना होना यह है पर दया।

**ज्ञानोपासना हुए बिना अपराधों की अक्षम्यता**— अपने ज्ञान के विकास की भावना होना यह है स्व दया। ज्ञान के सिवाय कुछ भी वैभव नहीं है। क्षमा करना है तो उसका मूल साधन यह है कि ज्ञान का आदर करें, उसके बिना क्षमा बन ही न सकेगी। लोक व्यवहार में एक अपनी इज्जत बनाने के लिए या अज्ञान से दूसरों को ही अपना सर्वस्व जानकर उन को प्रसन्न करने के लिए कुछ वचन बोल दिया एक कलापूर्ण, उससे इस आत्मा को क्षमा नहीं मिलती। इसने अपनी अज्ञान लीला से इस ज्ञानपुञ्ज भगवान पर जो आक्रमण किया है, घात किया है, वह बहुत बड़ा अपराध है, और उसका ही फल जानो संसार। इस दण्ड की विधि पर चिन्तन करें तो हैरान हो जायेंगे। एक मनुष्य मरा तो कहो एकेन्द्रिय हो गया, वह जीव कहाँ गया, किस शरीर को ग्रहण किया, न जाने किन-किन शाखाओं में फँस गया, यह सब कैसे हो गया। और अपने ज्ञान भगवान पर इसने आक्रमण किया तो उसका फल है कि यह पेड़ बन गया। ज्ञान, अपना स्वरूप न सुहाये जो उसका फल है कि जड़ जैसा बन जाना। जीव जड़ तो नहीं हो सकता, पर एकेन्द्रिय आदिक दुर्गतियों में पहुँचना यह है आत्महिंसा का फल। स्वदया सद्धर्म की बात कही जा रही है कि अपने आपके अविकार स्वरूप की भावना रखना, यह मैं अविकार ज्ञानस्वरूप हूँ। एक बार एक कड़ी हिम्मत तो बनानी पड़ेगी। अब बना लें तो अब से पार हो जायेंगे, जब बना पायेंगे तब से पार होंगे, पर अपने आप में दृढ़ साहस बनाना ही होगा कि मेरा मात्र मैं हूँ और यह मैं सहज अविकार ज्ञानस्वरूप हूँ। इस अंतस्तत्व का विश्व के किसी भी पदार्थ से अणु-अणु से भी, किसी से भी मेरा कुछ संबंध नहीं, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मात्र यह सहज ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। ऐसा अन्तरंग में बोध आये बिना जीव अपने में क्षमा नहीं कर पायगा।

**स्वयं में क्षमा कर्तृत्व व स्वयं में क्षमा का प्रभाव—** क्षमा दूसरे को नहीं की जाती क्षमा अपने को की जाती। क्षमा परिणति दूसरे में नहीं पहुंचती। क्षमा परिणति अपने आप में ही हुआ करती है। अहर्निश मोह माया ममता क्रोध, मान, माया, लोभ, परिग्रह तृष्णा आदिक अपराध किए जा रहे हैं। ये अपराध इस आत्मा भगवान पर हो रहे हैं तो उनको क्षमा करने कौन आयगा? और, इनके क्षमा हुए बिना तो जैसे लोग कहते हैं मारवाड़ी रोजगार, याने केवल बात बात का रोजगार, गाँठ में निजी धन कुछ नहीं, केवल बात बात से धनी। इस तरह से इस जीव को कोई संतोष न होगा। जीवन में एक दृढ़ संकल्प बना लें कि मुझको अंतस्तत्त्व का ज्ञान करना है और इस ही अंतस्तत्त्व में रमण करना है। इस कार्य के लिए यदि मुझे सर्वस्व त्याग करना पड़े तो वह कुछ भी कठिन नहीं है। सब कुछ किया जा सकता। एक अपने आप के अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि जगनी चाहिए। ऐसी भावना अगर 10-20 आदमियों में हो गई तो वे तो क्षमाशील बन गए और अगर ऐसी भावना एक में भी न आयी और रूढ़ि की क्षमा का बड़ा दौड़ दौड़ा बनाया तो वहाँ एक ने भी क्षमा धारण नहीं की। थोड़ा अपने आप पर तरस आनी चाहिए। मोह ममत्व विकल्प में निरन्तर तप तप कर, हैरान हो होकर व्यर्थ ही समय गुजारा। आखिर उससे फायदा कुछ नहीं मिलता।

**रहे सहे समय को महत्त्वयुक्त करने का अनुरोध—** क्या महिमा है बने की, बिगड़े समय से पूछो, बनते समय की अथवा रहे सहे समय का क्या मूल्य है यह बात बिगड़ा हुआ समय बताता है कि व्यर्थ गया वह सब समय। एक समय की घटना है कि जब कौरव पाण्डवों के युद्ध में अभिमन्यु मारा गया तो उसके पीछे उसकी माता सुभद्रा बड़ा विलाप कर रही थी। तो वहाँ श्रीकृष्ण बहुत बहुत समझाते हैं सुभद्रा माता को हि हे सुभद्रा माँ, अब तुम अधिक शोक न करो, शोक करने से अब तुम्हारा बेटा अभिमन्यु वापिस नहीं आने का — , तो वहाँ सुभद्रा ने कहा—“करुणा निधान करुणा, करुणा भरे से पूछो। ज्वाला वियोग का दुःख, छाती जरे से पूछो।। बनते समय की बातें बिगड़े समय से पूछो। बच्चे का प्यार उसकी माँ के हृदय से पूछो।।” तो समय की कीमत कौन कर पायगा? जो अपने बिगड़े हुए समय पर दृष्टि देगा, अभी तक व्यर्थ समय खोया, ममता भव भव में तो करते आये, कोई एक ही अनोखा भव मिला क्या? अनन्त भव पाये और सभी भवों में ममता तृष्णा करते आये, अब उनका कुछ विकल्प भी है क्या? जो जोड़-जोड़कर धर आये होंगे पूर्वभव में उससे कुछ आपको फायदा है क्या? जो कुटुम्ब पुत्र मित्रादिक का जत्था बना होगा उससे कुछ आज लाभ है क्या? तो जो बात पहले भव की आज के लिए है वही बात इस भव के आगे के लिए है।

**अपने पर तरस—** अगर मूर्खता, मूढ़ता, मिथ्यात्व का उदय, पर पदार्थों के प्रति तृष्णा, लोभ, ईर्ष्या, विरोध ये सब खोंटी बातें चित्त में उपजती हैं तो यह सब क्या हैं? अपने भगवान आत्मा पर हमला करना है। क्षमाशील बनना, पहले अपने को क्षमा करना। कैसा विकार, कैसा विचार, कैसी कषाय, कैसा मोह, देखो इस ज्वाला में यह खुद आत्मा जल रहा है। शान्ति का धाम तो है यह खुद स्वयं, पर यह शान्ति चाहता ही नहीं। संसार के सुख चाहता है तो आकुलता से भरे हुए हैं, विनश्वर हैं, पराधीन हैं, जिन पर इस जीव का अधिकार ही नहीं है और व्यर्थ है। केवल काल्पनिक हैं। केवल असार सुख को तो यह चाहता है पर अपने आप के इस पवित्र स्वरूप को नहीं चाहता। तो यह है स्वदया जो अपने आपको को विषय कषाय के आक्रमण से बचा लेता, मन को स्वच्छंद नहीं बनाता है। यदि मन नहीं लगता तो इसको कहीं न कहीं तो लगाना ही चाहिए, ऐसा सोचकर विषयों में मन लगाते, अरे अपने आप के स्वरूप की आराधना में क्यों नहीं मन लगाया जाता?



उसका उपाय क्यों नहीं बनाया जाता? और पुत्र, मित्र, कुटुम्बादिक के ममत्व में ही रुचि होने की वृत्ति की जा रही है और वह अपने आप में शान्त नहीं बन पाता, अपने आप में नहीं रम पाता यह क्या है? अपने आप की हिंसा है। कुछ तो ध्यान में आना चाहिए। कहते हैं कि सिद्ध भगवान बनेंगे। यह मालूम है कि सिद्ध भगवान बन कर अनन्तकाल के लिए बिल्कुल अकेले रहेंगे। केवल एक अकेले में मग्न रहेंगे। और, यहाँ कुछ समय को भी अकेले रहने में बड़ा बोझ सा लगता। अपने को अकेला—मनन करना, अकेला चिन्तन करना और अकेलेपन की बाट जोहना, कब वह समय आये कि मैं एक अकेला रह जाऊँ। मिला हुआ होना तो पाप है। विपत्ति है, विडम्बना है और अकेला रह जाना यह तो पवित्रता है, शान्ति का धाम है। अपने अकेले की भावना बनायें। मुझे सदा के लिए अकेला रहना है। जब मैं अकेला रहूँगा सदा के लिए तो कुछ समय के लिए मैं अपने को अकेला ध्रुव निरखकर अंतः प्रसन्न रह सकूँगा। स्वदया, अपने आप की क्षमा, अपने एकत्व स्वरूप का मनन यह है सद्धर्म। यह तो मूल में होना ही चाहिए।

**दया सद्धर्मभाव की सर्वत्र उपादेयता**— स्वदया सद्धर्म की दृष्टि रखते भी हैं जब घर में रहना या संग में रहना पड़ा रहा है। तो कुछ परस्पर का व्यवहार भी देखना पड़ता। अपने द्वारा किसी दूसरे को कष्ट न हो। अपने द्वारा तो नहीं हो सकता, वह भी विकल्प करके उस दूसरे को निमित्त मानकर खुद दुःखी हुआ। कोई किसी को दुःखी नहीं कर रहा। अगर एक दूसरे के विचार से दुःखी हो रहा है तो एक ने दूसरे को दुःखी नहीं किया। वह अपने आप में दुःखी है, यह अपनी कल्पना से दुःखी है, वह अपनी कल्पना से दुःखी हैं, जैसे जब कोई मर जाता तो फेरी देने के लिए अनेकों लोग आते। तो उनको आता हुआ देखकर घर का कोई रोने लगता, और उसका रोना सुनकर उन आने वालों में से भी कोई रोने लगता, तो बताओ वहाँ एक ने दूसरे को रुलाया क्या? अरे वे दोनों अपने अपने प्रयोजन से अपना अपना ख्याल बनाकर रोते हैं। एक तो अपने सुख के लिए रोता और दूसरा कुछ सहानुभूति दिखाने के लिए रोता। तो सब अपने अपने प्रयोजन से रोते हैं। कोई किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता, फिर भी अज्ञानीजन यदि मेरे को निमित्त मानकर कष्ट का विकल्प कर चुके हो और यदि दो बातें नम्रता की सुनकर उनको शान्ति मिले तो ज्ञानी पुरुष उन नम्र वचनों को कहकर उन्हें तत्काल ही शान्ति पहुंचाने का यत्न करते हैं। वास्तविक शान्ति तो उनको उनके ज्ञान से ही मिलेगी। कोई किसी दूसरे को जब दुःखी नहीं कर सकता तो शात भी नहीं कर सकता। तो यह है दया आदिक सद्धर्म की भावना। इस भाव में जो रहता है वह पुरुष शुभ भाव में है और ऐसा शुभ भाव इस जीव के स्वर्गादिक सुखों का कारण बनता है। ध्येय तो रखना है मुक्ति का, पर मुक्ति में पहुंच तो जाय कोई। ध्येय है, लक्ष्य है, भावना है, कैवल्य की दृष्टि है, किन्तु जो मन, वचन, काय की वृत्ति बनेगी तो वह या तो शुभ राग होगा या अशुभ राग होगा। अशुभ राग से तो कष्ट हैं। एकेन्द्रिय हो गए और दुर्गति हुई तो फिर वहाँ कल्याण की सम्भावना क्या? शुभ राग में यह है कि चाहे तो यहाँ से मरण करके देवगति में पैदा हो या मनुष्य गति में। वहाँ कुछ सत्संगति मिलती तो आगे वह अपना उद्धार कर लेगा। तो इस तरह दया के सद्धर्म में शुभ भाव है और उस शुभ भाव का फल सुगति लाभ है।

**धरियउ बाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि'**

**करियउ किरियाकम्मं मरियउ जंमियउ बहिरप्पजिऊ।।57।।**

**बाह्य मुनिवेश रखकर भी अज्ञानी की जन्ममरण परंपरा की निर्विघ्नता**— यह जीव कभी बाह्य लिंग को, मुनि भेष को रखता है और अन्तः सहज ज्ञानस्वरूप का बोध नहीं है तो उसने केवल बाह्य इन्द्रिय सुखों को ही तो छोड़ा पर अंतरंग में तो सांसारिक

सुखों की वासना लगी है। सो वह क्रियाकाण्ड को करके भी जन्ममरण करता रहता है। अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की अनुभूति जगे बिना मूलतः विषय सुखों का त्याग नहीं बन सकता, उसका कारण यह है कि विषय सुखों को त्यागे तो कहीं तो रमना चाहिए। जीव का तो रमण स्वभाव है। बाह्य सुखों को छोड़कर अन्य कोई रमण का स्थान न हो तो रमण बिना जीव तो रह न सकेगा। सो इस अज्ञानी जीव को अपने आप के शान्ति धाम चैतन्यस्वरूप की तो सुध है नहीं और बाह्य भेष रख लिया साधु का, अब परिग्रह रख सकता नहीं, विषय सुखों के साधन जोड़ सकता नहीं सो विषय सुखों का त्याग बन गया, मगर विषय सुखों की कामना का त्याग नहीं बन सकता, और विषय सुखों की कामना का त्याग वस्तुतः उनके बन सकता है जिनको अंतस्तत्त्व में रमने का आनन्द आ गया तो जिसने अंतरंग ज्ञान ज्योति का प्रकाश नहीं पाया और बाह्य लिंग धारण कर लिया तो वह पुरुष बाहर में सांसारिक सुख से भी गया और भीतर में मोक्ष के साधन से भी गया। यह एक लौकिक विधि से बात कह रहे हैं क्योंकि उसको फल कुछ नहीं मिल रहा, बल्कि विषय सुखों को त्यागकर, उनके साधनों को त्याग कर विषय सुखों की कामना रहे तो उसकी जलन, उसकी कषाय तेज रहती है।

**मोहवासना की विडम्बना—** अपेक्षाकृत देखें तो गृहस्थों को जैसे भोग के साधन उपलब्ध हैं पर उनके बीच रहकर उनको उतनी कामना नहीं होती जितनी कि उसको होती जिसने उन विषय के साधनों को छोड़ दिया और आत्मीय आनन्द पाया नहीं। उसके भोग भावना रहा करती है तो उससे कोई मोक्षमार्ग तो न मिल सकेगा। बड़ी सावधानी से अपने आपके कल्याण की बात सोचनी चाहिए। सांसारिक सुख समागम ये जीव का भला करने वाले नहीं। इससे यदि जन्म सफल करना है तो अपना एक पक्का निर्णय बना लीजिए कि बाह्य पदार्थों के संचय संग्रह आदि का मेरा कोई उद्देश्य तो अपने अन्तःप्रकाशमान ज्ञानस्वरूप को निरखें और उसमें तृप्त हो जायें। तो बाह्य भेष धारण कर लिया है और भीतर में ज्ञानस्वरूप की भावना नहीं बनी है तो उनकी अन्तः कामना क्या रहती है? प्रथम तो यह कि कमाने धमाने में तो बहुत कष्ट हुआ करता है, और यहाँ आदर सहित खूब भोजन मिलता है या तो यह भावना है या साधुवों की बड़ी ख्याति चलती है क्योंकि लोग तो कुछ विवेकी होते, कुछ नहीं भी होते, तो दूसरे की ख्याति देखकर खुद की भी भावना बन बैठी कि अर्जन के कष्ट से भी बचे और आराम से विनय भी मिली, सुख के साधन भी मिले, या दुनिया में मेरे नाम की ख्याति हो, यह भावना हो, इन किन्हीं भावनाओं में यह जीव रमता है जिस को वास्तविक रमने का स्थान नहीं मिला तो अब वह जीव जायगा कहाँ? सो ही बात कह रहे हैं कि बाहर के भेष को तो धारण कर लिया और बाहर में इन्द्रियसुखों का भी त्याग कर दिया और क्रिया कर्म को भी कर रहे हैं, प्रतिक्रमण का समय आया तो प्रतिक्रमण बाँचने लगे। बंदना का समय आया तो बंदना भी की। चर्या का समय, विहार का समय जब जिस समय आवश्यक है वे क्रियाकाण्ड भी किए जा रहे फिर भी वह पुरुष जन्मता है और मरता है, संसार की परम्परा में वह रुलता है, उसकी रक्षा नहीं होती।

**आत्मरक्षा का अमोघ साधन यथार्थज्ञान हुए बिना मुनिवेश की विडम्बना—** रक्षा का साधन तो यथार्थ ज्ञान है, सो ज्ञानी गृहस्थ घर में रहता हुआ भी, घर के काम काज करता हुआ भी उस ज्ञान से रुचि जगे, उसका अभ्यास बने तो गृहस्थ कर सकता। पूज्य समन्तभद्राचार्य ने तो बताया है कि 'गृहस्थो मोक्ष—मार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।' याने वह गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है जो कि निर्मोह है, पर मोही मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोह राग बदल जाय इससे लाभ नहीं है। घर में रहते थे तो मोह और राग की विधि और बनती थी, घर है, कुटुम्ब है

अथवा समस्या दुकान की है घर में है, कमाता है, उस समय और तरह का मोह राग था और मुनि भेष रख लिया तो असली जीव को मोह, राग और तरह का रहता है। और, की तो बात क्या कहें, यदि मुनि को यह श्रद्धा है कि मैं मुनि हूँ और मुझे इस तरह से संयम का काम करना चाहिए, जीव दया पालना चाहिए। इस तरह से दूसरी क्रियाओं को पालना चाहिए, क्योंकि मैं मुनि हूँ, ऐसा भाव भी अगर है, श्रद्धा है तो उसके मिथ्यात्व बताया गया है। सुनने में तो लगेगा ऐसा कि ऐसा कौन सा अपराध बन गया जिससे वह मिथ्यादृष्टि है? जैसे कि कुछ रूढ़ि वाले अज्ञानीजन कह बैठते हैं कि कैसे ही सही, वे मुनि हमसे तो अच्छे हैं, लेकिन हम अच्छे कहाँ हैं? अगर वह मोही है, अपने आप के स्वरूप को नहीं समझ सका है तो गृहस्थ से अच्छा कहाँ रहा?

**अज्ञानी मुनिवेशी की मानविडम्बना**— गृहस्थ की पदवी में जो गृहस्थ रहता है उसे अभिमान तो नहीं रहता, वह नम्र रहता है। वह जानता है कि मैं तो गृहस्थ हूँ, उसके अभिमान नहीं। कोई बात प्रतिकूल आ जाय तो उसको अधिक क्रोध नहीं आता, क्योंकि वह तो जानता है कि मैं तो मामूली पुरुष हूँ, साधारण गृहस्थ हूँ, वह सब बात सह लेता है, पर मुनिभेष रखकर यदि वह अज्ञानी है, अपने आत्मस्वरूप की महत्ता को न जान सके तो जरा सी भक्ति में कमी हुई या किसी ने नमस्कार न किया हो तो उनके तो क्रोध बहुत ऊँचा चढ़ सकता है या पद पद में गर्व आता है। भारी हिसाब क्यों लगाते रहते हैं कि इससे एक दिन दीक्षा में मैं बड़ा हूँ, मुझे ऊँचा आसन चाहिए। इसे हमसे छोटा आसन चाहिए तो बात यह है कि उस मुनि को देहदृष्टि है, अज्ञान बसा है, मान कषाय उमड़ी है तो ये बातें चलती हैं। यद्यपि यह कर्तव्य है कि कम दिनों का दीक्षित अधिक दिनों के दीक्षित को पहले नमस्कार करे, लेकिन उसके लिए बड़ा हिसाब क्यों लगाया जाता कि यह कम दिनों का दीक्षित है और मैं अधिक दिनों का, यह मुझे पहले नमस्कार करे — अरे यह तो एक विकार है, पाप है, विपत्ति है — वहाँ उस मुनि की सरलता कहाँ रही? दूसरी बात एक यह भी है कि चाहे कोई नया दीक्षित हो, थोड़े दिनों का दीक्षित हो या कोई अधिक दिनों का दीक्षित हो, अगर ज्ञानादिक गुणों से बड़ा हुआ अधिक हो तो उसको अधिक दिनों का दीक्षित भी पहले नमस्कार करे, ऐसी आगम की आज्ञा है। कितनी ही बातें ऐसी होती हैं। तो भले ही यह मुनिवेशी है मगर कोई मुनि यह हिसाब ही लगाये बैठा रहे तो उसको तो बंधन है पूरा। और, ऐसी अटपट बात क्यों उपयोग में लाना? जहाँ चित्त रमना चाहिए, तो शान्ति का धाम है, जहाँ मन रमाने के बड़े संकल्प विकल्प नहीं रहते वह धाम इसको मिला नहीं इस कारण उन्हें व्यग्रता रहा करती है। व्यग्रता मिटाने का साधन, मोक्षमार्ग में लगने का साधन बाह्य भेष नहीं किन्तु सम्यग्ज्ञान है।

**मुनिवेश से गुजरकर मुमुक्षु की प्रगति की संभवता**— सम्यग्ज्ञान होने पर उस सम्यग्ज्ञान को बढ़ाने के लिए सम्यग्ज्ञान की स्थिरता के लिए जो आगे बढ़ता है वह निष्परिग्रह साधु के भेष में आकर ही बढ़ पाता है इसलिए वह एक रास्ता है, पर कोई रास्ते को ही पकड़ कर रह जाय तो वह इष्ट स्थान पर पहुँच तो न सकेगा। जैसे किसी को यहाँ से बम्बई जाना है तो रास्ते में सैकड़ों स्टेशन पड़ेंगे। अब कोई कोई तो बड़े सुन्दर स्टेशन भी मिलते जहाँ पर कि ठहरने का भी मन कर जाता, पर वहाँ यदि कोई रम जाय, ठहर जाय तो वह बम्बई तो नहीं पहुँच सकता। सो बम्बई पहुँचने के लिए जैसे वह सभी स्टेशनों का मात्र ज्ञाता दृष्टा रहता है और आगे बढ़ता रहता है तो बम्बई पहुँच जाता है। ठीक ऐसे ही जो पुरुष आत्मा के इस मोक्षमार्ग में बढ़ता है तो उस धुन में रहने के कारण परिग्रह का त्याग हो जाता है आरम्भ का त्याग हो जाता। निर्ग्रन्थ भेष आ जाता, और ऐसी मुद्रा में रहकर वह आत्मज्ञान को स्थिर बना पाता है। शुक्ल ध्यान उत्पन्न कर अरहंत

अवस्था पाता मगर कोई एक इस भेष को ही रखे और इस ही में मुग्ध रहे और उस ही में संतुष्ट हो जाय थोड़ा प्रतिक्रमण आदिक क्रियायें करके मान लिया कि मैंने धर्म किया, अब मैं साधु परमेष्ठी हूँ...तो यह तो उसके लिए बहुत बड़ा संकट है। वह नारकादिक गतियों में जायगा।

**कपटी साधु और उनके भक्तों की दुर्दशा**—इस पंचम काल में छली कपटी जैसे करोड़ों ही मुनि नरक जायेंगे और उससे भी अधिक उनके भक्त जायेंगे ऐसा आगम में बताया है। तो इसका कारण क्या है? कारण उसका यह है कि जो मोक्ष का बीज है सम्यग्ज्ञान, आत्मज्ञान वह प्राप्त नहीं हुआ। सभी मुनि न जायेंगे नरक, किन्तु बहुत से मुनि भेष में रहकर जो एक अपने मन के विषयों को पोषते हैं और मुनि धर्म परमार्थ पद को नहीं निभा पाते हैं उनको और उनके भक्तों को बताया है कि करोड़ों की संख्या में इस पंचम काल में नरक जायेंगे, तो इसने मोक्षमार्ग का भेष किया और अंतः अज्ञान अवस्था ला दी, उस अपराध का फल है दुर्गति। क्रिया में लगने की बात क्या बतायें? मानो एक चाण्डालनी के एक साथ दो पुत्र उत्पन्न हुए। किसी गरीबी हालत में समझो या कुछ अनुचित ढंग से हुए, ऐसा समझो। तो उन दोनों बच्चों को वह चाण्डालिनी एक पेड़ के नीचे छोड़ आयी। यह सोच कर कि ये मरें तो मर जाये, हम इन्हें न रखेंगे। वे बच्चे पेड़ के नीचे पड़े हुए थे। बड़े ही सुन्दर थे। वहाँ से पहले एक ब्राह्मण निकला जिसके कोई संतान न थी सो एक बच्चे को अपने घर ले आया और पालन पोषण करने लगा। बाद में उधर से निकला कोई चाण्डाल तो वह उस दूसरे बच्चे को अपने घर ले आया और पालन पोषण करने लगा। अब देखिये एक साथ जाये हुए दोनों ही बालक दो जगह पल पुस रहे थे, एक तो ब्राह्मण के घर और एक चाण्डाल के घर। वह ब्राह्मण का घर भी बड़ा धार्मिक था, अपनी धार्मिक क्रियाकाण्डों में बड़ा सावधान था। मद्यमांस वगैरह का जहाँ पूर्ण त्याग था। वेद, कथा, भागवत आदि के पठन पाठन में विशेष रुचि थी। तो एक बच्चा तो ऐसे धार्मिक वातावरण में पला पुसा और एक बालक उस चाण्डाल के घर पला पुसा जिसका मुख्य भोजन मद्य मांस मच्छी वगैरह गंदी चीजों का था। आखिर दोनों ही बच्चे सब सयाने हो गए। उनमें से एक तो मद्य मांस, मच्छी वगैरह को त्याज्य, हेय समझ कर उन्हें छूना भी न पसंद करता था और एक उन सब चीजों को ही अपनी मुख्य भोजन समझता था। दोनों ही बालक अपने-अपने अभिमान में डूबे हुए थे। एक तो मानता था कि मैं ब्राह्मण हूँ। और एक मानता था कि मैं तो चाण्डाल हूँ। तो ऐसे ही समझो कि जब मैं अपने में एक व्रतीपने का त्यागीपने का, साधुपने का अभिमान रहता, अहंकार रहता कि मैं साधु हूँ, मुझको तो निरख निरखकर ही चलना चाहिए, मेरे को तो शोध-शोधकर ही खाना चाहिए, सारी क्रियायें बहुत सही कर रहा बाहर की, लेकिन भीतर में जो वह नहीं मान पा रहा कि मैं साधु हूँ, और मैं चेतन हूँ। चैतन्यमात्र हूँ, मैं साधु वाधु कुछ नहीं। यह तो एक गुजारे की स्थिति है वास्तव में तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, इसकी जिसको सुध नहीं है वह एक साधुपने के अहंकार के कारण भले ही इस तरह की नाना प्रवृत्तियाँ करता हो, पर वह मोक्षमार्ग में नहीं है।

**मोक्ष का कारण ज्ञान और ज्ञानस्थिता**— बात यह कही जा रही है कि जैसे किसी को अपनी टंड मिटाना हो तो उसका मूल साधन है अग्नि। मान लो किसी कमरे में या किसी मैदान में अग्नि तापा तो कहीं उस स्थान से टंड नहीं मिटी। टंड मिटने का साधन तो अग्नि है, ऐसे ही मोक्षमार्ग में लगने का साधन तो सम्यग्ज्ञान है। मान लो किसी जंगल में कोई साधु तपश्चरण कर रहा तो जंगल उसके तपश्चरण में मूल साधन नहीं है। मूल साधन है सम्यग्ज्ञान। यद्यपि कोई साधन इस प्रकार का बनाना तो पड़ेगा मगर वह मूल

साधन नहीं है। मूल साधन है सम्यग्ज्ञान। जैसे अग्नि तापने पर जो टंड मिटी उसमें कहीं स्थान के कारण टंड नहीं मिटी किन्तु अग्नि से मिटी, ठीक ऐसे ही जो लोग मोक्षमार्ग में बढ़ रहे वे किसी न किसी भेष में तो रहेंगे ही। जब शरीर है तो कोई न कोई मुद्रा तो रहेगी ही। अब उत्तम मुद्रा है दिगम्बर मुद्रा जिसमें चिन्ता शल्य आदिक कुछ काम नहीं और उस मुद्रा में रहकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करके मुक्ति मार्ग में वह बढ़ जायगा। ठीक है बढ़ा मुक्ति मार्ग में मगर वह उस दिगम्बर मुद्रा के कारण नहीं बढ़ा, किन्तु अपने भीतर जो चैतन्यस्वरूप का कोई प्रकाश है उसके कारण बढ़ा है। यद्यपि उस दिगम्बर मुद्रा बिना बढ़ने का मौका नहीं है। चाहिए वह निर्ग्रन्थ निरारम्भ ही दशा, गात मात्र परिग्रह, अन्य कोई भी परिग्रह साथ न हो, चाहिए वह मुनिदशा ही, मुनि अवस्था हुए बिना मोक्षमार्ग में वह नहीं बढ़ सकता। मगर जो मुनि का बाह्य रूप है उस रूप से नहीं बढ़ा वह मोक्षमार्ग में, किन्तु भीतर में उस सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना हुई उससे वह बढ़ा है। जैसे एक दृष्टान्त लीजिए कि कोई मुसाफिर टंड के दिनों में एक जगह से दूसरे जगह जा रहे थे। रात्रि हो जाने से रास्ते में वे एक पेड़ के नीचे ठहर गए। अब टंड काफी थी सो इधर उधर से लकड़ियाँ बीन कर लाये, उन लकड़ियों को इकट्ठा करके उनमें आग लगाया, मुख से फूँका, कुकड़ू आसन से तापने बैठे और रात्रि भर टंड से बचकर सबेरा होते ही अपने गाँव के लिए प्रस्थान कर गए। तो यहाँ यह देखो कि उनकी टंड मिटी उस आग से न कि उसके सम्बंध की उन अनेक बाहरी क्रियाओंसे/ठीक ऐसे ही समझो कि मुनि का जो बाहरी भेष है मात्र उससे मोक्षमार्ग में प्रगति नहीं हो सकती, किन्तु उसके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए।

**अविकार सहज ज्ञान स्वभावमात्र आत्मा की प्रतीति का महत्त्व—** अब चाहिए तो यह कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष अंगीकार किया जाय, मगर नहीं बनता तो गृहस्थी में रह रहे हैं। वह भी एक धर्म है। मगर चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि, भेष से कर्म नहीं कटते किन्तु अपने सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना से कर्म कटते हैं। तो वह चीज आज गृहस्थ भी पा सकता है। तो ध्यान करना चाहिए उस ज्ञानभाव का जोकि अपने में शाश्वत मौजूद है। उसमें चित्त लगना चाहिए अनुभव होना चाहिए कि मैं तो यह सहज ज्ञानभाव स्वरूप हूँ। इसमें कैसी दृढ़ता हो? जैसे आपका नाम लेकर कोई पुकारे तो आप झट चौकन्ना हो जाते, देखने लगते कि किसने पुकारा। अधसोये हुए भी हों और कोई धीरे से नाम बोले तो भी आप जग जाते कि किसने मेरा नाम लेकर पुकारा। सभी को अपने नाम पर इतनी अधिक आस्था रहती है, अब ऐसी ही आस्था अगर किसी मुनि को अपने मुनिभेष पर रहती है तब फिर कौन सी पुकार चले और अपने भीतर कौन सा निरीक्षण चले कि जिससे मिथ्यात्व न रहे। वह है अविकार सहज ज्ञानस्वरूप। उसमें नाम नहीं भरा हुआ है कि यह अमुक है, यह फलाना है। आत्मा का जो शाश्वत सही स्वरूप है उसमें नाम नहीं पड़ा हुआ है बल्कि ऐसा स्वरूप तो अन्य समस्त जीवों में मौजूद है इसलिए किसी एक नाम से प्रसिद्धि वहाँ होती ही नहीं है ऐसा मैं सहज अविकार ज्ञानस्वरूप यह मैं हूँ, इस प्रकार की भावना बने, प्रतीति बने तो वह मोक्षमार्ग में बढ़ सकता है।

**अलौकिक आनन्दधाम सहजज्ञानस्वभाव की प्रतीति बिना प्राणियों का बाह्य रमण—** इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य यह बतला रहे हैं कि बहिरात्मा जीव संसार में केवल उसी बाहरी लिंग को भेष को धारण करता है जैसा कि साधु का भेष बताया है सो वह घर भी छोड़ देता है, इन्द्रिय के सुख को भी छोड़ देता है, पर उसके अंतरंग में विषयों की लालसा बनी रहती है, और लालसा बनी रहने का कारण क्या है? जहाँ से इसको सत्य शान्ति मिल सके उसका पता न पाड़ सकना, विषयों की लालसा बनी रहने का कारण है।

जैसे कोई भिखारी 8-10 दिन की बासी रोटियाँ अपनी झोली में रखे हो खाने के लिए और उससे कोई कहे कि देख तू इन बासी रोटियों को फेंक दे, मैं तुझे ताजी पूड़ियाँ खिलाऊँगा...तो जब तक उसको मिल न जाये ताजी पूड़ियाँ तब तक उसे उसकी बात का विश्वास नहीं रहता, वह उन बासी रोटियों को फेंकता नहीं है, ऐसे ही समझिये कि बाहर में चाहे घर द्वार कुटुम्ब परिजन का त्याग किया हो, पर जो आत्मा का सही शाश्वत अविकार स्वरूप है उस स्वरूप का अनुभव न पाया हो, वह अलौकिक आनन्द अपने में न मिल पाया हो तो वह विषय सुखों की लालसा को छोड़ नहीं सकता। मन से विषयसुख वासना तब ही छूट सकती है जब कि उससे बढ़िया कोई अलौकिक आनन्द अपने आप में मिल सके। वह अलौकिक आनन्द है आत्मा के अविकार स्वरूप की प्रतीति में, सो वे सब भी पुरुष अंतरंग में विषयों की लालसा रखते हैं इस कारण वे अनेक धार्मिक क्रियाकाण्ड करते हुए भी, सामायिक प्रतिक्रमण वंदन करते हुए भी संसार में बारबार जन्म मरण करमे हैं। तो कुन्दकुन्दाचार्य इस रयणसार ग्रन्थ में यही बात बताते हैं और सभी ग्रन्थों में सभी आचार्यों ने यह बताया है कि धर्म का मूल साधन है आत्मा में यथार्थ स्वरूप का ज्ञान। सो उसको जानने का प्रयत्न कर लें और मैं हूँ, उस अपने सत्त्व का अनुभव कर लें, नियम में मोक्ष मिलेगा। एक यह ही काम अगर न कर पाये तो जैसे बताया है छहढाला में कि “मुनिव्रत धारि अनन्त बार ग्रैवयक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।” याने अनन्ते बार मुनि हुए पर भीतर में मिथ्यात्व बसा रहा, और बड़ी बड़ी तपस्यायें की, शुक्ल लेश्या रखा, समता परिणाम किया तो वह नवग्रैवयक तक उत्पन्न हो गया, पर वहाँ भी उसने शान्ति का लेश नहीं पाया। तो आत्मा के स्वरूप का यथार्थ परिचय यह धर्मपालन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना धर्म होता ही नहीं है।

**मोक्खणिमित्त दुक्खं बहेइ परलोयदिट्ठ तणुदंडी।**

**मिच्छाभाव ण छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि।।58।।**

**अज्ञानी का देहदंडन—** जो जीव अज्ञानी है वह मोक्ष के सुख को कैसे प्राप्त कर सकता है? अज्ञानी का अर्थ क्या है? अपने सहज अविकार चैतन्य स्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसा जिसको ज्ञान नहीं है उसे कहते हैं अज्ञानी क्योंकि मोक्षमार्ग इस आत्मतत्त्व के सहारे चलता है। अपने आपके सहज स्वरूप में मैं का विश्वास जिसे है वह मुक्ति का मार्ग बना सकता है। तो यहाँ अज्ञानी जीव, जिसको परलोक पर भी दृष्टि है कि अगला जन्म मेरा स्वर्ग में हो, देव में हो या कभी मोक्ष की भी बात कहने लगता है कि मेरे को मोक्ष मिले, पर उसे न मोक्ष की श्रद्धा है, न अपने आत्मा की श्रद्धा है, मोक्ष की श्रद्धा नहीं है यह कैसे समझा? मोक्ष कहते किसे हैं, यह बात यदि जानता है तो मोक्ष की श्रद्धा है और यदि नहीं जानता तो मोक्ष की श्रद्धा कैसे? मोक्ष नाम है सबसे मुक्त होने का केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय और सब अन्य परभावों से छूट जाय इसको कहते हैं मोक्ष। तो वह आत्मा ही आत्मा क्या है जो रहता गया? भेद उस ही की दृष्टि में हो सकता है जिसको अपने आत्मा की दृष्टि है। तो अविकार सहज ज्ञान स्वरूप का जिसे परिचय नहीं है ऐसा अज्ञानी पुरुष परलोक में भी दृष्टि करे और शरीर से बड़े काय क्लेश भी करे और मोक्ष के निमित्त अनेक कष्ट भी सहे पर वह मिथ्या भाव को नहीं छेद पाता।

**मोक्षमूल के अपरिचय में विकल्प भ्रमण—** मोक्ष का मूल कितना सुगम, कितना स्वाधीन है, जो करे सो पायगा। मोक्ष का मूल अपने सहज स्वभाव का परिचय पा लेना है। फिर उससे जो कुछ करने का होगा वह सब उसके लिए सुगम रहेगा। जिसने अपने अन्दर की यह गुत्थी सुलझा ली है वह ज्ञानी है। इस ज्ञान के बिना ही तो कषायें जगती हैं। देह में जब आत्मबुद्धि होती है कि यह ही मैं हूँ तो जो बात कहीं प्रतिकूल जगे तो वहाँ क्रोध

उमड़ जाता। देह में आत्मबुद्धि है तो पद पद पर मान उमड़ जाता है और देह में आत्मबुद्धि है तो इस लौकिक मूर्तिक इस भवमूर्ति की इज्जत रखने के लिए मायाचार भी कर सकता है और घर के लोग ही इसके लिए सर्वस्व हैं। जिसके देह में आत्मबुद्धि है, जिसने अपने देह को माना कि यह मैं हूँ वह दूसरे देह को देखकर मानता है कि यह दूसरा जीव है। तो जहाँ पर्याय बुद्धि है वहाँ इसको फिर तृष्णा जगती है। तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें जो प्रचंड होती हैं वे अज्ञानभाव से ही होती हैं। इस अज्ञानभाव को छेदना है तो इस बुद्धिरूपी छेनी को कहाँ पटकना है? पटकना है अपने ही अन्दर में?

### **विशुद्ध चैतन्य स्वरूप होकर भी कर्माक्रान्तता की विडम्बना का अज्ञानवश**

**आह्वान—** यह जीव स्वयं स्वभाव से चैतन्यमात्र है। इस पर अनादि कर्मबंध विपाक से इस उपयोग पर कर्मविपाक छा जाता है। जैसे दर्पण के सामने कोई पर्दा ढका हो तो जैसे उस के अनुरूप फोटो छा जाता है। दर्पण पर ऐसे ही इस उपयोग पर वह कर्मविपाक छा जाता है और उस स्थिति में यह ज्ञानस्वभाव तो तिरोभूत हो जाता। जैसे फोटो आने पर दर्पण का स्वच्छ भाव तिरोहित हो जाता ऐसे ही कर्मविपाक प्रतिफलित होने पर आत्मा की स्वच्छता तिरोहित हो जाती है तो अपने इस सत्स्वभाव की दृष्टि से तो पतित हो गया और जो कुछ इस पर छाया है, विपाक रस पड़ा है उसे ही यह आत्मसर्वस्व मान लेता है और जहाँ इन क्रोधादिक विपाक रस को आत्मसर्वस्व मान लिया तो वहाँ फिर उसके स्वभावोचित चेष्टायें होती रहती हैं। जैसे कोई पुरुष भूत को और अपने को एक मानने लगे जिसे कहते हैं भूत चढ़ आया। मायने उस भूत को और अपने स्वरूप को एक मान लिया। मैं कुछ हूँ अलग सत्ता है। ऐसा चित्त में नहीं है और उसको कर डाले जो मनुष्यों को न करना चाहिए ऐसी चेष्टायें कर डालते हैं। ऐसे ही जब कर्मविपाक से यह जीव घिर गया याने कर्मरस प्रतिफलित हो गया तो उस काल में यह अज्ञानी जीव जिसको कि भेदविज्ञान नहीं है वह उस विपाक को ही आत्मसर्वस्व मान लेता है और विपाक को अपना सर्वस्व मानने का यह ही फल है कि वह क्रोधादिक विकार रूप अपना विकल्प बनायगा, और उससे फिर मन, वचन, काय की चेष्टायें अटपट हो जाती हैं। यह ही संसार में रुलने का साधन है।

**मोक्षाभिलाषियों का मूल कृत्य—** जिसको संसार में नहीं रुलना है, जिसको इच्छा है कि मेरे जन्म मरण की व्याधि नष्ट हो जाय तो उसका यह परम कर्तव्य है कि वह अपने आपमें शोधन करे, यह हूँ मैं चैतन्यस्वरूप और जितने भी विसम्वाद हूँ, चैतन्यस्वरूप से उल्टी बातें हैं वे सब हूँ अतत्त्व। ये मैं नहीं हूँ। मैं चैतन्यमात्र हूँ। जैसे दर्पण पर बाहर के पर्दे जैसी फोटो आती है, पर वहाँ यह सोचा जा सकता कि यह फोटो दर्पण का स्वरूप नहीं है। यह तो एक बिम्ब है। दर्पण तो अंतरंग में स्वच्छ है। अगर स्वच्छता स्वरूप न होता तो यह फोटो भी कहाँ से आ जाती? फोटो पर तो फोटो नहीं आती ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष निरखता है कि जो कुछ भी यह कर्मरस विपाकरस विकल्प जगा कि यह है कर्मविपाक पर तत्त्व, यह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो अंतः आभास मात्र, चैतन्य मात्र स्वच्छता मात्र अन्दर है। अगर वह चेतना स्वच्छता न होती तो ये कर्मविपाक भी क्यों यहाँ झलकते? ये रागद्वेष भी क्यों यहाँ उत्पन्न होते? चेतन में ही तो होते हैं। तो उस चेतन का जो चैतन्यस्वरूप है वह अन्तः प्रकाशमान है। उसको तो ग्रहण करना और जो यह कर्म का आक्रमण है। विपाक है, विकल्प है। उसको छोड़ देना जैसे कोई बहुत बड़ी विपत्ति में फँस जाता है तो वह धीरे से अपने को निकालने का समता से प्रयत्न करता है ऐसे ही यह जीव जब एक कर्म क्रान्ति होने की विपत्ति में पड़ गया है तो जो विवेकी ज्ञानी जीव है वह समता से अपने अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वभाव की दृष्टि रखकर निकल आता

है। कर्म सब वहीं के वहीं पड़े रहते हैं। तो उस अविकार समयसार का जिसने परिचय पाया वह तो संकटों से छूटेगा और जिसको यह परिचय नहीं मिला वह संसार के जन्म मरण पायगा। तो जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है। परलोक में सुख पाने की इच्छा से दुःख सहन करता है, किन्तु मिथ्यात्व भाव है उसको क्षय न हुआ तो वह मोक्षसुख को नहीं प्राप्त करता। परलोक के सुख के लिए अथवा मोक्ष के लिए जैसा कि उसने कल्पना में समझ रखा, बड़े बड़े तप करना, बन में रहना, सर्व परिग्रहों को छोड़ देना, मुनि भेष धारण करना आदि जो कुछ भी वह कर सकता है कर लेता है मगर भीतर की गुत्थी सुलझ न करने से वह प्राप्त नहीं कर पाता। अपने को यह शिक्षा लेना चाहिए कि सुगमता से वह तत्त्व प्राप्त होगा। उस परमार्थ स्वरूप की दृष्टि लेवें कि जिसकी दृष्टि होने पर फिर निश्चित है कि वह संसार के संकटों से छूट जायगा।

**ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं ।**

**सप्यो किं मुवइ तहा बम्मीए मारिए लोए ।।59 ।।**

**अविकार चैतन्य स्वभाव के परिचय बिना विकारक्षय की असंभवता—** मिथ्यात्व बसा हो और लोकरीति से धर्ममार्ग में चलता हो तो जैसी इस लोक में रूढ़ि है। प्रवृत्ति है उस तरह के ही तो भेष या वृत्ति धारण करेगा। सो भले ही करे लेकिन वह तो केवल शरीर को दंड देता है, कषायों का मर्दन नहीं कर पाता। जिसने कषाय रहित आत्मा का स्वरूप नहीं समझा वह कषायों का कैसे मर्दन कर सकता है? अपने आपकी ही सत्ता के कारण अपना जो स्वरूप हो सकता है उस स्वरूप में अपनी आराधना करना चाहिए तो अज्ञानी मोही प्राणी क्रोधादिक को तो दण्ड देता नहीं किंतु शरीर को दण्ड देता है। एक पर्याय बुद्धि, लौकिक बुद्धि, दिल बहलाना, अनेक रीतियाँ होती हैं। कोई विषय भोग के प्रसंग से दिल बहलाता है तो कोई धर्म का नाम लेकर लोकरूढ़ि के अनुसार आचरण करके दिल बहलाता, पर कर्मों का क्षय कैसे हो, किस भाव से कर्म का क्षय होता है, उस भाव का उस दृष्टि का परिचय नहीं है तो वह धर्म के नाम पर शरीर को दण्ड ही दे सकता है, पर क्रोधादिक कषायों को दण्ड नहीं दे सकता। ऐसा पुरुष कर्मों का क्षय कैसे कर सकता।

**देहदंडन से कषाय दंडन का असम्बन्ध—** जैसे किसी बामी को पीटने से कही साँप नहीं पिट जाता ऐसे ही कोई उस आत्मा का घर वर्तमान में थोड़े समय का जो यह देह है, वामी है, उसको मारने से क्या क्रोधादिक दूर हो सकते हैं? नहीं दूर हो सकते। ये क्रोधादिक जीव के उस समय के परिणाम हैं। ये तो हुए मानो सर्प की तरह और यह रह रहा है जहाँ जीव है वहाँ, मायने शरीर में, तो शरीर रूपी बामी को पीटने से क्या क्रोधादिक सर्प पीटे जा सकते हैं? अपने को अकषाय, अविकार, चित्प्रकाशमात्र समझे बिना कषायों पर विजय नहीं हो सकती। देह पर आत्मबुद्धि रखते हुए कोई कहाँ तक गम खायगा, कहाँ तक समता लायगा? वह तो कषाय से आविष्ट ही रहेगा, पर जिसने अपने अविकार चैतन्य स्वभाव की परख की है वह पुरुष सहज अपने आपके स्वरूप में रुचि करके कषायों को दूर कर देगा। जिसने देह को अपना स्वरूप नहीं माना वह बाहर के देहों को भी उन जीवों का स्वरूप नहीं मानता। देखने वाला कौन? जो देखता है वह मुझे देखता नहीं, जो मुझे देखता, वह मुझे पहचानता नहीं। आत्मस्वरूप की दृष्टि करने वाला पुरुष किसी भी परिस्थिति में उपसर्ग हों, वह अपने आपमें अपने अविकार स्वरूप को निरखकर प्रसन्न रहता है।



## कर्मक्षय का कारण अविकार स्वभावाश्रय और तपश्चरण अविकार स्वभावा

**श्रयण का वातावरण—** कर्मक्षय का कारण बाह्य तप नहीं, किन्तु अविकार ज्ञानस्वभाव की आराधना है। बाह्य तप तो एक अभ्यास है। जैसा कि इष्टोपदेश में पूज्यपाद उमास्वामी ने कहा है कि यह पाया हुआ ज्ञान जो बिना कष्ट के पाया गया वह किसी कष्ट के आने पर छूट सकता है। इस कारण से ज्ञानी पुरुष को तप आदिक कष्टों में अपने को लगाना चाहिए, मायने कायक्लेश तपश्चरण ये करता रहेगा तो उसमें इतनी क्षमता रहेगी कि कर्मोदयवश कोई कदाचित्त कष्ट आ जाय तो वह उस कष्ट से घबड़ाया नहीं। तो मुख्य तत्त्व है अपने आप में अपने अविकार स्वरूप में लगाव लगाना। दूसरी बात चित्त में न सोचना। हाँ रहते हैं जनता के बीच में, घर में तो वहाँ उचित कार्य तो करें पर श्रद्धा गलत न होने पावे। अपनी श्रद्धा के अनुसार यदि कार्य न बन सके तो आगे बनेगा मगर श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाने में तो फिर तिरने का कोई साधन नहीं रह सकता। तो जैसे लोगों को अपने नाम में एक लगाव रहता है कि मैं यह हूँ तो यह लगाव न रहे किन्तु मैं चैतन्यमात्र हूँ ऐसा स्वरूप में लगाव रहे तो वह पुरुष कष्ट से विकल्प से अब भी छूटा है और कष्ट विकल्प की मूल (जड़) नष्ट हो जायगी तो सदा के लिए मुक्ति मिलेगी।

**कष्ट से छूटने का एकमात्र उपाय—** भैया कष्ट से छूटने का उपाय बस एक यही है कि अपने सही स्वरूप का विश्वास रखना। सही स्वरूप के ज्ञाता पुरुष कषायों को दूर कर देते हैं और अपने ज्ञानरति से तृप्त हुआ करते हैं, किन्तु अज्ञानीजन परलोक के सुख की इच्छा से नाना प्रकार के कष्ट तो सह लेंगे पर भीतर में अपने शान्ति के धाम सहज इस चित्तप्रकाश का अनुभव न कर पायेंगे। मेरा कहीं कुछ नहीं है, इस बात को दृढ़ता से श्रद्धा करके चलें, जैसे गप्प से बात बात से तो केवल पेट नहीं भरता। भोजन करने से ही पेट भरता है, यह बात सब लोग जानते हैं। ऐसे ही मात्र वचन से, कथन से वह भीतर में स्वच्छता नहीं आ पाती, किन्तु वैसी भावना, वैसी दृष्टि अपने आप का निरखन होने से अपने में स्वच्छता जगती है। प्रयोग करें अपने आप में एक इस तरह निरखने का कि मुझ पर जो कुछ गुजर रहा है विकल्प, सुख दुःख रागद्वेष यह सब कर्मरस की छाया है। यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं इनको न अपनाऊँ, इससे निराला जो चैतन्यप्रकाश है उस रूप ही मैं अपने को अनुभवूँगा, ऐसा कोई दृढ़ उत्साह बना ले तो वह पार हो जायगा, अन्यथा बताओ कि जैसे अनादि से अब तक जन्म संकट सहते चले आये ऐसे ही बने रहे तो क्या इसमें नफा है या जैसे सिद्ध भगवंत अपने शुद्ध धर्मास्तिकाय कम अपने स्वरूप में ही बस रहे हैं जहाँ न अब कोई तरंग है, न कभी तरंग उठ सेकगी, एक स्थिर विशुद्ध परमात्मतत्त्व हुआ है, तो ऐसा होने में लाभ है, थोड़े ही जीवन में मन को स्वच्छंद करके यथा तथा मन, वचन काय की चेष्टायें करके इस पाये हुए दुर्लभ अवसर को व्यर्थ खो देने में भलाई नहीं है।

**अज्ञानी द्वारा क्रोध चाण्डाल का आदर—** ये अज्ञानी पुरुष क्रोधादिक कषायों को तो मारते नहीं हैं, और शरीर को दण्ड देते हैं याने सहज व्रत तप कायक्लेश, कष्ट इनको तो सहता है, शरीर को तो दंडित करता है, मगर भीतर बसी हुई कषायों को दंडित नहीं करता। एक कोई साधु किसी सड़क के किनारे बैठा हुआ था तो वहीं पर एक भंगिन झाड़ू दे रही थी। उसके झाड़ू देने से कुछ धूल साधु के ऊपर भी उड़ कर आ रही थी। तो वहाँ वह साधु क्रुद्ध होकर बोला—अरे तू यहाँ झाड़ू क्यों दे रही? तुझे दिखता नहीं कि यहाँ साधु जी बैठे हैं और उनके ऊपर धूल पड़ेगी...तो वहाँ वह स्त्री बोली कि आपने मेरे पति को अपने घर में रख छोड़ा है तो कैसे मानूँ। मैं तो यहाँ झाड़ू दूँगी। तो साधु आश्चर्य में आकर बोला—अरे कैसा मेरा घर और कैसे तेरे पति को अपने घर में रख छोड़ा, यह मेरी

समझ में नहीं आता। तो वह स्त्री बोली—महाराज सुनो लोग मुझे चाण्डालिनी कहते हैं और इस तरह से मेरा पति हो गया चांडाल। वह चांडाल है क्रोध। इस क्रोध चाण्डाल को तुमने अपने घर में बिठा रखा है तब फिर कैसे मैं यहा रहकर सफाई न करू? तो मतलब यह है कि यह क्रोध तो इस साधु का दुश्मन है। इस सम्बंध में एक टूटा फूटा श्लोक लोग बोला करते हैं—“पक्षीनां का चाण्डालः पशूनां गर्दभः। मुनीनां कोप चांडालः, सर्व चांडाल निन्दकः।” याने पक्षियों में चांडाल कौवा, पशुओं में गधा, मुनियों में क्रोधी मुनि और सबसे अधिक चांडाल दूसरे की निन्दा करने वाला। तो ये अज्ञ पुरुष जिनको देह में ही आत्मा का भान है वे जैसी चाहे चेष्टा कर लेते हैं, कभी शुभ चेष्टा भी करें तो भी अज्ञान से ही शुभ चेष्टा की तो उसका फल तो भीतर में अज्ञान का ही मिलगा। बाहरी चेष्टा तो एक थोड़ी भीतरी भाव का फल है। तो अनेक साधु सन्यासीजन अपने अविकार आत्म-स्वरूप का परिचय तो नहीं करते, अपने भीतर पड़े हुए काम, क्रोधादिक कषायों को तो नहीं निकालते तो फिर उनकी इस वृत्तिसे उन्हें मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकेगा।

**उवसमतवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होइ।**

**णाणी कसायसवसगो असंजदो होइ सो ताव।।60।।**

**ज्ञानी भावसंयमी की भी कषायवश संयमच्युति—** ज्ञानी पुरुष मोह को उपशान्त कर चुके हैं, दूर कर चुके हैं, तपश्चरण से युक्त हैं, ये भाव संयमी होते हैं, उन्होंने अपने अविकार ब्रह्मस्वरूप का अनुभव किया। मैं यह हूँ यह भावसंयम है। उनकी दृष्टि अपने अंतः प्रकाशपर ही पहुंचती है। ऐसा जब तक यह ज्ञानी होकर भी कदाचित कषाय के वश होता है तो वह असंयमी हो जाता है। भले ही भेद विज्ञान पाया; अपने अंतरंग स्वरूप का अनुभव किया, किन्तु इसमें स्थिर भी तो होना चाहिए। स्थिर न होने देने वाला कर्म है कषाय। सो कषायों के उदय होते हैं और वह कषाय में व्यग्र हो जाय तो वह पुरुष असंयमी हो जाता है। इससे एक बार ज्ञान भी प्राप्त हो जाय तो यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह मेरा सम्यग्ज्ञान स्थिर बना रहे, इस ज्ञानभाव से मैं न चिगूँ। इस जीव का शरण है तो यह ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है। बाहरी पदार्थ का संग इस जीव का शरण नहीं है, मगर अज्ञान दशा में आ गया तो जैसे जिसका दिमाग पागल हो गया वह तो कोई अटपट बकेगा, उसको कोई मित्र नहीं बनता, ऐसे ही जिसकी बुद्धि बिगड़ गई, मिथ्या-ज्ञान में बस गया तो उसे भी कोई शरण नहीं दे सकता, तो मेरा शरण है केवल मेरी ज्ञानदृष्टि, तो मोह को शान्त करके क्षोभ से मुक्त होकर भावसंयम बने और ऐसे ज्ञानस्वरूप का दर्शन करते रहने का अभ्यास करे तो वह पुरुष कर्मों का क्षय करने में समर्थ है, और जो बाहरी स्वरूप को देखकर ही क्षोभ में आ जाय और अपने आपके स्वरूप की सुध छोड़ दे वह पुरुष संसार के संकटों से मुक्त नहीं हो सकता। इससे अपनी दृष्टि इस प्रकार सहज स्वरूप में रहनी चाहिए जिससे कि अपना शरण अपना भगवान परमात्मतत्व अपने निकट रहे, क्योंकि शान्ति मिलेगी तो अपने ही ब्रह्मस्वरूप की सम्हाल से मिलेगी, बाह्य पदार्थों की सम्हाल में तो सैकड़ों झंझट बसे हैं। उन्हें करना क्या है? एक अपने आपके स्वरूप की सम्हाल। ऐसा अगर एक दृढ़ निर्णय हुआ हो तो यही है अच्छे होनहार की निशानी।

## रयणसार प्रवचन 'उत्तरार्द्ध'

णावी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि वोल्लए अण्णाणि ।

“वेज्जो भेसज्जमहं जाणे इति णस्सदे वाही ।।61।।”

**ज्ञान का परिचय**— इस रयणसार ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्न को वर्णन है, रत्न मायने श्रेष्ठ। रत्न मायने पत्थर नहीं किन्तु पत्थरों में श्रेष्ठ निकले तो उसे भी रत्न कहने लगे। मनुष्यों में श्रेष्ठ हो तो मनुष्य रत्न, तो भावों में श्रेष्ठ क्या है? अपने आत्मा के सही स्वरूप की पहिचान और उस ही का ज्ञान और उस ही में रमण यह है उत्कृष्ट भाव। आत्मा का सही स्वरूप क्या है? तब यह मैं हूँ प्रत्येक के भीतर मैं हूँ तो जो मैं हूँ, सो अपने आप हूँ या किसी दूसरे को लेकर हूँ। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे से मिलकर 'है' नहीं बनता। एक एक वस्तु अपना अस्तित्व रखता है और उनकी मिलावट होने से ये दिखने वाले सकंध हो जाते हैं तो मैं हूँ अपने आप हूँ स्वयं सत् हूँ, दूसरे से मिलकर सत् नहीं हूँ। तो जो मैं स्वयं सत् हूँ वह केवल पदार्थ क्या? ऐसा अन्तः मनन करना चाहिए। वह केवल मैं क्या? एक शुद्ध ज्ञान ज्योति स्वरूप दर्पण तो स्वयं अपने में स्वच्छ है, पर सामने कोई वस्तु आ जाये तो दर्पण विकृत मलिन हो जाता है। तो ऐसे ही यह मैं आत्मा जगत के सभी आत्मा स्वच्छ निर्विकार ज्ञान मात्र तत्व हूँ, पर अनादि से अज्ञान बसाकर कर्म बंध साथ रह रहा, औपाधिक विपार का उदय सामने आता है और वह सब झलक कर मेरे को गंदला कर देता है वह गंदला नहीं करता किन्तु उनका सम्बंध पाकर यह मैं स्वयं गंदला हो जाता हूँ। जैसे दर्पण के सामने कोई लाल। कपड़ा किया तो दर्पण ने कपड़े को लाल नहीं किया। कपड़ा तो अपनी जगह ही बना हुआ है मगर ऐसा योग है कि दर्पण के सामने जैसी वस्तु हों वैसी इसमें फोटो अपने में अपनी परिणति से आती है, ऐसे ही पहले बाँधे हुए कर्म का उदय आया कि उस काल में इस जीव का अपने आप वैसा विकल्प बनता है। वह विकल्प औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो अविकार ज्ञानानन्द रस से भरा हुआ हूँ। ऐसी जिसको दृष्टि हुई है अनुभव हुआ है इस रूप अपने को माना है उसे कहते हैं ज्ञानी।

**ज्ञान की बात बोलकर भी अज्ञानी की अपात्रता**— ज्ञान की कोई बात करे चर्चा करे श्लोक पढ़े व्याख्यान दे, उसके मायने ज्ञानी नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान स्वभाव को अपने ज्ञान में अनुभव करले उसे कहते हैं ज्ञानी। कहो ऊंचे से ऊंचे विद्वान और वैज्ञानिक ज्ञानी न बन सकें और एक पशु या पक्षी जो मन वाले पञ्चेन्द्रिय हैं उनमें से कोई विरला ही यह अन्तर्दृष्टि पाये तो वह ज्ञानी बन जाय। कोई लौकिक ज्ञान बहुत पाये उसे ज्ञानी नहीं कहा किन्तु जो अपने ज्ञान स्वरूप को यह मैं हूँ ऐसा लखकर अनुभव करले, मग्न हो ले दूसरी कोई वस्तु उस आत्मा में बाधक न हो ऐसी वृत्ति वाला पुरुष ज्ञानी कहलाता है। ज्ञानी को महिमा का कौन वर्णन सकता? जो वास्तव में ज्ञानी हो, जो ज्ञानी है सही, उसको बाहर की चीज कुछ सुहाती नहीं है ज्ञात दृष्टा रहता है। पर अपने आप में बस ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा अनुभव रहता है। वह तो है ज्ञानी और केवल उद्वण्ड पुरुष चाहे व्रती साधु भेष भी रख ले और कहे कि ज्ञानी कर्म से नहीं बँधता तो ज्ञान तो वास्तविक है नहीं अनुभवात्मक और ज्ञानी कर्म से नहीं बँधता है। कोई बहाना लेकर अपने में स्वच्छंद रहे तो ऐसा पुरुष निवाण को पायगा ही। क्या वह दुर्गति पायगा? नहीं! तो ज्ञानी कर्म का भय करता है ज्ञानबल से ऐसा बोलता हुआ अज्ञानी केवल बोलता ही है पर मुक्ति के मार्ग को नहीं पाता। जैसे कोई वैद्य ऐसा कहे कि मैं दवाई जानता हूँ तो इतने मान से रोग दूर हो जायगा क्यों? अरे इतना जानने मात्र से व्याधि से दूर न होगी। वह व्याधि (रोग) तब दूर

होगी जब की उस औषधि का सेवन किया जायगा। तो ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान मात्र है, इतना बोल देने मात्र से या थोड़ा जान लेने मात्र से जन्म मरण की परम्परा दूर न होगी, किन्तु ज्ञान में ज्ञान स्वरूप का अनुभव बने ऐसा ज्ञानबल होता उससे कर्मों का क्षय होता है।

**“पुव्वं सेवई मिच्छामलसोहण हेड सम्ममेसज्जं।**

**पच्छा सेवइ कम्मामयणा सण चरिय सम्मयेजज्जं।।62।।”**

हाँ पहली गाथा में बताया था कि ज्ञान मात्र से व्याधि दूर नहीं हाती तो ऐसे ही समझो कि धर्म के तत्व की बात जान लेने मात्र से जन्म मरण के संकट दूर नहीं होते, किन्तु उस ज्ञान को अपने ज्ञान में उतारे और अपने को निर्विकल्प अनुभव करें तो इस परम्परा समाधि के बल से रोग दूर होता है, जन्म मरण का संकट दूर होता है, तो उसी दवाई को इस गाथा में कर रहे हैं। सबसे पहले तो मिथ्यात्व मल के शोधन के हेतु सम्यक्त्व रूपी औषधिका सेवन करें। कोई रोग हो जाता है तो वहाँ चतुर वैद्य क्या करता है। कि पहले पेट साफ करने का इलाज सोचेगा। मल शोधन का इलाज सोचेगा। तब ही तो कितनी ही बीमारियाँ कम हाने से, दस्त होने शान्त हो जाती हैं। तो मल शोधन की पहले दवाई देता है चतुर वैद्य ऐसे ही मिथ्यात्वमल के शोधन की दवाई यहाँ बताया है सम्यग्दर्शन। बुद्धि सही होने लगे मूढ़ता न रहे पचे। मैं ज्ञानमात्र हूँ मेरा जानन काम है। मैं जानता रहूँ बस यह ही मेरा स्वरूप है धर्म है, इसमें कोई इष्ट अनिष्ट की बुद्धि बना ले तो वह बंधन में पड़ जाता है। तो पहले अपनी सदबुद्धि बनानी चाहिए। सदबुद्धि के मायने यह है कि जगत में अणु-अणु सब स्वतंत्र अपना अस्तित्व लिए हुए हैं, ऐसी पहले परख बनना चाहिए। जैसा जो कुछ ये दिख रहे हैं स्कंध इसको लोग क्या कहते? मायाजाल कैसे माया कहलायी सो तो बतलाओ? काहँ बैठा है वह मायातत्व और कैसे वह अपना विश्वास करता है? सोचना तो चाहिए। माया मापने क्या? केवल एक वस्तु रहे तो वह माया नहीं, और जहाँ दो या अनेक चीजें मिलकर कोई रूप रखलें उसका नाम है माया।

माया माया तो बहुत लोग बोलते हैं पर माया का स्वरूप क्या है और किस कुञ्जी से जाने कि यह माया का यह स्वरूप है या, याने जो नहीं मापने यह तत्व है अपने अंतः प्रकाश मान जो यह अंतस्तत्व है सो यह यो। यह नहीं है और जो यह नहीं है सो वह यह है केवल माया और केवल वे दो बातें समझना चाहिए। केवल तो परमार्थ है और माया अभूतार्थ, असत्यार्थ और मिथ्या है केवल एक तो कभी मितेगा नहीं। एक का तो भंग कभी होगा नहीं, पर दो या अनेक मिले हुए हों तो उनका तो भंग हो जायगा। वे तो बिखर जायेंगे, पर एक कभी बिखर नहीं सकता। तो जो बिखर जाय, विनश जाय, रूपान्तर हो जाय वह सब माया है, और जो एक है केवल है वह कभी बिखरता नहीं। वह तो इकाई है, मिलावट तो नहीं, वहाँ मिलावट में भी जो इकाई है ऐसा परमार्थ है वह नहीं मिटता इगर मीट मीट गिर ई, मिट गई तो क्या परमाणु मिट गए? उन परमाणुओं का मिलकर जो एक यह रूप बना रखा है वह रूप न रहो तो माया रहती नहीं है। अनेक पदार्थों का मिलकर रूप बना उसका नाम माया है, तो सो इस माया में जिसको हितबुद्धि लग गई बस यह ही मिथ्यात्वमल है जो केवल एक सत् को जाने उसके चित्त में मोह नहीं डखहर सकता मोह अज्ञान में ही डगहरता है। ज्ञान जगने पर मोह रहता नहीं है। वह कौन सा ज्ञान है जिसके जगने पर मोह नहीं रहता। वह यह ज्ञान है। प्रत्येक पदार्थ को केवल जितना वह स्वरूप सत्त्व में है। उतना माने कि यह है परमार्थ चीज, यह है असली चीज और उनका मिलकर जो भी रूप बन गया, पशु पक्षी, मनुष्य, भीट वगैरह जो जो भी बन गए वह सब माया हैं। तो इस माया में आत्मबुद्धि रखने का नाम है मिथ्यात्व। सो इस मिथ्यात्व रूपी

मल का शोधन करने के लिए सम्यक्त्व रूपी औषधि को सेवन करो। इसके बाद कर्म रस को दूर करने वाले चारित्र्य रूप उत्तम औषधि का सेवन करो। इसकी चीज बतायी जा रही सम्यक्त्वाचरण और संयमा चरण।

**कल्याणलाभ के लिये सम्यक्त्वाचरण कि प्रथम आवश्यकता—** सही ज्ञान होने पर जो अपने आप सहज वैराग्य और ज्ञान होता है वह तो है सम्यक्त्वा-चरण और बाह्य प्रसंगों से हटकर एक अपने आत्मा में ही मग्न होने का पौरुष चलता है वह है संयमाचरण। तो यहाँ उपदेश में बताया क्रम कि पहले तो सम्यक्त्वाचरण की औषधि का पान करो जो मिथ्यात्व मल को शोध देवे, उसके पश्चात् फिर कर्म मल को नाशने के लिए संयमाचरण चारित्र्य पालो। पहले सफाई करो फिर आनन्द से रचना करो। पहले आत्मा में सफाई करो फिर आनन्द से अपनी रचना बनाओ। तो पहले आवश्यक है कि यह निरखें कि एक-एक अणु पृथक्-पृथक् अपनी सत्ता लिए हुए है। प्रत्येक जीव केवल अपने सत्त्व में है। इसका कुछ कारण तो बतलाओ कि जो यह मान रखा है कि यह तो मेरा लड़का है, यह तो मेरा अमुक है, उसका कारण तो बतलाओ, कैसे होयगा आपका? केवल कल्पना बनाया है कि यह मेरा है, उससे कहीं हो नहीं गया आपका। तो इस मायामलका शोधन करने के लिए सम्यक्त्वाचरण है। इसके पाने के बाद सूक्ष्म से सूक्ष्म कर्म को मानो ढूँढ़-ढूँढ़ करके उसका विध्वंस करो, यह है सम्यक् औषधि जैसे धुनिया एक किलो रुई को धुनता है तो उसको वह इस तरह से धुनता कि इसमें से कोई भी अंश अछूता न रह जाय। एक-एक जरी देख देखकर उसको धुन डालता है तो ऐसे ही ज्ञानी जीव सर्व मिथ्याभावों को धुन डालता है। तो यों संयमाचरण औषधि है। संयम का तो रखना है ध्यान कि मैं कब संयमी होऊँ कब समस्त रागद्वेषों से दूर बनूँ और सम्यक्त्वाचरण में अपने आत्मा के सहज स्वरूप का आभास लेना चाहिए।

**तत्त्वबोध और वैराग्य से ही शान्ति लाभ—** कोई दो मित्र थे तो उनमें परस्पर यह विवाद हुआ परलोक के बारे में—एक कहे कि परलोक कुछ नहीं और एक कहे कि परलोक है, देर तक यही विवाद चलता रहा। अन्त में जब एक यह बात आयी कि वह कौन सा उपाय है कि जिससे यह जीव शान्त हो सके? तो बताया कि विषयों में प्रवृत्ति बढ़ाने से कभी शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो निवृत्त होने में है। अपने आप में अपने अविकार सहज चैतन्य ज्योति का अनुभव करने में शान्ति मिलती है। सो परलोक पर हो रही थी बहस। बहस होते होते अन्त में यह निर्णय आया कि देखो परलोक है अथवा नहीं कुछ देर को यह विचार भी छोड़ दो और वर्तमान की शान्ति तो देखो कि यह कैसे मिलती? क्रोध न करें, घमंड न करें, मायाचारी न हों, तृष्णा का लोभ न बढ़े ऐसी वृत्ति से कोई रहता है तो वह तो सन्मार्ग पाता है और जो सोचता कि जीवन पाया, जो चाहे खार्येपिये, जैसे चाहे रहें, आखिर यह जीवन है काहे के लिए? जो इस तरह से मानता है वह संसार में रुलता है। तो वह परलोक वादी कहता है कि तत्काल तो शान्ति मिल ही गई। कु व्रत से रहे, संयम से रहे, आत्मध्यान में रहे तो अगर परलोक नहीं है तो न सही, इस भव में तो सुखी शान्त हो लिया और परलोक अगर हुआ तो यहाँ का व्रत तपश्चरण यह सार्थक हो जायगा। मतलब यह है कि परलोक है या नहीं इस विषय में उलझने की अपेक्षा वर्तमान में उत्तम कार्य करना चाहिए, फिर तो पुनर्जन्म सफल ही हो गया। और यदि नहीं है पुनर्जन्म तो वर्तमान में तो शान्ति मिल ही गई। यह तो आगम के अभ्यास से ज्ञात होगा कि अपना शान्ति धाम कौन है और वह कैसे मिलता है। वर्तमान में तो इस उपाय से मिल ही गया। तो यों पहले सही सही जानें कि मैं क्या हूँ और फिर उसी ही रुचि बन जाय, मिलजाय, तो ऐसे सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण से आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है।

**“अण्णाणी विसय विरतादो जो होइ सयसहस्सगुणो ।  
गाणी कसाय विरदो विसयासत्तो जिणुद्धिट्ठ ।।63 ।।**

**ज्ञान की ही उत्कृष्टता—** एक ऐसा अज्ञानी है जो सर्व परिग्रहों को तो छोड़ देता है कुछ भी साथ नहीं रखता। विषय साधनों को छोड़ दिया नग्न दिग्म्बर भेष तक आ गया वह चूँकि अज्ञानी है, अतः उससे तो विषयरत कपायविरत ज्ञानी सहस्रगुणा अविकार है अज्ञानी सांसारिक सुखों का लोभी है, आशक्त है तो वह पुरुष ज्ञानी गृहस्थ से अच्छा नहीं किन्तु बुरा है। कषायों से विरक्त किन्तु विषयों में आशक्त हुआ, ऐसा ज्ञानी पुरुष अज्ञानी पुरुष से अच्छा है। उस ज्ञानी पुरुष ने तो ज्ञान की महिमा जानी। ज्ञान से ही सर्व पदार्थों को स्वतंत्र सत्त्व में देखा। उससे लाभ क्या है? मोह नहीं रहता, और सभी लोग कहते हैं कि यह मोह दुःख की खान है, और यह मोह न रहे बिल्कुल तो इससे बढ़कर और धर्म लाभ क्या? मोह का नाश करने के लिए अनेक तरकीबें लोग लड़ाते, प्रभुभक्ति करते, अनेक प्रकार केविधिविधान समारोह करते, सब कुछ करते किन्तु वे ज्ञान का फल नहीं पा पाते। अज्ञान से ही तो परका सम्बंध जुटा है और ज्ञान बढ़ जायगा जो सम्बंध को कौन जुटायगा? कोई मनुष्य ऐसे व्यक्ति को ज्ञानी बोलते हैं जिसने अपने आपको बड़ा धर्मात्मा स्वीकार कराया। उसके वैसे धर्मात्मापन के वचन और धर्मात्माप की चेष्टा देखकर लोग उसे ज्ञानी मानते, पर वैसे बोलने से वह उस प्रकार की चेष्टायें करने से उसे लाभ थोड़े ही मिल जाता, बल्कि अपने में कोई गुण प्रकट हो गया हो उसका यदि वह अपने मुख से बोल दे तो वह गुणहीन हो जाता है, उसका प्रभाव महत्व दूर हो जाता है, तो बोलने मात्र से ज्ञानी नहीं कहते, किन्तु जो अपने आत्मस्वरूप को ज्ञान में अनुभव करे उसको ज्ञानी कहते हैं। सो ऐसा ज्ञानी पुरुष सहज वैराग्य में हैं। यद्यपि प्रायोगिक रूप से उस पर थोड़ा ही चल सकते, फिर भी सही ज्ञान हो जाने से वह अपने आप में परमात्मतत्व का अनुभव करता है। सो अज्ञानी पुरुष कितना ही देह को दंड दे तपश्चरण करे, व्रत करे, त्याग करे लेकिन वह ज्ञानी के मुकाबले नहीं हो सकता। ज्ञानी चाहे त्याग न कर सके मगर भीतर के ज्ञान से यह स्वभाव विभाव की संधि टूट गई तो उसको जो एक अलौकिक आनंद जगता है उस आनन्द से कर्म झरा करते हैं। तो ज्ञान सहित वैराग्य हो। अगर वैराग्य नहीं है, कषाय निवृत्त नहीं होते तो समझो कि उसको ज्ञान नहीं जगा, किन्तु एक ऊपरी ज्ञान की बात कर रहा।

**यथार्थ ज्ञानबल से उत्तरोत्तर विशुद्धि—** भैया, सर्वप्रथम ज्ञान को पक्का बनायें श्रद्धा को सही बनायें। धर्म के लिए यह कार्य करना है मुख्यतया। देखो कितना सुगम कार्य है। ज्ञान के द्वारा सोचना है। ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, इस स्थिति के बनाने में संकट क्या? खुद है, खुद ऐसा चल दे। संकट तो मोह में आता है, ज्ञान में संकट नहीं जिसको मान लिया यह 'मैं' यदि वह पास है, अनाकुल है तो वहाँ यह शान्ति समझता है मगर वह सब मायारूप है अपने आत्मा का जो एक अविनाशी स्वरूप है वह कमी धोखा नहीं देता। वह सदा अपने साथ है, पर उस पर दृष्टि न दे कोई तो उसको शान्ति का लाभ नहीं मिलता तो एक तो सहज विरक्ति और एक बनावटी विरक्ति। गबनावटी विरक्ति से संसार का सुख भी गया और भीतर मोक्ष की बात भी नहीं मिल पाती। सही ज्ञान हो, अन्तः विरक्ति हो तो वह मोक्ष मार्ग में स्थित है। अब अपनी अपनी सोच लो, कितना मोह में पड़े हैं, कितना मायाचार बना रखा है, किन-किन लोगों पर आशा लगाया है, अपने इस विशुद्ध अंतस्तत्व को जो परख लेता है वह ज्ञानी है, वह ज्ञानी है, चाहे पवित्र हो, चाहे अपवित्र हो, चाहे अच्छे आसन से बैठा हो चाहे खोटे आसन से, पर उसके मन में यदि यह सहज ज्ञानस्वरूप समाया है तो वह पार हो जायगा और जो अपना ज्ञान स्वरूप ज्ञान में न आया

तो बाहर में कितना ही व्यायाम कर लिया जाय, पर कर्म का क्षय रंच भी नहीं होता। जैसे महिमान का आदर करें तो वह रहेगा और न आदर करें तो वह न रहेगा, अपनी जगह चला जायगा ऐसे ही पहिले बाँधे हुए कर्मोदय महिमान बनकर आ रहे हैं। यदि इन कर्मोदयों को आदर दें तो ये बंधन में पड़ेंगे और इस कर्मोदय के केवल ज्ञात रहे, इन में आशक्त न हों तो बंधन से छूट जायेंगे। तो देह से भी निराले रागादिक दोषों से भी निराले केवल चैतन्य मान चिद्ज्योतिमात्र यह मैं अंतस्तत्व हूँ। यह अनुभव परम औषधि है और अपने कर्तव्यों में से सारभूत रत्न यही है। अपने आप की सही श्रद्धा रखकर बाह्य पदार्थों के विकल्प छोड़ कर अपने में शान्ति का अनुभव करना चाहिए।

**“विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।**

**चागो वेरग्गविणा एदेदो वारिया भणिया।।64।।”**

**भक्ति हीन विनय की व्यर्थता की भाँति वैराग्य हीन त्याग की व्यर्थता—**

इस गाथा में यह बतलाते हैं कि यदि वैराग्य नहीं है तो त्याग निष्फल है। त्याग का प्रयोजन तो है यह कि अन्दर में किसी भी बाह्य पदार्थ से राग न रहे क्योंकि राग से कर्मबंध होता है, राग न रहे तो कर्मबंध नहीं होता, राग और विराग इनमें बंध अबंध है। त्याग तो इस राग और वैराग्य की साधना के लिए है। सो बतलाते हैं कि जैसे भक्ति के बिना विनय व्यर्थ है। कोई पुरुष संकोच से लज्जा से, भय से या किसी भी कारण से विनय तो दिखाये और हृदय में भक्ति नहीं है तो यह विनय व्यर्थ है क्योंकि उस भक्ति से कुछ लाभ नहीं है क्योंकि हृदय में भक्ति नहीं है, बल्कि छल का दोष है और जिस के प्रति विनय की जा रही है उसका कोई लाभ नहीं तो भक्ति के बिना विनय व्यर्थ है। विनय का रूपक कैसा था पहले और कैसा बिगड़ कर आज रह गया। पहले समय में गुरुओं को जो गृहस्थ हैं, पण्डित हैं, साधुओं की बात भी नहीं कह रहे हैं दंडवत प्रणाम करते थे और चिट्ठी में अब भी बहुत से लोग दंडवत प्रणाम लिखते हैं।

तो उस दंडवत प्रणाम का अर्थ है पैरों में गिरकर पड़ जाना माने पूरा लेटकर प्रणाम करना। (यह लौकिक बात बोल रहे) फिर यह घट कर कितना रह गया? झुककर सिर नवाकर प्रणाम करना, फिर यह भी मिटा तो क्या रह गया कि खड़े ही खड़े प्रणाम करना, फिर यह भी मिटा तो क्या रह गया कि खड़े ही खड़े हाथ जोड़ कर सिर नवा लेना। जब इतना भी मिटा तो क्या रह कि सिर तो पेड़ की तरह सीधा रहे और हाथ जोड़ लेना। इतना भी मिटा तो क्या रह गया एक हाथ सिर पर लगा लेना, यदि उल्टा हाथ मस्तक पर लगायें तो वह हो गया एक आधुनिक रूप और सीधा लगायें तो पता नहीं कि वे अपने कर्म ड़्खीक रहे या क्या कर रहे। (हँसी) और इतना तक भी मिटा तो हाथ वाथ कुछ न जोड़ना, सिर्फ खड़े ही खड़े प्रभु का नाम ले लिया। जब इतना भी मिटा तो प्रभु नाम भी न लेना किन्तु बाबू जी, सेठ जी...यों बोल देना, यह हो गया प्रणाम। जब इतना भी मिटा तो जब सामने आते देखा तो जरा सा एक ने खिलखिला दिया जरा सा दूसरे ने खिलखिला दिया, यह हो गया विनय, और इतना भी मिटा तो यह रह गया कि एक दूसरे के गालों को हाथ लगाकर (थप्पड़ जैसा मानकर) विनय कर लिया। विनय का संबंध भक्ति से है। बाहरी विनय कम हो और आन्तरिक भक्ति हैं तो उसका लाभ है कि भक्ति करता रहे और अंतरंग भक्ति नहीं है तो ऊपर से कितना ही विनय हो उसको लाभ नहीं होता तो यहाँ दृष्टान्त दिया जा रहा है कि जैसे भक्ति के बिना विनय व्यर्थ है इसी तरह वैराग्य के बिना त्याग व्यर्थ है।

**स्नेहहीन महिलाओं के रुदन की भाँति वैराग्यहीन त्याग की बनावट—**

दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे स्नेहहीन महिलाओं का रुदन व्यर्थ है स्नेह तो है नहीं प्रीति

तो है नहीं, मगर दुनिया को दिखाने के लिए प्रीति वाला रुदन करती। जैसे अक्सर विदा होते समय बड़ी उम्र की महिलायें भी रोती हैं। यद्यपि उनको भीतरी में उल्लास है, खुशी है कि अच्छे मौके पर हम अपने घर पहुँच रही हैं फिर भी बाहरी रूप में ऐसा दिखावा करना पड़ता है कि मानो उन्हें जाने में बड़ा दुःख हो रहा। तो जैसे स्नेहहीन महिलाओं का रुदन व्यर्थ है ऐसे ही वैराग्य बिना त्याग व्यर्थ है। वैराग्य बिना त्याग की विडम्बना भी होती है। वह कब तक त्याग निभायेगा। भावुकता में आकर त्याग ले लिया पर उस त्याग का निभाना तो मुश्किल होता है। वैराग्य नहीं है और त्याग किया तो पीछे अटपट परिणाम होने लगते हैं।

**“सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।**

**बेरग्गणाणसंजम हीणा खवणा ण किंवि लब्भंते।।65।।”**

**शौर्यहीन सुभट की भाँति वैराग्यज्ञानसंयमहीन साधुवों की अशोभा—** इस गाथा में बतला रहे हैं कि साधु की शोभा संयम से है। संयम हीन व्रत तप पालन, जीव दया पालन, सब का भला विचारना, कभी किसी का बुरा न विचारना यह सब संयम कहलाता है। संयम नहीं तो साधु क्या? संयमी की एक प्रगट मुख्य पहिचान है कि वह जूता पहिने बिना चलेगा। एक सीधी पहिचान बताया। जूता पहिने बिना भी चाहे साधु न हो, पर जो जुता पहिने वह साधु नहीं। जिस साधु के चित्त में दया है, सद्भावना है तो वह जूता कभी न पहिनेगा क्योंकि जूता पहिन लेने से कई बातें आती हैं। एक तो जीव दया का भाव नहीं रहता, क्योंकि चले जा रहे हैं सिर उठाये चोट लगने का भी डर नहीं, नंगे पैर हों तो चोट लगने के ख्याल से भी देख कर चलें। दूसरी बात वह नम्रता, सरलता नहीं रह पाती। उससे कुछ एक गर्व जैसी स्थिति होती है। अब आप देखना अगर कोई गृहस्थ जूता पहिन कर चलता तो उसकी गर्व जैसी स्थिति नहीं हो पाती क्योंकि गृहस्थों को तो जूता पहिनने का रिवाज है और रीति है, मगर साधु के पैर में जूता वगैरह हो तो वहाँ न कुछ चित्त में मद आ जाता है। तो पैर में जूता न पहनना यह संयमी पुरुष की एक सीधी पहिचान है। संयमी पुरुष के हृदय में सब जीवों के प्रति प्रीति है, नम्रता है, सरलता है, ऐसे ही साज श्रृंगार करना शरीर को सजा कर रखना या बड़ी अनोखी ढाल चाल से रहना ये बातें नहीं होती साधु में, दिखावट, बनावट, सजावट, ये तीन बातें साधु में नहीं होती। ये तीनों बातें तो गृहस्थों में कुछ होती है। और गृहस्थ लोग कहते भी हैं कि ऐसा किए बिना गृहस्थी में गुजारा नहीं चलता, करना ही पड़ता है। कोई विरक्त चित्त हो तो उससे कुछ कम रहता है मगर साधु के ये तीनों चीजें अगर रहें तो वहाँ साधुता नहीं है क्योंकि उसे क्या फिक्र?

**धर्म रुचि में अन्य सत्कार पुरस्कार की उपेक्षा रुचि—** वेदान्त की एक टीका में एक कथा आयी है कि कोई गुरु शिष्य थे, वे बड़े एकान्त प्रिय थे। वे किसी पहाड़िया पर रहते थे। उनका चमत्कार कुछ ऐसा फैला कि पास पड़ोस के बहुत से लोगों का उनेक पास आना जाना शुरु हो गया, यहाँ तक कि वहाँ का राजा भी हाथी पर सवार होकर एक बड़े समूह के साथ उनका दर्शन करने पहुँचा। वहाँ जब उन दोनों संन्यासियों ने देखा कि राजा आ रहा है तो आपस में सलाह किया कि अब तो अपने ऊपर एक आफत आ गयी, अपनी शान्ति में बड़ा भंग होगा। पर क्या करें? एक उपाय है कि जब राजा यहाँ आ जावे तो अपने दोनों परस्पर में रोटियों के विषय में लड़ने लगें वह दृश्य देखकर राजा वापिस लौट जायगा और अपने लोग तमाम झंझट से बच जायेंगे। ठीक है ऐसा ही किया जायगा। आखिर जब राजा वहाँ आया तो वे दोनों रोटियों के संबंध में झगड़ने लगे अरे तुमने आज कितनी रोटियाँ खाया? 10 रोटियाँ खाया...और तुमने? ...सिर्फ दो रोटियाँ खाया...अच्छा तो



कलके दिन हम 10 रोटियाँ खायेंगे तुमको दो ही मिलेंगी। इस प्रकार की रोटियों के संबंध में वार्ता सुनकर राजा ने सोचा कि ये काहे के साधु जो रोटियों पर झगड़ते? झट लौट गया। बस फिर वे सन्यासी शान्ति पूर्वक रहने लगे, अनेक झंझटों से बच गए। तो ऐसा करने के लिए हम अनुमोदना नहीं कर रहे किन्तु बात यह कह रहे कि साधुजनों के धर्मसाधना के प्रसंग में संकोच, लाज, ये सब नहीं रहते, उन्हें तो केवल अपने धर्म से ही प्रेम रहता है। साधुजनों में कोई दिखावट, बनावट सजावट का काम नहीं होता, वे संन्यासी होते हैं। तो जैसे शूरता के बिना योद्धा शोभ को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार संयम के बिना साधु शोभा नहीं पाता।

### **शौर्यहीन सुभट की विडम्बना की भाँति वैराग्य हीन साधु की विडम्बना—**

जिसमें वीरता नहीं शूरता नहीं, उत्साह नहीं बल नहीं, साहस नहीं, वह योद्धा योद्धा ही क्या है वह सफल नहीं हो सकता, उसकी कोई शोभा नहीं। उसे कोई बड़े आदर से नहीं देखता और जिसमें शूरता, उत्साह आदि है उसको लोग बड़े आदर से देखते हैं। (यह एक लौकिक बात कह रहे) एक ऐसा ही महाभारत युद्ध संबंधित चुटुकला आया है कि कोई पुरुष रोज—रोज अपनी स्त्री से अपनी शूरता की डींग मारा करता था मैं ऐसा बहादुर हूँ...। जब महाभारत का युद्ध छिड़ा तो उस स्त्री ने कहा देखिये अब अपने सभी देशवासी लोग इस युद्ध में भाग ले रहे हैं तो तुम भी युद्ध में जावो और अपने देश की रक्षा करो। तो वह स्त्री के बार—बार कहने से युद्ध में चला तो गया और वहाँ जाकर किसी मुर्दा मनुष्य की टाँग (पैर) उठाकर ले आया और स्त्री से कहा देखो हमारी शूरता को, हम युद्ध में गए और एक आदमी का पैर काट लाये...। तो स्त्री बोली अरे पैर ही क्यों लाये? शूरता तो आपकी इसमें थी कि शत्रु का सिर काटकर लाते। तो वह पुरुष बोला—‘अरे यदि सिर होता तो उसकी टाँग (पैर) काटकर मैं कहाँ से ला सकता था।’ तो शूरता बिना जैसे योद्धा शोभा को नहीं प्राप्त होता इसी प्रकार संयम के बिना साधु शोभा को नहीं प्राप्त होता। साधु में अगर ज्ञान और वैराग्य नहीं है तो उसकी साधुता नहीं निभती। वह तो इन्द्रिय विषयों में अपने मन को लगायगा। कहाँ तक वह अपने मन को रोक सकेगा। जैसे किसी सभा में किसी स्त्री का कोई बच्चा रोने लगे तो उस बच्चे की माँ कहाँ तक उस बच्चे का मुख दबाये रहेगी? उससे कहीं उस बच्चे का रोना बंद न हो जायगा इसी प्रकार यदि वैराग्य नहीं है तो व्रत तपश्चरण आदिक बन नहीं सकते।

**वैराग्यहीन बाह्य वेश की विडम्बनायें—** भैया, क्या कारण है कि कितने ही लोग कोई अपराध अगर कर चुके हैं तो उसको छिपाने के लिए संन्यासी का रूप रखकर और किसी तीर्थ क्षेत्र में पहुँचकर वहाँ भी अनेक प्रकार की गड़बड़ बातें करना शुरू कर देते, किसी का धन छीना किसी स्त्री को धोखा दिया, ऐसी घटनाओं से अन्य सन्यासियों का भी अपवाद होने लगता। कितनी ही घटनायें ऐसी मिलती हैं। खैर उनकी बात उनके हाथ मगर वैराग्य के बिना साधुता नहीं निभ सकती। इसी तरह ज्ञान के बिना साधुता नहीं निभती, क्योंकि ज्ञान नहीं है तो वैराग्य टिकेगा कहाँ से? ज्ञान हो तो वह आत्मा में रमण करके दिन बिता ले और जिसको ज्ञान तो है नहीं अपने आत्म स्वरूप का और बाहरी चीजें सब छोड़ दी, साधु हो गया तो वह अपना समय कैसे काटेगा? ज्ञानी, साधु संत तो एकान्त में बैठकर भी अपना समय निकाल लेते हैं। तो लोगों को यह आश्चर्य होता कि इन के पास कोई नहीं, धन भी नहीं, लोग भी नहीं ये कैसे चौबीसों घंटे अपना समय निकालते होंगे। पर मोहियों को यह पता नहीं है कि उनके साथ भगवान रह रहा, और वे भगवान को साक्षी करके अपना समय आनन्द में बिता रहे। तो जैसे साधु के ज्ञान नहीं हैं तो वह

साधु शोभ को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार संयम नहीं है तो भी उसको कोई शोभा नहीं। तो तीन बातें रहनी चाहिए साधु में वैराग्य, ज्ञान और संयम।

**धर्मवेश रखकर असंयमप्रवर्तन के अपराध कर कटुता—** यह रयणसार ग्रन्थ है, जिसे संस्कृत में कहेंगे रत्नसार इस में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन है। तो चारित्र संबंधी बात यहाँ कही जा रही है कि चारित्र बिना साधु की कोई शोभा नहीं। यदि कोई संयम हीन, ज्ञान हीन, वैराग्य हीन साधु से अपराध बने तो उससे धर्म का भी अपवाद होता है और लोग कहने लगते हैं कि इस धर्म वाले साधु या व्रत तप करने वाले ये साधु ऐसे होते हैं, यह क्या धर्म है? यह धर्म तो दूसरों को धोखा देने वाला है यहाँ तक भी बोलने लगते, पर उन्हें यह पता नहीं कि धर्म कभी धोखा नहीं देता, किन्तु धर्म की ओट में पाप क्रिया की जाती वह पाप अनर्थ करता है, धर्म अनर्थकारी नहीं, पर धर्मात्मा का रूप रखकर, फिर जो पापभाव किया जाता, पापक्रिया की जाती वह अनर्थ की चीज हैं, किन्तु पाप इतना चालाक है कि यह अपनी चालाकी का पता ही नहीं लगने देता, ढोंग, माया, कपट ऊपर से अपनी सरलता की मूर्ति बनाना। जब जैसा मौका तब तैसा बन जाता, यह क्या है? पाप भाव। यह पाप भाव इतना चालाक है कि यह तो बच जाता है साफ और धर्म का नाम बदनाम कराता है।

**धर्म की ओट में पाप का प्रसार पर एक दृष्टान्त—** एक ऐसा ही कथानक है कि एक किसान के पास तीन बैल थे। सो दो बैलों को तो वह प्रतिदिन खेतों में काम करने के लिए ले जाया करता था और एक बैल को अपने घर की ही आँगन में बाँध जाया करता था वही भीट में एक अलमारी थी। उस अलमारी के अन्दर वह अपना खाना बनाकर रख जाया करता था। एक बार किसान तो अपने खेतों में काम कर रहा था, इधर एक बंदर धर में आया, अलमारी खोला और खाना खाया, बाद में कुछ खाना बैल के मुख में भिड़ा दिया और चला गया। किसान जब घर आया, बैल का मुख खाना से भिड़ा देखा और अलमारी के अन्दर रखा खाना खत्म देखा तो समझा कि इस बैल ने मेरा सारा खाना खा लिया तो उसने बैल को काफी पीटा। दूसरे दिन फिर उस बंदर ने वैसा ही काम किया तो बैल फिर पीटा, यही काम कई दिन चला तो बैल को वह किसान प्रतिदिन खूब पीटता रहा। एक दिन कुछ लोगों ने उसे समझाया कि अरे इस बैल को क्यों पीटता? यह मर जायेगा तो तेरा सब काम बिगड़ जायेगा। और एक बात यह तो समझ कि अलमारी खोलकर यह बैल खाना खा जाय वह बात कुछ हमारी समझ में नहीं आती। तुम तो लुक छिपकर देखो कि यह काम कौन और कैसे करता? आखिर किसान की समझ में बात आ गई और एक दिन लुक छिपकर देखा तो क्या देखा कि एक बंदर आया, अलमारी खोला। खाना खाया और बाद में कुछ खाना बैल के मुख में पोत दिया तब किसान ने सारी बात समझ लिया और अपनी भूल पर उसे बड़ा पछतावा हुआ। तो जैसे वह बंदर बड़ा चालाक था अपनी चालाकी से खुद तो साफ बच जाता और बैल पीट जाता ऐसे ही यह पाप बंदर भी बड़ा चालाक है। खुद तो अपनी चालाकी से साफ बच जाता और इस धर्म की पिटाई कराता, मायने लोगों में एक ऐसी आस्था बनवा देता कि इस धर्म में कुछ नहीं है, इस धर्मवाले लोग यों किया करते हैं। ले भाई वह धर्म ही नहीं है, धर्म तो अहिंसा भाव है।

**विकारहीन भाव में अहिंसापन—** अहिंसा भाव का अर्थ है अपने परिणामों में विकार न आना। जिसके परिणामों में विकार न आयेगा वह बाहर में किसी दूसरे को दुःख देने वाला काम कैसे करेगा? लोग तो बाहर की बातें देखकर कि इसको दुःख नहीं दिया तो इसने अहिंसा पाल ली पर इतने से अहिंसा नहीं पली किन्तु अपने मन में विकारों को न आने देना यह अहिंसा का पालन है। अहिंसा का पालन हस्त पैरादिक की क्रियाओं से नहीं

किन्तु भावों से होता है। जिसके मन में विकार है, दूसरे के घात का भाव है उसको हिंसा हो गई और घात का परिणाम किया, हिंसा का भाव किया उसकी ऐसी चेष्टा हुई कि उससे दूसरे के प्राण नष्ट हो गए इसलिए पाप लगा। मगर उन्हें यह पता नहीं कि मन में घात का भाव आया, संकल्प विकल्प बुरे रहे इसलिए पाप लगा। कहीं दूसरे के प्राण जाने से या कष्ट पाने से पाप नहीं लगा। भीतर में जो एक वेग जगा उससे पाप लगा। जिसके भीतर में बेग जगता है उसके ऐसी चेष्टा होती है, इसलिए कहा जाता है कि इस चेष्टा से पाप का बंध होता वस्तुतः अपने परिणाम से ही बंध है, बाहरी प्रवृत्ति से बंध नहीं है। तो वैराग्य, ज्ञान और संयम से हीन साधु शाभा को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य तो भावों की चीज है, वह आँखों दिखने की वस्तु नहीं।

**अज्ञानी लोगों की दिखावा से प्रभावितता—** दिखावा में बैराग्य नहीं है, राग है तब तो यह दिखा रहा है। दिख जाय लोगों को पता पड़े वह बात तो अलग है, मगर यह दिखावट बनाया तो समझों कि अवश्य राग है, इसी प्रकार ज्ञान की भी बात आज के समय में क्या कही जाय? उसकी तो मिट्टी पलीत सी हो रही, आजकल तो कोई ऊपरी-ऊपरी मन पसंद बातें सुनायें जो सुनने में प्रिय लगें, जिनसे दिल बहले, तों उसको लोग मानते कि यह बड़ा ज्ञानी है, बड़ा विद्वान है—और जो वास्तविक ज्ञान है उस ज्ञान की आज कोई कदर भी नहीं। तो कदर कैसे हो? ज्ञान को कोई जाने तो ज्ञान की कदर हो जब ज्ञान ही नहीं समझा थोड़ा अनुमान रूप कि इस इस प्रकार के प्रभाव वाली चीज है, थोड़ा भी अनुमान हो बड़े ज्ञान का भी वह अनुमान कर सकता है। तों ज्ञान भी जो आज दिखता है उससे यह सही बात न मिल पायेगी कि सचमुच में यह ज्ञान है या अज्ञान है और संयम की भी बात ऐसी है। जो स्वयं सहज बने वह है संयम और जो भारी सोचकर कष्ट उठाकर विकल्प और ख्याल बढ़ाकर संयम की वृत्ति हो तो वह संयम क्योंकि उसको वह राग लगा है, और पर्याय बुद्धि लगी है, मैं साधु हूँ मुझे इस तरह से बोलना चाहिए, ऐसी भी भावना अगर आती है तो वहाँ तो सम्यक्त्व ही नहीं, संयम की चर्चा कौन करे? साधु के मन में यह भाव नहीं आता कि मैं साधु हूँ और साधु को ऐसा करना चाहिए, किन्तु उसकी वृत्ति ही सहज ऐसी होती है कि जो साधु के द्वारा की जाने वाली होती है। मेरा तो मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, ब्रह्म स्वरूप हूँ, प्रतिभास मात्र हूँ, यह बुद्धि रहती है, तो वैराग्य ज्ञान और संयम ये वास्तव में यदि हैं तो उससे साधु की शोभा है।

**‘वत्थु समग्गो मूढो लोही लब्भइ फलं जहा पच्छा।**

**अण्णाणी जो विसयारत्तो ण लहइ तहा चेव।।66।।**

**धनिक मूढ लोभी की भांति अज्ञानी वेशी की दशा—** इस गाथा में यह बात बतला रहे हैं कि अज्ञानी पुरुष त्याग वृत्ति का फल नहीं प्राप्त कर सकते। देखिये धर्म का मूल है अपने आत्मा के सत्य स्वरूप का परिचय पा लेना। आत्मा का सत्य स्वरूप क्या है कि जो आत्मा में अपने आप बिना दूसरे के संबंध के स्वयं सहज बात हो, वह है आत्मा का स्वरूप। ये ख्याल, विकल्प, विचार, कषाय जो कुछ भी चल रहें हैं ये आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। एक बार एक भाई ने हमसे कहा कि महाराज भी हमें यह बताओ कि साधुओं को गुस्सा क्यों झट आ जाता है? तो हमने कहा कि भाई तुम ही बताओ तो उसने वही बात कहा जो हमें भी कहनी थी क्या कि उस साधु के मन में यह भाव भरा रहता है कि मैं साधु हूँ, मुनि हूँ, मैं इन सब में ऊंचा हूँ, ऊंचे पद मैं हूँ, इन सब लोगों को इस तरह से विनय करता हूँ और मैं इसी लायक हूँ और यह ऐसा ही होना चाहिए, ये सारे विकल्प बसे हुए हैं, और ऐसा जब हो नहीं पाता तो उसको क्रोध जगता है। तो पर्याय बुद्धि तो साक्षात् अधर्म है चाहे वह कैसे ही भेष में हो, पर जिसको शरीर में आत्म बुद्धि है, यह हूँ मैं और

शरीर के सहारे ही मैं अमुक हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि का कुछ भी एक श्रद्धा रूप में विकल्प रखे तो उसे ब्रह्मस्वरूप परिचय नहीं और वह धर्म धारण का पात्र भी नहीं। धर्म की बात समझने के लिए इतनी तैयारी होनी चाहिए कि जितनी तैयारी लोंग धन कमाने के लिए करते हैं। अन्य कोई धन वैभव काम न देंगे और यह धर्म काम देगा? पर लोगों का तन, मन, धन, वचन सब कुछ इस धन कमाने के लिए लगा रहता है, धर्म के लिए तन, मन, धन, वचन में कुछ नहीं लगते, मानो कदाचित् ऊपरी बातों की, पूजा भी कर लिया, कुछ जाप कर लिया, कुछ भी किया तो उन बातों में धर्म तब ही है जब उसको अपने आत्मा के सहज स्वरूप का बोध है, और कोई ऐसा न भी कर सके और ज्ञान की रुचि हो तो उसको धर्म होगा। तो बतला रहे यह कि जैसे मूर्ख और लोभी मनुष्य संग्रह भर कर पाता है पर उसे भाग नहीं सकता प्राप्त किए गए पदार्थ का फल नहीं पा सकता क्योंकि वह लोभी है ऐसे ही अज्ञानी पुरुष तपश्चरण करे तो उसका फल नहीं और विषयों में आशक्त रहे तो उसका भी फल नहीं। केवल वह अभिलाषा ही करता रहता है।

**‘वत्थु समग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ ।**

**णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चैव ॥67॥’**

**ज्ञानी पुरुष द्वारा फल की उपलभ्यमानता—** पहले बताया गया था कि अज्ञानी जीव लोभी मनुष्यों की तरह कछ तप वगैरह अर्जन करके भी फल कुछ नहीं पाता अब यहाँ उसके विपरीत बतला रहे हैं कि जो ज्ञान से सहित हैं ऐसे विषय परित्यागी पुरुष साधु इस प्रकार फल को प्राप्त करते हैं जैसे कि सौभाग्यशाली सुविधाबानी ज्ञानी सुपात्रदान करने वाला गृहस्थ फल को प्राप्त करता है। इस रयणसार ग्रन्थ में प्रथम तो श्रावक की मान्यता से आचार का वर्णन किया था, अब साधुजनों के लिए आचार की बात बतला रहे हैं। तो यहाँ पूर्व में जो बताया गया था श्रावकों के लिए कि सुपात्र का दान करता है कोई भक्तिभाव से तो वह अच्छी गति को प्राप्त होता है उत्तम फल पाता है। तो जैसे कोई श्रावक वस्तु समग्र वाला सुपात्रदान के प्रभाव से उत्तम लाभ पाता है इसी प्रकार विषयों का परित्यागी ज्ञानी साधु उत्तम फल प्राप्त करता है। जीव अमूर्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति आनन्दमय एक भाव स्वरूप पदार्थ है। वह अपने आप में भावों को ही करता है इसके अतिरिक्त कोई भी बाह्य पदार्थ कर्ता नहीं होता। तो बतला रहे कि जो विषयों का परित्यागी साधु वह ज्ञानबल से लाभ पाता है जिसके ज्ञान है वह विषयों को कहाँ तक लादेगा? जैसे कि जब ज्ञान प्रकाश होता है तो क्रोधादिक आश्रव निवृत्त होते ही हैं और जैसे जैसे ज्ञानप्रकाश बढ़ता है वैसे ही वैसे आश्रव से निवृत्ति होती है, आश्रव से निवृत्ति जैसे जैसे वृद्धयंगत होती है वैसे ही वैसे ज्ञान की पूर्ति भी होती जाती है। वह ज्ञान ज्ञान नहीं जिसके होने पर आश्रव लौटते न हों।

**कल्याण को पाय लाभ की सुगमता व स्वाधीनता—** जो ज्ञान ज्ञानस्वभाव को छूले वह ज्ञान ज्ञान कहलाता है, कल्याण उपाय कितना सुगम है। उसमें अधिक पढ़े लिखे विद्यावान की भी बात नहीं है, ये पशु पक्षी कहाँ किसी पाठशाला में पढ़ते हैं किन्तु उनमें भी जिनका होनहार भला है उन्हें ज्ञान स्वभाव का ज्ञान हो जाता है, सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। तो पढ़ना लिखना तो भला है उससे और भी स्पष्टता होती है कषाय मंद हो, भाव विशुद्ध हों तो उसको ये सब लाभ प्राप्त होते हैं जीव में सबसे बड़ा दुर्गण तो कषायों की हट रखने का है। कषाय तो ज्ञानी के भी होते। राग का राग मायने वह राग पंसद आ गया और ऐसा राग मुझे सदा काल मिलता रहे मैं बहुत भला हूँ ऐसा राग का सुहाजाना यह राग का राग है। यह प्रकट मिथ्यात्व है और राग हो रहा और सुध आ रही राग रहित

स्वरूप की यह ज्ञानी की कला है। कैसी एक विचित्र घटना है कि दृष्टि तो स्वभाव पर जा रही है और परिस्थिति मन वचन काय की चेष्टा चल रही भिन्न ज्ञान का अपार बल होता। **ज्ञानी की जलतें कमलवत् विवित्रता**— जो स्वभाव दृष्टि कर रहा उस ज्ञानी की यह दशा है कि जलतें भिन्न कमल हैं जो ज्ञानी पुरुष है वही विषयों से मुख मोड़ सकता है सच्चे मायने में हर एक कोई नहीं। कैसा स्पष्ट निर्णय है अविकार ज्ञान स्वभाव की महिमा जिसने जाना और अविकार ज्ञान स्वभाव की अनुभूति के ही लिए जिसका दिल तरस रहा है, जिसका मन कर रहा, वही मात्र एक जीवन में कर्तव्य जिसको दिख रहा, ऐसा ज्ञानी पुरुष परिस्थितिवश कर्मक्रान्त दशा में मन, वचन, काय की कुछ चेष्टायें भी करते तो भी वह जलतें भिन्न कमल हैं, इस प्रकार से रहता है। एक दृष्टि की तो बात है पहले समय में महिलायें कुवें से पानी भर कर लाती थीं और सिर पर दो तीन घड़े रखकर लाती थी। अब वे महिलाएं परस्पर वार्ता करती चली जा रही हैं, दो तीन घड़े सिर पर हैं, दो हाथ में भी लेकिन उन घड़ों को हाथ से छुवे भी नहीं है जो सिर पर रखे हैं मगर बात करती जायेंगी और बात करने में कुछ आँठ भी फड़कते, थोड़ा सिर भी मटकता मगर वह इस तरह से मटकता कि वे घड़े नहीं गिर सकते हैं। ऐसी स्थिति में सब क्रियायें होते हुए भी उनकी मूलदृष्टि उन घड़ों पर होती ऐसे ही ज्ञानी पुरुष कर्म विपाक दशा में कुछ बोल भी रहे कुछ चिन्ता भी कर रहा, कुछ व्यापार में भी लग रहा मगर दृष्टि है सदा अपने आपके अविकार ज्ञान स्वरूप की।

**धर्मतत्त्व का आत्मा में परीक्षण**— जो अपने में धर्मात्मा पन की बात सोचता हो उसको यह परीक्षा करना चाहिए अपनी कि मेरे को रात दिन के 24 घंटे में दो चार घंटे अपने अविकार ज्ञान स्वरूप की दृष्टि होती या नहीं। मैं यही मात्र रहूँ ऐसी भावना और परिणति बनती या नहीं। अगर भावनों ही नहीं बन रही तो व्यर्थ में धर्मात्मापन का अहंकार करके पाप क्यों कमाये जा रहे हैं? अपनी त्रुटि अपनी दृष्टि में रहे उसका तो भला हो जायेगा। त्रुटि होने पर भी अपने को महान समझे और उस पर गौरव माने तो उसको रास्ता नहीं मिलने का। तो अपने आप में यह खोज बनाना चाहिए कि मेरी अविकार स्वरूप पर कुछ कभी दृष्टि जाती है या नहीं जाती है। धुन जिसको अविकार ज्ञान स्वरूप की लग गई है उसकी है यह चर्चा कि चारित्र मोह के उदय में उसे सब कुछ करना पड़ रहा है। तो भी उससे निर्लेप है। तो ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयों का परित्याग करने वाला उत्तम फल को प्राप्त करता है। जैसे कि सुपानदानी ज्ञानी पुरुष उत्तम फल को प्राप्त कर लेता है।

**‘भू—महिला, मणयाई लोहाहि विसहरो कंहं पि हवे।**

**सम्मत्तणाण वे रग्गोसहमंतेण सह जिणुद्धिट्ठ।।68।।’**

लोभ है विषधर भयंकर विष वाला सर्प जैसे सर्प दुःखदायी होता है घर में जरा दिख भी जाय किसी कमरे में तो रात को उस कमरे में सोने की हिम्मत नहीं होती। चाहे वह सर्प कहीं का कहीं चला जाय मगर बार—बार उसका ख्याल बना रहने से नींद नहीं आती है। ऐसा दुःखदायी है, और जिसे डस ले तो बहुत कम पुरुष ऐसे होते हैं जो बच पाते हैं यदि तेज विष वाला सर्प हो तो उसके काटने पर कोई बचता नहीं, मगर विषधर विष को भी बचा सकते हैं मंत्र, तंत्र, सिद्धि, औषधि द्वारा ऐसे ही पृथ्वी कास्त्रीकास्वर्णादिक का जो लोभ है वह विषधर के समान दुःखदायी होता है उसे नष्ट किया जा सकता है तो सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य रूपी औषधि और मंत्र से औषधि सेवन करने पर उसका ऐसा निमित्त नैमित्तिक भाव है कि जैसे ही उस औषधि का सार नसों में व्याप्त होता है वैसे ही विष रस बदल जाता है तो विष के विरुद्ध जो औषधि दी जाती है वह उस विष को नष्ट कर देती है खाये हुए का

असर नसाजाल में अधिक हो तो नसाजाल उसी में बनता है। तो विषधर का विष भी दूर हो जाता है।

**ज्ञान मंत्र का प्रभाव—** जैसे विषधर का विष दूर हो जाता है वैसे ही ज्ञान मंत्र से मोह लोभ सब कलंक विष नष्ट हो जाते हैं। कोई साधक मंत्र पढ़ा रहा है और मंत्र पढ़ने वाले हाथ से कुछ क्रियायें भी करता है तो कहीं उसका कुछ असर उस सर्प से उसे हुए पुरुष में जाता नहीं है पर कैसा एक निमित्त नैमित्तिक भाव है कि वह तो मंत्र पढ़ रहा है और वहाँ विष दूर हो जाता है। यह भी एक अद्भुत शक्ति है और शक्ति क्या है? मंत्र शक्ति मायने आत्मशक्ति एक विश्वास आत्मा के बल का अद्भुत चमत्कार है वह सरल तो बने मायाचार रहित तो बने सर्व जीवों के सुख का अभ्यासी तो बनें दूसरे की प्रतिष्ठा देखकर ईर्ष्या तो न करे ऐसा हृदय बने तो उसमें बल स्वयं विकसित होता है, प्रसिद्धियाँ विकसित होती हैं। रागद्वेष, विषय कषाय इनका अभाव हो और आत्मा के गुणों का विकास हो, ये सब आत्मा के चमत्कार हैं तो जैसे मंत्र बल से विष का हटाव हो जाता है ऐसे ही ज्ञानबल से इन लोभादिक विषयों का हटाव हो जाता है। धन्य है वह पुरुष, धन्य है वह जीव जिसकी दृष्टि निज अविकार ज्ञानस्वरूप में जाय और उसे अपना माने उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों को भिन्न समझे। यह बात जिसके उपयोग में समायी है वह पावित्र है ऐसा ज्ञानी पुरुष लोभ विषधरके विष को दूर कर देता है।

**पुर्वं जो पंचेदिय तणु मणुवचि हत्थपायमुंडाउ ।**

**पच्छा सिरमंडाउ सिवगइ पहणायगो होई ।।69 ।।**

**पंचेन्द्रिययादि मुण्डनपूर्वक शिरोमुण्डन की प्रतिष्ठा—** मोक्षमार्ग में गमन करने का अधिकारी कौन है, इसका वर्णन इस गाथा में किया जा रहा है। जो पुरुष पहले तो पंचेन्द्रिय, शरीर, मन, वचन, हाथ पैरादिक को मुड़ावे याने इनका मंडन करे, इनके वश में न रहे इनके श्रृंगार की बात न सोचे पहले तो अपनी इन्द्रियों का मण्डन करे पीछे फिर जो केशों का मुण्डन करता है। वह मोक्ष मार्ग का पथिक होता है। भाव यह है कि एक केश लोंच देकर हटा देने में या बाहरी कोई भेष बनाकर रह लेने में मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है। मोक्ष मार्ग मिलता है सम्यग्ज्ञान से और सम्यग्ज्ञान की स्थिरता बनने से/तो जिसको यह स्थिरता बनती है वह निर्ग्रन्थ मार्ग से चलकर ही बना पाता है। वह एक बाह्य साधन है। निमित्त भी नहीं किन्तु एक आश्रयभूत जैसी चीज है, पर कर्म नष्ट होते हैं तो ज्ञान बल से नष्ट हुआ करते हैं। कोई सा भी मामला हों।

**बात थी कितनी सी जड़ में व बात भी कितनी सी करनी—** एक भजन में ऐसा छंद आया है कि “बात थी कितनी सी जड़ में, हो गया कितना बतंगड़” यह उस छंद में पहली लाइन है, इसमें कहा कि देखो जड़में (मूल में) कितनी सी बात थी शरीर को मान लिया यह मैं कोई कहे कि यह कोई इतना बड़ा गुनाह तो नहीं किया लोक दृष्टि से कि उसे प्राणदण्ड मिले या उसे लोग बहुत-बहुत बुरा कहें। वह बैठा है अपने आप में और धीरे से भीतर ही चुपके से स्वीकार भर कर लिया देह को कि यह मैं हूँ तो यह कोई बड़ा अपराध नहीं जचेगा। तो बात थी कितनी से जड़ में हो गया कितना बतंगड़। कितना बतंगड़ बन गया, एकेन्द्रिय में जन्म ले, नरक में जाय, निगोद में जाय, कीड़ा मकोड़ा बने और कैसे-कैसे दुःख भोगे, यह सब विडम्बना बनती है जरा सी बात में कि इस देह को मान लिया कि यह मैं हूँ। बात तो जरा सी नहीं है पर केवल उत्साह के लिए, एक रास्ता निकालने के लिए बात कही जा रही है। इसमें बात भी कितनी सी करनी, दूर होगा सब भदंगड़। यह सारा का सारा बतंगड़ बना देहात्मबुद्धि करने से मगर यह सब भग जायगा

जरा सी बात करने से जरा और निकट आये इस देह से हटकर और ज्ञान स्वरूप अतस्तत्त्व में अनुभव बनाये कि यह हूँ मैं, इतना सा काम करना है। यह कोई बड़ा काम है क्या? तकलीफ का काम है क्या? एक बैठे ही बैठे भीतर में यह सोच लिया जाय कि यह हूँ मैं अविकार ज्ञान स्वरूप बस इतनी सी बात आनी चाहिए कि यह सारा का सारा बतंगड़ दूर हो जायगा।

**अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासना का महत्व—** कल्याण का रास्ता तो बिल्कुल साफ है, बहुत सुगम है और अद्भुत शान्ति और आनन्द का देने वाला है। मगर उस बात को करने में जैसे कहते हैं लोग कि चीं बोल गया। बच्चे खेलते हैं कोई ऐसा खेल कि जिस में पकड़ले और वह कह दे कि मैं हार गया तब उसे छोड़ना, तो हार गया शब्द न बोलना किन्तु वही कह दे कि मैं हार गया तो यह चीं बोलना हार गए का पर्यायवाची शब्द है। तो जैसे वही चीं बोल गया ऐसे ही आत्मकल्याण के मार्ग में चलना तो बिल्कुल सुगम बात है। कोई कठिन बात नहीं पर इतनी भी सरल बात करने में चीं क्यों बोल दिया जाता है। अनन्त काल तक संसार के संकट सहना तो मंजूर है पर एक आध सेकेण्ड को सारे विकल्पों का बोझ हटाकर अविकार ज्ञानस्वरूप में मग्न होना। यह मंजूर नहीं हो रहा। यह कितने बड़े अपराध की बात है। तो मोक्षमार्ग में वहीं पुरुष गमन करता है जिसको अपने अविकार ज्ञानस्वरूप का परिचय हो गया, सो ही कह रहे यहाँ पर कि भाई पहले तो 5 इन्द्रिय शरीर मन, वचन, काय, हाथ पैरादिक इनका मुंडन करें, जिसने सिर का मुण्डन किया उसके लिए आवश्यक है कि पहले इनका मुण्डन करें, प्राकृत भाषा में मुंडन शब्द दिया है जिसका अर्थ है केशलुञ्ज किया, मुंडन किया। तो पहले इन्द्रिय का मुंडन करे फिर मुंडन करें अपने सिर का तो वह पुरुष मोक्षमार्ग का नायक बनता है, अर्थात् कषायों को नष्ट करना, विषयों से निवृत्त होना, यह प्रधान काम है।

**“पति भक्तिविहीण सदी भिच्चो य जिणभक्तिहीण जइणो।**

**गुरु भक्ति विहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुग्गओ णियमा।।70।।”**

**पतिभक्ति विहीन सती एवं मृत्यु की तरह जिनगुरु भक्ति विहीन शिष्य की दुर्गति—** गुरुभक्ति बिना गति नहीं है यह बात इस गाथा में कही जा रही है। जैसे पति की भक्ति से रहित सती स्त्री दुर्गति के मार्ग में संलग्न है और मालिक की भक्ति से रहित नौकर दुर्गति के मार्ग में संलग्न है इसी प्रकार जिनेन्द्र देव की भक्ति से रहित पुरुष दुर्गति के मार्ग में संलग्न है और विशेषतया इस गाथा में जो बताया जा रहा कि गुरु की भक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न है। एक गुण कल्याणार्थी में यह होना ही चाहिए कि वह अपने सिर पर किसी बड़े को माने और उसके निर्देश में अपनी धर्मव्यवस्था बनाये। इससे एक तो कभी असन्मार्ग नहीं बनता, दूसरे अपने में अभिमान नहीं जगता, तीसरे सही मार्ग का दर्शन होता, चित्त विनय से आद्र हो गया, नम्र हो गया तो उस नम्र उपयोग में ज्ञान, चारित्र, संयम सब समा जाता है। तो गुरुभक्ति से विहीन शिष्य दुर्गति गमन में संलग्न होता है।

**गुरुभक्ति का एक लौकिक उदाहरण एवं गुरु भक्ति में उत्साह का कर्तव्य—** गुरु जी एक कथा सुनाते थे कि बनारस में एक गुरु के पास 10 लड़के पढ़ते थे। उन 10 लड़कों में एक लड़के पर गुरु की विशेष कृपा थी, तो उस गुरु की पत्नी ने एक बार पूछा कि पंडित जी आप इन सभी लड़कों में से एक इस लड़के पर क्यों इतनी अधिक दृष्टि रखते? तो गुरु जी बोले अच्छा समझा देंगे। सो क्या किया एक दिन की गुरु ने अपने हाथ की भुजा पर एक छोटा सा पका आम कपड़े में बाँध लिया और सबसे यह

कह दिया कि हमारी भुजा पर एक बड़ा भारी फोड़ा हो गया है। कुछ उदस से बैठ गए, वे सब लड़के गुरु जी के पास आये और कहने लगे बताओ गुरुजी आप की क्या सेवा करें? हमारे लिए सेवाकार्य बताओ। तो गुरुजी बोले 'देखो हमारी भुजा में यह फोड़ा हो गया है इसका इजाल वैद्य ने बनाया है कि कोई इसे मुख से चूस ले, इसका सारा खून, मवाद साफ हो जायगा तो ठीक हो जायगा नहीं तो इसका रूपक और भी खराब हो जायगा।' तो गुरुजी की इस प्रकार की बात सुनकर 8 बालक तो बड़ी सोचा विचारी में पड़ गए, पीछे हट गए मगर उनमें से एक लड़का जिस पर गुरु की विशेष दृष्टि थी, वह उठा और फोड़े को मुख से चूस लिया। वहाँ क्या था? था तो आम पर उन बालकों में एक परीक्ष लेने की बात थी। वह दृश्य देखकर गुरुजी के स्त्री ने समझ लिया कि वास्तव में उस लड़के के प्रति गुरु जी की विशेष दृष्टि होने का क्या कारण था। तो जिसमें गुरु भक्ति होती उसके प्रति गुरु का विशेष अनुराग रहना प्राकृतिक बात है और फिर धर्म मार्ग में गुरुभक्ति, गुरुजनों की भक्ति की तो बात ही क्या कही जाय? कुछ अपनी साधना बनाना पूछ कर बनाना, कुछ मन में भाव रखना, कोई दोष न हो जाय, कुछ कुछ बड़े का इस ढंग का भय रहना। यह अन्दर में अनुराग है गुरु के प्रति, वह संसार से तिर जायगा। पर कोई स्वच्छंद हो, कोई कुछ नहीं और मन में जो आये सो करना और कोई भी जिसके सिर पर न हो, छत्र छाया जिस पर न हो तो उस पुरुष को सन्मार्ग नहीं मिल पाता। वह नम्रता नहीं आ पाती ऐसा आग्र नहीं बन पाता कि जिसमें धर्म के अंकुर उत्पन्न हो सकें। इस कारण इस गाथा में बतला रहे हैं कि गुरु की भक्ति के बिना यह शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न होता है।

**“गुरु भक्ति विहीणाणं सिस्साणं सव्वसंग विरदाणं।**

**ऊसरखेत्ते वविय सुवीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं।।71।।”**

**गुरुभक्तिविहीन शिष्यों को सर्व अनुष्ठान की ऊसर क्षेत्र में बोए गये बीज के समान निष्फलता—** गुरु भक्ति से रहि शिष्यों को चाहे वे सर्व संग से विरक्त हों तो भी उनका तप, जप, व्रत आदि का अनुष्ठान असर क्षेत्र में बोये गए उत्तम बीज के समान निष्फल है। जैसे जो भूमि ऊसर है। कड़ी है—रेतीली है, जहाँ अनाज पैदा नहीं हो सकता है उस भूमि में कोई उत्तम बीज डाल दे तो फल उसका क्या निकलेगा। कुछ नहीं, ऐसे ही कोई बड़े व्रत, तप संयम करे मगर गुरु भक्ति से हीन को हृदय तो उनका सारा अनुष्ठान व्यर्थ जाता है। गुरुभक्ति से उपयोग हृदय नम्र हो जाता है और नम्र होते ही तत्काल उसको उस परिणाम से लाभ है, पाप बंध कम होना, पुण्य बंध विशेष होना, धर्म की ओर दृष्टि होना ये सब बातें गुरु भक्ति से प्राप्त होती हैं। अब रहता है संग में या कैसा ही रहे और गुरु भक्ति न रहे चित्त में तो उसका संयम नहीं चल सकता। बाहरी संयम का नाम ही संयम, कि किसी जीव को देखकर दया पाल ली, पर अंतरंग में आत्मा का संयम बने तो संयम कहलाता। उसकी पात्रता होती है गुरु भक्ति से।

**“रज्जं पहाणहीणं पति हीणं देसगामरट्ठ बलं।**

**गुरु भक्ति हीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं।।72।।**

**प्रधानहीन राज्य की तरह एवं सेनापति के बिना देश की तरह गुरु भक्ति बिना शिष्यों के अनुष्ठान का विनाश—** जैसे राजा के बिना राज्य निष्फल है, कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। घर में भी देख लो, यदि कोई एक मुखिया नहीं तो घर की व्यवस्था ही नहीं बन सकती और ऐसा कोई घर होता नहीं। हर एक घर में कोई न कोई मुखिया अवश्य होता है। चाहे कितना ही कुटुम्ब हो पर एक प्राकृतिक बात है ऐसी कि



उनमें से किसी न किसी को अपना मुख्य मान लेते हैं। और जब मुख्य होता है कोई तब सब लोग उसके नियंत्रण में रहते हैं, सारी व्यवस्था अच्छी बनती है, ऐसे ही आत्मा को नियंत्रण में रखना है तो वह गुरु भक्ति से सहित होनी चाहिए। सेनापति के बिना देश सुरक्षित नहीं रह सकता। ये तो अपने पुण्य पाप के उदय हैं। मगर देश का सबसे ऊंचा पुरुष सेनापति है। भले ही माना जाता है कि राजा है, मंत्री है बड़ा और उदय पुण्य के ऐसे हैं कि उनकी मान्यता चलती है मगर बताओ देश की जान किसके हाथ में है? एक उस सेनापति के हाथ है। सेनापति न हो तो देश की रक्षा नहीं हो सकती, ग्राम की रक्षा नहीं हो सकती। ग्राम का पति न हो तो ग्राम कैसे बचे। राष्ट्र का मालिक न हो तो राष्ट्र भी सुरक्षित नहीं रह सकता। तो जैसे एक मालिक के बिना देशादिक सुरक्षित नहीं रह सकते इसी प्रकार गुरु भक्ति के बिना शिष्यों के अनुष्ठान व्रत तप आचरण आदिक ये सफल नहीं हो सकते। एक बार किसी गुरु ने कुछ लड़को को लाठी चलाना सिखाया, अब लाठी चलाने के जितने भी हाथ हैं—सीधी बेल, उल्टी बेल, जंघ मुखी आदिक वे सब गुरु ने सिखा दिए। अब उनमें से एक शिष्य को हो गया अहंकार सो गुरु से बोला गुरुजी अब हम आप से लाठी चलाना चाहते हैं तो गुरु को यह बात सुनकर कुछ दुःख हुआ कि कहाँ तो मैं वृद्ध और यह नवयुवक, फिर भी सोचा कि चलो ठीक है देखा जायगा, सो कोई 15 दिन बाद का दिन निश्चित कर दिया लाडुंगी चलाने का। अब गुरु ने क्या किय कि कोई एक 10-15 हाथ का लम्बा बाँस ऊपर रख दिया और प्रतिदिन उसमें तेल की मालिस करता रहा। शिष्य इस ताक में बराबर रहा कि देखें तो सही कि यह गुरु किस तरह की तैयारी कर रहा है। जब देखा कि गुरु जी तो कोई 15 हाथ का बाँस लाये हैं और उसकी सेवा कर रहे हैं तो उसने अपने घर कोई 30 हाथ का लम्बा बाँस मंगाया और उसकी तेल मालिस करके सेवा करना शुरू कर दिया। जब 15वाँ दिन आया तो वह शिष्य तो अपना 30 हाथ का लम्बा बाँस लेकर लड़ने आया और गुरु वहीं 3 या 3 1/2 हाथ की छड़ी लेकर आया। अब बताओं वह शिष्य उतना लम्बा बाँस कैसे चला सके और परिणाम यह हुआ कि गुरु ने उस शिष्य के उस छोटी छड़ी के द्वारा शीघ्र ही हाथ पैर बाँध लिया गुरु जीत गया। तो वहाँ वह शिष्य बोला गुरु जी आप जीत तो गए पर आप यह तो बताओ कि इस प्रकार की चतुराई वाली कला हम लोगों को क्यों नहीं सिखाया था कि तैयारी तो करना कोई 15 हाथ लम्बे बाँस को लेकर और लड़ने आना वही 3-3 1/2 हाथ ही छड़ी लेकर? तो वह गुरु जी मुस्कराकर बोले— बेटा यह चतुराई वाली कला भी अगर हम सिखा देते तुम सबको तब तो मैं आज पिट गया होता (हँसी)। तो जैसे गुरु के आगे मुह जोरी करने के फल में उसने योंहारखाया।

**विनय भक्ति का महत्व—** भैया धर्म के कामों में जो जितनी विनय रखेगा उसको उतनी ही जीत अथवा हार ज्ञान लाभ के सम्बंध में होगी। स्वानुभव का लाभ तो होता है नम्रता में। कठोर हृदय में या मायाचार रखते हुए में स्वानुभव नहीं बनता। ज्ञानी जानता है कि जिसमें अपना नुकसान हो, ऐसा कार्य क्यों करें? अपने को गर्व में रखें, यहाँ वहाँ की बातों के लिए छल कपट करें तो यह किसलिए किया जाय? कोई प्रयोजन ही नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अधिकारी नहीं और कर्ता नहीं। मेरे को तो कुछ करने को रहा ही नहीं, फिर किसके लिए गर्व करना। एक नीति है कि एक कि साधे सब सधे सब साधे सब जाय” माने एक को ही सम्हाले रहे तो सब सिद्ध हो जायेंगे और अगर सबकी सम्हाल करेंगे तो एक भी हाथ न लगेंगे। तो एक है अपना परमात्मस्वरूप। जो अपने आत्मा में अंतः प्रकाशमान है वह है एक परमात्मतत्व। उसकी सेवा हो, विनय हो, भावना हो तो सब कुछ प्राप्त होगा। जब तक संसार में हैं तब तक संसार के पुण्यफल प्राप्त होंगे और अन्त

में पुण्य पाप को सर्व विकारों को नष्ट कर के मोक्ष प्राप्त कर लेगा। एक को साधना। अपने जीवन की कोई कुँजी, कोई नुक्ता, कोई दृष्टि ऐसी प्राप्त कर लें अन्तः कि जिसके कारण जीवन धन्य हो जाय, व्यग्रता न रहे। तो अपने आपके स्वरूप की भावना, दृष्टि प्रतीति, रुचि, स्वभाव में ही लीन होने का पौरुष यह तो जीवन को सफल बनाता है और विषय भोगों से जिये और उसी के कारण परस्पर लड़ाई मोह बनाकर जिन्दगी गुजारे तो इसका साथ कोई न निभायगा। अकेला ही जायगा। तो ऐसा जानकर सबको नम्रता से रहना चाहिए। जो अपने में बड़ी निधि है उसकी जब दृष्टि आ गई तो फिर गर्व किया ही नहीं जा सकता। तो जो पुरुषगर्व करता हो समझो कि वह अज्ञानी है। जहाँ गर्व है वहाँ गुरु भक्ति नहीं रह सकती। जो अपने आप को बड़ा, प्रधान, सर्वस्व समझ लेगा और गुरु का अपवाद सा रखे तो ऐसे हृदय वाले चित्त में मोक्ष का मार्ग नहीं आता। तो यहाँ भक्ति संबंधित उपदेश किया जा रहा है। हाँ तो गुरु भक्ति के बिना शिष्यों का समस्त अनुष्ठान निष्फल है।

**“सम्मत विणा रुई भक्तिविणा दाणं दयाविणा धम्मो।**

**गुरु भक्ति हीण तव गुण चारित्तं णिष्फलं जाण।।73।।”**

**सम्यक्त्व विना रुचि की तरह भक्ति विना दान की तरह गुरु भक्ति विना तप गुण चारित्र की निष्फलता—** सम्यक्त्व से रहित पुरुष ने ये सब बातें व्यर्थ जाना है। क्या रुचि? कुछ प्रीति भी बनी हो धार्मिक कार्य के लिए मगर सम्यक्त्व रहित है वह पुरुष तो उसके बिना यह रुचि व्यर्थ है। भक्ति के बिना दान व्यर्थ है, मन, वचन काय ये तीन चीजें हैं मनुष्य के पास धन तो चिपका नहीं फरता है। धन है, इससे यह धनी है ऐसा कोई चेहरे से निर्णय नहीं कर सकता है नियम रूप से। तन मन और वचन ये तीन मनुष्य के एक वैभव से। वचन से यह शान्त रहने और वचन से ही अशान्त रहले, ये सब कलायें वचन में हैं। वचन से ही दूसरों के द्वारा कहो पिटले या वचन से ही अपनी रक्षा बना ले। तो वचन मनुष्य का बहुत बड़ा वैभव है। और विवेकी उदार पुरुष वह है जो किसी भी स्थिति में दुःखी भी जो जाय तो भी दुर्वचन न बोले। किसी में इतनी क्षमता नहीं है और दुर्वचन मुख से निकल जाते हैं तासे उस कमजोरी को छिपाने के लिए यों भी कहना पड़ता कि भाई मैं तो बिल्कुल साफ हूँ। मेरे तो जो कुछ मन में है सो ही वचन से निकल आता। मैं क्या करूँ। तो यह ड़खीक वृत्ति नहीं है। मन को उतना कंट्रोल में नहीं रख सकते क्या कि हम दूसरे को दुःख प्रेरक वचन न बोलें बताओ इसमें दोष नहीं है क्या कि मन में जो है सो कहते फिरें। अरे इस मन में तो न जाने क्या क्या बातें आया करती हैं। न जाने कितनी ही पाप की बातें भी मन में आती हैं। गृहस्थ हों तो उनके मन में भोग संबंधी बातें नहीं आती क्या? लेकिन वे उन सब बातों को इधर उधर कहते फिरते हैं क्या? नहीं कहते। तो न कहना दोष नहीं, और कभी कभी परबधकार सत्य भी बोले तो वह भी दोष करने वाला बताया गया है। यह सब परिस्थितियों से फ़ैसला चलता है।

**मनो नियंत्रण की व वचन नियंत्रण की महत्ता—** एक भैया एक गुण यह होना चाहिए खास कि अपने मन वचन पर कंट्रोल रहे। कम बोलना। बोलने की आवश्यकता हो तब ही बोलना। तो ऐसा वचनों पर अपना नियंत्रण हो। मन पर नियंत्रण हो। कितना भी किसी से कष्ट मिले पर उससे बदला लेना न सोचे, उसकी बुराई न सोचे, उसका विनाश न सोचे। कषाय के बेग में लोग उसका अनिष्ट सोचने लगते हैं। किसी का अनिष्ट सोचना यह पापबंध करने वाला भाव है। क्यों अनिष्ट सोचना किसी दूसरे का? कोई कहे कि इसने मेरा विगाड़ किया इस कारण अनिष्ट सोच रहे, तो प्रथम बात तो यह है कि कोई किसी

का बिगाड़ करता नहीं है। तब फिर क्यों किसी का बुरा विचार करना। सब सुखी होने की भावना रखता है। वह तीर्थकर बनता है दर्शन विशुद्धि भावना के बल से। तो सही बोलना, प्रामाणिक बोलना, सत्य बोलना यह एक इस मनुष्य जीवन में गुण होना चाहिए। यहाँ किसके लिए क्या करना। आँखें मिचीं कि सब कुछ खेल तमासा खतम।

**आँख मिचने पर क्या?**— राजा भोज के समय की एक घटना है कि एक बार एक कवि को बहुत दिनों से इनाम नहीं मिल पाया सो वह बड़ा गरीब हो गया और बड़ा दुःखी रहा करता था एक दिन उसने सोचा कि इस तरह से भूखों कहाँ तक मरें, कहीं चोरी करना चाहिए। पर चोरी भी किसी छोटे गरीब के यहाँ क्या करना, चलो राजा के यहाँ चोरी करना चाहिए। सो वह किसी तरह से राजा के महल में पहुँच गया। उसी रात्रि को कोई 10-11 बजे के करीब में कोई ऐसी आहट मिली कि जिससे उसको कहीं छिपने की जरूरत थी। सो उसे सबसे अच्छा छिपने का स्थान मिला राजा के पलंग के नीचे। अब वह राजा अपने पलंग पर पड़ा हुआ कोई रचना कर रहा था। वह रचना इस प्रकार थी चेतो हरा युवतयः सुहदोनुकूला। सद्मन्धवाः प्रणतिगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्ति निवहास्तरलास्तुरंगाः यों तीन चरण तो उस छंद के बन गए मगर चौथा चरण नहीं बन रहा था। बार बार उन्हीं तीन चरणों को वह राजा दुहरा रहा था। उन तीनों चरणों का अर्थ इस प्रकार था कि मेरे चित्त को हरने वाली प्रसन्न करने वाली मेरी स्त्री है, और मेरे अनुकूल चलने वाले मेरे मित्र जन है, और बन्धु, नौकर, सेवक ये सभी मेरे आज्ञाकारी है, घुड़साल में घोड़े हींस रहे, हाथियों की शाला में हाथी हींस रहे . . . . इस प्रकार से वह अपने वैभव का वर्णन कर रहा था। तो जब राजा से वह चौथा चरण नहीं बन रहा था तब राजा के पलंग के नीचे छिपा हुआ चोर कवि सहसा ही वह चौथा चरण बोल उठा वह चौथा चरण इस प्रकार था 'सम्मीलने नयनयोनहि किंचिदस्ति' इस चौथे चरण का अर्थ है कि जब नेत्र मिच जायेंगे तो कुछ भी नहीं है, मायने म्रत्यु हो जायेगी तो कुछ नहीं है। तो चौथा चरण सुनकर राजा एकदम से उठा कि कहाँ से यह आवाज आयी और साथ ही वह कवि (चोर) भी नीचे से उठा उसे देखकर राजा ने उसको गले से लगा लिया और बोला कि आज तो तुमने मेरी नींद खोलदी ऐसे ही समझलो कि जो लोग बचपन से लेकर अब तक अपना सारा समय व्यर्थ के कार्य में खो रहे धर्म की बात सुनने पढ़ने की फुरसत नहीं मिलती। इसकी सम्हाल, उसकी सम्हाल बस इसी में लगे रहते सारे ठाठ बाठ बनाते, पर आखें मिच जाने पर इनका कहीं कुछ नहीं रहता।

**चारे देहातियों की तुंकबंदी वाली कविता की रहस्यपूर्णता**— राजा भोज के संबंध में एक बात बहुत प्रसिद्ध है कि वह कवियों को बहुत पुरस्कार दिया करता था। और उसकी यह चर्चा गांव व गांव में फैल गई तो एक गांव के चार देहातियों ने सोचा कि अपने लोग भी चल कर राजा को कविता सुनायेंगे। और भारी पुरस्कार प्राप्त करेंगे सो चल दिये चारों देहाती। अब वे क्या जाने कविता बनाना, पर कुछ दूर चलने पर उनमें से एक ने देखा कि एक जगह कोई बुढ़िया बैठी हुई—सूत कात रही थी, उसकी चूँ चूँ चरमरर की आवाज भी आ रही है, उस दृश्य को देखकर एक देहाती बोला मेरी तो कविता बन गई तो बाकी सभी लोग बोले अच्छा भाई सुनाओ अपनी कविता तो वह बोला चनर मनर रहटा भन्नाय। यह है मेरी कविता अब बाकी तीन से कविता बने नहीं कुछ आगे चलकर क्या देखाकि एक तेली का बैल (कोल्हू का वैल) खली भुस खारहा था तो वह दृश्य देखकर दूसरा देहाती बोला मेरी कविता बन गई अच्छा सुनाओ सुनो तेली का बैल खली भुस खाय। यह है मेरी कविता।

अब बाकी दो से काविता बने ही नहीं। कुछ आगे बढ़ने पर क्या देखा कि एक जगह कोई धुनिया अपने कंधे पर रुई धुनने का पीजना लिये हुए चला आ रहा था, वह देखने में ऐसा लग रहा था कि मानो कंधे पर तरकश (धनुष) रखे हो तो उस दृश्य को देखकर तीसरा देहाती बोला मेरी भी कविता बन गई। अच्छा सुनाओ सुनो वहां से आगए तरकश, यह बंद मेरी कविता है अब चौथे देहाती से कोई कविता बने ही नहीं तो सभी बोले तुम भी अपनी कविता सुनाओ तो वह बोला कि हम योंही कविता न बनायेंगे—हम ते आशुकवि की तरह तुरन्त ही कविता—बना लेंगे। खैर पहुँचे वे चारों देहाती राजा भोज के दरबार में और पहरेदार से खबर पहुँचाया कि कह दो राजा से जाकर कि आज चार महाकवीश्वर आये हैं। पहरेदार ने राजा को खबर दी तो राजा ने बड़े आदर से बुलाया। वहाँ पर कवि जनो की अपार भीड़ थी। सभी ने अपनी अपनी कविताये सुनाई और राजा ने उन चारों देहातियों से भी अपनी अपनी कविता सुनाने को कहा तो वे चारों एक साथ क्रमशः अपनी कविता सुनाने के खड़े हो गए। तो उनमें से चौथे देहाती ने क्या कविता सुनाया था, इसे भी हम इस कविता में बोल देते हैं जो चौथा चरण होगा वही उस चौथे देहाती की कविता थी।

**चारों देहाती क्रम क्रम से बोले 'चनर मनर रहट भन्नाय ।  
कोल्हू का बैल खली भुस खाय वहाँ से आगए तरकस बँद ।  
राजा भोज है मूसरचंद ।।**

**चार देहातियों की तुकबंदवाली कविता का तथ्यपूर्ण अर्थ—** अब इस प्रकार की अटपट कविता को सुनकर राजा भोज दंग रह गये और अन्य कविजनों से बोले कि भाई आप लोग इन चारों कवीश्वरों की कविता का अर्थ बताओ। तो किसी ने कुछ अर्थ बताया किसी ने कुछ पर उनमें से एक वृद्ध विद्वान कवि बोला महाराज इसका अर्थ हम समझाते हैं। देखो पहले कवीश्वर ने तो यह बोला की चनर मनर रहटा भन्नाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह मनुष्य रात दिन रहटा की भाँति चनर मनर बनाता रहता है अर्थात् कभी कुछ किया कभी कुछ, यहाँ गए वहाँ गए, कभी ककुछ कहा कभी कुछ कभी चैन नहीं पाता रहटा की भाँति भन्नाटा रहता है और दूसरे कवीश्वर ने यह कहा कि कोल्हू का बैल खली भुस खाय, अर्थात् यह मनुष्य ये सब खटखट बाजी करके भी कभी विश्राम नहीं पाता बड़ी भाग दौड़ मचाकर अनेक दृढ़ फंद करके आता और जो भी रूखा सूखा जल्दी सो मिल गया उसे खाकर फिर भागा। जिस प्रकार से कोल्हू का बैल रात दिन पिसता रहता और जो भी रूखा सूखा भुस मिल गया उसी को खाकर मौज मानता ऐसे ही यह संसारी प्राणी रात दिन बड़ी भागदौड़ मचाकर हैरान होता रहता, यह अर्थ है दूसरे कवीश्वर की कविता का और तीसरे कवीश्वर ने कहा कि "वहाँ से आ गए तरकस बँद" अर्थात् इतनी भाग दौड़ मचाकर यह प्राणी होता है इतने में ही वृद्ध अवस्था आ जाती है। याने मरण काल, जिसे लोग कहते यमराज यह तीसरे कवीश्वर की कविता का अर्थ है तो चौथे कवीश्वर ने कहा कि "राजा भोज है मूसर चंद" अर्थात् ये सब बातें होते हुए भी राजा भोज इतने मूसर चंद बने बैठे हैं कि इन्हें अपना कुछ होश नहीं इस प्रकार मार्मिक अर्थ सुनकर राजा भोज को एक सही विवेक जगा और उन चारों देहातियों को भी भारी पुरस्कार देकर विदा किया।

**अपने बारे में हित अहित चिन्तन की आवश्यकता—** देखिये यहाँ हम आप सभी "राजा भोज है मूसर चंद" इस प्रकार की बात को सुनकर हँस पड़े पर अपने खुद का नाम लेकर भी तो एक बार हँसी आ जाना चाहिए कि अमुक लाल है मूसरचंद अमुक चंद है

मूसरचंद बताओ ऐसा करना चाहिए कि नहीं मान लो इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर बाहरी बाहरी क्रियायें बहुत करते रहे पर आत्म उपासना का कार्य न किया तो उन सब बातों से आत्मा को लाभ क्या? आत्मा की उपासना करने के लिए इन सारी बाहरी बातों का कोई संबंध नहीं है तो अपने आप में एक ऐसी दृष्टि जगनी चाहिए कि मैं अपने आप को ऐसा मानकर रह जाऊँ कि मैं एक अविकार ज्ञान स्वरूप हूँ अन्य कुछ नहीं। यदि इस प्रकार की दृष्टि बन जाय तो उसे फिर बाहरी पदार्थों की ओर दृष्टि हीन रहेगी तो ये सब कुबुद्धियाँ और स्वच्छंदतायें गुरुभक्ति के बिना आ जाया करती है। इसलिए गुरुभक्ति एक बहुत रक्षा करने वाला भाव है।

**हाणादाण—वियार—विहीणादो बाहिर क्ख सोक्खं हि।**

**किं तजियं किं भजियं किं मोक्खं दिट्ठं जिणुदि ट्ठं।।74।।**

**हेयापादेयविवेकरहित जीवों की बाह्याक्ष सुख भोग में प्रवृत्ति—** जिसमें हेय उपादेय का विवेक नहीं है अर्थात् क्या तो छोड़ने—योग्य है और क्या ग्रहण करने योग्य है, यह विवेक जिसके नहीं है तो उस ज्ञान के बिना निश्चय से इन्द्रिय के सुखों में सुख मानने वाले क्या कुछ समझ सकते हैं कि त्याज्य क्या है, बाह्य क्या है, मोक्ष क्या है, वे यह कुछ भी नहीं समझ सकते, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है कि हेय और उपादेय का विवेक तो अवश्य होना चाहिए। युक्ति से समझें, अनुभव से समझें, आगम ज्ञान से समझें, गुरुओं के उपदेशों से समझें कि हेय क्या है और उपादेय क्या है। बाहर में कुछ भी पदार्थ क्या इस जीव के लिए हितकारी है। आत्मा तो अमर है, इस शरीर को छोड़कर आगे जायेगा। इस आत्मा का ये बाह्य पदार्थ कुछ हित कर सकेंगे क्या? ये तो सब छूट ही जायेंगे और जब तक ये समागम में है तब तक भी ये आकुलता के ही आश्रय बनते हैं, शान्ति के आश्रय नहीं बनते क्योंकि यह नियम है कि शान्ति मिलेगी तो अविकार ज्ञानानंद घन आत्म स्वरूप के आश्रय से ही मिलेगी। शान्ति का दूसरा उपाय नहीं है।

**दुःख की कमी में सुख शान्ति का विभ्रम—** जिसको थोड़ी बहुत शान्ति इस समय मिल रही है उसको वास्तव में इस आत्मा के निरखने से ही मिल रही है और जो कुछ भी सुख माना जा रहा है वह तो दुःख कम रह गया, इसका सुख माना जा रहा है। जो चैन में मौज शान्ति समझी जा रही है वह दुःख की कमी में ही भ्रम बन रहा। जैसे किसी को 105 बुखार था, घट कर 102 रह गया, अब उससे कोई पूछो कि कैसी तबियत है, तो वह उत्तर देता कि अब तबियत अच्छी है। अरे कहाँ अच्छी है? अभी तो 102 बुखार है, जिसका कष्ट उसके बना हुआ है मगर बड़े कष्ट के सामने उस छोटे कष्ट में भी उसे आराम जचता है, ऐसे ही इस संसार में सुख भी दुःख है, सुख भोगने के समय भी आकुलता है किन्तु जो बड़ा दुःख माना जा रहा था वह बड़ा दुःख न रहा तो इसमें वह शान्ति का भ्रम करता है, देखो बाहर के क्षेत्र में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसके आश्रय से जीव को वास्तविक शान्ति मिल सकती। हो ही नहीं सकता। आत्मा स्वयं शान्त स्वभावी सर्व पर द्रव्यों से निराला है। यह अपने में ही अपना परिणमन करता है। बाहर में तो कुछ कर ही नहीं सकता बाहर के समस्त पदार्थ वे अपने में परिणमन करते हैं, मुझमें तो कुछ कर ही नहीं सकते, इसलिए कोई बाह्य पदार्थ मुझे सुख शान्त कर दे यह कोरा भ्रम है। अब रह गई अपनी बात। अपना है उपयोग। इस उपयोग को जहाँ लगाना चाहें वहीं लग जाता है। तो यह उपयोग यदि बाह्य पदार्थों में लग गया तो उसे तो शान्ति नहीं है और आत्मा के अविकार ज्ञान स्वरूप में उपयोग लग गया तो उसे शान्ति है। तो हेय क्या है? समस्त बाह्य पदार्थों का लगाव बताया गया है अपने सहज सिद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप का लगाव। यह विचार जिनके नहीं हैं वे बाहर में ही इन्द्रिय सुखों को सर्वस्व समझते हैं।

ये ही हितरूप हैं। किसी इन्द्रिय की पूर्ति हुई तो बस यह बड़ा मौज मानने लगा। उसे अपने आपके स्वरूप के आनन्द का परिचय नहीं तो बाह्य पदार्थों में ही यह सुख मानता है।

**आत्मसम सर्वात्म स्वरूप की समझ बिना सम्यक् दया की असंभवता—** आत्म परिचय बिना यह कुछ सुध नहीं रहती कि छोड़ने योग्य क्या और ग्रहण करने योग्य क्या? जैसे प्रायः सभी को मालूम है कि गोभी के फूल में कीड़े हुआ करते हैं। सुन रख, देख रखा, जानते हैं और फिर भी उसका त्याग नहीं हो पाता तो इसका कारण क्या है? जीवों के प्रति दयाभाव नहीं है। दयाभाव न होने का कारण क्या है? अपने आत्मा के स्वरूप की भाँति सब जीवों का स्वरूप है, यह हृदय में नहीं बैठ पाता। जब कभी किसी पुरुष को, घर के लोगों को, अपने घर के लोगों पर बड़ी दया आ जाती कोई बीमार हो गया कोई तड़फ रहा तो बड़ी दया आती है। उस समय भारी तेज स्वानुभव बन जाता और कोई कहीं पड़ोस का बीमार हो तो व्यवहार के नाते कुछ जीा हिला देंगे च चा बोलने की मगर दया की तुलना करें कि अपने घर के लोगों पर तो तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहते और दूसरों के लिए तो कुछ भी लगाने का भाव नहीं होता। दुनिया यह जानती है कि अपने ही घर के पास अन्य भी लोग हैं, मगर अन्य किसी के प्रति दया का भाव नहीं रख पाते और अपने घर में रहने वाले दो चार प्राणियों के प्रति ममता करके हैरान होते रहते। अरे अपने घर वालों के प्रति दया रखना कोई दया नहीं, दया तो तब समझी जाय जब कि अन्य लोगों के प्रति रहे। अपने घर के प्रति की जाने वाली दया तो मोह के प्रसंग की है। अपने स्वरूप की भाँति जब तक अन्य जीवों का स्वरूप न समझ में आये तब तक वास्तविक हार्दिक करुणा नहीं जग सकती और जब तक यह दया न जगे तब तक अभक्ष्य का त्याग नहीं बन पाता और वैस विचारों तो खाने के लिए बहुत सी चीजें हैं मान लो मद्य, मांस, मधु वगैरह गन्दी चीजों का सेवन न किया जा इससे जिन्दगी में कुछ फर्क आता क्या? गोभी का फूल भी मांस तुल्य है क्यों कि उसमें कीड़े मिलते हैं। यहाँ भक्ष्य अभक्ष्य की चर्चा नहीं कर रहे किन्तु क्या त्याग है क्या ग्राह्य है यह बात चित्त में नहीं बैठती जिसको अपने स्वरूप का बोध नहीं है उसका संसार तो बना हुआ ही है। संसार९ में रहते हुए जिसे हेय अपादेय का विवेक नहीं है, जो इन्द्रिय सुखों में आसक्त है उसके चित्त में कमी मोक्ष मार्ग की बात आ ही नहीं पाती।

**सम्यक्त्व के बिना हेयोपादेय के सम्यक् विवेक की अशक्यता—** हेय उपादेय का विवेक करने के लिए आत्मबोध चाहिए और वह मिलता है सम्यक्त्व से। अतः सर्व श्रेयों का आधार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व कहो या आत्मा कहो, भेद विवक्षा से सम्यक्त्व है अभेद विवक्षा से सम्यक्त्व ही आत्मा है, आत्मा ही सम्यक्त्व है। तब ही तो कहा है कि सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है। जितने श्रेय हैं, कल्याण हैं उन सब में श्रेय, प्रधान, मुख्य तू ही है। तेरे अनन्त आनन्द का धाम तू ही स्वयं है पर कैसा विचित्र एक गजब आश्चर्य हो गया कि खुद ही शान्ति का धाम है और दूसरी जगह शान्ति ढूढ़ता फिर रहा। जैसे किसी माँ की गोदी में खुद का बालक बैठा हुआ है औ उसे यों ख्याल आ जाये कि मेरा बालक कही गुम गया और उसे यों पास पड़ोस में ढूढ़ती फिरे तो ऐसा पागलपन हमने तो कभी देखा नहीं मगर एक अहाना तो चल रहा कि “काँख में बालक बगल में टेर” बालक अपनी गोद में और पुरा पड़ोस में टेर रहीं तो ऐसी बात देखकर जैसे लोग पागलपन कहते ऐसे ही शान्ति का धाम तो स्वयं है पर अपने में न आकर बाह्य पदार्थों से आशा लगाकर बाहर-बाहर डोलता है तो ऐसा सभी बोल रहे इसलिए कोई किसी को पागल कहने वाला नहीं मिलता। जहाँ सब पागल वहाँ कौन कहेगा कि यह पागल है/संसार की हालत ही

यह है। तो जिसका होनहार भला है उसमें यह कला आती है अपने आप कि वह शान्ति धाम स्वरूप अपने रूप में अनुभव हो जाता है। तो जिसके सम्यक्त्व हो उसके ही वस्तुतः हेय उपादेय का विवेक बनता है।

**“कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरण कारणं जाण।**

**तं णियसुद्ध सरुवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं।।75।।”**

**कर्मा के निर्मूल होने का अमोघ उपाय निज शुद्ध स्वरूप की भावना—** कोई कठोर तपश्चरण करे उसके लिए क्या करते हैं लोग? कठोर तपश्चरण का कारण है क्या? वह है काय क्लेश और उपवास। और और भी हैं। जैसे गर्मी के दिनों में पर्वत पर तपश्चरण करना शीत ऋतु में खुली जगह तपश्चरण करना, बरसात के दिनों में पेड़ों के नीचे खड़े हो कर तप करना यह काय क्लेश अपश्यान अनशन किया। दो चार दिन, महीने भर, छह महीने तक छ महीने से अधिक उपवास की प्रतिज्ञा लेने की बात शासन में नहीं कही गई। भले ही किसी को ख्याल न रहे और एक वर्ष लग जाय तपश्चरण में तो वह लग गया। तो आदिनाथ जिनेन्द्र ने छः महीने की प्रतिज्ञा की थी। छमाहा अंतराम आये तो साल भर हो गया। बाहुबलि स्वामी एक वर्ष तक खड़े रहे, उन्हें सुध ही न रही कि हमें क्या करना है। आज कल 4-6 माह के उपवास करने वाले लोग नहीं हैं। संहनन ही वैसा नहीं है। ऐसा कमजोर शरीर है कि उपवास सहन नहीं हो पाता किसी को कोई विरक्त है। ज्ञानी है, चाहता है, पर शरीर का ऐसा ही ढाँचा है, ऐसी ही रीति है कि वह अधिक दिनों तक उपवास नहीं कर सकता। और अब भी अनेक लोग ऐसे मिलते हैं तो 8-10 दिन तक का उपवास रखा करते। तो कायक्लेश और उपवास जैसे ये तपश्चरण के कारण हैं ऐसे ही निज शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध होना, जो अखण्ड परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप से निर्भर है। शक्ति देखो। स्वभाव देखो कोई कमी नहीं है किसी भी जीव में, उस शुद्ध स्वरूप को पा लेना यह करने का निर्मूल करने का कारण है। जिसमें आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं बन पाया वह कर्म को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता।

**“कम्मण खवेइ जो हुपनबम्हु णजाणेइ सम्मउम्मुक्को।**

**अत्थुण तत्थु ण जीवो लिंगं छेतुण किं करई।।79।।”**

**बाह्य स्वरूप से अनभिज्ञ मुनिवेशियों के कृत्य की व्यर्थता—** जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है। अपने परम ब्रह्म स्वरूप को जानता नहीं है वह न यहाँ का है न वहाँ का है याने न गृहस्थ है न मुनि है चाहे वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करले किन्तु यदि सम्यक्त्व रहित है परम ब्रह्म स्वरूप का जानन हार नहीं है तो ऐसे निर्ग्रन्थ भेष को धारण करने वाला मुनि तो रहा नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व ही नहीं। सम्यक्त्व हुए बिना छटा 7 वाँ गुणस्थान कैसे? भीतर में वह शान्ति भी नहीं मिलती जो उस शान्ति का कारण केवल अविकार सहज चैतन्य स्वरूप का आश्रय है, दूसरा है ही नहीं कुछ। वह उसे प्राप्त नहीं हुई, तो न कर्म नष्ट हो सकते और न कुछ शान्ति मिलती है और छोड़ दिया सब कुछ सो उसका कष्ट जुदा भोग रहा है। जो सम्यक्त्व से रहित है, परम ब्रह्म स्वरूप को नहीं जानता है वह कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। और वह न यहाँ का रहा न वहाँ का रहा। जैसे कहावत में कहते धोबी का कुत्ता घर का ना घाट का, ऐसी बात हो जाती है बताओ मुनि भेष धारण करने का प्रयोजन क्या है? मुनि हो जाना एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी की बात है। भीतर में आत्मानभव हो, सत्य वैराग्य हो, ज्ञान का योग हो, निराकुलता का भाव हो, अपने स्वरूप में रहा हो वह मुनि होता है और अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है और किसी भी भावुकता में या देखा देखी जिसने मुनि भेष धारण किया है वह अपने को टग रहा है

और दूसरे भी उससे ठगे जा रहे हैं, तो ऐसे भेषधारी मुनियों को बताया है कि इस पंचम काल में कई करोड़ मुनि दुर्गति में जायेंगे। तो यह मुनि पद ग्रहण करना एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी की चीज है। जिसके सम्यक्त्व है, बाह्य स्वरूप का बोध है वह साधु परमेष्ठी है, पंच परमेष्ठियों में आया हुआ है।

**ज्ञानी देवत्व निरीक्षण—** आचार्य समंतभद्र ने तो एक बड़ी खुली घोषणा की थी कि यह मस्तक कोई नारियल नहीं है जो कि यहाँ चाहे पटक दिया जाय। तो इस अरहंत की तीर्थकर की, प्रभु की बहुत-बहुत परीक्षा की, चतुर्विंशति जिनेन्द्र का स्तवन रचा तो उस परीक्षण में 7 तीर्थकरों की स्तुति तक स्तोत्र में वंदना शब्द नहीं आया जिन्होंने वृहत् स्वयं भूस्तोत्र का अध्ययन किया उनको मालूम होगा कि ऋषभदेव से लेकर सुपाशर्ववनाथ तीर्थकर तक स्तुति खूब की पर उन की स्तुति में वहाँ तक कहीं वंदना शब्द नहीं आया। जब चन्द्रप्रभ देव का स्तवन प्रारंभ हुआ तब प्रथम छंद में वन्दे शब्द आया। वन्दन तो पहिले भी था, किन्तु देखो प्रभाव कि वंदे कहते ही एक चमत्कार जमा। छन्द है वह यह चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तं। वन्देभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्त कषा बन्धम्। यहाँ आया वंदना शब्द और जहाँ वंदना की वहाँ चन्द्रप्रभु की प्रतिमा प्रकट हुई। तो साधारण विवेक तो गृहस्थ में भी होना चाहिए कि देवका स्वरूप क्या? शास्त्र का स्वरूप क्या और गुरु का स्वरूप क्या?

**ज्ञानी की देवभक्ति—** देव वीतराग सर्वज्ञ चाहे उस स्वरूप को प्रतिमा में स्थापना कर लिया तो प्रतिमा स्वयं देव नहीं हुई किन्तु प्रतिमा उत्पन्न देव है और स्थापना में भी विनय होता है। जैसे सभी लोग जानते हैं कि जब किसी का पिता गुजर जाता तो उस पिता की फोटो अपनी दुकान में लगाते। यद्यपि वे जानते हैं कि यह हमारे पिता जी नहीं यह तो फोटो है फिर भी विनय की बात देखिये कि जितनी विनय उस पिता की कर सकते थे उतनी ही विनय वे फोटो की कर रहे। कोई अगर उस फोटो को उतार कर फेंकना चाहे तो वहाँ तो बड़ा विवाद खड़ा हो जाता। तो जैसे उस फोटो में यह जानते हुए भी कि यह मेरा पिता नहीं, यह तो फोटो है फिर भी विनय में कसर नहीं रखते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष जानता है कि परमात्म देव तो मोक्ष में विराजे हैं। चतुर्विंशति तीर्थकर जिनेन्द्र देव मुक्त हो गए हैं, अब आप उनकी कितनी ही स्थापनायें करें फिर भी वे मोक्ष से चिगकर वापिस लौटकर न आयेंगे। नहीं आते तो मत आयें, अपने ही स्वरूप में रमते रहें, निज आनन्दरस में लीन रहें। अगर आवोगे प्रभु तो तुम में कमी हो जायेगी, फिर तुम्हारी प्रभुता भी न रहेगी। सो तो यह अच्छा है कि प्रभु मोक्ष से वापिस नहीं आते, मगर प्रभु में इतनी भक्ति है कि जब प्रभु साक्षात् नहीं मिलते तो प्रभु की स्थापना उस प्रतिमा में करते। करलें स्थापना ये रहते हैं स्थापना निक्षेप से प्रभु, भाव निक्षेप से वे प्रभु है जो मोक्ष में विराज गए। तो ये स्थापना के प्रभु हैं, किन्तु प्रभुता के अनुराग से उतना ही विनय इस प्रतिमा में होता है जितना विनय साक्षात् अरहंत तीर्थकर जिनेन्द्र प्रभु परमात्मा मिलें तो वहाँ कर सकते हैं। तो देव की भी परीक्षा कर समंतभद्र ने वंदना किया था। तो अपनी भी एक शक्ति का उन्होंने गौरव रखा। मेरे में क्या सामर्थ्य है? सिद्ध प्रभु होने का सामर्थ्य है ऐसा मुझे होना है, तो यह भावना जो पायी जाय वह तो गुरु हो सकता है और जिसमें आत्म हित की भावना नहीं, सहज आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं वह गुरु नहीं हो सकता। वही इन स्थलों में बहुत विस्तार से कहा जा रहा है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है, अपने आत्मा को जानता नहीं है वह मुनि भेष धारण करले तो उससे क्या लाभ? वह कर्मों का क्षय नहीं कर सकता और वह तो गृहस्थ भी नहीं, मुनि भी नहीं। उसे तो मुनिपने का आनन्द भी नहीं मिल रहा



और गृहस्थों जैसा आराम भी नहीं मिल रहा। प्रयोजन यह है कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ भला है।

**कर्म निर्जरण का उपाय निजशुद्ध स्वरूपानुभूति**— चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो, सबके कर्मों की निर्जरा निज शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति से होती है। अपने इस शुद्ध अंतस्तत्त्व के बोध बिना यह जीव चाहे धर्म के नाम पर कैसा ही प्रसंग बना ले, पर कर्मों का क्षय नहीं कर सकती तो इससे शिक्षा क्या लेना कि मुनि भेष धारण करने वाले भी जिस सम्यक्त्व के प्रताप से सिद्ध हो सकते हैं, कर्मों की निर्जरा कर सकते हैं वह सम्यक्त्व भी निज शुद्ध आत्मा की अनुभूति से प्राप्त होता। शिक्षा यहाँ यह लेना, कहीं निन्दा की शिक्षा न लेना, न निन्दा के लिए उत्सुकता जगाना। इस कथन का उद्देश्य यह है कि जिस सम्यग्दर्शन के बिना मुनि भी कल्याण नहीं कर सकता वह सम्यग्दर्शन उपादेय है और मेरे को तो वह सम्यक्त्व प्राप्त होवे जिसके प्रताप से गृहस्थ रहेंगे तो ढंग से रहेंगे और मुनि होवेंगे तो सही होवेंगे। तो सम्यक्त्व यदि मूल में है तो यह जीव कर्मों का क्षय कर सकता है और सम्यक्त्व नहीं है तो उसका मुनि भेष वह क्या कर सकता है। यह सब जानकर एक ही बात अपने कर्तव्य में समझना कि मेरे को तो मेरे स्वरूप में समाया हुआ रहना है। बस ऐसा ही मानकर रह जाऊँ कि यह मैं अविकार चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। अन्य रूप से मुझे मेरी प्रतीति न हो तो अवश्य ही आत्महित होगा।

“अप्पाणं पिण पिच्छइ ण मुणइ ण वि सददहइ ण भावेई,

बहु दुःख भार मूलं लिंगं छेत्तण किं करई।।77।।”

**आत्म तत्त्व से अनभिज्ञ पुरुषों के मुनि वेश की बहु दुःख भारमूलता व व्यर्थता**— जो साधु अपने आत्मा को तो देखता नहीं, अपनी आत्मा को जानता नहीं, अपने आत्मा की श्रद्धा करता नहीं और न उस अविचार सहज ज्ञानस्वरूप की भावना ही करता है वह पुरुष मुनिभेष को धारण करके क्या करेगा? बल्कि उस मुनि भेष में बहुत दुःखों का बोझ भी उठा रहा है। मुनि भेष में आनन्द उसको आता है जिसने अपना उद्देश्य सही बनाया। मुझे अविकार ज्ञानस्वभावमय अपने आप में लीन होना है, यह दृष्टि जिनकी बनी है उनको तो उस मुनिभेष में आनन्द आता है और यह बात जिन्होंने नहीं पायी उनके लिए तो सारे कष्ट ही कष्ट हैं। एक बार खाना, प्यासे रहना, जमीन पर सोना, नग्न बदन रहना, ठंडी गर्मी आदिक के दुःख सहना केशलुँच करना आदि सारे दुःख ही दुःख का भार उनके ऊपर है जिन्होंने अपने आत्मा के स्वरूप को जाना नहीं। तो ऐसे साधु इस मुनि लिंग को धारण करके क्या अपना लाभ उठायेंगे, अर्थात् कुछ भी लाभ उनको न मिलेगा। तो जिस आत्म तत्त्व के जाने बिना सारे ही धर्म क्रिया काण्ड एक भार रूप बन जाते हैं उस आत्मस्वरूप को जान लिया जाय तो चाहे बहुत अधिक क्रियायें न भी कर पाये तो भी उसका मोक्ष होता है, एक बाहरी व्रत नियम उसके न चल सकेंगे पर अंतरंग में तो वह ज्ञान प्रकाश उनके बना हुआ ही है इस कारण उनको परम आनन्द मिलता है, जिनको अपने आनन्द का पता नहीं वे बाह्य तप में लगते हैं। किसी कारण से मुनि बन गए हैं तो उनका चित्त डोलता है और अनेक दुःख सहकर भी वह आशा रखता है कि मेरे को कोई लोक में महत्त्व मिले, उनका मुनि भेष उनको क्या करेगा?

“जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव।।

तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई।।78।।”

**आत्मतत्त्वानभिज्ञ जीवों को अपने दुःख को भोगते हुए भी दुःखपने की अनभिज्ञता**— जब तक अपना आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान लेता, जिस

वास्तविक स्वरूप के जान लेने पर अलौकिक आनन्द का अनुभव होता, तो जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, अलौकिक आनन्द का अनुभव नहीं किया वह अपने दुःख को भी नहीं समझ सकता दुःख की प्रतीति उसके ही सही बन सकेगी जिसको अपने वास्तविक आनन्द का पता होगा। ये जगत के मोही जीव इन्द्रिय सुख के साधन मिलने पर इन्द्रिय सुख भोगने पर कैसा हँसते हैं, कैसा मुस्कराते हैं, कैसा मौज मानते हैं। ऐसी जगह देख लो खूब अच्छा अच्छा खाते पीते, खूब मौज मनाते, तो ये क्या दुःख को समझ सकते कि इस जीव पर दुःख क्या है? अधिक से अधिक यह ही दुःख मान पायेंगे कि उनको मन चाहा विषय सुख का साधन न मिले या विकार हो गया तो इसमें दुःख मानना पड़ेगा मगर वास्तविक दुःख का ज्ञान उनको नहीं है। और यही एक मोह में विपदा है कि दुःखी होते जा रहे और दुःख को सुख मान रहे। मोह की कितनी बड़ी विडम्बना है। कैसे ही विषयों के साधन मिल रहे हों कैसा ही सरस मिष्ट भोजन किया जा रहा हो मगर आकुलता साथ चल रही है, इस आकुलता का पता अज्ञानी को नहीं है। और वह उन विषयों के प्रसंग में मौज मानता है सो दुःख का पता ज्ञानीजन ही जान सकते हैं कि संसार में दुःख क्या है? अज्ञानी तो दुःख का स्वरूप भी नहीं समझ सकते तो यह एक तुलनात्मक निर्णय आत्मीय। विशुद्ध आनन्द का अनुभव होवे जिसको सो ही मान सकेगा कि यह सब दुःख है सो दुःख की प्रतीति अपने शुद्ध स्वरूप के जाने बिना नहीं हो सकती यही कारण है कि मुनिजन अनन्त सुख से युक्त आत्मा का चिंतन करते हैं। आत्मा का जो अलौकिक आनन्द है सहज ज्ञान स्वरूप के मनन में जो एक निर्विकल्प समता रस से परिपूर्ण अवस्था बनती है उस आनन्द को जिसने चखा वही तुलना कर पायगा कि ये विषय सुख दुःख ही हैं। संसार के दुःख को दुःख मानने वाले तो जगत में अनेक मोही हैं, किन्तु संसार के सुख को भी दुःख मान सके ऐसा कोई बिरला ज्ञानी ही हो सकेगा। क्या दुःख है संसार में यह ज्ञानी ही जान सकता है ज्ञानी पुरुष ने अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जाना और उस शुद्ध स्वरूप के अनुभव में अलौकिक आनन्द पाया तो वह जानता है कि आत्मा का यह उपयोग अपने आप से बाहर किसी जगह जाय वही कष्ट है, और और प्रकार के कष्ट होते हैं यह बात तो दूर जावे, पर उपयोग में न रहें, और बाह्य पदार्थों में जाय वहाँ कुछ आशा बनाया तो उसको वह साक्षात् क्लेश है।

**योगियों के अनन्त सुखात्मक आत्मा की भावना का प्रवर्तन—** आत्मा की प्रतीति आत्मा के शुद्ध स्वरूप के जानने से होती है और शुद्ध स्वरूप को जाने और उस ही में आनन्द पाये वहाँ ही अपनी दृष्टि रहे तो उसको व्यक्त अलौकिक सहज आनन्द मिलता है। यही कारण है कि योगीजन जंगल में रह भी तृप्त रहते हैं अन्यथा एक प्रश्न खड़ासा रहेगा कि यहाँ गाँव में शहर में कोई गृहस्थ किसी दिन अकेला रह जाय, घर के सब लोग मानों माना के यहाँ चले गये या किसी काम से चले गए यह अकेला रह गया तो यहाँ तो दिन नहीं कटते। वहाँ वे मुनिराज अकेले जंगल रह रहे बताओ उनके दिन कैसे कट जाते? तो उनके दिन यों कट जाते कि वे अपने आत्मा भगवान से निरन्तर बात किया करते हैं। एक चित्रकाश ज्ञान मात्र जिसमें रागद्वेष की तरंग नहीं आत्मा का शुद्ध परिणमन आत्मा का अलौकिक आनन्द जग रह है। बाहर में किसका सहारा लें किसमें अपना दिल जमायें कि आनन्द मिलता रहे? एक भी तो उत्तर बताओ। पुत्रों को मानते कि ये सुख के साधन हैं मगर कितनी ही बार इन पुत्रों के संसर्ग से आकुलता होती है, यह विडम्बना बनती है और क्या किया जाय ऐसी मन में कल्पना रहती है। कौन सा ऐसा बाह्य पदार्थ है कि जिसमें दिल देने से आत्मा को शान्ति का लाभ हो? कोई उदाहरण तो बताओ मित्र हो साथी हो कोई भी हो ऐसा जगत में कुछ नहीं है कि जिसमें दिल लगाये तो शांति का

लाभ हो? एक शान्ति का धाम अपना ज्ञान स्वरूप आत्मा है उसका सही स्वरूप में ज्ञान रखते हैं तो स्थिर शान्ति प्राप्त होती है व्यवहार में जितने भी धर्म के कार्य हैं प्रभु पूजा गुरु सेवा उपदेश श्रवण स्वाध्याय बंदन आदिक जितने काम हैं वे सब काम इसलिए भले हैं कि उनका सम्बन्ध आत्मदर्शन से बना हुआ है, यदि आत्मा की सुध और दर्शन कराने से इसका सम्बन्ध न होता देव पूजा आदि का तो यह व्यवहार धर्म भी न कहलाता। यह वातावरण हमको आत्मा की सुधकरने में मदद देता है इसलिए यह व्यवहार धर्म है। तो आत्मा को अपने आपके सहज स्वरूप का बोध हो तो इसको शान्ति लाभ हो सकता है।

**णियतच्चुवलद्धिविणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।**

**सम्मत्तुवलविणा णिव्वाणं णत्थि णियमेण।।79।।**

**निजतत्व की उपलब्धि के बिना अहंकार भाव होने से सम्यक्त्व की अनुपलब्धि—** आत्म तत्व की उपलब्धि बिना सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं होती सम्यक्त्व मायने क्या? आत्मा की सफाई समीचीनता। आत्मा में जो विपरीत अभिप्राय लगे बैठे हैं उन विपरीत अभिप्रायों का निकल जाना ही सम्यक्त्व कहलाता है। क्या क्या विपरीत अभिप्राय लगे। प्रथम तो पर पदार्थ मैं हूँ ऐसा अहंकार बना है। शरीर में यह मैं हूँ ऐसा बोध बने वह विपरीत अभिप्राय है। बाह्य पदार्थों में भी लोग मैं कह देते हैं। ये भाई जो हैं सो मैं हूँ यों दूसरों को भी समझते कि हम में और इन में फर्क न समझना जो ये हैं सो मैं हूँ ऐसा अगर श्रद्धा हो तो वह विपरीत अभिप्राय है इस आत्मा का इस आत्मा के सिवाय परमाणु मात्र भी तो कुछ नहीं लगता वे अपनी पूरी सत्ता रखे हुए हैं किसी के आधीन कोई दूसरा पदार्थ नहीं हैं। सबकी परिणति अपने आप में चल रही है। फिर एक का दूसरा क्या कुछ लग सकता, पर मानते हैं मोही जीव तो यह है उनके मोह का वातावरण यहाँ पर मैं मोह है सीधा। मोह का द्वितीय चिह्न है ममकार दूसरा चिह्न है मोह का कि ममता करता रहे कि यह मेरा है मेरा है ऐसा मानता है मेरा है मेरा है ऐसा विचारते विचारते समय आता है मरण कर लेते हैं और कुछ जाता नहीं साथ तो मरण पर तो जरा ठीक बैठा जाता कि इसका यह कुछ न था किन्तु मेरा यहाँ कुछ नहीं है यह बात जीवन में निर्णय होना जरा कठिन लग रही है क्योंकि मोह का उदय है ना। मोह में सब कुछ उल्टा सूझता है।

**सही ज्ञान का महत्व—** भैया कम जानना बुरा नहीं पर बुरा भी जान रहा हो और उल्टा जान रहा हो तो वह अहितकारी है और यदि सही विधि से जानता हो और थोड़ा भी जानमा हो तो उसके लिए लाभकारी है। एक बुढ़िया के दो लड़के थे एक को तो दिखता था कम मगर सही और एक को दिखता था परा मगर सब कुछ पीला। उन दोनों लड़कों को वैद्य ने एक ही दवादी-चाँदी के गिलास में गाय के दूध में मोतीभष्म (सफेद चूर्ण) डालकर पीना। अब कम देखने वाले को माँ ने दवा दी तो उसने दवा को आराम से पी लिया और अधिक देखने वाले को माँगे दवा पीने को दी तो वह लड़का कहने लगा कि माँ जी क्या मैं ही तुम्हें दुश्मन मिला जो यह पीतल के गिलास में दवा दे रही था तो वह चाँदी का गिलास मगर उसे पीला दिखता था और फिर मुझे यह गाय का मूत क्यों दे रही हो वैद्य ने तो गाय का दूध बताया। था दूध मगर उसे पीला दिखता था और यह हड़ताल मुझे क्यों पिला रही हो? था तो वह सफेद मोती भष्म मगर दिखता था पीला तो उसने दवा नहीं पिया। परिणाम यह हुआ कि जिस लड़के ने दवा पी लिया था उसकी तो आँखें ठीक हो गईं और जिसने नहीं पिया उसकी नहीं ठीक हुई। तो हम आप सबका ज्ञान चाहे दुनिया की बहुत बहुत बातें न जाने पर एक अपने आत्मा की बात जाने तो भला हो जायेगा। व्यवहार की बात कम जाने तो भी गुजारा चल जावेगा, मगर आत्मा की बात न

जान पाये तो इसका गुजारा नहीं चल सकता। अब कोई दुख की स्थिति को ही सुख मान ले तो उसका क्या उत्तर है? आत्मा शाश्वत है और इसका यह रूप बदलता रहता है। कभी मनुष्य कभी पशु कभी कुछ ये रूप क्यों बदलते जा रहे हैं इसने देह को माना कि यह मैं हूँ और उस संस्कार से ऐसे कर्म का बंधन होता है कि वह दुखी हो जाता है तो दूसरा विपरीत अभिप्राय है ममकार।

**पदार्थों के स्वतंत्र द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अपरिचय में ज्ञान के सम्यक प्रकाश न होने पर कर्तृत्व का दुराशय—** तीसरा खोटा अभिप्राय है वह बाहरी पदार्थों में कर्तृत्व के अहंकार का। मैं करता हूँ मैं कर दूंगा मैंने किया था इत्यादि। यह जीव अपने भाव बनाता है सिर्फ भीतर में ख्याल बनाता है, विचार बनाता है, और विचार बनाने का निमित्त पाकर जीव में परिस्पंद (हलन चलन) हुआ करता है और उसके सम्बन्ध से शरीर में वायु चलती है, उसके निमित्त से फिर ये हाथ पैर चलते हैं और हाथ के बीच आयी कलम, अब यह तो अपना हाथ ही कर रहा है टेढ़ा मेढ़ा सीधा नीचा ऊँचा और उसके हाथ का निमित्त पाकर वह कलम भी टेढ़ी मेढ़ी चल रही है लो अक्षर बन गए। अब लोग यह भ्रम करते कि देखो मैंने अमुक चीज लिख दिया। अरे जीवने तो अपने विचार और आत्मा का परिस्पंद हलन चलन प्रदेश की क्रिया की ये ही दो काम कर सकता यह जीव और कुछ नहीं कर सकता बाकी जो कुछ होता है वह सब निमित्त नैमित्तिक योग से हो रहा है जैसे यह छाया पड़ रही है लाउडस्पीकर की तो इस छाया को किसने किया? बताओ। तो जल्दी जल्दी में तो यह समझ में आता कि उस छाया को लाउडस्पीकर ने बनाया पर वह लाउडस्पीकर तो उस छाया से कोई उ हाथ दूर खड़ा है वह तो अपना जगह पर वहीं का वहीं कसा पड़ा है वह कैसे अपनी कोई चीज एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा सकता है? वह लाउडस्पीकर तो जो कुछ भी कर रहा वह अपने में कर रहा पर ऐसा योग है कि इस प्रकाशित पदार्थ के सामने यदि ऐसी चीज आ जाय तो वहाँ का प्रकाश अंधेरे रूप बन जाता यह सब “होता स्वयं जगत परिणाम” निमित्त पाकर पदार्थों में ऐसा परिणमन चलता है। कोई किसी का कुछ करने वाला नहीं सिर्फ निमित्त होता है। निमित्त अपनी परिणति अपने विचार अपनी बात पर पदार्थों में डालता नहीं वह तो दूर खड़ा है मगर ऐसा ही योग है कि ऐसा निमित्त सामने हो तो यह जीव अपना ऐसा भाव बना डालता है। यही होता रहता है की सर्वत्र।

**परकर्तृत्व की बुद्धि की अनर्थकारिता—** यहाँ कोई किसी का पालनहार भी नहीं यह तो केवल अपने भाव बनाता है उनमें कृपा का परिणाम रखता है जैसा भी कुछ रखता है, उन जीवों के भी पुण्य के उदय हैं, उनको ऐसा निमित्त योग मिलता है कि वे भी सुखी रहते हैं। तो तीसरा विपरीत अभिप्राय है पर पदार्थों में कर्तृत्व आशय बनाना। कोई 40-50 मन का बोझ लदी गाड़ी दो बैल खींचे लिए जा रहे हों तो बच्चे लोग क्या करते हैं कि ये उस गाड़ी के पीछे हाथ लगाकर चलते हैं और यह अहंकार रखते हैं कि हम गाड़ी चला रहे हैं और बोलते भी जाते कि हाँ ठीक है, खूब गाड़ी चल रही है और कदाचित वे बैल खड़े हो जायें तो वे बच्चे कितने ही परिश्रम करें मगर गाड़ी नहीं चल सकती, तो जब बच्चे लोग गाड़ी को पीछे से ढकेल रहे थे तो बताओ क्या उनके ढकेलने से गाड़ी चल रही थी? नहीं उसका योग और दूसरा था बैल आदि का मगर वे बच्चे अहंकार कर रहे थे कि इस गाड़ी को मैं चलाता हूँ। तो ऐसे ही समझो कि ये संसारी मोही प्राणी भी व्यर्थ में अहंकार कर रहे कि मैं ऐसा करता हूँ, ऐसा कर दूँगा, मैं ऐसा बनाता हूँ यह सब कोरा अहंकार है अरे उन दूसरों का ही अगर उदय भला है तो उनका भला होगा नहीं तो कितना ही उद्यम किया जाय उनका भला न होगा अपने स्वरूप को देखो, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श का

नाम नहीं, अमूर्त चैतन्य प्रकाश मात्र यह अपने आप में करता क्या है? भाव कर रहा, जानकारी कर रहा, सब कुछ जानकारी ही कहलाती।

**ज्ञान परिणाम के अतिरिक्त अन्य कुछ किया जाना अशक्य होने से ज्ञान के शुद्ध वर्तन का कर्तव्य—** सुख नाम और है किसका? बस जहाँ इस तरह की जानकारी बनाया कि यह तो बड़ा अच्छा है, मेरे को बड़े साधन मिले इस तरह का ज्ञान बनाना उसका नाम सुख है। दुःख नाम किसका है कि इस तरह का ज्ञान बना कि हाय अब क्या किया जाय, मेरे कोई साधन नहीं किसी भी तरह का इस ढंग का ज्ञान बनाया बस वहीं दुःख है। सारी बात ज्ञान पर निर्भर है। ज्ञान किस रूप परिणामे वही कहलाता है विकार और किस रूप परिणामे वह कहलायेगा सुधार। अपना सुधार बिगाड़ सब कुछ अपने ज्ञान पर निर्भर है। जब ऐसी बात है तो अपने ज्ञान परिणाम को सम्हालने का यत्न करें दुनिया कुछ करे कोई कहीं जाय कोई कैसा ही करता हो, अपने आपको तो अपने ज्ञान से शुद्ध बनाने का भाव रखना चाहिये। शुद्ध भाव में सर्वप्रथम मुख्य काम तो यह है कि अणु-अणु स्वतंत्र सत्त्व जानना। प्रत्येक जीव का उनका जुदा जुदा सत्त्व जानना। प्रत्येक जीव का उनका जुदा जुदा सत्त्व जानना। अपने आपको जगत के समस्त पदार्थों से निराला ज्ञानमात्र जानना। यह है वह ज्ञान प्रकाश कि जिसके फैलने पर मोह नहीं रहता। मोह समस्त दुःखों की खान है। सुख दुःख का देने वाला दूसरा कोई जीव नहीं है। अपने आप में मोह रागद्वेष का परिणाम है, वह है दुःख रूप। जिसे दुःख न चाहिये उसे अपने आपमें ही कुछ करना होगा। बाहर में कुछ करने से किया तो जा नहीं सकता। बाहर में कुछ किये जाने का विकल्प करने से इस जीव को कुछ लाभ नहीं है। तो तीसरा विपरीत अभिप्राय है पर पदार्थों में कर्तृत्व भाव रखना।

**परभोक्तृत्व की अशक्यता होने से सहज स्वसंवेदन का कर्तव्य—** चौथा गंदा भाव है पर पदार्थों के प्रति भोक्तृत्व का भाव रखना जैसे मानो कोई मिष्ट फल चखा और उस मनुष्य ने सुख माना तो यह बतलाओ कि वह आम के रस का सुख है या आम के रस के बारे में जो ज्ञान बना यह बड़ा मधुर है, मीठा है उस ज्ञान का आनन्द है या रस का? ज्ञान तो आत्मा से चिपट ही नहीं सकता। यह जो आकाश की तरह अमूर्त है क्या आकाश में रस चिपटता है? आकाश में नहीं चिपटता तो आत्मा में भी आकाश नहीं चिपटता आकाश अमूर्त है तो आत्मा भी अमूर्त है फिर होता क्या है कि ऐसे इन्द्रिय द्वारा उस आमके रस का स्वाद समझ में आया कि यह मधुर रस है, मीठा रस है और साथ में लगा है राग भाव तो यह मीठा है, बड़ा अच्छा है मेरे को बहुत मौज है, खूब खाले, कुछ भी विकल्प करके वह मौज मानता है पर वह मौज ज्ञान का है कि पर पदार्थ के संयोग का है। गंभीरता से चिन्तन करें तो उत्तर आ जायगा कि जो कुछ भी सुख हो रहा वह सुख अपने ज्ञान का है बाहरी पदार्थों के संयोग का नहीं है बल्कि बाहरी संयोग के कारण आनन्द में कमी आयी, पर मोही जीव संयोग से आनन्द मानते यदि सर्व संग से रहित हो जाता और केवल अपने अंतस्तत्त्व का ही मनन रहता तो इसको अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रकट होता, सोये भोग ये विषय सम्बंध आनन्द के बाधक हैं। पर मोही जीव इसको ही आनन्द का साधन समझते तो जिसने अपने ज्ञानानंद स्वरूप को नहीं जाना वह दुःख को भी दुःख नहीं समझ पाता। तो आत्मतत्त्व की उपलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती और सम्यक्त्व हुए बिना यह मनुष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

**‘साल विहीणो राओ दाणदयाधम्मरहिय गिहि सोहा।  
णाणविहीणतवोवि य जीवविणा देहसोहा णो ॥८०॥’**

**ज्ञानरहित तपसे सिद्धि असंभवता**— ज्ञान से रहित तप की कोई शोभा नहीं। ज्ञान का ज्ञान रूप से बना रहना इस स्थिति से कर्म निर्जरा होती है, शरीर की क्या चेष्टायें हैं और बाहर में क्या क्रिया चल रही है, कर्म का इसमें निमित्त नैमित्तिक संबंध नहीं है। कर्मबंध का कर्माश्रय का निमित्त है उदय में आये हुए कर्म, द्रव्य प्रत्यय और इन द्रव्य प्रत्ययों में कर्म के आश्रय का निमित्तपना आ जाय इसका नाम है जीव के राग द्वेषादिक भाव। तो मूल में जीव के अपराध से ही आश्रय हुआ। जैसे कोई पुरुष अपने कुत्ते को धुधकार दे किसी मनुष्य पर और वह कुत्ता उस मनुष्य को काट ले तो अपराधी कौन हुआ? वह मनुष्य मालिक जिसने कुत्ते को धुधकारा है तो जैसे काटा तो कुत्ते ने पर अपराध माना गया मालिक का ऐसे ही कर्म का आव तो हुआ उदयगत द्रव्य प्रत्यय से किन्तु छुछकारा है द्रव्य प्रत्यय को इस जीव के राग द्वेष ने, तो मूल में अपराध जीव का रागद्वेष भाव हुआ। तब यह समझियेगा कि कर्म की निर्जरा का निमित्त वह क्रिया नहीं जैसे कि कर्मों के आश्रय क्रिया नहीं किन्तु द्रव्य प्रत्यय अथवा रागद्वेष भाव हैं। कर्म भी निर्जीर्ण होते हैं तो इसके शरीर की दशा देखकर नहीं होते कि यह देखो बेचारा पहाड़ पर चढ़ गया दोपहर में तो इसके कर्म झड़ने ही चाहिए, कर्मों की निवृत्ति कहीं काय क्लेश रित्ने से नहीं होती किन्तु शुद्ध भावों से होती है। आत्मा के शुद्ध भावों का निमित्त पाकर पूर्व बद्ध कर्म स्थिति काण्डक अनुभाग काण्डक सब नष्ट हो जाया करते हैं तो यहाँ मूल बात यह कही जा रही है कि यदि ज्ञान भाव न जगा। अपने अविकार सहज स्वरूप की दृष्टि न पायी तो कितने ही तप कर लिए जायें उनसे कर्म निर्जरा नहीं होती। एक बात यहाँ थोड़ा समझने की यह है कि फिर ये तप व्रत बगैरह क्यों किये जाते? तो तपश्चरण करना किस प्रयोजन के लिए? मेरे ज्ञानभाव में विशुद्धि आये ऐसा जिनका लक्ष्य है उनके लिए तपश्चरण में भी यह विशुद्धि प्रकट होती है।

**तपश्चरण के दो प्रयोजन**— तपश्चरण करने के दो कारण हैं। एक तो यह कि आराम से जो ज्ञान उत्पन्न किया भेद विान आत्मदृष्टि तत्त्वबोध जो कुछ आराम से किया तो वह पाया हुआ ज्ञान कदाचित कष्ट के आने पर नष्ट हो सकता है क्योंकि उसने कहीं कष्ट सहा नहीं। जानकर सहा नहीं। अपने आप कष्ट आने पर सहा तो उसको पाया हुआ ज्ञान सुरक्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि वह ज्ञान जान कर कष्ट सहता रहे उससे यह अभ्यास बन जायगा कि कदाचित कष्ट आने पर भी उसका ज्ञान नष्ट न होगा। एक कारण तो यह है दूसरा कारण यह है कि मन चंचल है कषाश्य का संस्कार है, अशुभोपयोग आने की नौबत बनी रहती है। तो इस वासना को दूर करने के लिए अनशन आदिक तपश्चरण किए जाते हैं ताकि उपयोग बदल जाय और अशुभोपयोग से हट जाय। कभी देखा होगा कि किसी बालक को यदि हुचकी आती हो तो उसे लोग ऐसी कोई बात कह देते कि जिससे है रानी में पड़ जाय तो उसकी हुचकी बंद हो जाती है जैसे उसके घर रात को क्यों गया था, या तू उसकी चीज चुराकर क्यों लाया बस उसकी हुचकी बंद हो जाती है। यह तो बच्चे की बात कह रहे, उसका उपयोग बदलने को इतना ही काभी है, मगर कषायों का संस्कार बदलने के लिए गप्प सप्प काफी नहीं होता। बड़े बड़े तपश्चरण अशुभोपयोग के संस्कार बदलने के लिए हुआ करते हैं। तो तपश्चरण के दो कारण हैं।

**तपश्चरण के प्रयोजन से अनभिज्ञ अज्ञानी जीव की तपस्या की दुर्ग रहित राजा की तरह अशोभा व अरक्षा**— अब यदि कोई साधु कि मैं आज तेज धूप में बैठकर खूब तपस्या करूंगा और खूब कर्मों की निर्जरा करूंगा तो यह उसकी अज्ञान भी कल्पना है यहां तपश्चरण करूंगा के मायने हुआ तेज गर्मी सहूंगा, कई दिनों के लिए भोजन छोड़ दूंगा और इस तरह कर्म खिरा दूंगा, पर यह तो बताओ कि ऐसी अज्ञान

भावना से कर्म मिटेंगे कि बढ़ेंगे? बढ़ते ही हैं। तो जब तक अपने सहज ज्ञान स्वभाव की रुचि, अनुभूति, प्रतीति न जगे तब तक ज्ञान विहीन यह तप ऐसा व्यर्थ है या शोभा रहित है जैसे कि दुर्ग के बिना राजा की शोभा नहीं रहती। दुर्ग होता है किला खूब मजबूत किला होता, उसमें राजा के महल होते हैं और वहाँ रहकर राजा अपने को सुरक्षित अनुभव करता, और यदि दुर्ग नहीं है, प्रजाजनों की भाँति सीधे मैदान में ही कुछ महल बने हैं, वहीं रहता हो राजा तो एक तो शोभा नहीं, दूसरे सुरक्षा नहीं ऐसे ही ज्ञानरहित तप में शोभा नहीं कार्य सिद्धि नहीं।

**कर्मनिर्जरण का निमित्त वीतराग भाव**— एक कुँजी यह जानें कि जो काम होने की बात की जावें। उस काम की विधि समझना और विधि निमित्त नैमित्तिक भाव समझने से जानी जाती है। उस का कार्य है कि कर्म दूर हों तो कर्मों की निर्जरा होने का निमित्त आत्मा का वीतराग भाव है। गर्मी के दिनों में तप्तयमान पहाड़ पर बैठ जाना यह कर्म निर्जरा का निमित्त नहीं है। सीधा देखो ना जो नवीन कार्य नैमित्तिक कार्य जिस स्थिति में होता है वही स्थिति तो निमित्त है। विज्ञानरूप रहे ज्ञानमात्र रहे ज्ञातादृष्टा रहे, शुद्ध चित्प्रकाश ऐसी ही अपनी सामान्य स्थिति बन जाये तो कर्म की निर्जरा होती है सामान्य का बड़ा महत्व होता है और विशेष तो निन्द्य है परन्तु लोक में उससे उल्टी बात है कि विशेष आदमी आया था विशेष आदमी की चर्चा यहाँ महत्वशाली मानी जाती है। पर अध्यात्म में आत्मकल्याण में विशेष तत्व तो हेय है छोड़ने योग्य है और सामान्य तत्व उपादेय है। एक बात और ध्यान में लायें कि यदि कोई पुरुष अपने आप को एक साधारण अनुभव करता सब जीवों की तरह तो सबमें समान रहकर अपने आप में एक निर्विकल्पता उत्पन्न करने का अवसर पाता है और यदि से दृष्टि बने कि मैं विशेष हूँ, ऐसी विशेषता अपने आप में अनुभव की जाये तो मोक्ष का हेतुभूत वह शुद्धभाव वहाँ आ नहीं पाता। सामान्य का प्रतिभास, सामान्य और सामान्य स्थिति यह बहुत उपकारक स्थिति है, विशेष स्थिति है संसार और सामान्य स्थिति है मोक्ष। निस्तरंग, नीरंग, निसंग, यह अवस्था विशेष में नहीं होती, सामान्य में होती है और भी सामान्य का महत्व देखिये अपने आप को किस रूप में अनुभवाजाय कि अपने में समता जगे समाधि बने निर्विकल्पता बने।

यदि अपने को विशेष रूप अनुभवा जाय और बहुत विशेष की बात तो दूर रहो अपने में अपना व्यक्तित्व भी देखा जाये कि यह हूँ मैं यह चैतन्य यह जीव यह ज्ञान स्वरूप यह हूँ मैं इतना तक भेद भाव हो तो वह परिणामों में परम समता को नहीं लाने देता परम समाधिभाव को वह उत्पन्न नहीं करने देता। ये बातें हैं तो ज्ञातव्य समझते भी हैं किन्तु जब समाधि का प्रसंग आया निर्विकल्प निराकुल एक रस ज्ञान मात्र अनुभव में है जब ऐसा अपना अन्तः पौरुष चले उस समय यह मैं यह हूँ ऐसा सामने अपने को रखकर अपना मनन करना यह भी बाधक है। समझ तो यह बनानी पड़ेगी मगर इस समझ को बनाकर फिर इस समझ को भी त्याकर निर्विकल्प अपने में परम विश्राम चाहिए।

**तपश्चरण के मूल प्रयोजन की जिज्ञासा**— भोजन किसलिए बनाते कि बना कर उसे खाया जाय। क्या कहीं कोई ऐसा भी मूर्ख देखा कि जो खाना तो दिन भर बनाये और उसे खुद न खाये? ऐसा तो शायद कभी न देखा होगा कभी ऐसा हो जाता है कि किसी महिला ने मानो खाना बनाया तो सब को खिला दिया, खुद ने उस समय न खाकर शाम को खा लिया तो वह तो एक परिस्थिति है समझकर ऐसा करती है पर अज्ञानवश तो ऐसा कोई नहीं करेगा। यदि अज्ञानवश इस तरह करे तब तो रोज रोज वैसाही करे। तो ऐसा कोई न मिलेगा कि जो भोजन तो रोज रोज बनाये पर उसको खाने का उद्देश्य न रखे। काहे के लिये भोजन बनाया? उदर पूर्ति के लिए तो काहे के लिए व्रत तप संयम कर रहे

है? इसका जिसके पास उत्तर नहीं वह ज्ञान विहीन है और वह कितने ही तप करे तो तो भी उसका कुछ प्रयोजन नहीं है ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो इसके लिए ये तप व्रत किये जा रहे हैं? जितने ही व्यवहार धर्म के कार्य हैं इसका उत्तर यह ही एक है।

**मन्दिर जाने और देवदर्शन करने के प्रयोजन की जिज्ञासा—** आप किस लिए मन्दिर जाते तो इसका उत्तर होना चाहिए कि मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञान स्वरूप समाया रहे निर्विकल्प परम समता रास का अनुभव करूँ इसके लाभ के लिए मन्दिर जाते। वहाँ प्रभु के प्रतितिबिम्ब से ऐसी प्रेरणा मिलती है कि संसार में कहीं कुछ सार नहीं है मेरी तरह पद्मासन से एक जगह बैठ जाओ। दुनिया में चलने से कुछ नहीं मिले। जिस मुझखे यह शिक्षा मिलती है कि तुम किस किस कार्य को करने का अहंकार और आरम्भ कर रहे हो? जगत में कोई भी पदार्थ कोई भी कार्य ऐसा नहीं है कि जो आत्मा में शान्ति अत्पन्न कर सके तब फिर मेरी ही तरह (प्रभु की तरह) हाथ पर हाथ रखकर विश्राम से बैठकर रह जावो, इन आँखों को चंचल क्यों कर रहे हो? इनको यहाँ वहाँ क्यों घुमा रहे? यत्र तत्र क्यों देखा करते हो? जगत में 'कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जो अपने लिए शरणभूत हो तब फिर मेरी ही तरह नासाग्र दृष्टि रखकर निश्चल होकर बैठ जावो। यह शिक्षा जिसकी मुद्रा से मिल रही है बस उस मुद्रा से यह भाव भरा और उस मुद्रा में जिसकी स्थापना की गई है मान लो उस मूर्ति में महावीर स्वामी की स्थापना है तो उस मूर्ति में उसके स्वरूप चिंतन में लगना कि वे अनन्त चतुष्टय के धनी अनन्त ज्ञान व दर्शन आनन्द व अनन्त शक्ति कैसा निराकुल वीतराग सर्वज्ञ अब उस चैतन्य स्वरूप पर दृष्टि जा रही है इससे क्या होगा? ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो।

**उपवास के प्रयोजन की जिज्ञासा—** किसलिए उपवास कर रहे? उपवास करने वालों से पूछो उनका जवाब लो तो यह ही जवाब आयगा ज्ञानी पुरुष का कि उसका विकल्प मिटे इसके लिए अनशन किया यदि यह ऐसा बन जाये तो कोई उपवास नहीं करेगा जिसमें रात दिन विकल्प बन जाते हैं हाय हाय करते हैं उसका एहसान थोपते हैं कि हमने आज उपवास में कुछ नहीं लिया सिर्फ पानी पूनी रख लिया था अब बताओ अपनी इस पानी पूनी पानी में पानी तो सस्ता है पूनीबंपरा मंहगा पड़ जायेगा। पूनी का अर्थ है मुनक्का, किसमिस, बादाम पिस्ता आदि। अरे उपवास किस लिए किया था? इसलिए कि आत्मा में विकल्प ना जगें विकल्प से निवृत्त होने के लिये तो उपवास किया था और इसके एवज में ओर भी विकल्प बढ़ते हैं तो अपना उद्देश्य कहाँ सम्हाला उसने? ज्ञान विहीन तपश्चरण। न तो शोभा है और न आत्मा की सुरक्षा है वह किस तरह? इसके लिये यहाँ उदाहरण दिया गया है कि जैसे दुर्ग से रहित राजा की शोभा नहीं, दुर्ग किसे कहते हैं जहाँ बड़ी मुश्किल से पहुंचा जाये बड़ी कठिनाई आये जिसके अन्दर घुसने में उसे कहते दुर्ग यदि दुर्ग नहीं तो जो चाहे जैसे चाहे आक्रमण करके उसे नष्ट कर दे उस राजा की न तो रक्षा है और न ही शोभा है ऐसे ही ज्ञान रहीत तप से न उस जीव की शोभा है और न रक्षा है।

**दान या धर्म रहित गृहस्थ की तरह ज्ञान विहीन तप की अशोभा—** दूसरा उदाहरण ज्ञान विहीन तप की व्यर्थता पर दिया गया है कि दान दया धर्म से रहित गृहस्थ की न तो शोभा है और न सुरक्षा। और दान वही कहलाता है कि अपने भावों की उत्सुकता से किया जाये। यदि यह भाव नहीं हे दान नहीं है तो गृहस्थ की शोभा नहीं, दया बिना तो साधु की भी शोभा नहीं है। पर यहाँ एक लौकिक प्रसंग का उदाहरण है साधु को दया आयेगी तो वह किस तरह क्या करेगा? क्या किसी को रोटी खिला देगा कि जावो ढाबे से रोटी खा आवो हम उसका पेमेन्ट कर देंगे...? अरे साधुजन ये लौकिक बातें नहीं किया



करते। साधुजनों की दया किस प्रकार है? वे वचनों से आत्मा का बोध करायेंगे ज्ञान करायेंगे कि जिससे उसके संकट कम हो जाये। तो लौकिक बातों में गृहस्थ जन की दूसरों को आराम दे सकते इसलिए दया बिना गृहस्थ की शोभा नहीं यह उदाहरण दिया जाता है और धर्मरहित गृहस्थ में जो भी बातें उपयुक्त हैं उन कर्तव्यों से रहित गृहस्थ की शोभा नहीं।

**जीव बिना शरीर की तरह ज्ञान विहीन तप की अशोभा—** तीसरा उदाहरण है कि जीव के बिना शरीर की शोभा नहीं। जो लोग प्रेम करते हैं किसी से तो वहाँ एक यह निर्णय करके तो बताओ कि वे शरीर से प्रेम करते या आत्मा से? यदि शरीर से प्रेम करते होते तो जीव के निकल जाने के बाद उन्हें रोना तो न चाहिए, क्योंकि जिस शरीर से प्रेम करते थे वह शरीर तो अभी वहाँ पड़ा हुआ है, उन्हें कष्ट न मानना चाहिए क्योंकि वे तो शरीर से प्रेम करते थे। बल्कि थोड़ा खुशी माननी चाहिए थी कि वह शरीर अब कहीं भाग नहीं सकता उससे खूब मनमाना प्रेम किया जाय। तो इस शरीर से कौन प्रेम करता है शरीर प्रेम की वस्तु नहीं है। तो क्या प्रेम करने वाले लोग जीव से प्रेम करते हैं? जीव से भी प्रेम नहीं करते। यदि जीव से प्रेम करते होते तो जैसे इसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र बने। मोक्ष मार्ग में लगें, विकल्प न जगें, निर्विकल्प समाधि के अनेक अवसर आयें, इसी तरह की भावना होनी चाहिए ऐसी भावना कहाँ होती? और साधारण रूप से देखो तो माता पिता अपने पुत्र के प्रति प्रश्नोत्तर करने लगते। पुत्र से प्रेम है तो यह बतलाओ कि पुत्र के शरीर से प्रेम है या उसके आत्मा से प्रेम है? शरीर से प्रेम तो नहीं रखते, गुण न हों, बुद्धि उसकी अच्छी न हो, बड़ा ऊधमी हो, या उपद्रव करता हो, धनार्जन करने का काम न करता हो तो उसके शरीर से कौन प्रेम करता? तो क्या जीव से प्रेम करता? अगर जीव से प्रेम हो माता पिता का तो उसकी यह भावना रहनी चाहिए कि यह पुत्र खूब अध्ययन करे, विद्वान बने और उसकी ऐसी सद्बुद्धि हो कि यह विवाह भी न करे और ब्रह्मचारी बने, अपने आम्मा की साधना करे, संसार के संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जाय ऐसी भावना करने वाला अगर इस नगर में हो कोई तो हमें भी बता देना कि जो पुत्र की आत्मा के प्रति ऐसा भाव करता हो या दुनिया में कहीं कोई ऐसा दिखे तो हमें भी बता देना, होते तो हैं, मना तो नहीं किया जा सकता, पर वे ही माता पिता ऐसे होते हैं कि जो स्वयं विरक्त हैं, स्वयं को भी जिन्हें संसार नहीं सुहा रहा और अपने आत्मा में, ब्रह्म स्वरूप में मग्न होने का भाव रखते हैं, ऐसे माता पिता अपने पुत्र के प्रति यह एक कामना रख सकते हैं कि मेरा पुत्र कल्याण के मार्ग में लगे। तो कोई न तो किसी के शरीर से प्रेम करता न जीव से प्रेम करता, किन्तु अपने आप के अन्दर जो भाव उठता, जो कषाय जगती उसको शान्त करने के लिए यह सब व्यवहार होता है। तो प्रकरण यह है कि जीव के बिना शरीर की शोभा नहीं है। वैसे भी शोभा नहीं, मुर्दापन छा जाता है किसी काम का नहीं रहा इसलिए भी उसकी शोभा नहीं तो ऐसे ही ज्ञान से रहित तपश्चरण की न शोभा है और न उसमें कुछ आत्मा की रक्षा है।

**मक्खी सिलिम्मि पडियो मुबड् जहा तह परिग्गहे पडियो ।**

**लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ।।**

**पर्यायविमूढ अज्ञानी परिग्रहपतित क्षपण के जीवन की व्यर्थता—** जो पुरुष अज्ञानी है जिसको आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय नहीं है अर्थात् जिसको अपना पता ही नहीं है ऐसा पुरुष यदि मुनि बन जाये, क्षपण हो जाये तो वह मूढ लोभी अज्ञानी कायकलेशों में पड़कर मरण करता है जैसे कि मक्खी कफ में गिरकर कर मरण करती है यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे सब लोग जानते हैं कि यदि कोई मक्खी कफ पर आ जाये

तो ऐसा फटकती है कि उसको निकालना कठिन हो जाता है। तो फिर बेचारी उस कफ में पड़े मरण कर जाती है। अंतरंग मरण तो सभी पुरुष करेंगे ही पर जो साधु परमेष्ठी का बाना रखकर आत्मज्ञान से शून्य है केवल मन के परिग्रह में पड़ा हुआ है वह पुरुष कायक्लेश में समय गुजारकर मरण को प्राप्त हो जाता है जिसको निःसंग अविकार सहज चित्प्रकाश की सुध नहीं है और उस चित्प्रकाश में यह मैं हूँ मैं अन्य कुछ नहीं ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं है उस पुरुष का उपयोग कहीं तो लगना चाहिए। आत्मा में तो उपयोग लग नहीं सकता, क्योंकि आत्मा का ज्ञान ही नहीं। अज्ञात वस्तु में कहीं दिल टिकरता है क्या किसी का? जो ज्ञान में आया हो वह क्षपण याने निर्ग्रन्थ भेषी मुनि जो आत्माज्ञान से रहित है उनका उपयोग आत्मा में तो लग नहीं सकता तो लगेगा कहीं बाहर सो यह अज्ञानी मुनिवेशी परिग्रह में पतित होकर कायक्लेश सहता हुआ मरण को प्राप्त होता है।

**अज्ञानी का स्वपद में रमण क्षमता के अभाव से परपद में रमण**— चारित्र गुण ठाली नहीं रह सकता। यदि आत्मज्ञान नहीं है तो किसी पर पदार्थ में उपयोग रमेगा। आत्मा का रमण करने का भी स्वभाव है तो वह रमता है बहिस्तत्व में जैसे शरीर को देखकर मैं मुनि हूँ लोगों को देखकर ये मेरे भक्त हैं, मैंने तपस्या की है, ये लोग कुछ समझ जावें या मैंने यह मुनि भेष रखा है तो मुझे यों चलना चाहिए, इस तरह की मन में जो पर्याय के प्रति बुद्धि है उसके कारण जो ज्ञात बात है उसमें मन लगता है और ज्ञात बात क्या है सब बाह्य पदार्थों की बात और बाह्य तत्व क्या है? सब परिग्रह, तो वह परिग्रह में पतित है, परिग्रह मात्र बाहरी चीज का नहीं है घर छोड़ दिया कुटुम्ब छोड़ दिया तो परिग्रह छूट गया ऐसी बात नहीं है अंतरंग परिग्रह में चार प्रकार की कषायें क्रोध मान माया लोभ 9 नो कषायें मोह ये परिग्रह कहलाते हैं इन परिग्रहों से इस उपयोग से तो वह अभी पृथक् नहीं हुआ है और न समझ पाया है कि ये तो विकार हैं औपाधिक हैं मेरे स्वरूप नहीं है कहने को तो सब कह देंगे ग्रन्थों में भी लिखा हुआ है। बोलते भी हैं मगर आत्म स्वरूप का ज्ञान हुए बिना यह विकार है यह भी नहीं जाना जा सकता। जैसे दर्पण में बाहरी चीजों का प्रतिबिम्ब आया कोई छाया है फोटो है तो यह छाया है फोटो है औपाधिक हैं, विकार है यह वही तो समझ सकेगा जो उस ऐना की सही स्वच्छता को भी पहिचानता है तो ऐसे ही क्रोधादिक भाव विकार हैं औपाधिक है यह वही तो समझ सकेगा जो आत्मा के स्वच्छ स्वरूप को भी पहिचानता हो, तो जिसको अविकार अन्तः स्वरूप की अनुभूति नहीं हुई है और अलौकिक आनंद का अनुभव नहीं हुआ है वह क्षपक याने मुनि कायक्लेश भी परिग्रह में पतित होकर मरण कर जाता है।

**अज्ञानी की सर्ववृत्तियों की परपद रूपता**— काय क्लेश भी उनका परिग्रह है यह मैं हूँ। मैं ऐसा तपश्चरण करता हूँ। मैं यों तपस्या करूँगा और यह भावना ही उसे नहीं बनती कि मैं पदार्थ स्वरूप ही मात्र हूँ। मैं तो केवल जाननहार रहूँगा। मैं अन्य विकल्प न करूँगा केवल प्रतिभास मात्र इस तत्व की खबर नहीं है सो वह लोभी मूढ़ अज्ञानी है। तीनों ही रूप रखकर काय क्लेश में रहकर परिग्रह में पतित होकर मरण करते हैं। यहाँ तीन विशेषण दिया है गाथा में लोभी मूढ़ अज्ञानी। ये बाहरी विकल्पों का परिग्रहण करते हैं इनसे विविक्त जो आत्मा का अविकार स्वरूप है उसमें उनका ध्यान नहीं जागता। यह तो सब माया है। मैं तो परमार्थ कारण समयसार हूँ। तो जो कुछ बाहर की भक्ति विनय या और और भी बातें होती हैं उनमें यह तृप्त होता। उसका यह लोभी है मूढ़ कैसे है कि वह बेहोश है, अपने आत्मा का उसे होश नहीं है। कर्म इस भेष से नहीं डरा करते। कर्म तो आत्मा के शुरू स्वभाव की भावना होने पर दूर हुआ करते हैं। काय की चेष्टा से कर्मों के निर्जरण का कोई संबंध नहीं है, और आत्मा की शुरू भावना होने पर कर्मों का निर्जरण

होता, सम्बर भी होता, सो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य देव उन साधुओं को सम्बोधन करते हैं कि जो आत्मज्ञान से रहित हैं और केवल बाह्य भेष आदिक में तृप्त रहते हैं। और इसी में मौज मानकर अपना समय गंवाते हैं। कहते हैं कि उनकी स्थिति ऐसी है कि जैसे कफ में गिरी हुई मक्खी की स्थिति होती है। परिग्रह में पतित होकर मरण वह वहाँ ही पड़ी पड़ी मरण को प्राप्त होती है। इससे यह आगाह किया गया कि वस्तु स्वरूप को निरखकर आत्मा के स्वरूप तत्व को देखकर जो अविकार सहज शुद्ध है, सदा सिद्ध है उस स्वरूप में आपा का अनुभव करें कि मैं यह हूँ।

“णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं वि।

ज्ञानं तस्स ण होइहु जाव ण कम्मं खवेइण हु मोक्ख।।82।।”

**ज्ञानाभ्यासविहीन पुरुष की स्वपदरतत्वानभिज्ञता व जीवन व्यर्थता—** जो ज्ञानाभ्यास से विहीन है वह जीव न अपने को जानता और न पर को जानता। अपने को अपने रूप से जानना अपना जानना कहलाता है और पर को पररूप से जानना सो पर का जानना कहलाता है। तो जो स्वपर द्रव्य को नहीं जानता वह कुछ भी नहीं जानता। किसी को भी वास्तव में नहीं जान पाता। तो जो जानता ही नहीं अपने आपको उसको आत्मा का ध्यान नहीं होता और ध्यान न होने से कर्म दूर नहीं होते और कर्म दूर न होने से मोक्ष नहीं होता। जितना जिसका जीवन शेष है उतने में ही यह उद्देश्य बनाये कि मैं अधिक से अधिक ज्ञानाभ्यास करके, ज्ञान लेकर, अध्ययन करके, स्वाध्याय करके तत्वों को परख कर मैं अपना शेष बचा हुआ जीवन अपना यह उपयोग ज्ञान से सुवासित रखूँगा। यदि यह बात न कर सके तो खुद ही उत्तर दो कि यह मनुष्य जीवन पाना किसलिए हैं। परिवार का पोषण तो पशु पक्षी भी करते, उदर पूर्ति पशु पक्षी भी कर लेते। कुटुम्ब की ममता, बच्चों की ममता पशु पक्षी भी किया करते, लौकिक इज्जत पशु पक्षियों में भी होती हैं यहाँ तो मनुष्य मनुष्यों को ही समझते हैं कि ये ही जीव हैं और वे ही अपनी इज्जत बनाये रहते हैं, पर ऐसी बात नहीं, ये पशु पक्षी भी अपनी बिरादरी में इज्जत से रहा करते हैं कोई अपमान भी महसूस करते। कभी देखा होगा कि बहुत से जानवर जंगल में चरा करते तो उनमें कोई गाय या बैल जिस चाहे को मारता फिरता और उन सब के बीच अपनी शान समझता तो इज्जत उनके भी होती। कौन सा लाभ पाया मनुष्य ने कि जिससे यह कहा जाय कि इसने अपना जीवन सफल किया?

**लोकेषणा की कृतियों में आत्महित का असम्बन्ध—** किसी का अगर कुछ अच्छा व्यवहार है, कोई दूसरों से अच्छा बोलता है, कुछ दूसरों के काम भी आता है, ऐसा पुरुष यदि गुजर जाये तो लोग इतना कह देते कि यह बड़ा उपकारी है, सबके काम आता है। अरे उस काम से भी क्या फायदा, उस उपकार से भी उसे क्या लाभ? वह तो लौकिक ढंग से उपकार कर रहा, कोई आत्मज्ञान के नाते से नहीं कर रहा। जो आत्मतत्व का बोध रखते हैं उनकी सारी क्रियायें रहस्य से भरी हुई हैं। कलापूर्ण होती हैं। वह अपना भी उपकार कर रहा और उससे दूसरों का भी उपकार हो रहा। बहुत धन कमा कमाकर रख गए कि मेरे लड़के, दामाद वगैरह भोगेंगे और सारा जीवन धर्म से विमुक्त होकर कषायों में आरम्भ परिग्रहों में बिता डाला तो उनको न इस जीवन में शान्ति मिली न आगे भी शान्ति मिली। आत्मा के ज्ञान बिना शान्ति सम्भव ही नहीं है। तो देखो घर में रहते हैं, सब कुछ करते हैं पर जिस काम के बिना सब कुछ सूना है उसकी और दृष्टि ही नहीं, आत्मज्ञान के बिना सब सूना है, सब कुछ कार्य जंगल में रोने के समान हैं। जैसे जंगल में कोई रोये तो उसे सुनने वाला कोई नहीं है, उसका रोने का सारा परिश्रम व्यर्थ है। वह अपने आप ही कल्पनायें करके मिथ्यात्व में भ्रम कर खुद अपना घात कर रहा है। तत्वज्ञान तो मार्ग

दिखाने वाला दीपक है। इस तत्वज्ञान बिना, तत्वज्ञान के अभ्यास बिना जीवन बिल्कुल बेकार समझिये।

**आत्मानुकम्पा का अनुरोध**— भैया कुछ थोड़ा होश तो लाना चाहिए कि इस असार संसार में जन्म मरण कर करके ही इस संसार में अपना सारा समय बिताना है क्या? क्या यह ही बात मंजूर है? अगर नहीं मंजूर है यह बात तो बताओ उसकी विधि क्या यही है कि घर में बेहोश रहें, ममता करें, उनको ही अपना सर्वस्व समझों इस विधि से जीवन बिताना क्या यह विधि है संसार से छूटने की? कुछ अपने आप पर करुणा होनी चाहिए और एक ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि जगत के किसी भी पदार्थ से मेरा कोई संबंध नहीं। यह सब गुजारा कमेटी है घर में जितने लोग रहते हैं। सबके अलग अलग काम बटे होते हैं, तुम घर में खाना बनाओ हम दुकान धंधा काम काज करके कमायी करें, अमुक व्यक्ति घर के ऊपरी काम करें, जो जिस में जैसी योग्यता हुई उसको वैसा काम बँटा रहता है। कोई अगर कुपूत है, समझदारी नहीं, बुद्धि नहीं तो उसे कुछ थोड़ा सा काम दे दिया। तो यों अपने अपने को सभी लोग गुजारा कमेटी का एक मेम्बर समझलो। सबके सहयोग से इस परिवार का गुजारा चल रहा है। यहाँ आप का लेशमात्र भी कुछ नहीं है। जो अपने में निधि है जो अपने आप में सर्वस्व है, जो अपने में बसा हुआ है उसकी तो सुध नहीं और उपयोग बाहर बाहर डोलता रहता है सो डुलायें मगर इस उपयोग की दशा फुटबाल की तरह ही चलेगी।

**बाह्य सम्पर्क से सर्वत्र अशान्ति व आघात जानकर स्वतत्त्व में प्रवेश करने के साधनभूत ज्ञानाभ्यास का अनुरोध**— फुटबाल जिसके पास जायगा वह इसे लात ही मारेगा। कोई उठाकर गले से लगाकर फुटबाल को चूमने वाला न मिलेगा। यह उपयोग जिसके पास पहुँचेगा वहाँ से लात ही मिलेगा धक्का ही लगेगा, मगर कुछ अपनी कषाय के अनुकूल बैठे तो उसके धक्के और तरह के हैं। जैसे पिटाई दो तरह की होती है। एक तो पिटाई से तो खून निकलने लगता कुछ टूट फूट जाता और एक पिटाई ऐसी होती है कि बाहर से देखने में कुछ नहीं, तगर उसमें मुदी चोट बहुत गहरी होती है। अब जिस पिटाई से कुछ टूट फूट गया। उसकी तो चिकित्सा जल्दी हो जाती है पर मुदी चोट की पिटाई जिन्दगी भर याद कराती रहती हैं कि रे बच्चू तेरी इस तरह की पिटाई हुई है। अगर कषाय के अनुकूल कोई चल रहा है तो उसमें भी कष्ट ही कष्ट हैं, और फिर बीच में अनबन बने तो उसका भी दुःख मानना होगा किसी का मरण हो गया तो उसका कष्ट मानना पड़ता है। तो यह उपयोग जहाँ जायेगा संसार में बाह्य पदार्थ की ओर वहाँ से ही सिवाय लात धलने के इसको ओर कुछ न मिलेगा। चाहे चेतन हो चाहे बाह्य अचेतन पदार्थ हों, तब क्या करना? कुछ तो ज्ञान से अपने आत्मा को सुगंधित बना लो। मोह की बदबू भरते रहने में क्यों रुचि रहती? ज्ञान और वैराग्य का सुबास भी तो अपने आत्मा में लाना चाहिये। और उस सबका उपाय है ज्ञानाभ्यास। जो पुरुष ज्ञानाभ्यास से रहित है वह तो न अपने को पहिचानता और न परको जानता। उसका ध्यान कभी सम्यक हो ही नहीं सकता और ध्यान ठीक हुए बिना कर्म का क्षय नहीं हो सकता।

“अज्झयणमेव ज्ञाणं पंचेदिय णिग्गहं कसायं पि।

तत्तो पंचमयाले पवयणसार बभास मेव कुज्जाओ।।83।।”

**पंचमकाल में हीन संहननादिके कारण ध्यान समता आदि में बाधा के अनेक अवसर**— यह काल चल रहा है पंचम काल, इसमें हम आप मनुष्यों को जो संहनन मिला है वह है छठा संहनन, सबसे जधन्य संहनन। नसाजाल से हड्डियाँ जुड़ी हुई

हैं और संहनन उपद्रव उपसर्ग सहना यहाँ बड़ा कठिन है। कोई कषायवश सह ले तो सह तो सकता है। कषायवश तो बहुत से लोग कुवें में गिर कर भी मर जाते हैं? मगर सहज सह लिया जाय, समता परिणाम में बिगाड़ न आये ऐसा सहन करने योग्य अब समय नहीं रहा, कठिन बात है। छोटे-छोटे उपद्रव उपसर्ग तो सहन करने लायक योग्यता है आजकल मगर बड़े उपसर्ग जैसे पुराणों में सुनने में आये कि अमुक मुनि को घर में कंडों से बेड़कर आग लगा दी, कोल्हू में पेल दिया, चक्कू से खाल छीली गई, उस पर नमक मिर्च बुरका गया, ऐसे ऐसे उपसर्ग बहुत से मुनिराजों ने समता से सहे और अनेकों ने मुक्तिलाभ भी लिया, पर यह पंचम काल है, हीन संहनन है, कठिन उपद्रव उपसर्ग सहने लायक यहाँ हिम्मत नहीं है तो इतना साहस आये बिना निर्विघ्न ध्यान भी नहीं बन सकता है। थोड़ा अपने आप से भी अनुभव करें कि एक मक्खी ही बैठी हो नाक पर, कान पर तो वह मक्खी बेचारी काटती नहीं है फिर भी उसका बैठना सहा नहीं जाता। मच्छरों के संबंध में अपने अनुभव से विचार लो कि कितनी बाधा देते हैं ध्यान करने में बड़ी व्याकुलता उत्पन्न कर देते, जब इन मच्छरों का काटना भी सहन नहीं होता तब फिर अन्य उपद्रवों के सहने की तो बात ही क्या कही जाय? तो ऐसे इस काल के समय क्या करना? वह इस गाथा में बताया गया है। कि इस काल में तो ध्यान अध्ययन ही है। ध्यान करें पर प्रधान से मुख्यता से ध्यान होने की बात न बन पायेगी। कुछ बनेगी उसमें निषेध नहीं है मगर अनुभव बताता है कि ध्यान की मुख्यता अब नहीं बनायी जा पाती। तो अध्ययन ही किया जाये और जब अध्ययन में आपका उपयोग चलेगा, आप के 2-3-4 घंटे का समय भी आपसे जाना ही न जायेगा। और जो नाना प्रकार से उन तत्वों का परिज्ञान होगा, उससे जो आनन्द पाया जायेगा उसको वही समझेगा। वह तो एक अलौकिक आनन्द है।

**पञ्चमकाल में अध्ययन में ही ध्यानादि की पूर्ति की संभवता—** आज के समय में यह अध्ययन ही ध्यान है और इस अध्ययन से पञ्चचेन्द्रिय का निग्रह होगा। जब अध्ययन कर रहे इस समय इन्द्रिय विषयों का कहाँ ध्यान? अध्ययन करके जो भला संस्कार बनाया और उस तत्व की स्मृति रखे जो पञ्चचेन्द्रिय विषयों का कहाँ ध्यान? वह रुचिकर नहीं रहता। तो आज के समय में अध्ययन ही अपना शरण है सर्वस्व है। वह ज्ञान की वार्ता अगर उपदेश से ही सुनने को मिले वह एक अध्ययन है मनन तो चल रहा है अपने अन्दर। अगर वीतराग भाव से तत्व चर्चा चले तो वह भी अध्ययन है, शास्त्र का अध्ययन किया जाय तो वह भी अध्ययन है। तो इन अध्ययनों की विधि से पञ्चचेन्द्रिय का निग्रह भी होगा। अध्ययन ही निग्रह है, अध्ययन ही कषाय का निग्रह है। ज्ञानार्जन में बहुत गुण हैं। तो जब ध्यान, कषायों का निग्रह, अध्ययन से बनता, अध्ययन ही मुख्य है तो हे कल्याण चाहने वाले पुरुषों इस पंचम काल में प्रवचनसार का अभ्यास ही बनाओ। प्रवचन मायने आगम। उसमें सारभूत जो तत्ववार्ता वाले ग्रन्थ हैं उन ग्रन्थों का अध्ययन करे अभीक्षण ज्ञानोपयोग और कोई गृहस्थ अगर ज्ञानोपयोग निरन्तर नहीं कर सकता तो निरन्तर ज्ञानोपयोग रखने वाले पुरुषों के प्रति वात्सल्य जगे। यह उनके ज्ञान की योग्यता बनने का प्रारम्भ है। ज्ञान के साधनों में प्रेम करें। दूसरे लोग ज्ञान सीखें तो उनके साधनों में अपना सहयोग दें। ये सब संस्कार बनाना है। उनके ज्ञानावरण के क्षयोपशम बनता है और अगले भव में भी इसे उसका फल मिल सकता है। जो आज ध्यान है थोड़े से ही अध्ययन से ज्ञान जगता है उन्होंने पूर्व भाव में ज्ञान और ज्ञान के साधनों में प्रीति की थी उसका फल है कि आज बुद्धि में स्पष्ट समझ बनती है तो इस पंचम काल में ज्ञानाभ्यास करें जिसके प्रताप से जो बात मोक्षमार्ग के लिए चाहिए वह सब प्राप्त हो जायेगी।

**“पावारंभणिवित्ति पुण्यांभे पउत्तिकरणं वि।**

**णाणं धम्मज्जाणं जिणमणिय सव्वजीवाणं ।।84 ।।”**

**ज्ञान और ध्यान की सर्वजीव हितकारिता**— आचार्य देव सर्व जीवों के लिए उपदेश करते हैं कि यदि सुखशान्ति चाहते हो मुक्ति चाहते हो तो पापारम्भ के कार्यों से हटकर पुण्यारम्भ के कार्यों में लगे। ज्ञान और धर्म ध्यान को जिनेन्द्र देव ने मुक्ति का कारण कहा है। यह सामान्य कथन है साधारण जीव जिस तरह धर्म मार्ग में लग सकें उस तरह की विधि का वर्णन किया गया है। हिंसा के कार्यों से निवृत्त होना यह सबसे पहला काम है जो जीव इतना कठोर है कि हिंसा के कार्यों से निवृत्त नहीं हो सकता दूसरों के प्रति बुरी भावना रखता है हिंसा के परिणाम रखता है, वह तो मोक्ष का पात्र है ही नहीं। सर्वप्रथम तो हिंसा झूठ के कार्यों से निवृत्त होना ही चाहिए और यह जीव कुछ किए बिना कहीं उपयोग लगाये बिना रह नहीं सकता। हिंसा के कार्यों से आरम्भों से छूटना है, तो यह लगा कहाँ है यह भी तो कोई बात सामने होना चाहिए जिससे कि निवृत्ति सही बने तो बताया है कि शुभकार्यों में पुण्यारम्भ में प्रवृत्ति करें। जिन ज्ञानी जीवों को मार्ग मिल सका है तो इसी विधि से मिल पाया है। अशुभोपयोग को छोड़ें शुभोपयोग में लगे और शुभोपयोग में रहकर शुद्धोपयोग विषयक निर्णय बनायें। शुद्धोपयोग का लक्ष्य बनायें और शुद्धोपयोग की भावना प्रधान रखकर अपने शुभोपयोग में प्रवर्तन करें ऐसा जिनेन्द्र देव ने बताया है।

**“सुदणाणब्भसं जो ण कुण्ड सम्मं ण होइ तवयरणं ।**

**कुव्वंतो मूढमई संसार सुहाणुस्तो सो ।।85 ।।”**

**श्रुतज्ञानाभ्यास के बिना सम्यक् तपश्चरण की असंभवत श्रतुका**— अभ्यास जिसको नहीं है जो श्रुतज्ञान में प्रवृत्ति नहीं करता है उसका तपश्चरण सम्यक प्रकार से नहीं हो सकता। एक बात मुख्यतया ध्यान में रखना कि मोक्ष कहते हैं केवल जीव स्वरूप रह जाने को। सिद्ध भगवान के मायने क्या हैं? केवल जीव ही जीव रहो। जो कुछ और सम्बंध था वह कुछ न रहा। न द्रव्य कर्म रहे, न शरीर रहा, न भीतर की तरंग, विकार विचार ये कुछ नहीं रहे। मात्र जीव द्रव्य ही रहा, सो इस शुद्धता के कारण उसका ज्ञान अत्यन्त विकसित हुआ, तीन लोक तीन काल का जाननहार हुआ वही सर्वज्ञ वीतराग केवल ज्ञानमात्र कहते ही हैं ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्म मल वर्जित सिद्ध महंता है और क्या नहीं, दोनों की जानकारी से तत्व स्पष्ट होता है, क्या है ज्ञान ही शरीर है, सर्व कुछ ज्ञान ज्ञान मात्र ही है किसी सिद्ध दशा में और क्या नहीं है? द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म तो ज्ञानावरणदिक कर्म और रागद्वेषादिक विकार और शरीर ये सब कुछ नहीं रहे जहाँ, ऐसा ज्ञानपुँज आत्म द्रव्य सिद्ध भगवान कहलाता है। सो मुक्ति में क्या है? सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान रहा, जीव ही जीव रहा, अन्य कुछ साथ नहीं है। तो यहाँ भी देखें यहाँ क्या रहा है? वस्तु स्वरूप को देखिये सत्ता की ओर से देखिये यह मैं आत्मा केवल आत्मा ही आत्मा हूँ, इसके स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं अब रह रहे अगल बगल अन्य द्रव्य, सो उन अन्य द्रव्यों से मेरे आत्मा में कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है, पर वह द्रव्य जिस विपाक उदय में आता है और उनका प्रतिफलन होता है तो शुद्ध स्वभाव को जब नहीं जाना वहाँ से चिगे हुए हैं तो भी इन विकारों को आत्मसर्वस्व समझना बस यही विडम्बना की जड़ है। ये सब बातें कैसे दूर हों? तो उसका प्रथम प्रयास है श्रुतज्ञान का अभ्यास। वह जाने माने तो उसका आचरण भी बनेगा।

**खुद जानना नहीं, दूसरे ज्ञानी की मानना नहीं के हट की विडम्बना**— बताया है। ग्रन्थों में कि कलायें 72 होती हैं मगर एक घटना की बात सुनो घटना कोई सही ही घटना होगी। गुरुजी सुनाते थे। कोई सागर जैसे स्थान में एक बड़ी सभा भरी थी

उस सभा में एक मुस्लिम भाई भाषण कर रहा था और वह होगा मॉस प्रेमी, उसमें भाषण की बहुत ऊँची कला थी वह जब देखता था कि सड़क से इन लोगों का जत्था जा रहा है तो उनकी ही कोई बात छेड़ देता जिसमें कि उनका आकर्षण हो कि सभा में चलें और सुनें तो कि क्या कहते हैं? एक बार पहचाना कि यह जैनियों का समूह कहा जा रहा है तो यह बात छेड़ दी कि कलायें तो 72 होती है। मगर जैनियों में तो 74 कलायें होती है। अब उन जा रहे जैनियों में उत्सुकता हुई कि सुनना तो चाहिये कि हम लोगों में दो कलायें कौन सी बढ़कर बता रहे हैं। तो सब के सब उस सभा में पहुँच गए। अब उसने जो व्याख्यान दिया था सो खूब दिया जीव हिंसा जायज है तो मॉस खाना बलि करना धर्म है, अपराध नहीं आदिक जो जो भी कहना था वह सब उसने कह डाला सब लोग सुनते भी गए उन जैनियों के जत्थे में एक पंडित जी भी थे। तो लोग उनसे बहुत बहुत कहें कि कहाँ फँसा दिया यहाँ ले आये तो उन्होंने कहा कोई हर्ज नहीं सुनते जाओ पीछे देखें एक आदमी ने छेड़ भी दिया व्याख्याता को कि आप अभी कह रहे थे कि जैनियों की 74 कलायें होती है तो वह दो कलायें तो बताओ कौन अधिक हैं? तो वह मौलवी व्याख्याता बोलता है कि सुनो दो कलायें कौन सी ज्यादा है? पहली कला तो यह ज्यादा है कि खुद जानना नहीं और दूसरी कला यह है कि दूसरे की मानना नहीं। ये दो कलायें जैनियों में अधिक है। वह भाषण कर चुका मगर दो कलाओं की बात समझना चाहें तो यह ही बात समयसार में आत्माख्याति टीका में एक गाथा में बताया है इदं तु नित्य व्यक्ततयाद्रन्तः प्रकाशमानमपि कषाय चक्रेण सहैकीकि यमाणत्वादत्यन्ततिरोभूत सत्स्वस्थानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्व इत्यादि याने इन संसारी जीवों ने भोग बंध कथा खूब सुनी है आत्मा को जानते नहीं और आत्मज्ञ जो दूसरे जीव है उनकी उपासना सेवा करते नहीं मायने खुद जानना नहीं दूसरे की मानना नहीं ये दो कलायें दिखाई है मनुष्य की (हँसी)। उसका व्याख्यान तो पूरा हो गया, अब यह पंडित जी जैनी जत्थे में साथ थे उनसे लोग बोले कि कहाँ लाकर फँसा दिया, उसने तो सारा उल्टा व्याख्यान दिया तो पंडित जी बोले भाई उसने सब सही कहा उल्टा कुछ नहीं कहा। अब कैसे सही कहा सो सुनो सही यों मिथ्यात्व के उदय में ऐसा ही बोला जाता है बोलो सही है कि नहीं? अब लोग बोले कि यह बात तो सही है। मिथ्यात्व का उदय हो और कीई धर्म तत्व की बात सुना दे तो वह उल्टी बात होगी।

**मिथ्यात्व के उदय में विपरीत चिन्तन मनन—** सही सीधी बात यह है कि मिथ्यात्व के उदय में विपरीत ही चिन्तन और वचन होते हैं। और उसके अलावा कोई दुराग्रह हो जावे तो उसमें दूसरे के मानने में गुंजाइस भी नहीं रहती है, क्योंकि उसका खोटा होनहार है। सो जितने भी दोष हैं उन सब दोषों को दूर किया जा सकता है। तो मतिज्ञान के अभ्यास से दूर किया जा सकता है यह आयु पहाड़ से गिरने वाली नदी की तरह बड़े वेग से बह रही है। जैसे नदी का वेग लौट कर नहीं आता है उसी तरह आयु गुजर जाती है। तो वह लौट कर नहीं आती है जीवन वेग से जा रहा है इस रहे सहे जीवन का सदुपयोग करलें इसका सदुपयोग है ज्ञानार्जन आत्मतत्व की दृष्टि से चिंतन और मनन सो ये सब श्रुतज्ञान के अभ्यास रूप हैं। सो ज्ञान के अभ्यास के द्वारा अपने आत्मा में प्रकाश लाना चाहिए। यदि श्रुतज्ञान के अभ्यास बिना कोई सोचता हो कि मैं बहुत ऊँचा बन गया हूँ। मेरी इतनी महिमा हो गई है कि लोग मुझे यों यों समझते हैं। अरे यह तो मायाचार में भी बढ़ जाता है। जनता भोली भाली होती है। कोई कपट रच ले और जिस तरह जनता को धोखे में डाले उस तरह जनता धोखे में रह सकती है। पर तत्व तो नहीं पाया जा सकता तो रहा सहा जीवन खोटे संग में जाये नहीं श्रुतज्ञान के अभ्यास में

बना रहे उसमें चिंतन मनन की दिशा मिलती रहे यदि ऐसे पौरुष से समय गुजरे तो यह जीवन धन्य होगा। रहा सहा मोक्षमार्ग का काम अगले भव में भी किया जा सकेगा। पर होना चाहिये मनुष्य को आत्मकल्याण का इच्छुक।

**धर्म पालन के लिए निष्कपटता की अनिवार्यता**— कपट का और धर्म का बहुत बड़ा बैर है। जहाँ कपट है वहाँ धर्म का प्रवेश नहीं है। क्रोध करने वाले को कभी धर्म मिल भी जायगा, क्योंकि क्रोध सदा नहीं रहता। घमंड करने वाले को कभी बोध मिल भी जाएगा। घमंड की वृत्ति भी सदा नहीं रहती है क्रोध करने वाला भी कभी मौका पा ही लेगा मगर कपट करने वाला कभी अपना उद्धार नहीं कर सकता क्योंकि कपट का संस्कार जीवन में छूटता नहीं। कपट करके कोई गलती भी हो तो इतनी हिम्मत हो नहीं सकती कि अपनी आलोचना कर सके और अपने पापों की शुद्धि कर सके, यह कुछ कठिन है काम, इस कारण कपट वृत्ति से रहने वाला पुरुष, धर्म का ऊपरी ढोंग रखने वाला पुरुष वह स्वयं दुर्गति में जाता है और उनकी सेवा सुश्रुषा और हाँ में हाँ मिलाकर चलने वाले लोग भी दुर्गति में जाते हैं। तो खुद को बहुत सावधान रहना चाहिए। इस जीव का दूसरा कोई मदद्गार नहीं है। खुद ही खुद का मदद्गार है। स्वयं चेतें, सावधान हों, अपनी बुद्धि बल का प्रयोग करें तो हम खुद अपने में जाग सकते, सम्हल सकते हैं। सारी बातें श्रुत ज्ञान के अभ्यास से प्राप्त होती हैं। तो अपने में यह बात देखना चाहिए कि उस श्रुत ज्ञान के अभ्यास में मैं कुछ चल रहा हूँ अथवा नहीं। अगर नहीं चल रहे तो खुद खुद को पहिचान तो सकते कि मेरे ज्ञान संस्कार बन रहा या नहीं, मैं ज्ञानार्जन के लिए कुछ पौरुष कर रहा हूँ या नहीं? यदि नहीं किया जा रहा है तो यह अपना बड़ा अपराध है, और इसमें खुद को ही संकट भोगना पड़ेगा। तो श्रुतज्ञान के अभ्यास बिना चाहे कितना ही कोई कुछ करे, पर वह सम्यक् तपश्चरण नहीं होता, और वह मूर्ख पुरुष सांसारिक सुखों में अनुरक्त होता हुआ यदि ये सब कार्य कर रहा है तो वह मुक्ति लाभ, शान्ति लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

**वयारणसीलो मोक्ख पहाराहण सहा वजुदो।**

**अणवरयं धम्मकहां पसंगओ होइ मुणिराओ।।89।।”**

**तत्त्वविचारणशील मुनि के धर्मकथा का वातावरण**— मुनिजन, तत्व को चिंतन मनन करने वाले रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की आराधना से युक्त होकर निरन्तर धर्म कथा करते हैं मुनि कहते किसे हैं? जो अविकार अंतस्तत्व का निरन्तर मनन करे सो मुनि जो आत्मतत्व की साधना करे सो साधु, जो अंतस्तत्व में लीन होने का यत्न करें सो यती, है सब एक ही पर्यायवाची शब्द मगर उस चमत्कार के किन किन रूपों में दर्शन होते हैं यह शब्द बतलाते हैं। तो मुनिजन तत्व का चिन्तन मनन करने वाले रत्नत्रय की आराधना से युक्त होकर निरन्तर धर्मकथा करते हैं, तत्पश्चात् उसी को ही बोले, उसी को ही चाह करें, उसी में ही तत्पर हो, जिससे कि यह जीव बाह्य संग से मुक्त हो कर अपने आत्मतत्व को प्राप्त कर सके। संसार में बाहर सब उपद्रव ही उपद्रव हैं। धर्मकथा धर्म है आत्मा का स्वभाव, उस स्वभाव की कथा करना धर्म कथा है, मैं हूँ अपने आप हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ, तो वह हूँ मैं ज्ञानमात्र, जहाँ विकार नहीं है स्वरूप में किन्तु उपाधि का सन्निधान पाकर विकार जगा करते हैं, अविकार स्वभाव में ही बाह्य स्वरूप की आराधना करना चाहिए। हम आप भी सब ध्येय तो एक ही रखें। अनेक ध्येय नहीं हैं, परिस्थिति वश कुछ बात विचारनी भी पड़े तो भी ध्येय एक ही हो।



**मुमुक्षु का एक मात्र प्रधान ध्येय**— जैसे कोई मकान बनवाने वाला पुरुष मुख्य ध्येय एक ही रख रहा है कि ऐसा मकान बनवाना है और उसके पीछे लगा है, रोज रोज उसके पीछे न जाने क्या क्या विचार चलते हैं, आज किसी कारीगर को लाये, ईंटें मंगाया, लोहा मंगाया, सीमेन्ट मंगाया, यों रोज नये नये प्रोग्राम रहते हैं, विचार चलते हैं, मगर उद्देश्य उसका ये सब काम करना नहीं है। ये सब काम तो उसे बीच में परिस्थितिवश करने पड़ते हैं, एक तो होता है लक्ष्य और शेष होते हैं उपलक्ष्य, तो इसी प्रकार अपना लक्ष्य तो होना चाहिये मुक्तिलाभ और उपलक्ष्य हों अनेक बातें। षट् आवश्यक, तपश्चरण, समिति आदिक के ये सब होने चाहिए उपलक्ष्य। तो हम सब कुछ कार्य करते तो जायें मगर दृष्टि रहे तो एक आत्मस्वभाव की ओर, जैसे किसी को या तो ज्यादा खुशी को बात हो रही या ज्यादा दुःख की बात हो रही हो तो वहाँ केवल एक ही ध्येय रहे और बातें तो अनेक प्रकार बोलनी पड़ती हैं। मान लो किसी इष्ट का वियोग हो गया तो अब वह उसी इष्ट की ओर ध्येय लगाये रहता है, रिश्तेदार लोग मिलने आते हैं तो उनकी बात भी पूछता है, उनके भोजन आदि का प्रबंध भी करता है मगर ध्येय एक ही ओर रहता। जो बात चित्त में आयी है वही बात ध्येय में आती रहती है, तो ऐसे ही समझियेगा कि जो ज्ञानी पुरुष है, वस्तुस्वरूप की आराधना करके जिसको परम आनन्द प्राप्त हुआ है उसकी दृष्टि में तो केवल अविकार चित्मात्र ब्रह्म स्वरूप ही रहता है। ज्ञानी गृहस्थ भी हो तो वह कुछ घर की भी व्यवस्था बनाता, पर ध्येय उसका गृहव्यवस्था करने का नहीं रहता। वह तो परिस्थिति कराती है वह स्वाध्याय, पूजन, वंदन, सेवा, सत्संग ये भी सब कुछ करता मगर यह भी उसका उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है परम ब्रह्मस्वरूप में लीन होना।

**ज्ञानी मुनि का महाव्रत समिति आचार तप आचरण में भी मात्र एक अन्तस्तत्त्व की आराधना का ध्येय**— भैया और की तो बात क्या? वह चारित्र भी धारण करता है, महा व्रत ग्रहण करता है, पंचाचारों का पालन करता है, मगर ध्येय उसका यह नहीं है। ध्येय है अविकार ब्रह्म स्वरूप में लीन होना और वह स्वयं समझता है कि हे 12 प्रकार के तपों, हे 5 प्रकार के आचारों महाव्रत समिति आदिक में तुम को तब तक ले रहा हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसाद से मेरे को निर्विकल्प अवस्था न प्राप्त हो। उसके बाद वे छूट जायेंगे। इनके पालन के लिए मैं व्रत नहीं ले रहा हूँ, मैं महाव्रत पालने के लिए महाव्रत नहीं ले रहा, मैं ऐसा तपश्चरण करते रहने के लिए तपश्चरण नहीं कर रहा हूँ, कर रहा हूँ सब कुछ मगर इन सब व्यवहार धर्मों के प्रसाद से मैं इन सबसे छूटकर एक निश्चय तत्व में मग्न होऊँ इसके लिए यह सब व्यवहार धर्म कर रहा हूँ। उसके भीतर श्रद्धा और वृत्ति रह रहती है, फिर अन्य और प्रसंग आशक्ति और परलीनता की बात ही कहाँ हैं? वे सब बातें तत्व विचार करने से मनन करने से यह सब एकदम स्पष्ट होते हैं। तो जो तत्व के विचार करने वाले हैं वे मोक्षपथ की आराधना के स्वभाव से युक्त होकर निरन्तर धर्मकथा के सम्बंध से सहित रहा करते हैं, अन्य लोग इस आशा से कि मेरा दुःख मिटे, समता जगे, धर्म दृष्टि हो मुनियों के दर्शन को पहुँचते हैं। तो मुनि यदि तत्व विचार में बना रहता है, आत्म स्वरूप की धुन में रहा करता है, खुद शान्त है, खुद निर्मल है, अंतः प्रसन्न है तो उसकी मुद्रा को निरखकर यह गृहस्थ जो अभिलाषा लेकर आये उसकी दृष्टि जगती है और शान्ति मिलती है, तो एक ही बात ध्यान में रखियेगा कि मुझे जो कुछ करना पड़े सो करूँगा, मगर ध्येय है मेरा इस ज्ञानमात्र आत्म स्वरूप में रम जाना सो यह बात तत्वविचार मनन से चलती है। इससे श्रुतज्ञान का अभ्यास बस बना ही रहे, सारे जीवन भर प्रसन्नता आयेगी, तो उस ज्ञानाभ्यास से आयेगी, अभीक्षण ज्ञानोपयोग से आयगी इसलिए

अन्य प्रकार के लगाव चिंतायें त्यागकर एक ज्ञानाभ्यास के लिए ही अपने को प्रयत्न शील होना चाहिए।

“विकाहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहियो णाणी।

धम्मद्देसण कुसलो अणुयेहा भावणाजुंदो जोई।।87।।”

**योगी जनो की स्त्री विकथाविप्रमुक्तता तथा राज विकथा विप्रमुक्त**— योगी पुरुष कैसे होते हैं उसके स्वरूप की बात चल रही है। इस गाथा में कहते हैं कि जो योगी हैं वे विकथा आदि कथनों से रहित हैं। विकथायें होती हैं चार। (1) स्त्री कथा, (2) राज कथा, (3) राष्ट्र कथा, (4) भोजन कथा। ये सभी कथन आत्मानुभव प्रेमियों के लिए अनुचित हैं, क्योंकि इनमें विकल्प बढ़ता है और आत्मा के ध्यान से स्वलन होता है। स्त्रीकथास्त्री विषयक वार्तालाप गप्प कथा, श्रंगार, अंग वर्णन, गुण दोष की चर्चा जैसी गृहस्थों में हुआ करती हो वह भी किसी सीमा तक चाहिए, फिर भी अगर योगी होकर स्त्री कथा में अनुरक्त रहे तो उनका योग कैसा, तो ऐसी विकथाओं से वे हटे हुए होते हैं। राजकथा—राजाओं की कहानी, अमुक राजा ऐसा है, अमुक ऐसा है, अरे योगी को क्या पड़ी है जो अपने राजाओं की वार्ता सुने, जाने, आलोचना करे, अमुक राजा यों, अमुक यों। विकथा कहते हैं खोटी कथा को। और जो विकथा होती है वह गप्पाष्टक से मिली जुली चीज है, जैसे गप्पों में सच्चाई का संबंध नहीं हुआ करता है, बहुत कम हुआ करता अगर सच्चाई वाली बात गप्प में लायी जाय तो पहले कषाय दूर करनी पड़ेगी। आधा पौन घंटा अगर झूठ साँच, गप्प सप्प, निन्दा अनिन्दा आदिक विषय उसमें गर्भित रहें तो ऐसी गप्प करने में 4-5 घंटे से भी अधिक समय व्यर्थ खो दिया जाता है। विकथा में कषाय राग आदिक कारण पड़ते हैं तो ऐसी जहाँ कषाय बसी हो वह योगी नहीं है।

**योगियों की राष्ट्रविकथा विप्रमुक्तता**— योगीजन देशकथा से भी दूर रहते हैं। राष्ट्र कथा—देश की कथा अमुक देश ऐसा है, वहाँ रबड़ की सड़क है, वहाँ डामर की सड़क है, वहाँ सीमेन्ट की सड़क है, वहाँ 10-10 खण्ड के मकान हैं अरे इन बाहरी चर्चाओं के लिए जीवन है क्या? योगियों के लिए बात कह रहे और जो बात योगियों को कही जाय वह बात गृहस्थों के लिए भी थोड़ा-थोड़ा है, क्योंकि मोक्षमार्ग सबका एक है। कोई आगे बढ़ रहा है कोई जरा पीछे है, जैसे शिखर जी की बंदना को जितने लोग जाते कमजोर, बलवान, कोई पीछे रह गया कोई आगे बढ़ गया मगर सबके मुख से निकलती है अनन्त सिद्ध की जय या जो भी हो सबके मुख से जय निकलती है। ध्येय सबका एक है कोई पीछे है कोई आगे हैं ऐसे ही मोक्षमार्गियों का ध्येय सबका एक है श्रावकजन जरा पीछे हैं, मुनिजन जरा आगे हैं, पर भेष वाले को मुनि नहीं कह रहे उस भेष में भी हो और भीतर भी शुद्धोपयोग का रुचिया हो, वह है मुनि। तो जो बात मुनियों के लिए कही गई वही बात कुछ कुछ गृहस्थों के लिए भी है। देश की कथा विकथा से योगीजन मुक्त रहते हैं।

**योगियों की भोजनकथा विप्रमुक्तता**— भोजन कथा—बहुत बढ़िया भोजन खाया उसकी कथा करना सो भोजन कथा है। अरे जो भोजन किया सो किया। अब अच्छा मिला तो क्या बुरा मिला तो क्या? सरस मिला, नीरस मिला, घाटी नीचे माटी, किन्तु भोजन विकथा में प्रीति जगती है। कितने ही गृहस्थ ऐसे होते कि जिनको भोजन विकथा भी नहीं रुचती, और देखो रसनाइन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय को तो काम कहा है और घ्राण चक्षु कर्ण इन्द्रिय को भोग कहा है। काम भोगबंध कथा। फर्क क्या है कि ये घ्राण चक्षु और कर्ण ये बेचारी गरीब इन्द्रियाँ हैं। ये चीज से दूर रहते हुए ही अपना काम निकाल लेते हैं, पर ये दो इन्द्रियाँ स्पर्शन और रसना, इनमें रईसी है। ये अपने विषयभूत पदार्थ को खूब मसल

मसलकर भोगती हैं। तो जो भोजन किया बहुत बढ़िया लड्डू देखने में बहुत सुन्दर कब तक? जब तक कि वह थाली में रखा है। और जैसे ही वह मुख में गया और दो चार चबाड़े चल गए फिर उस लड्डू की बड़ी बुरी सकल हो जाती है। उसको तो अगर कोई देख ले तो नाक भौंहे सिकोड़ने लगेगा। तो खाया क्या? गंदा खाया, बढ़िया कोई नहीं खाता, कोई बढ़िया खा ही नहीं सकता। अरे वह बढ़िया चीज तो तब तक है। जब तक कि आप की उस पर कृप्या न हो। और जहाँ आपने कृपा की मुख में धरा और 10-5 बार चबाया, बस उसकी सकल उसका रूप इतना गंदा रहता है कि देखने में बुरा लगता। उसका स्वाद लिया जा रहा है, उसका मौज मानते और उसकी कथा करते। आज तो मैंने बढ़िया हलवा खाया या ऐसा भोजन बनाना चाहिए, उसका मौजत है। अरे ये कहाँ की रद्दी बातें होने लगीं। सहज ही जो बन गया, खा लिया आखिर जीवन चलाने के लिए खाना होता है, खाने के लिए जीवन नहीं होता। जो खाने के लिए जीवन समझते हैं वे सदा बीमार मिलेंगे। जो जीवन चलाने के खाना समझता है वह बीमार नहीं रहता और कदाचित किसी कारण से बीमार भी हो तो वह अशक्त और बेकार नहीं रहता। वह अपने आपको सम्हाले हुए रहता है। तो कह रहे भोजन कथा। इस भोजन कथा से विरक्त रहते हैं योगी महाराज।

**योगी की अधः कर्मादिदोष रहितता एवं धर्मापदेशकुशलता**— योगी का क्या स्वरूप है यह बताया जा रहा है। वह अधःकर्मादिक दाषों से रहित है, अधःकर्म उसे कहते हैं जिसमें ममता हो ऐसा काम। अशुद्ध भोजन क्यों नहीं करते योगीजन कि उसमें अधःकरण का महा दोष लगा है। अमर्यादित भोजन है घसीटकर जैसे चाहे बनाया हुआ भोजन है, उसमें अधःकर्म का महादोष लगा है। उससे रहित हैं ये योगीजन। ये ज्ञानी पुरुष धर्मापदेश देने में कुशल हैं। धर्मापदेश की कुशलता किसमें आती है, जिसमें धर्म उतरा हुआ है, और स्वरूप जिसमें कि योगी की निरन्तर भावना रहती है वह नित्य है, जिसने अपने नित्य स्वरूप को नहीं जाना उसका अनित्य अनित्य बताना प्रलाप है। ये मरेंगे वे मरेंगे हम मरेंगे, मरना ही मरना देखते रहो तो उसमें पायेंगे क्या? घबड़ाहट और मिलेगी, अनित्य भावना में अनित्य को दिखान का प्रयोजन नहीं है किन्तु अपना जो नित्य स्वरूप है ज्ञानमान अंतस्तत्व उसको दिखाने का प्रयोजन है। जो प्रयोजन को छोड़ देता है वे बाहरी बातों में इतना बढ़ जाते हैं कि फिर वह विडम्बना सी बन जाती है। लौकिक कामों में भी वही बात है, धार्मिक बातों में भी वही बात है।

**अशरणभावना में आत्मद्रव्य की शरण्यता का लक्ष्य**— वे योगीराज अपने आत्मस्वरूप को परा शरण मानते हैं योगीजन कभी अपने को असहाय नहीं तकते। मेरे कोई नहीं है मैं अब क्या करूँ यह बात योगियों के चित्त में कभी नहीं आती। मेरा शरण है मेरा स्वरूप और वह है सदा मेरे पास अब मुझमें दीनता क्या, गरीबी क्या? वह तो अपने शरण को मन में रखे हुए है और इसी अपने शरण को पाने के लिए यह भावना करते हैं कि ओह जगत में बाहर में कुछ मेरे को शरण नहीं, तो अशरण भावना यह रटने के लिए नहीं है कि “मणिमंत्र तंत्र बहुहोई मरते न बचावे कोई”। क्योंकि यदि इतना ही प्रयोजन रखा जाय तब तो इसे पढ़ते जाना चाहिए और रोते जाना चाहिए मेरा कोई बचाने वाला नहीं है। तब तो उसका बोल सही है, अब पढ़ते तो जायें कि मरना है हमें कोई बचाने वाला नहीं है और हँसते जायें, तो यह तो उल्टी बात कर रहे। रोकर पढ़ना चाहिए भावना (हँसी)। भैया रोने की बात नहीं है। यह बाहरी रूपक भर बताया है। थोड़ा अशरणभावना में अपने शरण की भावना करना चाहिए। उसे तो कोई दो एक बार बोल लिया, पर उसी पर दृष्टि न रहनी चाहिए कि मेरा कुछ शरण नहीं, ऐसे तो घर में जब तेज लड़ाई हो जाय तो

जो कोई निर्बल सा है, जीत नहीं सकता वह रोता है इस तरह कि कोई किसी का भाई नहीं है, कोई किसी की स्त्री नहीं, कोई पति नहीं, कोई पुत्र नहीं, सबको देख लिया सबने धोखा दे दिया। तब तो क्या उनकी अशरण भावना सही होगी क्योंकि रोकर बोला, तो यह नहीं है अशरण भावना का प्रयोजन? अपना जो शरणभूत अंतस्तत्व है, सहज ज्ञानभाव है उसमें शरणपने का निरन्तर भाव रहता है और उसे देखकर प्रसन्न रहे कि मेरे को कोई दिक्कत नहीं है। मैं हूँ सदा मेरा परमात्मस्वरूप उसमें उपयोग लगाना, फिर कोई डर ही नहीं है। तो योगीपुरुष अनुप्रेक्षा आदिक सभी भावनाओं से युक्त हैं।

**संसारभावना में आत्मसार देखने का भाव—** संसार भावना में ऐसा बोला जाता है 'दाम बिना निर्धन दुःखी, तृणावश धनवान। कहूँ न सुख संसार में सब जग देखो छान।' क्या करें कहीं सुख नहीं हैं। दाम नहीं हैं पास तो दुःखी रहेंगे और दाम हो जायेंगे तो दुःखी रहेंगे। ऐसा दुःख ही दुःख देखने के लिए संसार भावना नहीं है। बल्कि वैज्ञानिक तथ्य तो यह है कि आप दुःख ही दुःख देखते रहेंगे सर्वत्र, सारा संसार दुःखमय है तो देखते देखते आप भी पूरे दुःखी हो जायेंगे। तो संसार दुःखमय है, यह बात इसी को देखते रहने के लिए नहीं कही गई है, किन्तु मेरा सार मेरा स्वरूप है और वह सहज आनन्दमय है। उसमें कोई बाधा देने वाला भी नहीं है ऐसे अपने सार को निरखने के लिये ये बातें कही गई हैं कि 'दाम बिना निर्धन दुःखी तृष्णा वश धनवान'।

**समस्त भावनाओं का प्रयोजन अखंड अन्तस्तत्व का आश्रय करना—** कोई अगर कहे कि जरा ये सेव जो तुम बाजार से लाये हो उसे दिखाना तो सही, हम भी देखना चाहते कि कैसे हैं ये सेव। तो इस देखने का अर्थ क्या हुआ? अरे उसका अर्थ है बिनार कर खाना। अगर उन्हें सिर्फ आँखों से देखते रहना भर था तो फिर बाजार से मंगाया ही क्यों? तो जो ऊपरी बातें कही जाती हैं उनका कुछ प्रयोजन होता है। अपने प्रयोजन पर आइये। तो ऐसे ही सभी भावनाओं में प्रयोजन हैं अपने अन्तः प्रकाशमान ज्ञायक स्वभाव को निरखने का। यदि यह नहीं अनुभव कर पाया तो यों समझिये कि पुद्गल से भिड़े तो मानो जड़ ही बन गए। मूर्ख, मूढ़, मोही इनमें यदि किसी को मूढ़ कहो तो वह बड़ा नाराज होता और कह दिया कि मोही तो उतना नाराज नहीं होता। और अर्थ है दोनों का एक। अर्थ में कोई फर्क नहीं। चाहे मूढ़ कहो चाहे मोही कहो। मुह धातु में अण प्रत्यय लगा कर पहले तो कृदन्त का मोह बना और तद्धित में इन प्रत्यय लगाकर तद्धित वाला मोहिन शब्द से मोही बना अर्थ तो वही है। मोह करने वाला, बेहोश करने वाला, और मोह में मुह धातु में त्य प्रत्यय लगाया गया, मूढ़ बन गया, फर्क क्या रहा? तो मूढ़ शब्द सुनना बुरा लगता और मोही कहना बुरा नहीं लगता। बल्कि कितने ही लोग तो प्रशंसा मानते हैं। तो अपने आप के अन्तः प्रकाशमान परमात्मतत्त्व को न निरखकर धर्म के नाम पर बाहरी बातों में ही आसक्त रहना यह भी मोह है, मूढ़ता है तो ऐसी अनुप्रेक्षा भावना से सहित योगी पुरुष हुआ करते हैं।

**“णिंदवंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्खसहमाणो ।**

**सुह ज्ञाणज्झयणरदो गय संगो होइ मुणिराओ ।।88।।”**

**योगियों की निन्दावजचन दूरता—** मुनिराज योगी कैसे होते हैं उनका परिचय चल रहा है, इस गाथा में कह रहे हैं कि योगीजन मुनिराज निन्दा और ठगाई से दूर रहते हैं। वे दूसरों की निन्दा से दूर हैं कोई क्रोध, मान आदिक कषाय आये बिना निन्दा नहीं की जाती दूसरों की और निन्दा से प्रयोजन क्या है? और निन्दा से लैकिक आपत्तियाँ भी बहुत आती हैं और योगी पुरुषों को अवकाश ही कहाँ है कि वे किसी की निन्दा करके अपना

समय गुजारें। उनका तो प्रतिक्षण अपने सहज परमात्मतत्व की आराधना में समय गुजरता है योगी पुरुष निन्दा वचन से दूर रहते हैं और ठगई से दूर रहते हैं। ठगना केवल धन से ही नहीं होता। कितनी ही तरह की किसी को ठगना नहीं। ठगई होती है। जनता पर कपट से अपना बड़प्पन थोपना, यह भी दूसरों को ठगना है। गुण न होते हुए भी ऐसी युक्तियाँ निकालना ऐसा ढंग निकालना कि जिसमें लोग कह उठें कि ऐसा प्रताप है बड़ा कौशल है, धन्य है यह, तो यह सब इसमें बड़ी माया गूथी जाती है। और जनता को एक भ्रम में डाला जाता है। जो श्रद्धानी नहीं, संयम का अनुरागी नहीं वह पुरुष या स्त्री जो भी एक धर्म का रूप रखकर और आगम से वहिर्भूत आचरण रखकर जनता पर थोपे यह भी एक वंचना है। योगी पुरुष संतपुरुष वंचना से दूर रहते हैं।

**योगियों की परीषहोपसर्गदुःख सहमानता**— ये योगी परीषह उपसर्ग के बड़े-बड़े दुःखों को समता से सहन करने वाले होते हैं। दूसरों का कोई उपद्रव कर दे वह है उपसर्ग स्वयं ही अपने आप सह रहे हैं वह है परीषह। किसी भी प्रकार कोई कष्ट आये उसको समता से सह लेते हैं। योगी पुरुष अधीर नहीं होता मन में कोई वेदना आये और उससे पीड़ित होकर दूसरों को कोई दुर्वचन बोलना ऐसी वृत्ति योगियों में नहीं होती क्योंकि अपना दुःख सह लेना उन्हें पसंद है। पर अपनी प्रवृत्ति से दूसरों को दुःख हो यह बात योगियों को इष्ट नहीं है। यदि किसी के द्वारा कोई कष्ट पहुंचता है उसे हम यदि सहलें दूसरे के प्रति सद्भावना करके हम अपना दुःख तो मिटा लेंगे, पर मेरी प्रवृत्ति से दूसरे को कष्ट हो जाय तो उसको दूर करना मेरे आधीन नहीं है। योगीपुरुष परीषह उपसर्ग के दुःखों को समता से सह लेते हैं।

**योगी पुरुषों की शुभध्यानाध्ययनरतता**— ये योगी उत्तम ध्यान और अध्ययन में लीन रहते हैं योगियों का कार्य है ध्यान और अध्ययन। ध्यान और अध्ययन, ज्ञान और ध्यान इनमें रह कर फिर मानो न अधिक टिक सके तो भी नाना प्रकार के तप किया करते हैं। तप का दर्जा तीसरा है। ध्यान का दर्जा दूसरा है और ज्ञान का दर्जा पहला है। इस ज्ञान के मायने है ज्ञाता रहना, उसमें कोई विकार न जगना। जब ज्ञातापन न रहे तो ध्यान करें। तत्व का ध्यान, दोनों ही न रहें तो तपश्चरण करें और इससे नीचे ऊपर जाय तो योगी नहीं। योगीजन शुभ ध्यान और अध्ययन में रत रहा करते हैं। मुनिराज संगरहित होते हैं। उनके पास अंतरंग बहिरंग परिग्रह भी नहीं होते। वे तो अपने अविकार सहज स्वरूप को ही ग्रहण करते हैं अन्य तत्वों को ग्रहण नहीं करते। ऐसे ये योगी संत ये अपना तो उपकार कर ही रहे हैं पर उनके दर्शन से उनके सहवास से, उनके वचनामृत से दूसरे लोग भी अपना उपकार करते हैं।

“अवियप्पों णिछंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णिय दो ।

णिम्मल सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओं ।।89।।”

**योगियों की निर्द्वन्द्वता**— कैसा योगी वास्तविक मुनिराज है इसका वर्णन इस गाथा में है। जो निर्द्वन्द्व है वह योगी साधु परमेष्ठी है, निर्द्वन्द्वता का अर्थ जैसी कि रुढ़ि है कोई फिक्र नहीं, शल्य नहीं, चिन्ता नहीं, आकूलता नहीं, सो निश्चिंत पुरुष निर्द्वन्द्व कहलाता है। निर्द्वन्द्व में दो शब्द हैं निर उपसर्ग है और द्वन्द्व शब्द है, निर्द्वन्द्वः यस्मात्स निर्द्वन्द्वः जहाँ से द्वन्द्व निकल चुका है उसे कहते हैं। निर्द्वन्द्व। द्वन्द्व का अर्थ दो हैं, जहाँ दो नहीं वह निर्द्वन्द्व है, एक में फ्रिक क्या? एक को निरखना ही वास्तविक धर्मपालन है। एक स्वयं स्वयं के एक में एक हो जाय यही धर्म पालन कहलाता है। यह जीव संसार में अन्य पदार्थों को अपना कुछ संबंधी मानकर व्यर्थ रूल रहा है। संबंध तो कुछ है ही नहीं प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है,

एक का दूसरे के साथ संबंध कुछ नहीं, न कोई दूसरे का कर्ता है न कोई दूसरे का कार्य है, न किसी का किसी के लिए कुछ बनाना है सर्व पदार्थों का स्वरूपास्तित्व अपने आप में परिणमता रहता है। एक में निर्द्वन्द्वता है। जहाँ दो का संबंध है वहीं से विकार बिगाड़, विषमता आदिक सभी विडम्बनायें होती हैं। तो आत्मा को दूसरा कुछ मिला ही नहीं। केवल एक ही उपयोग में हों तो ऐसे होते हैं निर्द्वन्द्व योगी पुरुष। जैसे लोक में कहने लगते कि किसी का एक ही लड़का है तो उसे कुछ फिकर नहीं, सारा घर, सारा धन उसी को दे दिया, और अगर दो चार लड़के हो गए तो उन सबकी व्यवस्था का थोड़ा ध्यान तो रखना ही पड़ता, उन सबको मनाना पड़ता। उनके पीछे अनेक संकट सहने पड़ते। और एक है तो वहाँ संकट नहीं। ऐसा लोक में लोग कहते भी हैं तो यहाँ तो वस्तुतः एक है, वही देखने वाला, वही देखा जाने वाला, वही मेरा सर्वस्व। जिस क्षण यह स्थिति बन गई कि इसके उपयोग में केवल यही सहजसिद्ध अंतस्तत्त्व रहे, उस क्षण समझो कल्याण हो गया। जीवन में प्रयत्न इसी बात का करना है।

**ज्ञानी की सर्वत्र सावधानी**— देखो भक्ति तो करता है ज्ञानी पुरुष प्रभु की, मगर बेहोश होकर नहीं रहता। बेहोशी नहीं है उस भक्त की। यह बात एक इस छंद से ही साबित है। “तब पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्। तिष्ठखतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः।” भक्त प्रभु से कहता है प्रभु तुम्हारे चरणयुगल मेरे हृदय में रहे तो मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में लीन रहे, कब तक? जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो। यह भक्त बेसुध नहीं है उसकी यह श्रद्धा नहीं है कि सदा अनन्त काल मेरे को प्रभु मिलते रहे और मैं निरन्तर उनका पुजारी रहूँ, बल्कि वह यह निर्णय बनाये हैं कि मेरा चैतन्य स्वरूप जो कि अद्भुत महिमा वाला है वह मेरी दृष्टि में निरन्तर बना रहे, पर इस जीव की मूढ़ता तो देखिये कि बातों से यह अपवित्र हो रहा जिस रागद्वेष मोहादिक से कर्मबंध हो रहे, दुःखी हो रहे उन्हीं को अपनायें फिर रहे। तो इससे पतन किसका है? कष्ट किसको है? जो अपने आपके विवेक पर नहीं खड़ा है वह संसार में दुःखी है, जैसे लोक में कहते हैं कि यह तो अपने पैरों पर खड़ा हो गया मायने स्वतंत्र कमाने वाला बन गया तो ऐसे ही जो विवेकी अपने पैरों नहीं खड़ा है उसको कष्ट ही कष्ट हैं। अपने भीतर का ज्ञान प्रकाश मिले बिना इस जीव की बड़ी दुर्गति हो रही है। सर्वसंकट एक साथ टल जायें इसका उपाय तो है मगर हिम्मत बनाये कोई तो एक ही बार हिम्मत बनाना है। फिर तो सदा के लिए यह संकटों से छूट गया। क्या हिम्मत बनाना? अपने आप के सहज सिद्ध स्वरूप को निरखना है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ अन्य कुछ नहीं हूँ। न मेरा बाहर कुछ है। मैं निराकुल आनन्द अपने लिए अपना सर्वस्व हूँ ऐसा कोई अपने को निरखे और पक्का निर्णय बना ले कि इस जगत में तृणमात्र भी मेरा कुछ नहीं है, उसको फिर आकुल नहीं हैं। और मान लो जीवन भर कोई किये जाये कोई तो आखिर सब कुछ छूटना नहीं है क्या? विवेक बना लें और इस जीवन में ज्ञान जगा लें मोह न रहे किसी वस्तु से, चूँकि गुजारा करना है तो करना तो रल मिलकर है और मिलकर रहना प्रेम का व्यवहार किए बिना होता नहीं, मगर बात तो सही समझ लें कि मेरा मात्र मैं हूँ अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। कितनी स्वाधीन बात है और कितनी सुगम बात है, इसमें आपका कुछ धन नहीं खर्च हो रहा। किसी से कुछ भीख भी नहीं मांगनी हैं। अपना स्वरूप अपने आप की दृष्टि में रखना है जो अपनी अन्तर्दृष्टि बना लेता है उसके समान तो रईस जगत में कोई है ही नहीं। तो अपने आप के अविकार ज्ञानस्वरूप में आत्मत्व की बुद्धि करने वाला पुरुष निर्द्वन्द्व होता है।

**योगियों की निर्मोहता**— यह योगी निर्मोह है। न देह का मोह, न विकार का मोह, न ब्राह्म किसी पदार्थ का मोह। जिसका भ्रम निकल गया। वह मोह जैसी वृत्ति बना कैसे

सकता है? जैसे किसी को कुछ अंधेरे उजले में किसी रस्सी में साँप का भ्रम हो गया तो वह बहुत घबड़ा जाता है, हाथ पैर काँप जाते हैं। चिल्ला पड़ता है अरे दौड़ो साँप निकल आया। कितनी ही अटपट चेष्टायें वह करने लगता पर जब कुछ हिम्मत करके उसके पास पहुँचता और उसे हिलाता डुलाता देख लेता और समझ लेता कि अरे यह साँप नहीं, यह तो रस्सी है। तो बस इस सही जानकारी हो जाने से उसकी वे सारी अटपट चेष्टायें समाप्त हो जाती हैं। अब तो उसे कोई कहे कि पाँच सौ रुपये इनाम दूँगा यदि वैसी ही सारी बातें करके दिखादो तो भले ही रुपयों के लोभ से वह बनावटी अटपट क्रियायें करे पर वह कला नहीं आ सकती जो साँप का भ्रम होने पर थी। तो मिथ्यादृष्टि में भी वह कला है जो प्रभु में नहीं। यह बात एक अलंकार की दृष्टि से कह रहे। क्या कला है मिथ्यादृष्टि में कि वह न जाने किस किस ढंग की लीलीयें करके दिखा देते हैं। कभी एकेन्द्रिय में पहुँचा कभी दो इन्द्रिय में, कभी कीड़ा मकोड़ा हुआ, कभी पेड़ पौधे रूप में हुआ, वहाँ रहकर न जाने कितनी कितनी कलायें दिखा दिया पर ये सब बातें प्रभु में कहाँ धरी हैं। वे तो सीधेसादे अकेले विराजमान हैं। उनका सीधासादा काम हो रहा। आत्मा है ज्योतिस्वरूप है, प्रतिमास हो रहा है। प्रभु में ऐसी कला कहाँ धरी है जो मिथ्यादृष्टि में है? अरे प्रभु की बात ही ड़्खीक है। उसे सीधी सादी बात का न जानना। मिथ्यादृष्टि की कला की कौड़ी बराबर भी कीमत नहीं है और प्रभु की उस सरलता में, उस सहज भाव में सुगम स्वाधीन परिणाम की महिमा है। ऋद्धियां मोह में नहीं जगती। ऋद्धियां स्वच्छता में जगती हैं और काल की दृष्टि से देखें तो जिस काल में तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित हुए उससे बढ़कर कला किसकी है? यह सब मोहरहित होने का प्रताप है मोही बनने में बड़ी हानि है। जन्म मरण करें संसार में रुलें अपना ज्ञान प्रकाश पावों और आनन्दमग्न होवो। तो ये प्रभु निर्मोह मंदकषाय होते हैं इस कारण ये ही योगी वास्तविक साधु परमेष्ठी है।

**योगियों की निष्कलंकता**— योगी निष्कलंक होते हैं। कलंक क्या? रागद्वेष चिन्ता ईर्ष्या आदिक जितने सर्व विकार हैं, उपद्रव हैं, ये ही तो इस जीव पर कलंक हैं। इन कलंकों को किसने धोया? ये थे तो कलंक पहले। इस कलंक को ज्ञान जलने धोया। जैसे किसी के शरीर पर कोई मैल आया, कोई रंग डाल दे, कोई कूड़ा डाल दे या पसीना आ गया, या मैल जम गया तो बताओ उसको काहे से धोया जायेगा? पानी से। और कोई सोचे कि पानी के साथ साबुन भी तो चाहिए, खाली पानी डालने से तो मैल नहीं छूटता, साबुन भी तो चाहिए। तो यहाँ भी साबुन देख लो भावना का साबुन। उस भावना से अन्तः स्वरूप की बार बार भावना से मल मलकर और ज्ञान के जल से धो धोकर इन सब कलंकों को जो योगी छुटा देता है वह निष्कलंक है। लोक में यह कहते हैं कि इसके सिर पर कलंक का टीका लग गया। यह टीका कितना सा होता? कोई दो अंगुल लम्बा समझलो, और इससे भी कम समझ लो। जैसे माथे पर चंदन लगा होता है ऐसे ही कलंक का टीका लग गया इस पर और अगर सारा का सारा कलंकमय हो तो टीका की कुछ बात ही नहीं, कहाँ टीका लगायें? तो शायद इसीलिए कि कलंक के टीके से बच जायें। मिथ्यादृष्टि जीव का तो सारा का सारा शरीर कलंकमय बन रहा, उसके टीका कहाँ से लगाया जाये, टीका तो उसके लग सकता जिसका सारा शरीर पवित्र हो, बस कोई जरा सा दोष लग गया हो। तो वह मिथ्यादृष्टि जीव सारा अपवित्र बन रहा उस अपवित्रता को मिटाना चाहिए। जहाँ अज्ञान बसा है विकार में जो समझता कि यह ही मैं हूँ वह बड़ा दुःखी है। लोग चाहते हैं कि मेरा ऐसा हो जाय तो मैं दुःखी न रहूँगा। न जाने क्या क्या नहीं चाहा अब तक? जैसे—मेरे इतने बच्चे हो लें तो बस फिर दुःख नहीं कुछ। इतने मकान बन जायें तो फिर

आनन्द है। ऐसी दुकान बन जाय, अमुक बात हो जायन जाने क्या क्या सोचा इस जीव ने पर कभी शान्त हो सका क्या? अरे वे सब शान्ति के उपाय ही नहीं है। चाहे कितना ही धन वैभव कुटुम्ब परिजन जुड़ जाय, उसमें कोई चतुराई नहीं। वह तो होता ही रहता। पशु पक्षियों के भी तो बच्चे होते, वे भी तो मोह ममता करते, इतना मनुष्य भव में कर लेना तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। बुद्धिमानी तो इसमें है कि अपने उद्धार का काम इस मनुष्यभवं में बना लें, एक ऐसा ज्ञान प्रकाश पावे अपने उद्धार का काम इस मनुष्य मन में बना लें। एक ऐसा ज्ञान प्रकाश कि मेरे को तो मात्र मेरा आत्मा ही सब कुछ है, यही स्वयं धर्मस्वरूप है। मैं इसकी शरण को प्राप्त होता हूँ। एक यह उत्साह बनावें अपने अकलंक स्वभाव को निरखें कि मैं तो हूँ अपने आप वह केवल प्रतिभासमात्र हूँ। वहाँ कोई कलंक नहीं है। स्वरूप में पंक नहीं। तो जो योगी निष्कलंक स्वभाव की भावना करके उस परिणति में भी निष्कलंक बनता है वह योगी साधु परमेष्ठी है।

**योगियों की नियतता**— योगी होते हैं नियत स्थिर, स्थिर कोई हो सकता है तो अपने स्वरूप को निरखकर ही स्थिर हो सकता है, बाहरी पदार्थों में कुछ सोचकर, चाहकर वृत्ति बनाकर स्थिर होना चाहे तो नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ दोनों ओर से कमी है। जिन पदार्थों को चित्त में बसाते हैं वे पदार्थ विनश्वर हैं। मितेंगे वे मेरे आधीन नहीं। उनका मेरे से कुछ सरोकार नहीं और उनसे बनाया है संबंध कल्पना में तो उसका फल कौन भोगेगा? जैसे किसी छोटे बच्चे ने किसी दूसरे बच्चे के हाथ में खिलौना देख लिया तो वह भी खिलौना लेने के लिये रोता है तो क्या उस बच्चे को चुप कराने का यह उपाय है कि उस दूसरे बच्चे का खिलौना उससे छीनकर उस दूसरे बच्चे को दे दिया जाय? नहीं यह उपाय ठीक नहीं है। उसका उपाय यह है कि उस ही तरह का दूसरा खिलौना खरीदकर उसे दे दिया जाय तो उसका रोना बंद हो जायेगा। तो ऐसे ही समझो कि अपने आत्मा का खिलौना है अपने आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप। वह दृष्टि में आ जाय तो समय का कुछ पता नहीं पड़ता हुए वर्षों का समय कैसा तपश्चरण में निकल जाता। योगियों को तो उनके समय का पता नहीं पड़ता। उनको मिल गया है अपना बढ़िया खिलौना जो कि उनसे कभी गुम नहीं सकता। जो कभी टूट नहीं सकता जिसमें कभी बिगाड़ ही नहीं आ सकता, ऐसा अनुपम ज्ञानमात्र स्वरूप का खिलौना दृष्टि में आया है अब वह वहाँ खूब रम रहा और स्थिर हो गया। बाह्य पदार्थों में दृष्टि दे दे कर सिवाय दुःखी होने के कुछ हाथ नहीं लगता। योगिराज स्थिर हैं क्योंकि समस्त ज्ञानस्वरूप में ही अपना उपयोग जुड़ा लिया है। अतएव अब वह अस्थिर नहीं। जो नियत है ऐसा योगी साधु परमेष्ठी है।

**योगियों की निर्मलस्वभावयुक्तता**— निर्मल स्वाभावयुक्त योगी मुनिराज कहलाते हैं। आत्मा का स्वभाव उस ही पदार्थ रूप होता है दूसरे रूप नहीं होता है। मैं आत्मा हूँ ज्ञानमात्र हूँ जानन इसका स्वरूप है। तो स्वरूपतः यह जानन मात्र है इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। ज्ञानस्वरूप उस ज्ञान स्वभाव में जिसने उपयोग दिया है उसकी प्रमादरहित वृत्ति भी निर्मल है। पवित्र है। जो बाह्य पदार्थों में ललचायेगा वह अपवित्र है, अज्ञानी है, ज्ञानस्वभाव से विमुख हुआ है उसे आकुलता से बचाने वाला कोई नहीं है और जो बाह्य पदार्थों से उपयोग हटारि अपने ज्ञान स्वरूप को निरखे वह पवित्र है, ज्ञानी है, निराकुल है। इस असार संसार में बाह्य परिग्रहों के बारे में अपनी चाह मचाना अपने भगवान पर अन्याय करना है। ऐसा ही तो अनादि से करते चले आये जिसका फल है यह कि जन्मे और मरे, और जितने समय तक उस भव में टिके उसमें बिना काम की विहवलतायें ही की। आज मनुष्य हुए हैं। और घर में वे जो दो चार जीव आ गए हैं मनुष्य बन गए सो मान रहे कि ये मेरे हैं और मान लो वे मनुष्य न होते कीड़े मकोड़े मक्खी



मच्छर आदि होते तो फिर ये क्या थे इसके लिए? क्या हुए नहीं? थोड़े ही समय बाद जीवन लीला समाप्त होने पर फिर जैसा का तैसा हो जायगा। तो इस क्षणिक समागम में इतना अज्ञान बसाने का क्या महत्व है? अपना निर्मल स्वभाव निरखें, और उस ही स्वभाव में तृप्त रहें। जो योगी निर्मल स्वभाव में युक्त हैं। वे मुनिराज हैं।

**योगियों की अविकल्पता**— ये योगी अविकल्प हैं कैसी पावित्रता पायी है कि केवल ज्ञान स्वभाव जिनके उपयोग में है, अब उनको विकल्प से क्या प्रयोजन? क्या करना यहाँ वहाँ के विकल्प से जितना अपने को नियंत्रित करें अपने आप के स्वरूप मात्र को देखें निर्विकल्प बनें वह तो है सारे जीवन की बात और अपने स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में उपयोग भिड़ाया, विकल्प किया वह है इस जीव की दुर्गति। भावना भाइये कि हे प्रभु मुझे वह छण प्राप्त हो कि यह उपयोग केवल निज में सहज ज्ञानस्वरूप को ही देखे उस ही में मग्न होकर एकमेक हो जाय ऐसी आत्मलीनता की भावना रखिये। ये योगी विकल्परहित हैं अतएव ये साधु परमेष्ठी मुनिराज प्रभु के लघुनन्दन कहे जाते हैं। ऐसे योगियों की भक्ति उपासना, भावना करने से आत्मा पावित्र होता है।

“तिव्वं कायाकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुतो।

सव्ववण्हूवएसो सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई।।१०।।”

**मिथ्याभावसंयुक्त जीव को तीव्र कायक्लेश से निर्वाणसुखलाभ की असंभवता**— बाहर बड़े घोर तपश्चरण करते हुए भी शीघ्र कायक्लेश को दूर करते हुए भी मिथ्यात्व भाव से युक्त है वह निर्वाण सुख को प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसा सर्वज्ञ देव का उपदेश है, उन पर कुछ बीते इससे कहीं कर्मनिर्जरा नहीं होती किन्तु अपने उपयोग में रागादिक भाव न समायें। उन विषय कषायों से उपयोग हटा हुआ रहे इस वृत्ति से निर्वाणसुख का मार्ग बनता है। तो जो जीव मिथ्यात्वभाव से तो सहित हैं, शरीर को अपना आत्मा मानते हैं, कर्मों के फल को, विकार को रागद्वेषादिक भावों को अपना स्वरूप जानते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कितने ही कायक्लेश करलें पर वे निर्वाण का सुख नहीं प्राप्त कर सकते फिर तपश्चरण किसलिए किया जाता? तपश्चरण से मुक्ति नहीं किन्तु भीतर में इच्छा निरोध हो आत्मतत्त्व का बोध हो तो ज्ञान दृष्टि का अवसर मिलने से मोक्ष का मार्ग मिलेगा तो जिस काम की जो विधि है वह विधि तो की न जाय, अन्य प्रकार की विधि बने तो उसका कार्य नहीं बनता। संसार और मोक्ष की ये दो विधियाँ हैं। संसार में रुलना है, जन्म मरण करना है तो उसकी बहुत अच्छी तरकीब है कि मान जावें कि यह मैं हूँ, ज्यादह और कुछ तकलीफ नहीं करना है, बस शरीर को मान लिया कि यह मैं हूँ, फिर मनमाने जन्म मरण खूब मिलते रहेंगे, अगर जन्म मरण चाहिये तो उसकी यह विधि है, और यदि जन्म मरण से छूटना चाहते हैं और अपने आत्मा का सहज आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं तो उसकी विधि यह है कि बैर को विकार को परभाव अपना स्वरूप न समझें, इन्हें भिन्न जानें और अपने में अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है, सहज ज्ञानभाव है उसमें आत्मतत्त्व का श्रद्धान हो कि यह मैं हूँ तो कैवल्य की ओर जो रहेगा सो केवल बन जायेगा और जो संयोग की ओर रहेगा सो संसार पायेगा, तो विधियाँ दोनों की ये हैं अज्ञानी जीव साधु भेष को रखकर भी विधि संसार की बनाता रहता है। तो कर्म साधु के भेष को देखकर न डरेंगे कि इसने मुनि का पद लिया है, अब यहाँ न बँधें अरे वे तो निमित्त और ज्ञान का विभिन्न पायें तो डरते हैं, झड़ते हैं, मिटते हैं और जहाँ अज्ञान और रागभाव मिला कि कर्म की संतति बनती रहती है, इसी कारण इस गाथा में कहा है कि तीव्रकायक्लेश भी करे, बड़े

दुर्धर तपश्चरण भी करे तो भी मिथ्यात्व भाव से जो युक्त है वह निर्वाण का सुख नहीं प्राप्त कर सकता है।

**अन्तत्त्व आत्मसर्वस्वता**— देखो सब कुछ अपने आप में नजर आयेगा। धर्म आत्मा का होता है और आत्मा के स्वभाव में मिलता है। कोई जीव आत्मा का कल्याण भी चाहे और मुनि भी हो जाय तो उसे एक कठिनाई जीवन में यह है कि जो जिस कुल में, सम्प्रदाय में उत्पन्न हुआ है उसे अपने ही उस मजहब में श्रद्धा रहती हैं। कि बस यह ही धर्म हैं, इसी से ही मुक्ति है, पर उन्हें इस तरह से आत्मा का नाता नहीं मिल सकता। यदि बाहरी लोक पर दृष्टि है तो आत्मद्रव्य का नाता नहीं बन सकता। तो कोई भी पुरुष हो उसको तो लौकिक नाते को तो गौण करना चाहिए और अपने आत्मा को निरखें कि मेरे में क्या स्वभाव है, क्या स्वरूप है, क्या मेरा स्वरूप आकुलतामय है? तो कैवल्य की दृष्टि करके देखेंगे तो सब समस्याओं का समाधान मिल जायेगा। मैं हूँ सहज ज्ञानमात्र जो दुर्दशा चल रहीं है सो उसमें भी हमारा अज्ञान, हमारी निर्मलता, हमारी असावधानी क्यों बन रही हैं, बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र हैं। ये खुद अशुद्ध रूप बनकर अशुद्ध बन रहे हैं। तो जो योगी योग की बात तो कहे मैं योगी हूँ आदि, किन्तु उसका हृदय ज्ञान और वैराग्य से सुवासित नहीं है तो उसका योगीपना किस काम का? मैं मुनि हूँ मुझे कठिन तप करना चाहिए, मैं इतने दिनों का उपवास करूँगा, इतना तो कठिन तप करले पर मैं मुनि हूँ ऐसी शरीर को देखकर श्रद्धा बने तो वह मिथ्यात्व ग्रस्त है। उसका यह काय क्लेश केवल शरीर को कष्ट देने वाला है, शान्ति का कितना सुगम स्वाधीन उपाय है, खुद की दृष्टि करनी, अपने अन्तःस्वरूप में करनी, परख यह तो करना है स्वतंत्र होकर, याने किसी की आधीनता नहीं इस काम में। अपना मन है, अपना उपयोग है, अपने में लगा रहता है, तो यह मोक्षविधि जिसको ज्ञात नहीं वे अज्ञानी घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष का मार्ग नहीं पाते।

**“रायाइमलजुदाणं णियअप्पारुवं ण दिस्सए किं वि।**

**स—मलादरिस रुवं ण दिस्सए जह तहा णेयं।।११।।”**

**रागादिमलव्याप्त जीवों की निजात्मस्वरूप के दर्शन की अपात्रता**— अज्ञानी जीवों का हृदय उपयोग रागादिक मल से युक्त है तो उस हृदय में, उपयोग में अपना आत्मस्वरूप जरा भी नहीं दिख सकता। परमात्मतत्त्व दो प्रकार से निरखिये एक तो ऐसा आत्मा जो समस्त रागादिक विकारों से मुक्त हो गया है, जिसका ज्ञान लोकालोक को जानने वाला है, सर्वज्ञ सर्वदर्शी है ऐसा आत्मा परमात्मा है, यह तो हुआ व्यक्त परमात्मा ओर एक अपने आत्मा के स्वरूप निरखें, दूसरी वस्तु का यहाँ सम्बन्ध न दिखे। एक में जो अहं प्रत्ययवेद्य है उस एक ज्ञान से जो जाना जा रहा है, यह आत्मा स्वयं अपने आप अपने ही सत्त्वसे पर के संयोग बिना क्या स्वरूप है उस पर निगाह दें तो वह स्वरूप मिलेगा सहज ज्ञानमात्र चैतन्य ज्योतिमात्र। यह कहलाता है कारण परमात्मा और जिसका पहले वर्णन किया कि जो सर्वज्ञ है, कर्ममल से रहित है वह परमात्मा है उसे कहते हैं कार्य परमात्मा तो अपना जो सहज स्वरूप है जिसे कहते हैं कारण समयसार उस रूप में अपने को अनुभवं तो रागादिक मल हट जाते हैं। कर्म दूर हो जाते हैं अपने अपने आप स्वयं आपका विकास हो जाता है, कार्य परमात्मा हो जाता है, तो उस कारण परमात्मतत्त्व की बात कह रहे हैं वह अपने में अन्तः प्रकाशमान है, पर जो रागादिक मल से लिप्त है, जो ऐसा मान रहे हैं कि मैं ये रागादिक रूप हूँ तो ऐसे जीवों को अपना आत्मस्वरूप दिखता नहीं है मायने यह परमात्मतत्त्व विराजता नहीं हैं। यदि कोई ऊंचा अधिकारी आफीसर आया कर घर में तो आप घर को कितना साफ करते हैं, कितना सजाते हैं और उसकी प्रतीक्षा करते हैं। वहाँ आकर उच्च अधिकारी विराजता है, तो परमात्मतत्त्व से उच्च है क्या लोक

में? उसको मुख से तो बुलाते हैं, पर हृदय गंदा कर रखा है, तो मैले कुचैले दिल में परमात्मतत्त्व कैसे आयेगा, कैसे बनेगा? पहले अपने घर को साफ किया जाय। अपना उपयोग स्वच्छ किया जाय। ये रागादिक परभाव मैं नहीं, मैं तो केवल ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ, देखिये यह सब बात पूर्ण वैज्ञानिक विधि में उतरेगी, आत्मविज्ञान परख लीजिए। कोई भी पदार्थ होता है जो भी सत् है वह अपने आप अपना स्वरूप रख रहा है किसी अन्य की दया पर किसी अन्य की सत्ता नहीं होती। जो सत् है वह स्वयं है। तो मैं आत्मा सत् हूँ, स्वयं हूँ तो स्वयं कैसा हूँ? ज्ञान ज्योतिमात्र। ज्ञानमय वही स्वरूप मेरा, उस तत्त्व को जो नहीं जानते और रागद्वेषादिक मल से युक्त हैं उनको आत्मस्वरूप दिखता नहीं है।

**मलिन दर्पण में रूपन दिखने की भांति रागसंयुक्त उपयोग में परमात्मतत्त्व का अदर्शन—** जैसे मलिन दर्पण में रूप नहीं दिखा करता है दर्पण में कुछ तैल सा पुता हो, कुछ कूड़ा सा लग गया हो, कुछ मलिन हो गया हो तो उस दर्पण में रूप नहीं दिखता, देखो दर्पण के ऊपर मैल लगा हो एक तो ऐसा मलिन दर्पण और दूसरा ऐसा मलिन कि उस दर्पण के भीतर ही या दर्पण के पीछे मसाला निकल जाय, भीतर कुछ रेखायें हो गई, कुछ भीतर ही बिगड़ गया तो एक ऐसा बिगड़ा दर्पण, तो बताओ दोनों बिगाड़ों में से अधिक बिगाड़ का दर्पण कौन सा है? जो भीतर ही भीतर रेखायें खिंचीं, काला हो गया, चिटक गया, कुछ भी हो गया वह बिगाड़ बुरा है और दर्पण के ऊपर तैल कूड़ा लग गया तो उसे कपड़े से साफ कर लिया जाता है। तो ऐसे ही जीव दो बिगाड़ हैं। एक तो बिगाड़ यह है कि रागद्वेष जगता है और एक यह बिगाड़ है। कि उन रागद्वेषों को ही आत्मा मानना कि यह मैं हूँ। इन दो बिगाड़ों में से कौन सा बिगाड़ कठिन बिगाड़ है? रागादिक भाव होना और उन्हें मानना कि यह मैं हूँ यह कठिन बिगाड़ है, रागादिक हो गए, कर्म उदय में आयें, उनकी छाया हो गई यह एक बिगाड़ है ऊपरी और उनको यह मान लिया कि यह ही मैं सब कुछ हूँ तो यह है उसका कठिन बिगाड़, जिसके फल में संसार में जन्म मरण करना पड़ता है तो जैसे मलिन दर्पण में रूप नहीं दिखता ऐसे ही रागादिक मलों से युक्त उपयोग में निज सहज परमात्मतत्त्व का रूप नहीं दिखता, इससे क्या करना कि सत्य ज्ञान करना, जो औपाधिक भाव हैं उनको मूल तत्त्व न मानना जैसे दर्पण में सामने पड़े हुए रंगीन कपड़े का फोटो आ गया तो वह फोटो दर्पण के अन्य स्वरूप में तो नहीं हैं। ऐसे ही मुझ पर पहले बँधे हुए कर्मों का उदय रस छा गया, प्रतिफलन हो गया, छाया आ गई, फोटो आ गया, मगर मैं तो उस रूप नहीं होता। मेरे स्वरूप में इन पर पदार्थों का प्रवेश नहीं है, ऐसी दृष्टि रहे और अपने आप के स्वरूप का अनुभव रहे तो इस जीव का कल्याण है।

**लोकसम्मति से उपेक्षाकर ज्ञानिसम्मति का आदर करने का अनुरोध—** आत्मा के उद्धार की बात वोटिंग से समझ में न आयेगी कि भाई दुनिया में इतने लोग रहते हैं, इन सब की वोट लें, सम्मति लें कि आत्मा का हित किसमें है, तो क्या वोटिंग आयेगी? कौन सी वोट अधिक आयेगी। यही कि खूब खावो पियो, विवाह करो, लड़के हो, धन जोड़ो, नाम बढ़ावो, ये वोट यहाँ अधिक मिलेंगे, तो मिथ्यात्व संसार को बढ़ाने वाले ही वोट यहाँ मिल पायेंगे। हर एक काम वोटिंग से नहीं चलता। बुद्धिमानी का काम बुद्धिमानों की वोट से चलेगा, सर्व साधारण की वोट से न चलेगा। जो स्वयं ज्ञान का अनुभव किए हुए हों उनसे पूछो कि आत्मा की भलाई किसमें है? तो उनसे मिलेगी सही सम्मति तो सारा जगत रागादिक मल का प्रेमी है, अपने भीतर की निर्मलता उन्हें नहीं पसंद आती ऐसा यह जीव लोक है। यहाँ बसने वाले रागादिक मलों से युक्त लोगों के चित्त में परमात्मस्वरूप आत्मस्वरूप नहीं ज्ञान में आ सकता। तब क्या करना? थोड़ी सी कुँजी है,

जो कुछ गुजर रहा उसके नीचे से खिसककर और अन्तः झुककर अनुभव करना कि मैं तो यह ज्ञानमात्र हूँ, अन्य किसी रूप नहीं हूँ। यह पौरुष बने तो उस जीव के सम्यक्त्व है, ज्ञान है, चारित्र बनता है।

**“दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू।  
मंडणजायणसीलो हिंडड सो दीह संसारे ॥१२॥”**

**दण्डत्रयाधीन योगी का दीर्घसंसारपरिभ्रमण—** जिसने घर बार तो छोड़ दिया, साधु का भेष रख लिया, तपश्चरण भी कर रहा, जैसे भीतर में भाव बने उसके अनुसार चेष्टा भी कर रहा, भाव ही तो करा रही चेष्टा। कोई कन्या है और शादी एक मिनट में हो जाती है भाँवर पड़ने से, भाँवर पड़ने से पहले तो वह लड़की जैसे चाहे सिर फटकारे इधर उधर बेखटके दौड़ती थी, अखिर लड़की ही तो थी और जब भाँवर पड़ गई तो बताओ उसे कौन कला सिखाने जाता है, कि तुम इस तरह से गोड़े चिपका कर, इस तरह से हाथ चिपका कर, इस तरह से सिर झुकाकर शान्ति से चलो, कोई स्वसुर वगैरह दिख गए तो इस तरह से लुकछिप कर रहो बताओ ये सब कलायें उसको कौन सिखाता है? हमारे ख्याल से इसके लिए कोई स्कूल तो होते नहीं, मगर आ क्यों जाती यह कला कि उसके यह भाव बन गया कि अब मैं स्त्री हो गई हूँ, बस इस भाव के कारण वे सब कलायें उसके अन्दर आ जाती हैं, तो ऐसे ही जो सब कुछ छोड़कर तपश्चरण भी करते, पर इनका भाव यह बन गया कि मैं मुनि हो गया तो मुनि को जैसे चलना चाहिए, जैसे बैठना, बोलना चाहिए वे सारी क्रियायें भी कर रहा है तिस पर भी संसार से छुटकारा नहीं पा रहा। इसका कारण क्या है? वह यह अनुभव नहीं कर पाया कि मैं तो चैतन्य ज्योतिमात्र परमात्मपदार्थ हूँ। यह तो अनुभव नहीं बनता और शरीर का नामा रखकर मैं मुनि हूँ और उस भाव में मुनि भी और पाप स्वसुर वगैरह भी सब एक बराबर हैं। बच्चों का बाप मानता है कि मैं पापा हूँ कोई मानता कि मैं अब स्वसुर हो गया, ऐसे ही यह मान लेता कि मैं मुनि हो गया उनमें अन्तर क्या रहा? शरीर के नाते से ही उसने माना, शरीर के ही नाते से इसने माना। जब तक चैतन्य ज्योतिमात्र इस सहज निरपेक्ष आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं बनता, जब तक यह श्रद्धा नहीं बनती कि मैं तो आकाश की तरह अमूर्त और ज्ञानगुण से युक्त एक वस्तु हूँ, तब तक उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता।

**पर्यायबुद्धि से योगनियंत्रण की जबर्दस्ती से लाभ का अभाव—** तो जो तपस्वी अपने मन, वचन और काय पर नियंत्रण नहीं रख पाते भले ही नियंत्रण रख लें पर वह ऊपरी नियंत्रण है, जान बूझकर नियंत्रण है, सहज नियंत्रण नहीं बना। जैसे नाटक में किसी बालक ने कोई पार्ट लिया मान लो भिखारी का पार्ट लिया तो उसे उस भिखारी की सारी चेष्टायें वहाँ करनी पड़ती हैं। अब उसकी उन चेष्टाओं को देखकर लोगों का हृदय दहल जाता है। खैर दर्शकों का चित्त उसके प्रति कैसा ही बने पर वह अपनी श्रद्धा से टस से मस नहीं होता। क्योंकि वह जबर्दस्ती का नियंत्रण है। वह सारे पार्ट को अच्छी तरह से अदा करता है वह चित्त में यह बात बनाये रहता है कि मैं तो अमुक बना हूँ यहाँ तो पार्ट अदा कर रहा हूँ, भले ही वह पार्ट अदा कर रहा पर उसी में यह मैं हूँ इस तरह की वह बुद्धि कर रहा, उसने अपना पद छोड़ दिया तो बड़े-बड़े व्रत तप सब कुछ करे मगर ज्ञान में यह रहे कि मैं साधु हूँ अमुक प्रतिमा वाला हूँ, अमुक प्रकार का हूँ ऐसी अगर भीतर में श्रद्धा बनी है अपने आत्मा के बारे में तो वह अभी मोक्ष का मार्ग नहीं पा रहा। मैं परमात्मतत्त्व हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, एक आत्मवस्तु हूँ, जैसे अनन्त आत्म पदार्थ हैं वैसा ही मैं एक हूँ यह श्रद्धा जिसको हो तो उसको यह बात तो आयेगी मन में किस जैसा यह मैं केवल हूँ वैसा मैं केवल बनूँ और उस पुरुषार्थ में व्रत, नियम प्रतिमा मुनि आदिका ये सब

पद आयेंगे। अगर इसमें आत्मतत्त्व की श्रद्धा की तो उसको अंधेरा है। एक ज्ञान का ही नाता रखें, ज्ञान ही जिसका धन है, ज्ञान ही जिसका सर्वस्व, ज्ञान का ही जो रुचिया बना ऐसा निकटभव्य जीव अपना कल्याण पाता है, सो मन, वचन, काय पर जहाँ सहज नियंत्रण नहीं है। जानबुझकर नियंत्रण है तो ऐसी जबरदस्ती करने को नियंत्रण कहते ही नहीं। जैसे बच्चे लोग अपने खेल में जब कहते हैं कि देखो हमने मौन ले लिया हमसे मत बोलना, तो वे क्या करते कि ओठ से ओठ दबाकर बैठ जाते हैं। तो वह उनकी कोई सहजवृत्ति तो नहीं हुई वह तो बनावट करके हुई। उसके भीतर में अनेक विकल्प उठते रहते हैं, कुछ कुछ ओठ भी फड़कते रहते, कहीं मुझे हँसी न आ जाय इसके बड़े विकल्प उठते रहते। यहाँ तो लोग बनावटी मौन लेकर लोगों को मौन का रूपक दिखाते हैं पर यह बनावटी मौन कोई कार्यकारी नहीं है। कोई सही ढंग से आत्मचिंतन के कार्य में लगता है। वहाँ ही अपना उपयोग देता है तो उसके चित्त में प्रकृत्या ही बड़ी प्रसन्नता छा जाती है। उसका मौन एक सहज मौन है।

**आत्माचारहीनता में आत्म विकास की असंभवता—** क्रिया काण्ड में देह में आत्म बुद्धि रख करके करना सो तो दोष है और सहज आचरण बने और उसमें रहते हुए वह अपने ज्ञानभाव की साधना बनाये तो वह तो विधि ही है। तो जिस तपस्वी ने ज्ञान बल से मन वचन काय का नियंत्रण नहीं किया वह पुरुष दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण करता है। मिथ्यात्व, माया और निदान से जो युक्त है, जिसने देह को आत्मा माना, जो अपने को रागादिक रूप समझता, जिसमें मिथ्यात्व, छल, कपट माया हैं, जिसने अगले भव के लिए निदान बनाया है। ये भाव जिसके बन रहे हों जो ईर्ष्या करने का स्वभाव रखता है, जो झगड़ा याचना करने वाला है, ऐसा पह योगी, जिसके भीतर तो लगी है विषय वासना और ऊपर से रख लिया भेष, तो ऐसा भेष रखने वाला अज्ञानी मुनि दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करता है। कहते हैं ना कि अन्य जगह पाप कमावे तो धर्म की जगह पाप धोए जा सकते हैं पर धर्म को ओट में, धर्म के नाम पर धर्म के स्थान में कोई पाप करे तो वह ब्रजलेप हो जाता। तो इस प्रकार योगियों के विषय में बताया कि अपने सहज ज्ञानस्वरूप की जिसको धुन है वह मोक्षमार्ग में चल सकता है शेष सब उल्टा पतन ही करते हैं।

**“देहादिसु अणुरत्ता बिसयासत्ता कसायसंजुता।**

**अप्पसहाबे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।।93।।”**

**देहादिक में अनुरक्त साधुओं की सम्यक्त्वहीनता—** वे साधु अर्थात् मुनिभेष रखने वाले पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं, कौन से? जो देहादिक में अनुरक्त हैं, शरीर को ही निरख कर अपने को मुनि मानने वाले भी देह में अनुरक्त कहे जाते हैं, शरीर को निरखकर मैं मुनि हूँ, मुझे इस तरह समिति से चलना चाहिए, मुझे इस तरह के तप व्रत उपवास करना है, मैंने मुनि व्रत लिया है ये सब बातें सोच तो रहा है मगर शरीर को ही आपा मानने की प्रकृति में मुनिपना मान रहा है, जो अंतस्तत्त्व है ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह अमना विकसित है कि आत्मा का ही मनन करना है वह मुनि होता है, यह तो ध्यान में नहीं है किन्तु देह को ही निरखकर मैं मुनि हूँ, इस प्रकार का भाव बनाकर काम सब ठीक कर रहा है, बाहर में देखने वालों को सही जंच रहा है, निर्दोष चर्या करना हिंसा टाल कर रहना कायक्लेश करना आदिक ये सब बातें हो रही हैं तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, सम्यक्त्व से रहित है, मोक्षमार्ग में सबकी कुँजी धर्म पालन मूलतः यह है कि अपने को अविकार सहज ज्ञानस्वभावमात्र मानें, यह एक मूल उपाय है, यह जिसने नहीं कर पाया वह चाहे मुनि भी हो बड़े कायक्लेश भी करता हो तो भी मोक्षमार्ग तो रंच भी नहीं हैं।

**केवल स्वरूप की दृष्टि की दृढ़ता से कैवल्य का लाभ**— जिसको मुक्त होना है उसको इस समय भी स्वरूप दृष्टि से कर्म मुक्त देख सके तब तो मुक्त होने का उपाय बन सकता है और जो स्वरूपतः अपने को विकारमय तर्के वह मन वचन काय की क्रियाओं के बल पर मोक्षमार्ग नहीं पा सकता है। जैसे किसी बर्तन को साफ करने के लिए कहा जाता, जिस पर चढ़ गई हो धूल और कज्जल तो उसको साफ करने वालो की श्रद्धा में यदि यह है कि यह धूल इस बर्तन का स्वरूप नहीं है, यह तो ऊपर से लग गया है, बर्तन तो अपने अन्दर जैसा था उस ही प्रकार है, तो वह उस बर्तन को तुरन्त साफ कर लेता है, और कोई हो ऐसा कुबुद्धि पुरुष कि जो बर्तन का स्वरूप ही माने कि यह है तो वह यह प्रश्न कर उठेगा कि कैसे साफ हो? तो बर्तन को साफ वही पुरुष करता है जिसने उस मैल धुवां कज्जल आदिक से भिन्न अपने आप के बर्तन के स्वरूप में स्वच्छता जाना है, ऐसे ही आत्मा को मोक्षमार्ग में वही ले जा पायेगा जो देह से भिन्न, कर्म से भिन्न, विकार से निराला विचार अस्थिरता आदिक जो जो भी तरंगे हैं उनसे निराला सहज ज्ञान ज्योतिमात्र अपने ही सत्त्व से जो हो वहीमात्र जो अपने को निरखता है वह ही केवल बन सकता है। केवल को देखने वाला केवल बनेगा, अशुद्ध को देखने वाला अशुद्ध बनेगा। आत्मा की प्रगति कितनी सुगम और स्वाधीन है और यह केवल दृष्टि पर निर्भर है, और दृष्टि के अनुसार सृष्टि होती चली जायेगी। इसमें और अधिक कष्ट नहीं उठाना है। मात्र एक दृष्टि ही बने। उस एक की उस स्वच्छ भाव की तो परिणति भी स्वच्छता की जगती।

**जीव में केवल निजभाव का कर्तृत्व**— यह जीव भाव के सिवाय और कुछ कर नहीं पाता। किसी का बुरा करना विचारे कोई तो उसके विचारने से बुरा नहीं होता, बल्कि दूसरों का बुरा विचारने से खुद का पाप बंध ही कर लिया जाता, ऐसे ही यद्यपि किसी का कोई भला विचारे तो इसका भला विचारने से भला नहीं हो जाता, वह तो उसका कर्तव्य है, मगर भले विचार वाले पाप बंध से हटते हैं, पुण्य बंध किया और शुद्धता का लाभ बना है तो निर्जरा भी हुई है, जब यह भावों के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता तो वस्तुस्वरूप के अनुरूप सही भाव क्यों नहीं बनाये जाते? हर जगह यह जीव केवल भाव बना पाता है और कुछ बन गया काम तो उसमें यह अहंकर का भाव बनाता है, परभाव ही बनायगा। भाव सिवाय और कुछ नहीं कर सकता क्योंकि यह तो वस्तु स्वरूप की सीमा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी अर्पित नहीं कर सकता। जब ऐसा वस्तुस्वरूप है तो करने का काम एक अपने भाव में सुधार है, इससे अधिक अन्य कोई काम नहीं पड़ा हक जो अपने हित में ठीक हो। तो यह अज्ञानी जीव कभी किसी इच्छा से, आशा से या कुछ दूसरों का प्रताप देखकर अपने मन में भावुक बनकर भाव लाता है कि मैं भी साधु होऊँ, हो गया साधु कपड़ा उतार कर बाह्य परिग्रह त्याग कर लेकिन अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की अनुभूति नहीं पायी है तो वह अब भी मिथ्यात्वमल से सहित है और मिथ्यात्व को बताया महापाप, क्योंकि यह है पूरी बेहोशी। खुद है और खुद को नहीं जान पा रहा, यह पूरी बेहोशी है। खुद का भान नहीं रहता यह ही तो हुआ करता है बेहोशी में। सो बाह्य वस्तुओं में तृष्णा में इनमें मन चलाते हैं, उपयोग लगाते हैं पर स्वयं सहज क्या है उसे नहीं जान पाते ऐसे अज्ञानी जो देहादिक में अनुरक्त हैं वे साधु सम्यक्त्व से हीन हैं।

**विषयासक्त साधुओं की सम्यक्त्वहीता**— विषयासक्त मुनि सम्यक्त्व से रहित है जो इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिए साधुता धारण करता है और इन्द्रिय विषय पूरे हों न हों पर रसना इन्द्रिय का तो पूरा मौका है। भक्तजन उत्तम से उत्तम आहार उपस्थित करते हैं, पर उसमें अशक्ति है जिसे और उस मुनि जीवन का ध्येय भी यह ही बन गया है कि

आनन्द से भोजन मिलता है, इन्दिगय विषयों में अशक्त है, कोमल वस्त्र सुहायें, साफ चिकनी बढ़िया चीजें सुहाये, राजसी बातों के लिए दिल चाहे तो वह विषयों में आशक्त ही तो कहा जाता। रुपावलोकन मन में, प्रदर्शन में, संगीत आदिक के श्रवण में रागरागनियों में सुहा जाय मन, तो वह विषयों में आशक्त ही तो कहलाता है। तो जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है, विषयों में जिसकी आशक्ति है वह साधु सम्यक्त्व से परित्यक्त है।

**कषाय संयुक्त साधुओं की सम्यक्त्वहीनता**— कषाय संयुक्त साधु सम्यक्त्व से हीन हैं। यहाँ जो जो बातें साधु के लिए बतायी जा रही सो इस दृष्टि से ही न सुनना कि मुनि के लिए ये सब बातें कही जा रही हैं, अपने आप पर भी घटित करना, जो जो अवगुण मुक्ति से मनुष्य को गिरा देते हैं। वे वे अवगुण श्रावक को भी सम्यक्त्व से गिरा देते हैं। कषायों में आसक्त पुरुष सम्यक्त्व से हीन हैं। कषाय में आसक्त किसे कहते हैं? जो कषाय पर्याय में, कषाय विकार में आत्मा की बुद्धि करते हैं, मैं हूँ यह मैंने किया है, उस विकार में जो अपना आत्मत्व स्वीकार करते हैं बस वही कहलाया कषाय में आशक्त कषाय को क्या छोड़ा नहीं जा सकता? छोड़ा जा सकता है पर छोड़ने का प्रोग्राम ही चित्त में नहीं है। उन्हीं में ही युक्त हैं। इस गाथा में साधु के लिए सब बताया जा रहा है कि यदि वह अपनी योग्य कषाय में आशक्त है यह पहले का दीक्षित मुनि है, यह बाद का है, यह इससे छोटा है, मैं इससे पहले कैसे बोलूँ आदिक किसी भी प्रकार की कषायों में आशक्त है तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं है। दूसरा गलती करे तो खुद भी गलती करने लगना, यह बात ज्ञानियों में नहीं होती। कोई दूसरा गलती कर रहा तो करे। उसका ज्ञाता हैं मगर खुद गलती न करे, जिसको अपनी यह सुध है कि मुझे खुद गलती न करना चाहिए और गलतियों से हटकर इस ज्ञानस्वभाव में ही दृष्टि रखना चाहिए वह तो सन्मार्ग पर है पर जो बाहरी बातें देखकर कषाय से युक्त होता है वह मुनि सम्यक्त्व से रहित है।

**आत्म स्वभाव में सुप्त साधुओं की सम्यक्त्वहीनता**— आत्मस्वभाव में सोये हुए साधु सम्यक्त्व से रहित हैं। आत्मस्वभाव में सोये के मायने आत्मस्वभाव की सुध नहीं, दृष्टि नहीं, पता ही नहीं। मैं हूँ क्या इसका सही पता नहीं है पता तो हर एक को है, मैं हूँ सबको पता है पर किस रूप में मैं हूँ मान रहा इसमें अन्तर आ जाता है। जो कर्म रस झलके, जो कर्मोदय की भेंट मिल रही उस ही रूप अपने को जो मान रहा वह तो आत्म भगवान में सोया हुआ है अर्थात् स्वभाव के ज्ञान से रहित हैं, ऐसा पुरुष सम्यक्त्व से रहित है। स्पष्ट ही बात है, जब स्वभाव का परिचय नहीं तो वहाँ सम्यक्त्व कहाँ से हो सकता। बस एक कला मिल जाय एक दृष्टि मिल जाय अपने आत्मा की कि मैं तो यह प्रतिमास मात्र हूँ। एक द्रव्य जैसा चैतन्य स्वरूप हूँ और उसकी प्रतिक्षण वृत्ति चेतने की चलती रहती है उसे कौन रोकेगा? बस चेतने की वृत्ति चलती रहना इतना ही इसका काम है इतना ही इनका परिणमन है, इसमें अन्तर कुछ नहीं ऐसा जो अपने आप में निहारता है वह तो है सावधान और जो कर्मरस झलका.., राग, विकार, विकल्प जगे उनको ही मान लिया कि मैं यह हूँ वह अज्ञानी है। और जो अपने में प्रतिफलित विकार को मानता है मैं हूँ उसकी प्रवृत्ति होती है बाह्य में ममता करना, बाह्य को अपनाता तो ऐसा अज्ञानी जीव सम्यक्त्व से रहित है।

“आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंरिवया तहासूया।  
वयगुणसीलविहीणा कसाय कलहप्पिया मुहरा।।94।।  
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा।  
रायाइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू।।95।।”

**आरंभ कारक साधुओं की स्वपराहितकारिता**— जो साधु जैन धर्म के विराधक होते हैं वे आत्मशासन के मुक्ति मार्ग के वे अपने कल्याण के विराधक होते हैं, और चूँकि उनको जनता साधु कहती है सो वे जनता के पतन के भी कारण बनते हैं। जान रहें हैं सब और आनन्द से उस भेष में रहते हैं, उसे छोड़ते नहीं या सच्चाई का पता नहीं पाते कि सच्चाई है भी कहाँ, तो ऐसे साधुजन धर्म के विराधक कहे गए हैं। कैसे साधु? जो आरम्भ में प्रवृत्ति चाहते हैं। खुद काम कर लेते, आरम्भ कर लेते, बाह्य आरम्भ तो खेती दुकान आदिक वे तो शर्म के मारे नहीं कर सकते, क्योंकि करेंगे तो एक दम विपरीत जचेगी, मगर आरम्भ के प्रिय हैं वे उनके मन में रहती हैं। आरम्भ करने की बात सो कोई बाहरी धर्म के नाम पर बाहरी क्रियाकाण्ड जैसे गृहस्थजन विधान में, पूजन में क्रियाकाण्ड में या हवन आदिक में इनमें अभिलाषा रखते हैं, तो इस ओर जिनकी दृष्टि गई है उनको आत्मा की सुध नहीं, आत्मा निष्क्रिय है, ज्ञानशील है, चिदानन्द मात्र है, उसकी जिसको रुचि हो उसकी जिसको लगन हो वह ही तो साधु हो सकेगा, और जिसको इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्व में लगन है वह बाहरी ग्रहस्थोचित क्रियाकाण्डों में प्रवृत्ति कर कैसे सकेगा? उसकी तो यह ही हालत हो सकेगी कि ज्ञान दृष्टि की दृढता के कारण मुनि के लिए बताये हुए कोई आवश्यक में से कोई आवश्यक न भी कर सके मगर आवश्यक न कर सके कोई और ज्ञानदृष्टि में दृढता है तो आवश्यकता फल यह ही तो था, उसको किया यह तो महा आवश्यक है। आवश्यक कर्तव्य तो उसका है जो महान आवश्यक ज्ञानदृष्टि से रहित हो जाता हो।

**सहजज्ञानस्वभाव दर्शीके महावश्यकतत्व सिद्धि**— बाहुबलि स्वामी एक वर्ष तक अडिग तप करते रहे, अब कोई कहे कि पास में मंदिर हैं, दर्शत करने नहीं जाते अथवा कुछ अगल बगल देखते भी नहीं हैं। कुछ भी बात देखने लगे। तो उनको अब दर्शन कहाँ आवश्यक, वंदना स्तवन कहाँ आवश्यक? बताया गया है ना मुनि को कि बंदना करें, स्तुति करें, प्रतिक्रमण करें, स्वाध्याय करें और कोई कहे कि बाहुबलि महाराज ने यह कुछ नहीं किया, अरे ये आवश्यक थे स्वाध्याय आदिक सो उस ज्ञानदृष्टि में दृढ रहने के लिये वह उन्होंने पा लिया तो वे तो आवश्यक से भी महान आवश्यक में पहुँचे। दूसरों के यहाँ एक घटना आयी कि कोई सन्यासी होने पर संध्या न करता था, वह ज्ञानी, ज्ञान की ओर ही उसकी धुन रहा करती थी। किसी ने पूछा कि आप समय पर संध्या क्यों नहीं करते? तो उसने उत्तर दिया। 'मृतामोहमयी माता ज्ञानपुत्रोद्भवा जी जनत् सूतक द्वयसंपाते कथंसंध्यामुपाश्महे।' यह श्लोक एक अलंकार रूप में कहा गया है मेरी मोह रूपी माता मर गई। माँ मर जाय तो सूतक लगता कि नहीं सूतक में लोग कहते कि जाप न करे, पुस्तक न छुवे, मंदिर न जाय आदि तो वह बोला कि एक तो मेरे लगा मोह माता के मरण का सूतक और दूसरे ज्ञान पुत्र पैदा हो गया, इसका सूतक लगा, इस तरह तो डबल सूतक लग रहे तब फिर किस तरह से वे सब धार्मिक क्रिया काण्ड कर सकें। देखिये साधु के ज्ञान पुत्र पैदा हो गया इसका यही अर्थ है कि आत्मा का जो अविकार ज्ञान स्वरूप है उसकी दृष्टि होने से एक अद्भुत सहज अनुपम आनन्द जग गया, निराकुलता की स्थिति बन गई, यही ज्ञानपुत्र का उत्पन्न होना कहलाया। अब जिसको इस प्रकार का ज्ञान जग गया उसको समय की खबर कहाँ से रहेगी। वह तो निरन्तर अपने ज्ञान स्वभाव की धन में अनुरक्त रहता है। तो आवश्यक से भी महान आवश्यक तत्व जब पा लिया तो उनकी बात है यह कि जिससे साधुजनों से अन्य बातें नहीं हो पाती। मगर यह बात बहाने में न लाना चाहिए यह बात तो उन साधुजनों के लिए है। वैसा ही गृहस्थ जन अपने को समझलें और उन धार्मिक क्रियाकाण्डों से दूर रहें तो वह उनके लिए योग्य बात नहीं। वह बात तो ज्ञानीजनों के लिए योग्य है क्योंकि वे तो अपने ज्ञानमयी स्वरूप का निरन्तर भान किया



करते हैं। गृहस्थ जन अपने को ऐसी स्थिति में कहाँ रख सकते? साधुजनों की देखा देखी अगर गृहस्थजन भी अपने आराम के लिए अनेक प्रकार के बहाने करें तो वह तो उनके लिए उन्मार्ग है।

**ज्ञान जागृति होने पर जीवों की हिताभिमुखता—** ज्ञान जगने पर होता ही ऐसा है कि उसे बाहर की कुछ सुध नहीं रहती। एक ज्ञान प्रकाश अर्थात् सत्त्व के कारण अपने आत्मा की वृत्ति यह ही मेरा सर्वस्व है, इसके लिए ही हमारा सब कुछ है, ऐसा परा समर्पण, यह जिसके भाव जगा है उसे बाहर की सुध नहीं होती। मगर जिस को यह ज्ञानदृष्टि नहीं प्राप्त हुई वह साधु अपना समय गमाये कहाँ, सो वह तो आरम्भ में प्रवृत्त होता है। तो ज्ञानस्वभाव का अपरिचय होने के कारण ये साधु जिन धर्म के विराधक हैं, देव, शास्त्र, गुरु इन तीन के प्रति तो यह नीति न चलेगी। ये तीनों तो अच्छे हैं, जो देव हैं वह पूर्णतया देव ही होना चाहिए, यदि किसी में कुछ थोड़ी सी अच्छाइयाँ देखने को मिल गई तो उसी को अपना देव मान बैठना यह सम्यक्त्व के अनुकूल बात नहीं है, ऐसे ही हर एक शास्त्र में, हर एक ग्रन्थ में सदाचार के लिए थोड़ी बात तो लिखी ही रहती हैं, जैसे झूठ न बोलना, चोरी न करो, और उस उस ग्रन्थ की बड़ी अच्छी जिल्द भी बनी है, अच्छे कागज हैं, थोड़ा लौकिक बातों का उपदेश भी है मगर वह जिनागम नहीं हैं, अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी के अनुकूल नहीं हैं। तो यह बात नहीं चल सकती कि चलो कुछ तो ठीक लिखा है, वह भी शास्त्र हैं। ऐसे ही साधु के प्रति कोई कहे कि घर छोड़ दिया बेचारे ने, हमसे तो अच्छे ही हैं इसलिए हमारे गुरु हैं तो ऐसी बात गुरुजनों के प्रति भी नहीं चलती। यह बात साधारणजनों के लिए तो चल जायेगी मगर गुरुजनों के लिए न चलेगी। जो सम्यक्त्व गुण के धारी हैं, सम्यक्त्व की ही बात बताते हैं अपने आपको ज्ञानस्वभाव की आराधना की ही बात बतायें वे साधु हैं वे गुरु की श्रेणी में हैं, साधु परमेष्ठी हैं।

**आरम्भरत साधुओं की धर्मविराधकता की स्पष्ट घोषणा—** यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कितना जोर दार शब्दों में बहुत गाथाओं में बतला रहे हैं। कि ऐसे साधु जिनधर्म के विराधक हैं आत्मा के विराधक हैं जो आरम्भ परिग्रह में अपनी प्रवृत्ति करते हैं, ये देव के प्रति, देव की मूर्ति के प्रति कुछ मुद्रा ऐसी बनाते हैं कि हमको शान्ति मिली दर्शन करने से, अपने भाव भी जगते कि सार यही है जो प्रभु ने किया सर्व ओर के विकल्पों से हटकर अपने अविार ज्ञानस्वरूप में मग्न हुए, यह ही मेरे को कर्तव्य है, ऐसी शिक्षा मिली ना मुद्रा से, तो देवों से भी शिक्षा मिलगी, गुरु से भी शिक्षा मिलेगी। वे गुरु कैसे होते कैसे नहीं होमे यह ही स्थाल चल रहा है। जो आरम्भ में प्रवृत्ति करते हैं वे गुरु सत्य धर्म के विराधक हैं, अथवा कोई भी सन्यासी जन जिनको आरम्भ प्यारा लग रहा, खेती हो रही, बगीचा भी बनाया है, और खुद इसमें गर्व करे कि मैं इस बगीचे को सींचता हूँ इसको हरा भरा बनाये रखता हूँ इस प्रकार का भीतर में गर्व करे तो यह बात साधुपद में रहकर उसके लिए योग्य नहीं। साधुजनों को तो निरन्तर एक परम ब्रह्म स्वरूप अंतस्तत्व की आराधना करना चाहिए और इसी कारण आरम्भ और परिग्रह से वे साधु मुक्त होते हैं। तो जो किसी प्रकार के आरम्भ में आशक्त हैं वे साधु मोक्ष मार्ग की विराधना करने वाले कहे जाते हैं।

**धर्म मार्ग कमें चलने व बढ़ने लिये देवशास्त्र गुरु की भक्ति प्रथम आवश्यकता—** अपने धर्म में बढ़ने के लिए धर्म धारण के लिए प्रथम देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा, सेवा, भक्ति करना आवश्यक होता है कोई भी कार्य उस विषयक देव, शास्त्र, गुरु के बिना बन नहीं पाते, जैसे लौकिक कार्यों में कोई भी कार्य ले लौ एक भोजन बनाने का ही दृष्टान्त ले लो जो बच्ची अभी भोजन बनाना नहीं जानती उसको किस तरह सिखाया

जाता और उसकी कैसी वृत्ति होती है। उसको उत्सुकता है कि मैं भोजन बनाना सीखूँ और उसको ऐसे किसी पुरुष का ध्यान रहता है कि जो भोजन बहुत बढ़िया बना लेता है, और जैसे भोजन बनाने की विधियाँ पुस्तकों में भी लिखी रहती हैं और जो अपने घर में चाची बुआ मौसी आदि कोई हो सिखाने को तो उनसे वह बच्ची सीखती है। तो इस कार्य में उसे भोजन के देव, भोजन के शास्त्र और भोजन के गुरु से काम पड़ा। भोजन का देव कौन? जो ध्यान में है उसके कि वह बहुत अच्छा भोजन बनाने वाला है और शास्त्र कौन? वह पुस्तक जिसमें वे सब बातें लिखी होती और गुरु कौन? जो तत्काल उसे सिखा रही है तो हर एक घटना में देखते जाइये, ऐसी ही सहज व्यवस्था और योग है। तद्विषयक देवशास्त्र गुरु की सेवा चाहिए तो धर्म के मार्ग में भी सोचिये धर्म नाम है किसका? आत्मा के स्वभाव का। आत्मा का स्वभाव है ज्ञानमात्र केवल ज्ञाता दृष्टा रहना। सो इसकी सिद्धि अगर करना है तो जो पूर्ण ज्ञाता दृष्टा हैं, वीतराग हैं उन आत्मा का याने सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति सेवा करनी चाहिए। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तो देव हैं और शास्त्र—वह ग्रन्थ, वह वचन, वह उपदेश जो विषय कषायों से बचाकर आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठित कराये ऐसी प्रेरणा दे वह शास्त्र हैं, और गुरु कौन हैं? जो उस धर्मपंथ पर चल रहे हैं और बनेंगे वे कभी मुक्तजीव। वे गुरु कहलाते हैं, तो देव, शास्त्र, गुरु इन तीन का यथार्थ बोध रखना मोक्षमार्ग चाहने वालों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

**गुरु की निर्दोषता का परिचय—** यह गुरु का ही प्रकरण चल रहा है कि गुरु कौन होना चाहिए। जब हमको गुरु सेवा करना आवश्यक है तो हम उसकी सही पहिचान तो कर लें अन्यथा गुरु के धोखे से किसी कुगुरु की सेवा में लगे तो उससे बजाय लाभ के हानि ही होगी, सो यहाँ गुरु का परिचय कराया जा रहा है। अभी यह बताया था कि जो आरम्भ में लीन है वह साधु नहीं, वह तो धर्म का विराधक है। अब कह रहे हैं कि जो धन धान्य में इच्छा रखते हैं वे साधु धर्म के विराधक हैं, बाह्य पदार्थ ये सब अपने से भिन्न सत्त वाले हैं। ये मुझको नहीं करते, मैं इनमें कुछ नहीं करता। किसी भी बाह्य पदार्थ से मुझ आत्मा का लाभ नहीं है, बल्कि उनके सम्पर्क से हानि है, भले ही आज शरीर में फसे हैं, क्षुधा तृषा आदिक लगते हैं, अन्य अन्य कषाय वेदनायें जगती हैं सो आवश्यक लग रहा कि पर पदार्थ का संचय होवे नहीं तो गुजारा कैसे चलेगा। लोकिन यह तो सोचो कि ऐसे जन्म मिलते रहे, गुजारा चलता रहे, साधन मिलते रहे, क्या यह भावना है आपकी? यदि यह बात मन में है तो उसका भाव हुआ कि आपको संसार से रुचि है यह तो संसार है। तो क्या भावना होना चाहिए कि मैं जो स्वयं अपने आप हूँ वह पदार्थ रह जाऊँ, मेरे को कोई सम्पर्क न चाहिए और अगर यह केवल रह जाय खालिस ज्ञानज्योतिमात्र सम्पर्क रहित यह आत्मा रह जाय तो भूख प्यास किसका नाम है? वेदना किसका नाम है, संकट किसे कहते हैं? वह तो ज्ञानानन्दमय है, उसमें तो तरंग भी कुछ नहीं उठती। यदि सदा के लिए प्रसन्न पवित्र उत्कृष्ट रहना है तो समस्त पर पदार्थों से जुदा भावना से उपयोग से और सम्पर्क से जुदा होना ही पड़ेगा। उसका उपाय यह है कि यहाँ ही सर्व बाह्य पदार्थों को त्याग कर केवल मुनि होकर अपने में अपने एक स्वरूप की आराधना करें।

**धन धान्य व उपकरण में कांक्षा रखने वाले साधुओं की धर्मविराधकता—** किसी ने मुनि का भेष तो बनाया और भीतर से धन धान्य की भी कामना रखे तो वह साधु धर्म का विराधक है। वह साधु नहीं। जो साधु बाहरी धन धान्य में तो इच्छा नहीं रखता किन्तु जो उपकरण हैं उसके पास पिछी कमण्डल शास्त्र वगैरह, यदि उनमें इच्छा वाला है, मोह वाला है, उनको अपना मानकर उनकी शोभा श्रंगार, सजावट करता है और शोभा श्रंगार निरखकर अपने में बड़ा खुश होता है तो वह उपकरण की इच्छावान हुआ साधु भी

धर्म का विराधक है। उपकरण नाम किसका? जो अपनी धर्मसाधना में आवश्यक होता है वह कहलाता है, उपकरण, तो प्रयोजन तो पिछी से हिंसा टालना है, कमण्डल से शुद्धि रखना है, शास्त्र से ज्ञान लेना है, अब यदि इसको कोई अपना ही धन मान कर इनमें व्यासक्त रहे तो वह पुरुष साधु नहीं है, उसने तो इस उपकरण को परिग्रह बना डाला, तो ऐसे उपकरणों को परिग्रह बना डालने वाला साधु धर्म का विराधक है।

**ईर्ष्यालु साधुओं की धर्मविराधकता—** परस्पर में ईर्ष्या मात्सर्य रखने वाले साधु धर्म के विरोधी हैं कोई मान लो अधिक ज्ञानी है, अधिक उपदेशक है तो उसे देखकर चित्त में ईर्ष्या रखना और उनकी बात सहन न होना, जनता में उनके सम्बन्ध में कोई न कोई त्रुटि बताना, ऐसा ईर्ष्या का भाव रखने वाले साधु साधु नहीं किन्तु वे धर्म के विराधक हैं ईर्ष्या कोई कब करता है, जब उसको पर्याय बुद्धि हो याने शरीर को मानता हो कि यह मैं हूँ और मेरी कदर नहीं बढ़ रही है और इस दूसरे की कदर बढ़ रही है, उस दूसरे ज्ञानी साधु को शरीररूप मान रहा है, अपने को भी शरीररूप मान रहा है। स्थूल रूप से चाहे यों नहीं कहता मगर भीतर में वासना संस्कार ऐसा ही बसा है, तो जिसको मोह है, शरीर को जो आत्मा मानता है वही पुरुष दूसरों से ईर्ष्या करता है अन्यथा ईर्ष्या की आवश्यकता क्या? जो बढ़ रहे हैं धर्म मार्ग में उनकी तो अनुमोदना करना चाहिए कि बढ़े चलो, कर्म कलंक से मुक्त होइये, मुक्ति की यह भी वाच्छा रख रहा तो जो ज्ञानी साधु संत हैं वे कभी दूसरों से ईर्ष्या नहीं रखते और जो दूसरों से ईर्ष्या रखते हैं वे साधु साधु नहीं, किन्तु वे धर्म के विराधक हैं।

**व्रतगुणशील रहित साधुओं की धर्म विराधकता—** साधु पुरुष व्रत, शील, गुण से शोभित होते हैं, किन्तु जो व्रत, गुण, शील से रहित हैं वे साधु नहीं किन्तु अपने आप की हिंसा करने वाले हैं। व्रत नाम हैं पापों से विरक्त होने का और गुण नाम है उन व्रतों को बढ़ाये ऐसी कोई क्रिया, मूलगुण उत्तर गुण कहलाता है गुण और शील कहलाता हैं अपने ब्रह्म स्वरूप की आराधना जो इन तीनों से रहित हैं वे साधु साधु नहीं किन्तु धर्म के विराधक हैं। एक पुरुष गृहस्थी में रह रहा और साधारण आचरण से रह रहा और एक साधु बनकर मन में परिग्रह आरम्भ की वासना लिए हुए रहता हैं तो गृहस्थ को तो गति मिल जायेगी सही, पर उस साधु को सही गति नहीं मिल सकती। तो जो व्रत गुण शील से रहित है वह धर्म विराधक पुरुष है।

**कषाय कलह प्रिय साधुओं की धर्म विराधकता—** जो साधु कषाय और कलह से प्यार रखते हैं वे साधु साधु नहीं। कषाय करना कषाय की आदत बनाना, कषाय बिना चैन न पड़ना ये सब कषाय के प्रेम ही तो कहलाते हैं। पहले समय में हजार हजार साधुओं का समूह एक आचार्य के साथ रहता था और वहाँ न आचार्य को कोई चिन्ता न उन मुनियों को कोई अव्यवस्था थी, उसका कारण था कि प्रत्येक मुनि की यह भावना होती थी कि मैं विकारों से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव में उपयुक्त रहूँ। सबकी एक समान भावना थी। उनको परस्पर किसी से न ईर्ष्या होती थी न कोई व्रत भंग करने के भाव होते थे। मोक्षमार्ग में बढ़े चलने का उनका पुरुषार्थ चलता था। उनके सहवास से आचार्यों को कोई दिक्कत न थी, और आचार्य के संग में रहने से वे साधु समझते थे कि मैं किसी गुरु की छत्र छाया में रहता हूँ। इस ढंग से रहूँ, प्रवृत्ति सही करू तो मेरे आत्मा का लाभ हो, कभी कषाय और कलह करने के अवसर न आते थे। अब भी अनेक साधु ऐसे हैं कि जिनको कषाय और कलह प्रिय नहीं होती, लेकिन जो अज्ञानी साधु हैं, जिनका मन ब्रह्म स्वरूप में रम ही नहीं सकता है तो वे क्या करें और? कषाय कलह ही उनको शरण जचता है, तो जो कषाय और कलह से प्यार करते हैं, वे साधु साधु नहीं हैं, किन्तु वे अपने धर्म के विघातक हैं और

दूसरों को धर्म से हटाने वाले हैं। यदि कोई गृहस्थ लड़ते हुए साधुओं को देख ले तो वह गृहस्थ खुद धर्म से हट जाएगा। यह तो ऐसा ही चला करता, यहाँ धर्म क्या है, इससे तो हम ही भले हैं आदि सोचकर अन्य पुरुष धर्म मार्ग में नहीं बढ़ पाता। तो कषाय और कलह जिनको प्रिय है ऐसे साधु धर्म के विघातक हैं और दूसरों का अपकार करने वाले हैं।

**मुखर साधुओं की धर्म विराधकता**— मुखर साधु धर्म के विमुख हैं। मुखर कहते हैं उसे जो अधिक वार्तालाप (बातचीत) करे, दूसरे सुनने वाले ऊब जायें पर खुद बोलते ही चले जायें, यो अधिक बोलने वाले साधु धर्म के विघातक हैं इसका कारण यह है कि जो अधिक बोलते हैं उसकी दृष्टि बाहर में ज्यादा पड़ती रहती है, नहीं तो अधिक बोलने का मतलब क्या है? तो बाहर में दृष्टि अधिक होने से वह पुरुष शुद्ध ज्ञानस्वभाव में कहाँ रहा? परभाव में ही वह अनुरक्त रहा। उसको कर्म बंध विशेष होता है न स्वयं का उद्धार कर पाता और न दूसरों के उद्धार में निमित्त बन पाता। तो जो साधु मुखर हैं अधिक वार्तालाप करने वाले, अपनी अपनी प्रशंसा हाँकने वाले और यहाँ वहाँ की गप्प सप्प की बात करने वाले साधु कहीं साधु कहलाते हैं? अरे वह तो अपने धर्म से विमुख हैं।

**संघ विरोधकुशील साधुओं की धर्म विराधकता**— ऐसे साधु जो संघ में विरोध करने का खोटा स्वभाव रखते हैं वे साधु अपना अकल्याण करते और दूसरों का भी। गुरुआज्ञा में चलना तो दूर रहा, पर गुरुआज्ञा से विमुख हैं, उनका विरोध करते हैं। संघ में रहना पसंद नहीं करते हैं, संघ का विरोध करते हैं, स्वच्छंदता से रहने की प्रकृति बन गई है। तो ऐसे कोई मुनि भेष में रहे तो वे मुनि नहीं किन्तु अपने धर्म के विराधक हैं और दूसरों को सन्मार्ग में बाधक हैं जो अधिक दूसरों की निन्दा करता है, दूसरों के दोष देखता है दूसरों के दोष यत्र तत्र बखानता है वह पुरुष तो दोषप्रिय रहा, गुणप्रिय न रहा। यदि वह गुणप्रिय होता तो उसको हर जगह गुण ही सुहाते। वह गुणों को ही चर्चा करता और गुणों की ही दृष्टि में रखता पर जो संघ का मुनियों का विरोध करने में ही अपनी शान समझता है, बड़प्पन जानता है वे पुरुष न अपने आत्मा का उद्धार कर पाते और न दूसरों का। कभी कोई अकेला रह जाय तो कोई बात नहीं मगर संघ का उन सहवासियों का जिन के साथ रहता था उनसे विरोध करना, उनके दोष बताना, उनके अवगुण बखान इसमें ही जिनका स्वभाव बना है वे पुरुष जीवों को देखकर प्रमोद भाव रखना और कहा किसी संघ वाले गुरुजनों का विरोध करने का स्वभाव रखना, संघ विरोधी पुरुष साधु नहीं किन्तु वे धर्म के ही विराधक हैं।

**स्वच्छन्द साधुओं की धर्मविराधकता**— जो स्वच्छंद मन वाले हैं, जिनका मन नियंत्रण में नहीं है, अपनी कीर्ति सुनने में अपने विषयों के साधनों में, सरस भोजन करने में या और और प्रकार के रहन सहन में एक बड़े लौकिक उच्चपन बताने में जो स्वच्छंद रहता है वह स्वच्छंद साधु साधु नहीं है स्वच्छंद रहना यद्यपि बुरा नहीं है, मगर कैसा स्वच्छंद रहना बुरा नहीं है? स्वयं मायने अपने परमार्थ भूत आत्मा में ज्ञायक स्वभाव के आधीन ही रहना, अपने उपयोग को उसे स्वभाव की ओर लगाना जिससे स्वयं ही नियंत्रण बन जाता, स्वच्छंदता हट जाती। जैसे आत्मा विशुद्ध बने वैसी ही प्रवृत्ति बनती है वह स्वच्छंद भला है मगर सबको जो नहीं जानते और इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं और फिर हो जाये स्वच्छंद तो यह स्वच्छंदता उनके विघात के लिए है। स्वच्छंद रहने से कोई आवश्यक काम कुछ नहीं किया। समिति ठीक बनी नहीं, सर्व प्रकार की एक सिथिलता आ जाया करती है। तो जो साधुजन स्वच्छंद हैं वे कर्म बंध करते हैं और अपने आपको धोखे में रखते हैं वे दीर्घ संसारी जीव हैं। उनका उद्धार निकट नहीं है। तो स्वच्छंद साधु स्वयं अपने धर्म के

विराधक हैं और जो उनकी सेवा सत्संग में रहते हैं वे भी अपना कोई कल्याण नहीं पा सकते।

**गुरुकुल रहित साधुओं की धर्मविराधकता**— गुरुकुल रहित साधु जहाँ गुरुजन हों उनके बीच रहकर धर्म साधना करें तो उसका मन हृदय उपयोग सुयोग्य बना रहता है और जहाँ गुरुकुल को त्यागा साधर्मिजनों को छोड़ा और अकेले ही रहकर अपने में बड़प्पन अनुभव करता है वह गुरुकुल रहित पुरुष है। वह साधु साधु नहीं हो सकता। पहले समय में गृहस्थजन अपने बालकों को पढ़ाने के लिये गुरुकुल में भेजा करते थे। गुरुकुल मायने संस्था नहीं किन्तु योगी मुनियों का संघ। उनके पास बच्चों को छोड़ दिया और वहाँ वे छुल्लक भेष में रहकर अध्ययन भी करते क्योंकि खिलाये कौन? मुनिसंघ में कोई विद्याध्ययन के लिए रह रहा है तो वहाँ न कोई आरम्भ है, न परिग्रह है तो वे बच्चे भी आहार चर्या के ढंग से आहार ढुंढते थे, आहार लेते थे और मुनिसंघ में रहकर विद्याभ्यास करने की प्रथा थी पहले। और इस प्रथा के सबुत आज भी मिल रहे हैं क्योंकि गुरुकुल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की पढ़ाई पूरी होने पर उनके माता-पिता उन्हें लिवाने जाते थे। और वहाँ गुरु पूछते थे उस विद्यार्थी से कि तुम गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हो या यती धर्म? तो जो विद्यार्थी जिस योग्य होता उस धर्म को स्वीकार करता था। अब मान लो किसी विद्यार्थी ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया तो उसका वह छुल्लक भेष छुड़वा दिया जाता था, वह विद्यार्थी उस समय अपना छुल्लक भेष छोड़ देता था, वह जब घर पहुँचता, उसके शादी विवाह की तैयारी होती तो जो कई वर्षों में उसके बदन पर मैल चढ़ गया था उसको खूब नहला धुलाकर साफ किया जाता था। आजकल भी तो विवाह शादी के अवसर पर तैल उबटन लगाकर शरीर का मैल साफ करने की प्रथा है। उसे नेग दस्तूर बोलते हैं। आजकल तो वह एक खेल सा बन गया। रोज रोज तैल साबुन से नहाने वाले लड़कों को विवाह के अवसर पर तैल साबुन से साफ करने की प्रथा खेल नहीं तो और है क्या? अरे वह तो पहले समय में गुरुकुल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए बात थी। जब वे गृहस्थ धर्म स्वीकार करके विवाह करवाते तो कई वर्षों का लगा हुआ मैल छुड़ाने की प्रथा थी। वह तो ठीक थी, पर आजकल तो वह प्रथा एक ढोंग बाजी की बन गई। वे विद्यार्थी उस गुरुकुल में दीक्षित भी रहते थे और विद्यार्थी भी रहते थे। यहाँ बात दीक्षितों की चल रही है कि जो गुरुकुल से रहित हो गए वे साधु अपने धर्म के विराधक हैं।

**मूढ़ रागादि सेवक साधुओं की धर्म विराधकता**— मूढ़ अज्ञानी साधु जिनको अपना कुछ पता नहीं जो आत्मा का स्वरूप कुछ जानते नहीं और यहाँ तक कि पढ़े लिखे भी नहीं क्रिया काण्ड भी ठीक प्रकार से नहीं कर सकते, स्तवन भी नहीं बोल सकते भक्ति प्रतिक्रमण भी नहीं बाले पाते, बिल्कुल अबोध जो एक अपने विकारभावों में आसक्त अज्ञानी साधु अपने धर्म की विराधना करते हैं और ऐसे अज्ञानी साधुजनों की भक्ति में जो रहते हैं वे भी अपना जीवन बरबाद करते हैं। यहाँ दो गाथाओं में दोष रूप में वर्णन चल रहा ताकि यह पहचान जायें कि ऐसे ऐसे दोष जहाँ नहीं होते हैं वे साधु साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। अनेक गाथाओं में गुणों की विधि से वर्णन किया है। गुणों की विधि से वर्णन करना प्रतिबोध के लिए सहायक हैं और निषेध मुख से वर्णन करना भी गुरुपरिचय के लिए सहायक है, तो मूढ़ साधु आत्मधर्म के विराधक हैं और इसी प्रकार राजा आदिक की सेवा करने वाले साधु भी मूढ़ हैं। ये दोष जहाँ नहीं हैं वे ही गुरु वास्तव में गुरु हैं और उनकी सेवा संग से ही शान्ति का मार्ग मिलता है।

“जो इसवे ज्जामंतो व जीवणं वायवस्स ववहारं ।  
धणधण्णपड्डिउग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ।।१६।।”

**ज्योतिषविद्योपजीवन तथा मंत्रोपजीवन श्रमणों का दूषण**— जो किसी लौकिक प्रयोजन से अथवा साधुओं की प्रशंसा कीर्ति देखकर भावुकता से साधु का रूप तो रख लेता है मगर अपने आत्मा की साधना नहीं करता है और उल्टे उससे विपरीत आचरण करता है तो वह साधुओं का दूषण है। जैसे ज्योतिष विद्या से अपनी आजीविका बनाना, ज्योतिष की बात बताकर लोगों का आकर्षण करके अपने आराम को बढ़ाना, जो भी अपना गरज सोचा हो। उसकी पूर्ति करना यह साधुओं का दूषण है। याने साधु बनकर फिर एक ब्रह्म स्वरूप की साधना का ही प्रोग्राम रहना चाहिए, फिर लौकिक बात क्यों की जावे? इसी प्रकार मंत्र का उपजीवन बनाना, किसी को मंत्र दिया, यंत्र बनाया, यंत्र लिखा और उससे अपनी जीविका बनाना या अपनी कीर्ति बढ़ाना ये सब साधुओं के दूषण हैं और साधुओं के ही एक धर्म के नाम पर मोक्षमार्ग के नाम पर जो भी श्रावक ज्योतिष विद्या और मंत्र विद्या का व्यवहार बन गया उसको भी दूषण है किन्तु मुक्ति का मार्ग इसमें नहीं है। मोक्ष का मार्ग तो मात्र निज सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना है।

**उदाहरणपूर्वक बंध व मोक्ष की व्याख्या व ज्योतिषमंत्रोपजीवन की**

**मोक्षप्रतिकूलता**— गाय बँधी है उसको मुक्त कौन करेगा? जो यह जानता है कि गाय तो बँधी नहीं है गिरवा के एक छोर से दूसरे छोर को अलग कर दिया जाय तो गाय अभी जंगल चली जायेगी। ऐसी श्रद्धा है तब ही गाय को बंधने से मुक्त करते हैं। यह सब अपने अनुभव से जान सकते हैं। यदि यह श्रद्धा होती कि गाय के गले से गिरवा की गाँठ लग गई बड़ी तेज तो यह बात कहाँ से हो सकती? इस तरह से तो गाय जीवित नहीं रह सकती। यह बात सबको मालूम है, रस्सी ही बँधती है, गाय का गला बिल्कुल सुरक्षित है। तो जिसको यह विदित है कि गला सुरक्षित है, गाय स्वतंत्र है, वहाँ बँधी है रस्सी ही, किन्तु वह इस तरह बँधी है कि गाय परतंत्र है। उस गाय को बंधने से मुक्त किया जा सकता है। ऐसे ही जो अपने आत्मतत्व को जानता है कि यह आत्मस्वरूप अपने स्वरूप में परिपूर्ण है, यह अमूर्तिक है। ज्ञानस्वरूप है, इसमें कर्म नहीं बँधा करते। कर्म तो कार्मण शरीर में ही बंधा करते हैं, पर इस तरह से बंध गये और यह ज्ञानी स्वयं भूल कर रहा, इस कारण परतंत्रता हो गया सो इस परतंत्र को हटाना सो ही मोक्ष है, तो क्या यह परतंत्रता क्या यह कर्म बंधन ज्योतिष विद्या से अथवा मंत्रोपार्जन से दूर हो सकती है? नहीं दूर हो सकती तो धर्म के नाम पर तो कोई भी ज्योतिष विद्या और मंत्र का प्रयोग नहीं करता, सिर्फ अनादि अनन्त परमब्रह्म स्वरूप की ही उपासना हुआ करती है।

**वातकव्यवहार व धनधान्य परिग्रहण श्रमणों का दूषण**— जो साधु वायुविकार का भूत प्रेत आदिक के झाड़ने के संबंध का कोई व्यवहार करता है और उससे अपने आपका बड़प्पन समझता है, यह कृत्य भी साधुओं का दूषण है। साधु वह कहलाता है जो सर्व लौकिक बातों से विरक्त होकर केवलज्ञानमात्र निज अंतस्तत्व की ही साधना करते हैं। उनके लिए ये अन्य व्यापार सब दूषण हैं। धन धान्य का परिग्रहण करना, धान्य रखना, धन लेना, गोदान लेना या और किसी भी प्रकार का परिग्रह लेना साधुओं को दूषण है क्योंकि साधु तो निष्परिग्रह होते हैं। यदि गृहस्थों जैसी बात साधुजन भी करें तो फिर साधुता कैसी? साधु होकर भी यदि वह धन धान्य का ग्रहण करता है तो वह उस साधु के लिए दूषण है। संसारीक जीव ये अनेक प्रजाजन मानव तो गुरु को पूजें और गुरु ढस्वयं हो गृहस्थों जैसा भाव रखने वाले तो यह कोई सही तुक नहीं बैठता है। केवल एक बाहरी रूप मुद्रा देखकर ही आकर्षण हो जाना यह कोई विवेक की बात नहीं है। किन्तु रत्नत्रय की बात विदित हो, श्रद्धा सही, ज्ञान सही, आचरण सही यह बात साधु में दृष्ट हो तो वह साधु बंदनीय हैं और ऐसे गुरु के सत्संग से भावों में निर्मलता जगती है।

**“जो पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।  
लोकववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ।।97 ।।”**

**पापारंभरता साधुवों की सम्यक्त्व हीनता—** वह शुद्ध सम्यक्त्व से रहित है जो पाप में आरम्भ में रत रहता है। कोई खेती करे, पानी सींचे, फूल तोड़े, वृक्षों को सम्हालें, गाय भैंस रखे और मानो एक झोपड़ी सी बनाकर रहे और किसी प्रकार की साधु जैसी मुद्रा बनाकर रहे तो मुद्रा से न उसको लाभ है और न जनता को लाभ है, साधु तो अलौकिक वृत्ति वाले होते हैं। वे आरम्भ परिग्रह से बहुत दूर है। वे पाप का आरम्भ तो कर ही नहीं सकते। यहाँ तक कि साधु स्वयं भोजन का भी आरम्भ नहीं करता। उसे भोजन मिलना न मिलना एक बराबर है, वह भोजन मिलने पर हर्ष या मौज और न मिलने पर खेद नहीं करता, किन्तु जीवन चलाना आवश्यक है सो क्षुधा तीव्र होने पर भी वह भिक्षा चर्या करता है कोई भी गृहस्थ श्रावक उसे भक्ति पूर्वक आहार दे तो वह आहार लेता है, याने इतना विरक्त होता है साधु कि वह अपने जीवन के लिए भी पाप का आरम्भ नहीं करता। तो जो पाप के आरम्भ में रत है। वह साधु सम्यक्त्व से रहित है। आत्मा की स्वच्छता से रहित है।

**कषायुक्त साधुवों की सम्यक्त्वहीनता—** जो कषाययुक्त साधु है वे भी विपरीत अभिप्राय वाले हैं जरा-जरा सी बात पर क्रोध आ जाना यह क्या साधु का कृत्य है? नीति बतलाती है कि ‘मुनिनां कोप चाण्डालः’ साधुवों का चाण्डाल तो क्रोध है। जिसको देह में आत्म बुद्धि है शरीर को ही मानता कि मैं यह हूँ और मैं इतना बड़ा हो गया हूँ ऐसा ऊंचा पद धारण किया है मैंने तो उसको फिर अपने में अहंकार जगता है और दूसरों को तुच्छ समझता है। दूसरों से नमस्कार कराने की या भक्ति कराने की भीतर भावना रहती है, और इसी कारण अनुकूल चेष्टा न मिले तो क्रोध जगता है तो साधु तो अपने आत्मस्वभाव के प्रति बड़ा विनयशील होता है। उसके अहंकार नहीं होता, पर जो अहंकार से घमंड से युक्त हो वहाँ साधुता नहीं है। वे प्रभु अपने लिए आदर्श हैं, वे वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, हमारे लिए आदर्श हैं तो साधु भी अपनी पदवी माफिक वीतराग होते हैं स्तुति करने वाले पर खुश हो जाय साधु और निन्दा करने वाले पर क्रुद्ध हो जाय साधुसु, ऐसा साधुके नहीं होता उसके लिए सब एक बराबर हैं, तो ऐसे समता के घर हैं साधु। तो साधु भेष रखले और कषायों को छोड़ न सके तो कर्म बंध का निमित्त तो कषायभाव है। साधु की मुद्रा नहीं है। जहाँ आत्मा में कषाय जगी कि कर्मबंध हो गया। साधु मायाचार से रहित है, कहा भी है कि ‘मनस्येकं वचस्येकं कर्मयेकं महात्मनाम्’ महात्मा पुरुषों के जो मन में है वही वचन में वही शरीर की चेष्टा में आता है। मन में और, वचन में और, करे कुछ और ऐसी वृत्ति साधु के नहीं होती। तो साधु में मायाचार नहीं होता। यदि कोई छल कपट चालाकी किसी प्रयोजन से करे तो वहाँ साधुता नहीं है। साधु लोभ रहित होते। जिसने यह जाना कि ज्ञानमात्र ब्रह्म स्वरूप की उपासना करना ही सार है, यह ही शरण है और यह ही मेरा स्वरूप है इस तरह जिसके निर्णय बना और इसी सत्य को उतारने के लिए बाह्य सब परिग्रहों का त्याग किया उसके किसी पदार्थ के प्रति लोभ क्यों जगेगा? पर जो लोभ कषाय से युक्त है वह साधु सम्यक्त्व से रहित है।

**परिग्रहासक्त साधुवों की सम्यक्त्वहीनता—** साधुजन परिग्रह में आसक्त नहीं रहते हैं, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्मा का परिग्रह तो मेरा आत्मस्वरूप है, मेरी तो चीज वह है जो मेरे साथ अनादि से अनन्त काल तक सदा रहती है। वह क्या है? सहज ज्ञानस्वभाव जो मेरा स्वरूप है वही मेरा धन है, वैभव है, सर्वस्व है और मेरे स्वरूप से अतिरिक्त बाह्य क्षेत्रों में जो भी परद्रव्य है वह मेरा कुछ नहीं लगता। बड़ा स्पष्ट ज्ञान है

साधु को कि मैं यह ज्ञानमात्र हूँ और ये सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। और रागादिक विभाव भी औपाधिक हैं, भिन्न हैं, झलक गए हैं। विकार का ऐसा ही चमत्कार है कि जो कुछ भी हो वह ज्ञान में झलक जाता, पर उसका बाह्य पदार्थ रंच भी नहीं है कुछ। तो जो पुरुष ज्ञानी है वह परिग्रह से दूर रहा करता है परिग्रहण होता पर पदार्थ का, पर जो अपने आत्मस्वरूप के बोध से रहित है वह साधु मुद्रा भी रखले तो भी भीतर से परिग्रह भाव नहीं मिटता। उसने जो घर छोड़ा उसका कष्ट सहा और परिग्रह में चित्त रहा सो साधु का आनन्द भी न आया। तो परिग्रहासक्त साधु सम्यक्त्व से रहित होते हैं।

**लोक व्यवहार प्रचुर साधुओं की सम्यक्त्व हीनता**— अनेक साधु लोक व्यवहार के बड़े चतुर होते हैं। और प्रकाण्ड जानकार होते हैं। सो जो पुरुष साधु योगी व्यवहार की बात ही बहुत करता रहे तो उसका मन इतना स्वच्छंद हो जाता है कि अंतः स्वरूप की अनुभूति के लिए उसके चित्त में इच्छा नहीं होती। तो लोक व्यवहार जिसके प्रचुर चलता हो और चलते हुए वह पुरुष अपने आत्मा की सुध कैसे ले सकता है और जिसको आत्मा की सुध नहीं है वह चाहे कितने ही कष्ट सहले पर उसको मोक्षलाभ कुछ नहीं होता। कुन्दकुन्दाचार्य इस रयणसार ग्रन्थ में जो कुछ दोष रूप से वर्णन कर रहे हैं उनका प्रयोजन दोष निरखकर उनसे घृणा करना नहीं है, किन्तु जो दोष है उनको दूर करना अपने आप को निर्दोष बनाने के लिए है। तो जो साधु लोकव्यवहार से परे हैं और अपनी आत्मसाधना में ही लीन होते हैं वे तो सच्चे साधु हैं और जो लोक व्यवहार में ही अपना बड़प्पन समझते हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।

“ण सहंति इयरदप्यं थुवंति अप्पाणमप्य माहप्यं।

जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का।।98।।”

**अन्य गौरव के असहनशील साधुओं की सम्यक्त्वहीनता**— यह ग्रन्थ और यह प्रकरण साधुओं के लिए बताया जा रहा है, पर गृहस्थजन पढ़ते हैं और सुनते हैं तो उन्हें इस विधि से सुनना चाहिए कि मैं भी साधु होऊँ जब कभी, तो मुझ में ये सब दोष न रहें आर मैं निर्दोष आत्मस्वरूप की साधना करके कर्मों से रहित होऊँ। तो यह सब साधुओं के लिए शिक्षा दी जा रही है। कुन्दकुन्दाचार्य उस समय समस्त मुनिसंघ के नायक थे सबको उपदेश करना धर्म मार्ग में प्रवर्ताना यह उन पर एक बोझ था आचार्य के नाते। तो वे साधुओं को ही ऐसा शिक्षण दे रहे हैं और इस बात को सुनकर हमें भी यह समझ लेना चाहिए कि साधु इसलिए होते हैं और अगर लौकिकविद्याये रखे विषय कषाय से युक्त हो जाये तो उन साधुवो को समझाकर धर्म में स्थिर करना चाहिए इस कर्तव्य की शिक्षा यहाँ लेनी चाहिए। साधु होकर दूसरे साधु का बड़प्पन न सह सके या गृहस्थजनों का किसी धर्मात्मा का बड़प्पन न सह सके तो वह साधु सम्यक्त्व से रहित है जिसको देह में आत्मबुद्धि है और इस शरीर को ही आत्म सर्वस्व मानता है उसके ही दूसरों का बड़प्पन न सह सकने की बात जाग सकती है जो तत्वज्ञानी है वह अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना के लिए लालायित है और इस विरागता का अभ्यास करके वह कभी वीतराग बन जाता है मगर जो ज्ञान स्वभाव की आराधना नहीं करता उसमें ही सब दोष आया करते हैं तो जो साधु दूसरे का बड़प्पन न सह सके वह सम्यक्त्व से रहित है।

**स्वप्रशंसक साधुओं की सम्यक्त्व हीनता**— जो साधु अपने आप की प्रशंसा अपने आप ही करते हैं अपने आप ही माहात्म्य बताते तो वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं एक बात भी प्रयोग की है कि जो पुरुष अपने गुणों का अपने मुख से वर्णन करता है उसके गुणों में कमी आ जाती है और जो अपने गुणों का अपने आप वर्णन नहीं करता तो उसके गुणों में



वृद्धि होती रहती है इसी कारण बताया है कि दूसरों के गुणों की तो प्रशंसा करना और अपने आप की निन्दा करना यह उच्च गोत्र के आश्रव का कारण है अर्थात् जो अपनी कमियों की निन्दा करता है और दूसरे के गुणों की प्रशंसा करता है वह पुरुष अगले भव में उच्च कुल में पैदा होता है और जो इससे उल्टे काम करे अपनी तो करे प्रशंसा और दूसरों की करे निन्दा तो ऐसे भाव वाले पुरुष के ऐसे कर्मों का बन्ध होता है कि वह नीच कुल में पैदा होता है।

**कर्मबद्धता की स्थिति में महत्त्व का अनवकाश—** कर्म एक वास्तविक कोई पदार्थ हैं जो जीव के साथ बँधे हुए हैं और कोई कितनी भी समता लाना चाहे कि प्रजा में पूरी समानता आजाय, ऐसा कोई उपाय बनाये तो यह उपाय बन भी नहीं सकता भले ही अनेक देशों ने इस बात का प्रयास किया है हमारे देश के सब लोग एक समान हो जायें तो भले ही धन न रहे किसी के पास अधिक सबके पास एक सा रहे या सरकार के भोजनालय में खायें ऐसी व्यवस्था भले ही बना लें मगर पुण्य पाप और हीनाधिक की बात को कोई देश नहीं कर सकता अन्यथा बताओ कोई तो देश का मालिक है, मंत्री है उच्च अधिकारी है कोई सिपाही है कोई चपरासी है तो समानता कहाँ की जा सकती। यह प्राकृतिक बात है हाँ कोई थोड़ी अवधि में समानता की बात सोचे तो भले ही कुछ बन सके। जैसे किसी एक व्यक्ति के पास धन अधिक न रहे सबके पास करीब एक सी स्थिति रहे फिर भी पूर्ण रूपेण यह बात बन नहीं सकती क्योंकि सब जीवों के साथ पुण्य कर्म और पाप कर्म बँधे हुए हैं उनका उदय होता है तो इसके अनुसार स्थिति बनती है तो इससे यह श्रद्धा करे कि किसी दूसरे अमूर्त के सम्पर्क से मेरे में विकार न हो सकेगा। मेरे स्वरूप के प्रतिकूल ही कोई वस्तु उपाधि लगी है तब मुझमें विकार जगे हैं तो वह प्रतिकूल वस्तु कौन है? पौदगलिक कर्म।

**कर्मविपाकोदय में हुए ज्ञान गुण हीन स्वप्रशंसक साधु की सम्यक्त्वहीनता—** जब कर्म बँधे थे तो उन कर्मों में विपाक फलदान शक्ति बंध गई थी। उदय में आयें तो उसका निमित्त पाकर उसके अनुसार जीव पर बात बीतती है। तो यह भावना रखना चाहिए कि मैं कर्म से बंधा हूँ शरीर से परतंत्र हूँ मेरा क्या बड़प्पन रहा। मेरा बड़प्पन तो केवल स्वरूप में हैं वह जब मुझे नहीं प्राप्त हैं तो इस स्थिति का क्या बड़प्पन मानना? कौन सा गुण हो गया जिससे कि प्रशंसा खुद करे? कोई अगर अपने ज्ञान की प्रशंसा करता है वह ज्ञान क्या है केवनज्ञान के समक्ष, मनः पर्यय ज्ञानादिक के समक्ष जिसके ज्ञान विशाल है वह तो ज्ञान का घमंड नहीं करता और जिसके ज्ञान थोड़ा होता है और उससे अपने आप को बड़ा मानने लगा है तो वह ज्ञान का विकल्प करता है ऐसे ही हर एक बात समझना। तो जो पुरुष अपने आप ही अपने मुख से अपनी महिमा बताये तो वह साधु सम्यक्त्व से रहित है।

**जिह्वनिमित्त मुनिवेशियों की सम्यक्त्व हीनता—** जो साधु जिह्वा के निमित्त अपनी साधुता धारण किए है वह भी सम्यक्त्व से रहित है जिह्वा के निमित्त खूब स्वादिष्ट भोजन मिले बनाना न पड़े आदि सब बाते सोचकर जो साधु का रूप धारण करता है वे साधु सन्मार्ग पर नहीं हैं देखिये हमेशा के लिए संसार के दुखों से छूटने की बात चित्त में हो तो वह साधु मुद्रा रखे बिना न बढ़ सकेगा आगे मगर कोई साधु मुद्रा में ही मोह रखे कि मैं यह हूँ और मेरा यह कर्तव्य है तो वह साधु सम्यक्त्व से रहित है तो जो अपने ज्ञान रस का स्वाद लेता रहता है वह कभी भी पौदगलिक रस का स्वाद लेने का उत्सुक नहीं होता। तो इस प्रकार साधुओं को कौन सी बात दोष त्रुटियाँ दूर करना चाहिए इसका वर्णन

अब तक चलता है अब आगे की गाथा में साधुओं की प्रवृत्ति बतायेंगे। कि साधु पुरुष किस प्रकार से अपना व्यवहार करते हैं और किस तरह आत्मा का पोषण करते हैं।

**भुंजेइजह लाहं जइ णाणसंजमणिमित्तं ।**

**ज्ञाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्ख मग्गरओ ।।99।।**

**साधुवो का निर्दोष यथालब्ध आहार—** संसार में चतुर्गति में परिभ्रमण करने वाले जीवों को मनुष्य भवका लाभ एक बहुत दुर्लभ है और आज हम आप मनुष्य भव में आये हैं तो एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि अपने को कोई एक ऐसा काम करना चाहिये जिससे संसार के संकट सदा के लिए टल जायें? वह काम क्या है? ज्ञान और ध्यान। अपने आत्मा के स्वरूप की जानकारी और उसही सहज अविकार स्वरूप का ध्यान। इसके लिये जो विवेकीजन हैं वे अधिक से अधिक पौरुष करते हैं और सर्व परिग्रहों का त्याग करके कवल इस ही आत्मा की उपासना में समस्त जीवन बिताते हैं। तो जो एक इस ज्ञायक स्वरूप आत्मा की साधना में सर्वपरिग्रहों का त्याग करते हैं वे कहलाते हैं अनगार घर रहित गृहत्यागी साधु पुरुष तो उन साधु पुरुषों की कैसी प्रवृत्ति होती है उसका अब वर्णन चल रहा है। उनका कार्य है कि ज्ञाता दृष्टा रहे उनकी ऐसी श्रद्धा है भावना है कि यह मैं तो हूँ एक ज्ञायक पदार्थ जाननहार और यह सब पदार्थ हैं ज्ञेय। बस ज्ञान और ज्ञेय की ही बात है यहाँ कोई पदार्थ मेरा रंच भी नहीं है सब बाहर ही बाहर पड़े हुए है बाहर ही बाहर भटक रहे हैं ऐसा जिसकी दृष्टि में स्पष्ट आ रहा है वह ज्ञाता दृष्टा रहता है तो इस ही ज्ञायक स्वभाव की उपासना से साधन हैं अध्ययन स्वाध्याय ध्यान आदिक ये सब कर्तव्य करते हैं अब एक प्रश्न और रह जाता है कि शरीर की स्थिति के लिए कुछ आहार पान चाहिए।

**ज्ञान संयम के निमित्त साधुजनों द्वारा आहार ग्रहण—** साधु तो सही रीति से हो गए और अपने ज्ञान ध्यान का ही प्रोग्राम रचा। संसार के किसी भी परिग्रह से राग नहीं है फिर भी संसार तो है न। क्या इस शरीर को असमय में हटा दें याने क्या आत्मा खुदकशी करले, यह तो उचित नहीं। इससे लाभ भी क्या? हैं असमय में गुजरे और देवगति में भी कोई उत्पन्न हुए तो आगे का और क्या पता? और देवगति में भी कोई धर्म मार्ग में लगा रहे शान्ति पाता रहे यह तो बात नहीं है तो शरीर की स्थिति बनी रहे इसके लिए साधु आहार ग्रहण करते हैं आरम्भ परिग्रह का उनके त्याग है तो बनायेगें नहीं, स्वयं उसकी साम्रगी साधन संचित करेंगे नहीं किन्तु वे नगर में भ्रमण कर भिक्षाचर्या के लिए निकलेंगे, किसी विवेकी धर्मात्मा श्रावक ने प्रतिग्रहण कर लिया बोल लिया कि मेरे यहाँ शुद्ध आहार है ग्रहण कीजिए तो वह साधु उस घर पहुँचता है और निर्दोष आहार एक बार लेता है और सारा समय ज्ञान ध्यान में बिताते हैं। तो वे भोजन कैसे लेते हैं? यथालब्ध याने सरस मिले नीरस मिले रूखा मिले ऐसा आहार साधुले लेते हैं। उनके आहार लेने का प्रयोजन मौज नहीं शरीर पुष्टि नहीं किन्तु शरीर बना रहे तो धर्म साधना किया जा सकेगा। सो यह भी आहार ग्रहण क्यों करते? ज्ञान और संयम के निमित्त करते हैं इस जीव के साथ कर्म का बंधन है जिसके फल में यह जीव नाना प्रकार के शरीर को धारण करता है जन्म लेता है मरण करता है यह ही अनादि से करता चला आया है तो यह परिपाटी जीव के लिए क्या लाभदायक है? जन्मे मरे लाभ क्या मिला? तो इस परिपाटी को नष्ट करने में समर्थ है तो अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव ही समर्थ है इसीलिये साधु जीवन समझता है ज्ञान संयम के लिये और जीवन के लिये आहार लेता है।

**मोक्षमार्गरत अनगार साधुवों द्वारा पूर्ण निर्दोष आहार का ग्रहण—** यह 'अनागार' साधु मोक्षमार्ग में रत होता है और ध्यान अध्ययन के लिये ही वे आहार ग्रहण करते हैं कैसे आहार ग्रहण करते हैं वह कुछ आयगा आगे। सामान्य बात यह समझलो कि जिसमें निर्दोष माँस अतिचार भी न हों माँस की बात तो दूर ही है माँस अतिचार क्या है? अमर्यादिक भोजन खाना यह है अतिचार। जो यह परिपाटी है कि आटा दूध आदिक चीजें इतने समय के अन्दर ही भक्ष्य हैं इसके आगे अभक्ष्य हैं उसका कारण यह है कि म्याद से बाहर की वस्तु में जीवोत्पत्ति का प्रारम्भ होने लगता है उसको ग्रहण करने में माँस अतिचार लगता है माँस नहीं है वह पर उसमें दोष चलता है तो ऐसा निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं और किस प्रयोजन से ग्रहण करते हैं वह बताया ही गया है कि ज्ञान ध्यान और अध्ययन इनके लिये ही जीवन बनाया है आहार ग्रहण करते हैं सो वे किस किस दृष्टि से करते हैं इसका अब कथन किया जा रहा है।

**उदरग्गिसमणमक्ख मक्खण गोयरि सब्भपूरणभमरं  
गारुण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खू।।100।।**

**साधुवों द्वारा उदराग्निशमन रीति से आहार ग्रहण—** ज्ञानी पुरुष जीवन का ध्येय केवल ज्ञान स्वभाव आत्मा की दृष्टि बनाये रखना है वह जानता है कि जगत में किसी भी बाह्य पदार्थ में करने योग्य कुछ भी नहीं है किया ही नहीं जा सकता और बाह्य पदार्थ में कुछ बात बने भी तो उससे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है अतएव बाह्य पदार्थ में कुछ भी करने की श्रद्धा न रखना तो ऐसे कृतकृत्य की शुद्धि के लिए वे ज्ञानसाधना रखते हैं और ध्यान ज्ञान अध्ययन के लिए आहार लेते हैं तो उसमें उस मौज और राग का कोई काम नहीं। एक विवशता का काम है साधु तो इतने विरक्त होते हैं इन्द्रिय विषयों से कि उनको आहार के लिए माता का काम विवेक करता है विवेक प्रेरणा देता है कि अरे मुद्द मत बनो शरीर की स्थिति भी रहनी चाहिये अन्यथा संयम सब धरा जायेगा उठो विवेक प्रेरित करता है साधु तो भोजन को जाता है तो इस तरह भोजन करते कि जैसे उदराग्नि समन का भाव है जैसे किसी गृह में आग लग जाये तो आग बुझाने वाली दमकले हैं उनको चलाने वाला पुरुष यह नहीं सोचता कि कुंवे का जल लावे या हैण्डपम्प का या नल का या साफ सा गंदा जो भी हो उसको उस आग लगे घर में डालने का प्रयोजन रहता है ऐसे ही वे मुनिराज यह नहीं सोचते कि कोई मीठा, सरस भोजन मिले, नीरस हो, रूखा हो, कैसा भी हो, उनका तो एक उदराग्नि के बुझाने का भाव है। हाँ चूँकि वह मुनिराज दयालु होते हैं इसलिए जीवदया के विरुद्ध काम नहीं करते। अशुद्ध आहार न लेंगे मगर शुद्ध आहार लेने में भी प्रयोजन यह है कि उदराग्नि का समन चाहिए तो ये साधु उदराग्नि के समन के प्रयोजन से आहार ग्रहण करते हैं।

**साधुवों द्वारा अक्षम्रक्षणरीति से तथा गोचरी वृत्ति से आहार ग्रहण—** दूसरा प्रयोजन है अक्षमृक्षण। जैसे गाड़ी चलती है तो उन पहियों में औँगन लगाना ही पड़ता है नहीं तो वे पहिया ठीक न चल सकेंगे। चलते-चलते उनमें आग भी लग सकती। तो जैसे गाड़ी के चक्के में औँगन लगाने की आवश्यकता होती है तब ही वह भली भाँति चल सकेगा, ऐसे ही इस शरीर में औँगन है आहार ताकि यह शरीर की गाड़ी चलती रहे और इसमें विराजमान आत्मा अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाय। तो साधु पुरुष केवल एक शारीरिक स्थिति कायम रखने के लिये, जो कि संयम का साधन है वे आहार ग्रहण करते हैं।

**साधुओं द्वारा अक्षम्रक्षणरीति से तथा गोचरीवृत्ति से आहार ग्रहण—** साधुओं का तीसरा ढंग है गोचरीवृत्ति जैसे गाय को चाहे कोई सुन्दर स्त्री घास डाले चाहे कुरूप स्त्री उससे उसे कोई मतलब नहीं होता उसे तो घास चाहिए, इसी प्रकार साधुजनों को चाहे कोई सुन्दर स्त्री आहार दे चाहे कुरूप स्त्री उससे उन्हें कोई मतलब नहीं रहता। उन्हें तो आहार मिल जाने मात्र से मतलब रहता। साधुजनों को केवल एक शुद्ध आहार ग्रहण करने के लिए ही भाव रहता है, बाहरी रूप रंग वगैरह से कोई मतलब नहीं। तो ऐसी उनकी अक्षम्रक्षण या गोचरी वृत्ति रहती है। जिस तरह से गाय अपना भोजन ले लेती, घास देने वाली स्त्री के रूप सौन्दर्य से अपना कुछ वास्ता नहीं रखती, इसी प्रकार साधु भी बिना किसी से कुछ वास्ता के आहार ले लेते हैं।

**साधुओं द्वारा गर्तपूरण रीति से भ्रामरी वृत्ति से आहार ग्रहण—** चौथी विधि है गर्तपूरण जैसे किसी गड्ढे को भरने के लिए कोई यह नहीं सोचता है कि इसमें तो अच्छे-अच्छे मकराने के पत्थर भरे जायें। अरे जो भी चीज हो, कूड़ाकरकट डाला, पत्थर, ईट, रोड़ा, धूल कीचड़ सब कुछ उसमें भरकर गड्ढे को पूर देते हैं। इसी प्रकार साधुजन भी आहार लेने में मिष्ट, सरस, व्यज्जनों की वाच्छा नहीं करते, नीरस सूखा जो भी सुगमता से मिल गया उसको इस पेट रूपी गड्ढे में भरकर संतुष्ट रहते हैं, इस उदर का गड्ढा इसलिए भरते कि जीवन रहे और उस जीवन में ज्ञान ध्यान की साधना तो यह है उनका गर्तपूरण भाव। 5 वीं वृत्ति है भ्रामरी वृत्ति। जिस प्रकार से भँवरा अनेक फूलों पर बैठता है और उन फूलों से कुछ गंध पराग लेकर उड़ जाता है उससे फूलों को कुछ बाधा नहीं होती है ऐसे ही साधुजन आहार लेते हैं तो उतना ही आहार लेते हैं जिससे गृहस्थों को कोई बाधा न हो। शारीरिक स्थिति कायम रखने के लिये वे आहार लेते हैं और आहार लेकर कहीं निर्जन स्थान में पहुंच जाते हैं। उनके द्वारा किसी को कोई बाधा नहीं होती। ऐसे ही और भी भाव ले सकते हैं। तो मतलब यह है कि साधुजन केवल ज्ञान ध्यान अध्ययन के निमित्त आहार ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि ज्ञानसाधना की ही बनी रहती है। किसी भी बाह्य पदार्थ से उन्हें रागद्वेष नहीं होता है। क्योंकि करना तो काम वह है कि यह ज्ञान ज्ञान में समाजाय। ज्ञान में ज्ञान ही हो साधु का ध्येय तो यह ही होता है ना तो इस ध्येय में जो बढ़ रहा हो उसकी वृत्ति सर्व के सुख और हित के लिए ही हुआ करती। कहाँ तो यह जीव ज्ञान परमात्मस्वरूप परम पावन और कहाँ यह शरीर।

**“रसरुहिरमांसमे दटिठ सुकिलमलमुत्तपूय किमि बहुलं।**

**दुग्गंधम सुइचम्ममयमणिच्च मचेयणं पडणं ॥101॥”**

**“बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।**

**तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ॥102॥”**

**रसरुधिरमांसमेदा स्थिमय शरीर की सेवा का प्रयोजन जीवन में धर्मानुष्ठान—** अचेतन भिन्न अशुचि स्कंधो से बना हुआ है और फिर भी यह आवश्यक पड़ गया है कि साधु ऐसे शरीर की भी कुछ रक्षा बनाये रहें। तो इसका कारण क्या है? धर्मसेवन धर्मसेवन से ही उन्हें प्रीति है जैसे किसी पुरुष की ससुराल से कोई दो चार लोग आ गए हैं तो वह पुरुष उन लोगों की बड़ी खातिर करता है। चाहे वे परिचित हों चाहे अपरिचित। किसी भी ढंग के हों, पर उनकी सेवा खुशामद पूछताछ करता है, मगर उस पूछताछ के बीच ससुराल वालों की अथवा गृहिणी की खबर ले ही लेता है। तो जो इतने सत्कार किए जा रहे हैं उस उस गाँव के अन्य लोगों के तो इसमें प्रयोजन है कि ससुराल के परिवार की हमको सही खबर मिल जाय कि वे कुशल हैं। तो ऐसे ही इस शरीर की

सेवा साधु करता है। जो शरीर भिन्न है, निन्द्य है तो कयो करता है कि मुझे अपने धर्म की बाते साधने का अवसर मिल जाय। तो शरीर की जो सेवा है साधुओं द्वारा वह मात्र धर्म सेवन के लिए है, उनको शरीर से प्रेम नहीं होता। यह शरीर मांस, रुधिर, मलमूत्र आदिक से भरा हुआ है, सो खुद अपने आप में नजर कर लें कि इस शरीर में ऐसे ही अपवित्र पदार्थ भरे पड़े हुए हैं। तो जो शरीर मल, रुधिर, मांस आदिक से भरा हुआ है वह शरीर है उस शरीर की भी सेवा साधुओं को करनी पड़ती है। तो क्यों करनी पड़ती है? अपने आत्मा की धर्मसाधना का अवसर पाने के लिए। क्योंकि शरीर और जीव का ऐसा सम्बन्ध बन रहा है कि भिन्न द्रव्य होने पर भी कि शरीर में कुछ बाधा हो, तीव्र भूख हो, पिपासा हो, तो उनको धर्मध्यान में भाव नहीं रहता तो करनी पड़ रही है ऐसे दुर्गन्धमय शरीर की सेवा उसका प्रयोजन है धर्मसेवन।

**मलमूत्रमयकृमिवहुल शरीर की सेवा का प्रयोजन जीवन में धर्मानुष्ठान—** इस शरीर में मल, मूत्र, पीप जैसे गंदे तत्व भी पड़े हैं और ये गंदे पदार्थ न रहें शरीर में तो यह मनुष्य जिदा भी न रह सकेगा। आयुर्वेद के अनुसार तो करीब ढाई सेर मल इस शरीर के अन्दर हर समय रहना ही चाहिए। जिन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा है और ठीक-ठीक शौच जाते हैं और कहते हैं कि आज पेट बिल्कुल साफ है तो देखो कहाँ साफ है? उनके पेट में तो अभी ढाई सेर के करीब में मल भरा हुआ है। ऐसा यह दुर्गन्ध वाला शरीर है मूत्र भी बताया गया है, कुछ न कुछ मूत्र हरदम रहेगा ही, पूरा न निकलेगा। कोई इंजन तो नहीं है जो कि पेंच खोला जाय तो पूरा निकल जायेगा। इस शरीर में कुछ न कुछ मूत्र भरा ही रहेगा। तो ऐसे दुर्गन्धमय शरीर की यह साधु क्यों सेवा करता है? लगता तो यों हैं कि शीघ्र समझने के लिए ऐसा पर साधुजन जानते हैं कि वे शरीर की प्रीति से कुछ नहीं करते, किन्तु धर्म की प्रीति से करते हैं। मेरे को आत्मस्वभाव की आराधना का खूब अवसर मिले इसके लिए शरीर की स्थिति बनाये रहते हैं। जीव लोक में अनेक प्रकार के ये नारकी, पशु पक्षी देव मनुष्य हैं, पर उन सब जीवों में एक मनुष्य भव ही ऐसा है कि जहाँ संयम की ऊंची, साधना बनायी जा सकती है। तो इस मनुष्यभवं को कुछ समय कायम रखने के लिए ही साधुजन आहार लेते हैं।

**दुर्गन्ध अशुचि शरीर की सेवा का प्रयोजन जीवन में धर्मानुष्ठान—** यह शरीर का वर्णन चल रहा है कि कैसा यह अपवित्र शरीर है, फिर भी साधुजन इसको धर्म साधना के ख्याल से कायम रखने के लिए इसको आहार देकर सम्हाले रहते हैं। उन्हें शरीर से ममता रंच भी नहीं होती, शरीर से प्रीति रंच भी नहीं होती, अपने आप के धर्म की रक्षा के लिए, रत्नमय की शुद्धि के लिए आत्मा का सही श्रद्धान रहे, ज्ञान रहे और उस ही में रमण रहे मात्र इसके लिए साधु इस शरीर की स्थिति बनाते हैं। कैसा है यह शरीर? दुर्गन्ध और अशुचि पड़ा हुआ है। पसीना आये तो शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। यह शरीर महा दुर्गन्धित और अपवित्र है। पानी से नहा ले कोई तो उस नहाये हुए पानी से कोई दूसरा नहीं नहाता, अपवित्र शरीर से सम्बंध हुआ इसलिए जल भी अपवित्र हो गया। इतना है यह अपवित्र देह और फिर भी इस देह की स्थिति साधु बनाये रखते हैं। आहार लेते हैं तो लगता तो कुछ बेजोड़ काम मगर शरीर के लिए कुछ नहीं कर रहे साधु। अपने आत्मा के लिए ही कर रहे। आत्मध्यान बने, ऐसी स्थिति के लिए आहार ग्रहण करते।

**अशुचि दुर्गन्ध अनित्य अचेतन शरीर की सेवा का प्रयोजन जीवन में धर्मानुष्ठान—** कैसा है यह शरीर चर्ममय, चमड़ा ही चमड़ा जिस पर रोम भी नहीं कि यह किसी काम आ जाय। पशुओं के रोम तो काम आ जाते पर इस मनुष्य के रोम भी काम नहीं आते। पशुओं की चाम काम आती है, पर इस मनुष्य का चाम भी कुछ काम नहीं

आता। पशुओं की तो हड्डी भी काम में लोग ले लेते हैं। पर मनुष्य की तो हड्डी भी काम में नहीं आती। तो यह शरीर किस काम का है? एक बेकार सा है और फिर भी इस शरीर की हिफाजत रखता है साधु। अगर उस शरीर के प्रति मोह रखे तब तो कोई कह सकता कि उनको शरीर के प्रति मोह है इसलिए शरीर की सम्हाल करते, पर ऐसी बात नहीं होती। साधुजनों को इस शरीर के प्रति मोह नहीं होता, जिनके ज्ञान है ऐसे विवेकी साधु इस शरीर की रक्षा करते हैं। ज्ञान, संयम, ध्यान, अध्ययन, तपश्चरण की शुद्धि की भावना है, ऐसा शरीर यह अपवित्र चीजों से बना है, इसके अतिरिक्त और भी देखिये तो यह शरीर अनित्य है और अचेतन है। शरीर विनाशीक है, नष्ट हो जायगा अवश्य। इस शरीर से प्रीति क्या करना? जिन जिनको शरीर मिला है, इन सबका शरीर अवश्य नष्ट होगा। मगर ध्यान में कोई नहीं रख रहा यह बात और इसलिए उल्टे रास्ते पर चलना बनता है। तो यह शरीर अनित्य है। और अचेतन है, अपने आपसे यह विरुद्ध है। ऐसे इस शरीर की साधुजन हिफाजत केवल अपने ज्ञात ध्यान के लिए ही करते हैं।

**धर्मानुष्ठान के निमित्त पतनशील भी शरीर का साधुवों द्वारा पोषण—** यहाँ यह बताया जा रहा है कि शरीर जैसा असार अशुचि भिन्न है जिससे इस जीव का कोई वास्तविक नाता नहीं। केवल निमित्त नैमित्तिक भाव में बंधन है भिन्न स्वरूप वाला है। शरीर की किसी चेष्टा से आत्मा का कुछ होता नहीं, फिर भी छोटे लोग मोही लोग शरीर को सेवा करें तो करें उनके मिथ्यात्व का उदय है मगर साधुजनों को भी क्या हो गया कि वे आहार लेते हैं। शरीर की सेवा करते हैं। इसका प्रयोजन यहाँ बताया गया। प्रयोजन है यह कि वे धर्मसाधना के लिए ऐसा करते हैं जबकि अज्ञानी जीव इस शरीर को ही अपना सर्वस्व स्वरूप जानकर इसमें कामूढ़ रहते हैं। और ज्ञानी साधु संत उस शरीर को सेवक की नाई धर्मसाधना के प्रयोजन से इसका पोषण करते हैं। कैसा है यह शरीर? पतनशील है, गिरने की ओर है मनुष्य को देखो जब बालक है तब तो उसके शरीर का नाम देह है, क्योंकि देह उसे कहते हैं जिसमें उपचय हो। काय उसे कहते हैं जहाँ परमाणुओं का ढेर लगा हो। बच्चे के काय को कहते हैं काय और देह, मगर जहाँ अवस्था आधी से ज्यादा हो गई मायने 50 साल से ऊपर हो गया तो उसके देह को देह और काय मत कहो। उसको कहो शरीर। बच्चों का देह शरीर नहीं है। बूढ़ों का शरीर काय नहीं है। यह शब्दार्थ की बात कह रहे हैं। शरीर का अर्थ हैं शीर्यते इति शरीर जो गलता रहे, सड़ता रहे, शीर्ण होता रहे। उसे कहते हैं शरीर। जो शरीर मिला है उसका पतन अवश्य है अर्थात् मरण आवश्यक है। तो ऐसे पतनशील शरीर में ज्ञानी जीव क्यों आहार आदिका सेवन करते हैं? तो उसका कारण है धर्मानुष्ठान।

**बहु दुःख भाजन शरीर का धर्मानुष्ठानार्थ साधुवों द्वारा सावधि पौषण—** यह शरीर बहुत दुःखों का घर है सारे दुःख इस शरीर के कारण लगे हैं। खूब ध्यान दो जो भूख प्यास, डंखड़ी गर्मी आदि की वेदनायें होती हैं। वे सब इस शरीर के कारण होती हैं। बताया है कि इस शरीर में जितने रोम हैं। उतने प्रकार के रोग हैं। तो ये रोग इस शरीर के कारण ही तो हैं। जिनका कड़िगन कष्ट भोगना पड़ता है। तो यह शरीर बहुत दुःखों का घर है। तो एक दम शरीर में जो बाधा हुई वह तो शरीर के कारण है यह तो सब लोग मान लेंगे पर एक बात भी सोचना चाहिए कि किसी का कोई रिस्तेदार गुजर गया था कुटुम्ब का कोई गुजर गया उसमें यह कष्ट क्यों मानता? शरीर में न बुखार आया, न खांसी आयी, न फोड़ा फुंसी फूटी। दूसरा कोई था वह जीव में देह में रहा, इससे क्यों कष्ट मान रहे? तो इसका भी कारण शरीर है, वह कैसे कि इस शरीर में है आत्म बुद्धि कि यह हूँ मैं और तब जो संबधित लोग हैं, कल्पना से जिनको मान रखा है। उन शरीरों को

जानता है कि ये मेरे हैं कुटुम्बादिक तो उनका वियोग होने पर जो कष्ट माना जाता है उसका भी कारण यह शरीर रहा। न हो शरीर, हो केवल आत्मा तो उसको कोई दुःख का प्रसंग भी है क्या? तो यह शरीर बहुत दुःखों का भाजन है, अच्छा कुटुम्ब और रिस्तेदार की बात से भी आगे बढ़ो मानो चार साथी चले जा रहे हैं, मार्ग में दो रास्ते मिले और दोनों ही रास्ते आगे चलकर एक जगह मिल जायेंगे जिससे भी चलना पड़ेगा अब एक पुरुष कहता है कि इस रास्ते से चलें दूसरा कहता है नहीं इससे चलें। और उसकी बात न चली तो वह कष्ट मानता है अरे भाई क्या बिगड़ गया तेरा? तू क्यों कष्ट मान रहा है? उसको हुआ बिगाड़ से राग हाय मेरी बात न रही, इसका वह कष्ट मानता है। शरीर को उस समय इसने माना कि मैं हूँ और शरीर के वचन निकले, मनके विचार बने और उसकी पूर्ति नहीं हुई तो कहता है कि हाय मेरी बात न रही, अब मैं किस काम का? अच्छा यह भी जाने दो। कोई आदमी एक कोट बनवाता है दर्जी से उस कोट में सिर्फ एक कंधे की जगह थोड़ी सिलवट पड़ गई तो वह बाबू बोलता है दर्जी अरे तू ने मेरा नाश कर दिया। अरे कहाँ नाश हुआ? वह कोट ही तो है, ये क्या भाव जग रहे हैं, और उससे कष्ट क्यों मानता है कि वह शरीर को ही मानता है कि यह मैं हूँ और उसके लिए यह फिट न रहा, इसकी शोभा न रही यह सड़ पड़ गई। तो बहुत दुःख का भाजन जो शरीर है इसकी सेवा साधु करते हैं समय पर परिस्थितिवश। अपराध मगर करना पड़ता है, वह क्यों? धर्म साधना के निमित्त। जीवन रहेगा तो ज्ञान ध्यान की साधना बनाई जा सकेगी।

### **कर्मकारणभूत भी शरीर का धर्मानुष्ठान के निमित्त साधुओं द्वारा सावधि**

**पोषण**— यह शरीर है कर्म का कारण। मन, वचन, काय की क्रिया वह इस शरीर की ही तो चल रही है अथवा शुभ अशुभ कर्म बंध इस शरीर से मन, वचन, काय के योग से ही तो होता रहता है। यद्यपि आश्रव और बंध का कारण है जीव का विभाव विकार मगर शरीर रहित जीव के कहीं विभाव अथवा विकार हुआ करते हैं क्या? जहाँ शरीर है वहाँ विकार चलते हैं और थोड़ी थोड़ी बातों में किसी ने कुछ प्रतिकूल कह दिया तो हाय माथा ठनक गया। बुखार हो गया, पेटदर्द करने लगा। बेहोशी हो गई, हाय मेरा कुछ भी न रहा। यहाँ बड़े-बड़े राजघराने की पुराणों में कथा सुनी होगी, एक कथा आयी है कि दशरथ की रानियों को गंधोदक लाने के लिए दो एक पहरेदार गए तो एक कोई बूढ़ा पहरेदार था। सो जवान जो सखियाँ थी दासियाँ थी वे ता झट झट गंधोदकले आयीं, अब एक रानी को गंधोदक लाते हुए बहुत बूढ़ा पहरेदार दीखा सो उस पहरेदार से चलते न बने लाठी के सहारे से रुक रुक कर चलना पड़ा, बहुत देर में पहुँचा सो जब वह जल्दी न पहुँचा तो रानी बीमार पड़ गई। किस बात की बीमारी थी, इसकी दशरथ महाराज ने कोई परवाह न की और उसे तो जल्दी गंधोदक पिलवा दिया और मेरे को कुछ नहीं। बुखार चढ़ गया, क्या होगा? बीमार सी हो गई। वहाँ दशरथ को खुद जाना पड़ा समझाने, इतने में आ गया वह बूढ़ा कायल सो एक तो वैसे ही हफकी चल रही थी, दूसरे जब डाट सी लगी तो उसका तो होश हवाश बिगड़ गया, फिर उसने वृद्धावस्था का जो वर्णन किया उसको सुनकर दशरथ को वैराग्य हो गया।

### **पर्यायबुद्धि के कारण रंच रंच प्रतिकूलता में अज्ञानी की वोखलाहट—**

साधारण बातों में हम लोगों का क्यों चित्त उद्विग्न हो जाता? इस शरीर में आत्मत्व का अभ्यास बनाये हुए हैं। जब तक आत्मस्वरूप में आत्मत्व का दृढ़ अभ्यास न होगा तब तक न शान्ति मिलेगी न भविष्य में मोक्ष मार्ग की बात मिलेगी। इस कारण सब कुछ समर्पण करके, न्योछावर करके गाली गलौचों को फूल समझ कर इस कान से सुना ओर उस कान से निकाल दिया। दूसरों की अपपट प्रवृत्ति देखकर बस यह ज्ञान करें कि इसके ऐसी ही

कषाय का उदय है ऐसे अज्ञानभाव का उदय है अतः इसकी ऐसी ही प्रवृत्ति हो रही। उससे मेरा क्या? मेरा तो मेरे भावों से सब कुछ होगा अपने भावों में अविकार सहज स्वरूप ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की भावना दृढ़ बनाये। दुनिया कुछ करे धर्म के नाम पर या लौकिक प्रगति के नाम पर जैसा जो कुछ करते हों सो करें पर अपने को तो यह भाव होना चाहिये कि मेरे राम को तो अपने आपके शुद्ध स्वभाव की दृष्टि दृढ़ बनाना है। दुनिया कुछ करे। और यह है मार्ग अपने को शान्ति के लाभ का। तो जो आत्मस्वरूप के विरुद्ध वासनायें बनाते हैं चित्त में उनसे होता है कर्म बंध तो उस कर्मबंध का कारण क्या है? तो कारण तो साक्षात् कषाय भाव है, मिथ्यात्व भाव है मगर आश्रय को तो देखिये शरीर में ममता है शरीर को आपा माना है, इस कारण ये सब कठिन स्थितियाँ आयी हैं, ऐसे शरीर की भी साधुजन आहार आदिक से सेवा किया करते हैं, सो सेवा करना उनके जीव का लक्ष्य नहीं है, किन्तु धर्म साधना में सुविधा मिलती है इस कारण वे आहार करते हैं।

**आत्मा से अत्यन्त भिन्नस्वरूप भी देह का धर्मानुष्ठान के निमित्त साधुओं**

**द्वारा सावधि पोषण—** यह देह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। कहाँ तो यह चित्प्रकाशमात्र आत्मा और कहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड ये पुद्गल स्कंध। जाति जरा भी नहीं मिलती, अत्यन्त भिन्न है। सुजाति भी नहीं, और देखो यह कठिनाई कि आत्मा का अपनी जाति से तो बंध होता नहीं और हो रहा है विजातीय से। आत्मा की जाति है आत्मा दूसरा जीव। तो कोई जीव क्या किसी दूसरे से बँधता है? कल्पना करके मान लेवे अपना बन्धन वह तो है दूसरी बात पर जैसे देह का और कर्म का बन्धन है, इतना नहीं मान रहे, भिन्न जान रहे फिर भी बन्धन तो चल रहा है। ऐसा बन्धन क्या किसी जीव का किसी जीव से हो पाता है? नहीं हो पाता, और हो रहा है इस विजातीय शरीर से कर्म का बन्धन। तो यह देह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है न जातिका ना, पाँति का ऐसा है यह देह, उस देह में जो व्यामुग्ध होता है। वह कर्म बन्धन करता है। वह जन्म मरण की परम्परा बड़ाता है मिथ्या दृष्टि का स्वरूप जब बताते हैं तो सीधा इस देह को ही कहते हैं। “देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्व मुधा है” जो शरीर और जीव को एक मानता है बहिरात्मा है, उससे भी और भीतरी बात है जो जीव और कर्मको एक मानता है वह बहिरात्मा है, और भी भीतरी बात देखो क्रिया को और आत्मा को एक मानता है वह बहिरात्मा है और भी अन्दर चलो जो विचार विकल्प राग को और आत्मा को एक मानता है वह बहिरात्मा है। पर समग्रबहिरात्माओं के जितने भी लक्ष्य हैं उन सब लक्षणों में प्रतिनिधि यह है “देह जीवन को एक गिने, बहिरातम तत्व सुधा है।” जो शरीर को और जीव को एक मानता है वह बहिरात्मा है। तो आत्मा से यह देह अत्यन्त भिन्न है। ऐसे भिन्न देह की सेवा साधु जन किसी समय क्यों किया करते हैं? धर्म साधना के नियमित सेवा क्रिया आहार लेना इतना ही पोषण मात्र वह सब होता है धर्म साधना के लिए, इसलिए भीक्षु साधु धर्म साधन के कारण इस देह को पोषकता है यह प्रकरण करता है साधुओं की चेष्टा का। तो बहुत सी गाथायें तो दोष बताने में आयीं कि जो ऐसे दोष करता है वह साधु नहीं, अब यह गाथा में साधु की वृत्ति बताने के लिए है कि साधु जन किस तरह रहते हैं अपने उपयोग वह कहाँ रखते हैं, शरीर के प्रति उनका क्या व्यवहार है, इस प्रकार उनकी चर्चा और वृत्ति के बारे में कुछ साधु ये गाथायें चल रही हैं। इन दो गाथाओं में बताया गया है कि भिक्षु जो शरीर का पोषण करते हैं। वह धर्मानुष्ठान के लिए।

इस गाथा में भिक्षु शब्द दिया है। बहुत सुन्दर प्रयोग वह कहलाता है कि जो एवंभूतनय का संग करे। जिस शब्द का जो अर्थ है उस क्रिया की बात बोलते समय में उस ही शब्द का प्रयोग करे वह एक उत्तम वाक्य प्रयोग कहलाता है। भिक्षु मायने भिक्षा वृत्ति से अर्थात्



आहार को खोजने के लिए, निर्दोष आहार तलाशने के लिए जो चर्चा करता है उसको कहते हैं भिक्षु। भैक्ष्यं अमृतं, भैक्ष्य को अमृत कहते हैं याने भिक्षावृत्ति में प्राप्त हुए आहार को अमृत कहा गया है। भिक्षा शब्द का बड़ा ऊँची अर्थ है मगर दरिद्र, रोगी भिखारियों ने इस भिक्षा शब्द की मिट्टी पलीत करा दी। भिक्षा कहते हैं बिना किसी शल्य के बिना आरम्भ परिग्रह के ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले जन जिस समय क्षुधा से पीड़ित हुए कि धर्म ध्यान में बाधा आने लगी तो वे भ्रमण करते हैं और कोई श्रावक बड़ी भक्ति दिखाकर नमस्कार करके बारबार प्रार्थना करे कि महाराज आहार ग्रहण करने की कृपा कीजिए। वहाँ अगर निर्दोष आहार मिले तो उस आहार को ग्रहण करना ऐसा आहार कहलाता है भैक्ष्य और यह बताया है अमृत क्योंकि उसके न पहले न उसके बाद किसी भी प्रकार की चिंता और शल्य इस जीव के नहीं रहती।

**संजमतव ज्ञाणज्झयणविणाणए गेण्हये पडिग्गहणं ।**

**वंचइ गिण्हइ भिक्खु ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ।।103।।**

**संयम की साधना के लिये साधुओं द्वारा प्रतिग्रहण की स्वीकारता**— यह भिक्षु, यह साधु प्रतिग्रहण को ग्रहण करता है तो वह संयम तप ध्यान अध्ययन और विज्ञान के लिए करता है, प्रतिग्रहण करने का अर्थ है कि किसी शुद्ध भोजन करने वाले गृहस्थ ने साधु को पड़गाहा तो उसके पड़गाहन को स्वीकार कर लेना (अच्छा चलो), चलते हुए मुख से नहीं कहते, मगर प्रतिग्रहण सुनकर जो साधु चल देते हैं गृह में उसे कहते हैं कि प्रतिग्रहण को स्वीकार कर लिया। औरों का तो नियंत्रण होता है चौबीस घंटे, 12 घंटे पहले या कुछ घंटे पहले मगर साधु का नियंत्रण तत्कालका है और वह भी स्वरूप स्वीकार करे या न करे। उस तात्कालिक घर पर आये हुए साधु को बुलाने का नाम है प्रतिग्रहण। उसे आमंत्रण कह लीजिये। बुला रहे हैं। प्रतिग्रहण कर लीजिए कि इस आहार दान के प्रति उनको ग्रहण किया जा रहा है, उनको लिया जा रहा है। जिसका बिगड़ कर शब्द बना पड़गाहन, तो उस प्रतिग्रहण को साधु स्वीकार करते हैं संयम के लिए शरीर में थोड़ी शक्ति रहेगी, देखभालकर चलना बनेगा, ध्यान भी बनेगा। तो संयम की साधना के लिए प्रतिग्रहण की स्वीकारता होती है।

**तप ध्यान अध्ययन विज्ञान के लिये साधुओं द्वारा प्रतिग्रहण की स्वीकारता**— तप की सिद्धी के लिए भी प्रतिग्रहण की स्वीकारता है, क्योंकि शरीर में सामर्थ है तो अनशन आदिक तपश्चरण कर लेंगे आगे। प्रायश्चित्त आदिक तपश्चरण कर सकेंगे। तो तपश्चरण की शुद्धि के लिये, ध्यान और अध्ययन की शुद्धि के लिये यद्यपि साधुओं में इतना बल है कि एक माह भी आहार न मिले, पुराणों में तो वर्णन आया है कि एक वर्ष आहार न मिले तिस पर भी वे प्रसन्न रहा करते थे। अपने अविकार ज्ञानस्वभाव का अनुभव जो उन्होंने पाया है उसकी इतनी महिमा है कि वर्ष भर भी आहार न मिले तो भी ग्लानि नहीं आती। अप्रसन्नता बना लेने से अध्ययन और ज्ञान की साधना न चलेगी। तो ये साधु जन इस ज्ञान के प्रयोजन के लिए प्रतिग्रहण स्वीकार करते हैं। और यदि इन भावों को लेकर नहीं हैं साधु, कुछ जिह्वा लोलुपी या कुछ रसास्वाद किसी कारण से आहार भी ग्रहण करता है तो वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। अन्यथा उस प्रकार के आहार को साधु ग्रहण नहीं करता। तो यह आहार ग्रहण करने का प्रयोजन कुछ कुछ इन गाथाओं में बताया गया है। अब इसी संबंध में और भी आगे स्पष्टीकरण किया जायेगा।

**कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण ।**

**रुदेण य रोसेण य भुंजइ कि विंतरो भिक्खू ।।104।।**

**क्रोध व कलह से साधुओं द्वारा आहार का अग्रहण—** जिसने अपने ज्ञानस्वरूप में उपयोग को स्थिर करने के लिए सर्व कुछ त्याग दिया वह पुरुष परिस्थितिवश शरीर के रखने के लिए आहार करता है तो वह क्रोध पूर्वक नहीं करता। क्रोध किस बात का? जगत के सब जीव अपने अपने कषाय भाव को लिए अपना अपना परिणमन करते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का परिणमन कभी नहीं करता, पर कोई जीव यदि दुःख मानता है तो अपनी कल्पना से अपने आप की पर्याय में आत्मबुद्धि रखकर कष्टमानता है, पर ये साधुजन जिन्होंने स्वपर विवेक भलीभाँति कर लिया है। उनको अब क्रोध का प्रसंग क्या? भले ही पूर्व कर्मोदय से क्रोध प्रकृति का विकार झलके लेकिन ज्ञानी उसे भी जानता है कि मेरा यह विकार है, परभाव है, इसमें मुझे लगना न चाहिए। तो प्रत्येक तत्व को स्पष्ट समझने वाला ज्ञानी क्रोध पूर्वक आहार नहीं लेता। यदि क्रोध से आहार ले तो वह साधु न होगा। वह तो कोई व्यन्तर जैसा समझलो, मान कलह से भी आहार नहीं लेता। झगड़ा करके तो बच्चा भी नहीं खाता, गृहस्थ भी नहीं खाता। खाने पर कलह क्या? मगर कोई आसक्त ऐसे भी दुनिया में कि जो भोजन पर लड़ते हों और लड़कर कुछ अधिक भोजन पा लें तो उसमें बहुत मौज मानते हैं पर यह तो तुच्छ पुरुषों की बात है साधुजन कलह से भोजन नहीं करते।

**याचनाशीलता से साधुओं द्वारा आहार का अग्रहण—** साधुजन याचनाशील होकर भोजन नहीं करते। वे भोजन मांगते फिरे ऐसी वृत्ति उनसे नहीं होती। यह बात यों कही जा रही कि साधु सन्यासी का नाम धराकर बहुत से लोग अपना विचित्र रूप रखकर डोलते हैं, दुकान दुकान माँगते हैं, याचना करते हैं, अन्न दे कोई तो उसे भी लें, आटा दे उसे भी लें, पैसा दे उसे भी लें। ऐसे बहुत से लोग देखे जाते हैं, और प्रायः साधारण जन उनको बाबा जी, साधु जी, इन शब्दों से पुकारते हैं। मगर यह साधुओं की वृत्ति नहीं। साधु पुरुष चाय नमकीन वगैरह नहीं ग्रहण करते। साधुओं में इतना आल्पबल होता कि वे न मिले कुछ तो भी अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को सर्वस्व जानकर उस ही में उपयोग लगाये रहते हैं। इस जीवन में एक लक्ष्य होना चाहिए अपने आत्मा को अविकार सहज स्वरूप में निरखना। यह ही धुन हो, हर समय यह ही करने की बात चित्त में आये तो जिसके चित्त में यह ब्रह्म स्वरूप उपासना के लिए हैं उसको ब्रह्माय बातों से उपेक्षा रहती हैं। करना पड़ता है सब कुछ मगर वह उसमें खिन्न नहीं होता बस जाननहार रहता है। और जो जैसी परिणति करता है। उसका ज्ञाता मात्र रहता है तो ऐसा पुरुष याचनाशील कैसे हो सकता। वह तो महात्मा हैं, उत्तम अंतरात्मा हैं। परमात्मतत्व के सम्मुख हैं, उसमें कषाय की बात चित्त में कैसे आये? तो साधुजन याचनाशील होकर भी आहार ग्रहण नहीं करते।

**संकलेश रौद्र व रोष से साधुओं द्वारा आहार का अग्रहण—** सकलेश परिणाम रखकर भी साधु आहार नहीं लेते। मिला नहीं, डखीक नहीं मिला या कोई भी प्रतिकूलता हो गई हो तो इसमें अपने आपमें सकलेश भाव करें ऐसी साधुकी वृत्ति नहीं है, संकलेश हो जाता है मगर उसे पकड़ कर रहना और इतना अधिक संकलेश मानना कि अपना उपयोग भी बिल्कुल विमुख हो जाय अन्तः स्वरूप की उपासना से ऐसी वृत्ति साधु संत पुरुषों में नहीं होती। तो साधुजन संकलेश से आहार नहीं लेते, रौद्र परिणाम रखकर भी आहार नहीं लेते, रौद्र परिणाम, विषयों के संरक्षण में आनन्द के लिए कहीं अधिक श्रम करेगा। यह श्रम करता है इन्द्रिय के विषयों में तो उन विषयों के संरक्षण में, विषयों का आनन्द मानने में वह अपने आपको महिमावान समझता है, गलती नहीं मानता। तो रुद्र परिणाम से भी साधु आहार नहीं लेता और रोष में भी आहार नहीं लेता। रूप जाना, द्वेष करना, उस रोष पूर्वक

भी साधु संतों का आहार नहीं है। इस प्रकार साधुजन तो एक आदर्श हैं, दर्शनीय हैं, उनकी एक एक समय की स्थिति शिक्षाप्रद है।

**दिव्युत्तरण सरिच्छं जाणिच्चाहो धरेद जइ सुद्धो ।**

**तत्तायसपिंडसमं भिक्खु तुहु पाणिगयपिंडं ।।105।।**

**शरीरकालोत्तरण के लिये दिव्यानी का जानकर निर्दोषशुद्ध आहार का साधुओं द्वारा ग्रहण—** साधु जन आहार निर्दोष लेते हैं, सदोष आहार उनके काम का नहीं है जो प्रमाद से बनाया गया है। जैसे बजार हाट की चीजें कोई शोध की बनती हैं क्या? मान लो रात को मिठाई बन रही है तो उसमें कितने ही मच्छर गिरते कुछ तो मच्छर निकालकर बाहार फेंक देते और कुछ उसी मिठाई में सान देते। यो वह बाजार की मिठाई बिल्कुल अशुद्ध होती हैं मगर कितने ही साधु कहलाने वाले लोग भी बाजार से मिठाई मोल लेकर खाते हैं। कुछ साधु होते माँगने की प्रकृति वाले याने तृष्णा वाले, जिनको माँगने से मिलता नहीं, मिलने की आशा लगाये रहते हैं और सदोष आहार भी करते और उसमें अपनी शान भी बगराते। कुछ ऐसे भी साधु होते हैं जो अपने को मानते हैं साधु, दुनिया से पैर छुवाते हैं और बाजार में मोल लेकर आहार करते तो उसमें उस आहार के गुण बखानते। खैर जो है सो है, उसकी भी कुछ बात नहीं, पर वे साधु यह नहीं जानते कि सबसे बड़ा दोष होता है अधःकर्म का। अन्धःकर्म कहते हैं उसे जो आहार जीवदया पालकर न बनाया गया हो। हिंसा का बचाव करके न बनाया गया हो। ऐसा सदोष आहार किसी भी बहाने लेना साधु का काम नहीं। यहाँ दृष्टान्त दिया है कि ऐसा निर्दोष आहार जैसे कि अग्नि से तपाया गया लोहा, उसमें कोई दोष तो नहीं रहा ऐसा निर्दोष शुद्ध आहार साधुजन लेते हैं। और उस आहार को ऐसा समझिये निर्दोष आहार कि जैसे शरीर को पार के लिए दिव्य नौका हो। जैसे कोई भली नौका से नदी पार की जाती इसी तरह शुद्ध निर्दोष आहार से यह जीवन पार कर लिया जाता है। ऐसे विशुद्ध भावों से निर्दोष शुद्ध आहार से यह जीवन पार कर लिया जाता है। ऐसे विशुद्ध भावों से निर्दोष शुद्ध आहार साधुजन ग्रहण करते। और वे भी अपने हाथ में, बर्तन रखें तो उन्हें कहाँ धरें, उठायें। एक शल्य वहीं रहेगी। कोई भी परिग्रह वस्त्र अन्न वगैरह कुछ भी न रखना, सिर्फ गात परिग्रह, क्योंकि निरन्तर ब्रह्मस्वरूप का ध्यान तो उनका काम है। बाहरी चीज को रखाये कौन। तो हस्तगत पिंड ग्रहण करते हैं उस आहार को दिव्य नौकावत समझकर जैसे नौका से नदी पार कर ली जाती ऐसे ही निर्दोष आहार से यह जीवन पार कर लिया जाता है, और यह जीवन है धर्मसाधना के लिए।

**अविरददेसमहंव्वय अगमरूइणं वियारतच्चव्हं ।**

**पत्ततरं सहस्सं णिद्धिट्ठ जिणवरिंदेहिं ।।106।।**

**अवितर सम्यग्दृष्टि व देशब्रती पात्रों का निर्देश—** पात्र के अनेक भेद जिनेन्द्र देव ने बतलाया है। पात्र मायने योग्य पुरुष जो धर्म में लगे हैं, मोक्षमार्ग में लगे हैं ऐसे योग्य पुरुष पात्र कहलाते हैं। जिनकी भक्ति करना, विनय करना, सेवा करना गृहस्थों का धर्म है, और गृहस्थ जिनकी सेवा करके अपने को धन्य समझते हैं ऐसे पात्र अनेक प्रकार के हैं। जैसे छोटों से नम्बर लेते हुए बड़े तक देखते जाइये। प्रथम तो हैं अविरत सम्यग्दृष्टि। ब्रत नहीं है पर आत्मा के अविकार सहज स्वरूप का अनुभव किया है वह पात्र हैं। जिसने आत्मा के अविकार स्वरूप का परिचय नहीं पाया। वह न जाने किस किस भाव से कभी साधु भेष लेता है। रखे पर वह पात्र नहीं हैं, मोक्षमार्ग में चला करे ऐसी उसमें योग्यता नहीं है, तो प्रथम नाम आया है अविरत सम्यग्दृष्टि, दूसरा पात्र है देशब्रती, जो

श्रावक व्रत में है, प्रतिमाधारी है वह है यहाँ दूसरा पात्र। श्रावक के प्रतिमा धारी के कषाय मंद हो चुके हैं उसी का तो फल है कि सके देशसंयम मूल में है अब मोक्षमार्ग में प्रगति यहाँ से शुरू हुई है।

**महीव्रती पात्रों का निर्देश—** देशव्रती श्रावक है पात्र है और उनसे महान पात्र हैं महाव्रती मुनि, जिसने पंच पापों का त्याग किया है और अपने आपके यथार्थ सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया है वह महाव्रती पात्र है। यहाँ यह बात मूल में समझना कि जिसने आत्मा के सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं किया है वह पात्र नहीं हैं। चाहे वह मुनि भेष भी धारण करे पर वह मोक्षमार्गी नहीं है भले ही वाह्य क्रिया देखकर और चूँकि व्यवहार धर्म में खलबली न आये, कोई समझ भी तो नहीं समता कि इसके आत्मानुभव है या नहीं, इन कारणों से द्रव्यलिङ्गी मुनि भेषी का भी आदर होता है। कब तक? जब तक कि उसका एकदम भेद नहीं खुलता। खैर किसी से आदर मिले या न मिले मगर मोक्षमार्ग के लिए तो जिसको आत्मस्वरूप का अनुभव मिला है वह ही पात्र है दूसरा नहीं तो ये सब के सब पात्र सम्यग्दृष्टि हैं।

**आगमरुचि का व तत्त्वविचारक पात्रों का निर्देश—** इन पात्रों में कुछ और भी विशेषतायें होती हैं। कोई पात्र आगमरुचिक है, जिसको शास्त्र ज्ञान में आगम ज्ञान में रुचि है, प्रवेश है, ज्ञान का अभ्यासी है, उसमें एक विशेषता हो गई इसी पात्र में। आगम एक अगाध ज्ञान है, उसमें जिसका प्रवेश है, जिसको आगम के विषयों का स्पष्ट बोध है, जिसके सहारे वह अपनी कषायों को मंद करके आत्मस्वरूप का अनुभव किया करता है, वह है आगम रुचिक, उसकी एक विशेषता है तत्त्वविचारकता की, जो हितकारी तत्व है, आत्म स्वरूप है वह तत्व का विचार करे, मनन करे, इसका वैराग्य विशेष होता है। उस वैराग्य बल से वह खुद शान्त है और उसके प्रसंग में आने वाले भी शान्त हो जाते हैं तो जो तत्त्वविचारक साधु हैं, वे इन तीनों में उन श्रेणियों में विशेषता को लिए हुए हैं। संसार में बाहर कोई भी अपना शरण नहीं है, कोई भी अपना नहीं, जिसके चित्तस में इस तरह बस गया हो कि बस यह ही मेरा सर्वस्व है, शरण है जो अपने आपको भूल जाता है उसके लिए दुनिया में शरण कहीं नहीं है। जो अपने आपको न भूल सके उसके लिये ब्राह्म्य में भी कोई शरण मिल जाती। जैसे प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय ये सब उसके लिए सहायक बन जाते, बाह्य शरण बन जाते मगर खुद परमार्थ शरण पाया हो तो यह शरण बनता है। तो इस प्रकार और भी अनेक हजारों प्रकार के पात्रान्तर जिनेन्द्र देव ने बताया है। हजारों प्रकार के पात्रों के मायने देशसंयम के स्थान कितने हैं? असंख्यात तो उन भेदों की दृष्टि से अगर संक्षेप में हजारों पात्र कह दिया, हजारों तरह के पात्र कह दिया तो ये तो बहुत थोड़े कहे गए हैं, मगर व्यवहार में परख में जैसा आया वैसा सब कोई जानता है कि यह पात्र है अथवा अपात्र है। तो ऐसे सम्यग्दृष्टियों को अनेक प्रकार के व्रत पालकों को जिनेन्द्र देव ने पात्र बताया है। श्रावकों का कर्तव्य है कि ऐसे पात्र का संग करें और उसकी सेवा सुश्रुषा करें। और इस पात्र का कर्तव्य है कि जैसे अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि न मिटे उस प्रकार अपनी भावना दृढ़ बनायें। इस तरह प्रभु ने कुछ पात्रों के भेद बताया है। अब इन्हीं पात्रों में से उत्कृष्ट पात्र कैसा होता है? इसका वर्णन चलेगा।

**उपसमणिरीहज्ञाणज्ज्ञयणाइ महागुणा जहादिट्ठा।**

**जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।।107।।**

**साम्यभाव महागुणवान मुनिनाथों की उत्तम पात्र स्वरूपता—** पात्रों का वर्णन चल रहा था कि पात्र साधुओं को क्या न करना चाहिए और क्या करना चाहिए, इस विषय

में यथोचित्त काफी वर्णन हो गया है। अब इस गाथा में यह बतला रहे हैं कि ऐसे मुनिनाथ उत्तम पात्र होते हैं जो समता भाव को प्राप्त हैं। वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करके जिसने आत्मा के ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य सर्व जीवों को असार जानकर तज दिया है और अपने आप के अविकार ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का ही जिनका पौरुष रहता है ऐसे जीव किन्हीं भी बाह्य पदार्थों में राग अथवा द्वेष नहीं करते। इस संसार से पार होने वाले साधुओं को इस जगत में न कुछ इष्ट रहा न अनिष्ट रहा, किसे अपना इष्ट मानना? सभी मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मेरा अन्य में कुछ नहीं, अन्य का मुझ में कुछ नहीं, फिर इष्ट हो ही क्या सकता है? और इष्ट यदि माना जा रहा है तो वह तथ्य नहीं है किन्तु वर्तमान में ऐसी ही कषाय जग रही है कि अमुक पदार्थ को इष्ट समझ रहा है इसी प्रकार जगत में कोई भी अनिष्ट नहीं है लेकिन विषय संग का ऐसा भ्रम चढ़ा हुआ है कि उसमें बाधक जचते हों तो उन्हें यह अनिष्ट मान लेता है ज्ञानी को न कुछ इष्ट है न कुछ अनिष्ट है। उसके सर्व पदार्थों के प्रति समान भाव रहता है। तो जो ऐसे समता भाव को प्राप्त हैं। वे साधु मुनिनाथ उत्तम पात्र कहे गए हैं। भक्तों को चाहिए क्या? पवित्र आत्मा मिले। जिनका उपयोग ज्ञानस्वरूप की ओर ढल रहा हो तो खुद मुझ भक्त को चाहिए उसी का ही आदर्श जहाँ मिल रहा हो वही तो भक्त का भक्ति पात्र है। जो मुनिनाथ उपशम भाव को प्राप्त हैं वे उत्तम पात्र हैं।

**निर्वाञ्छक साधुओं का उत्तम पात्रपना—** निरीह साधु उत्तम पात्र हैं। कुछ भी उनके वाञ्छा नहीं। वाञ्छा करने योग्य मुख्यबातें चार होती हैं। पुण्य, पाप, भोजन और दान। अन्य भी अनेक बातें होती हैं मगर उन सबका प्रतिबिम्ब इन चार को समझ लीजिए, कुछ जीव पुण्य की इच्छा करते हैं, किसलिए इच्छा करते हैं कि इसके फल में मुझे भविष्य में देव पद मिले। धनिक पद मिले। राज्य पद मिले। सुख से रहें इसके लिये पुण्य की वाञ्छा करते हैं। ज्ञानी जन सो रहें इसके लिए पुण्य की इच्छा करते हैं। ज्ञानीजन जो होंगे उनके पुण्य भाव तो चलेगा। जब तक शुद्धोपयोग नहीं प्रकट हुआ मगर पुण्य की इच्छा नहीं करते कि ये ही मेरे लिए सब कुछ है इसका यों दृष्टान्त लीजिए कि जैसे कोई रोगी कड़वी या मीठी औषधि पीता है तो वह उस औषधि को हमेशा पीने की चाह नहीं करता, ठीक यही बात ज्ञानी की है। जब तक शद्धोपयोग नहीं होता तब तक पुण्यभाव बर्त रहा है मगर उस पुण्य भाव में हित की आस्था नहीं कि यह ही मेरा सर्वस्व है, पुण्य की चाह ज्ञानी को नहीं होती, फिर वह पाप भाव की चाह करेगा ही क्यों? कुछ पाप भाव भी यद्यपि वर्त रहा है ज्ञानी जीव के असमर्थ अवस्था में, चारित्र मोह का तीव्र उदय है बर्त रहा है, पच्चेन्द्रिय के विषयों के भोग की वृत्ति चल रही है तो भोग भोगना, विषयों में लगना यह तो पापभाव हैं। तो भले ही भोगना, विषयों में लगना यह तो पाप भाव है तो भले ही पाप का भाव बँधा रहता है। मगर पाप भाव की चाह नहीं है। जैसे किसी को जबरदस्ती कोई काम करना होता है तो भले ही वह कर देगा मगर भीतर से वह हटा हुआ ही रहता है। भोजन की चाह ज्ञानी पुरुष तो भोजन करने से पहले भोजन के राग से रहित साधु का स्मरण करता है जो आहार से पहले कायोत्सर्ग करने की विधि है और आहार के बाद साधु भक्ति कायात्सर्ग की विधि है तो पहले और अन्त में साधु भक्ति में उन सिद्ध ही स्मरण करता है जिनके क्षुधा तृषा आदिक रोग नहीं हैं। प्रभो मैं अब भोजन के झंझट में पड़ने वाला हूँ। इससे पहले मैं तुम्हारा स्मरण करता हूँ। इस झंझट के समय भी मैं आत्मा की सुध न भूलूँ इस भावना से वह प्रभु स्मरण करता है। बाद में भोजन क्रिया करता है, ऐसी ही भोजन क्रिया करके कायोत्सर्ग से फिर प्रभु का स्मरण करता है कि हे प्रभो मैंने इतना समय आत्मा के प्रतिकूल बातों में खो दिया। मैं तो इन झंझटों से रहित हूँ। क्षुधा तृषा

आदिक दोषों से दूर हूँ। ऐसा वह साधु स्मरण करता है। तो भोजन और पान की ज्ञानी को चाह नहीं है कि मेरे को बड़ा मजा है। ऐसा भोजन पान मेरे को अनन्त काल तक मिलता ही रहे। किसी के चाहने से कहीं अनन्त काल तक सुख सामग्री मिलती रहे, यह बात न हो सकेगी। तो ज्ञानी को किसी भी बात की चाह नहीं है। ऐसा मुनिनाथ, जिन्हें कुछ चाह ही नहीं है आहार में व अपने अन्तःज्ञान के प्रति मग्न हैं वे मुनिनाथ उत्तम पात्र कहलाते हैं।

**ध्यान महागुणसम्पन्न साधुओं का उत्तमपात्रपना**— ध्यानरत साधु उत्तम पात्र हैं ध्यान ही जिनको प्रिय है दूसरी जगह टिकें कहाँ से, जब किसी पर पदार्थ में इस ज्ञानी को आस्था ही नहीं और अपने सहज अविकार ज्ञान स्वभाव में आस्था बनी है तो ऐसा ज्ञानी पुरुष अपना ध्यान कहाँ लगायगा? बाहर लग ही न सकेंगा। परिणाम यह है कि वह अपने ही ध्यान में रत रहता है आहार कैसा अलौकिक सहजि परमात्मतत्त्व जो आनन्द रस से भरा हुआ है जिसमें विपत्ति का नाम नहीं। बंधन का कहीं काम नहीं एक ज्ञानमात्र जिसकी दृष्टि में यह अनुकूल है पवित्र है ऐसे ज्ञानस्वरूप निज आत्मा की दृष्टि रखने वाले मुनिनाथ आत्मध्यान में रत रहा करते हैं ऐसे मुनिनाथ मिलें किसी ध्यान प्रेमी गृहस्थ को तो उस पर कितना वात्सल्य जगेगा? परिवार के बच्चों पर जितना प्रेम होता क्या उससे कुछ थोड़ा बहुत कम? नहीं नहीं उससे कई गुना अधिक वात्सल्य ध्यान प्रेमी, ध्यानरत, उत्तम पात्र निकटभव्य के होता है। साधुसेवा, साधु सत्संग उनका गुणानुराग मिलना अत्यन्त दुर्लभ वैभव है। तो जो साधु आत्म ध्यान में रत रहा करते हैं। आत्मध्यान की ही जिनके धुन है वे मुनिनाथ उत्तम पात्र कहलाते हैं।

**अध्ययन महागुणसम्पन्न साधुओं का उत्तम पात्रपना**— अध्ययनरत साधु उत्तम पात्र हैं। सर्व बाह्य परिग्रह भी जिनके नहीं है ऐसे साधुजन अपने क्षण किस बात में व्यतीत करते हैं? ज्ञान में व्यतीत करते हैं। वह ज्ञान मिलता कहाँ से? उसके लिए पौरुष क्या करना होता है? अध्ययन। अध्ययन करने का कोई प्रयोजन सही बना लें तो उनको वह अध्ययन कई गुना लाभ देता है। और प्रत्येक वाक्य में उसे प्रीति होती है। ये जिन्नेद्र देव के वचन हैं। सत्य हैं अविकार ज्ञानस्वभाव की ओर संकेत करते हैं। सारा समय उनके अध्ययन में ही तो जाता है। स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप क्या होगा? ज्ञानविहीन साधु कितना ही कहीं तप कर लें, पर उससे कर्म डरते नहीं हैं। कर्मबंध का निमित्त तो अज्ञानभाव, रागद्वेष, भाव है। वह जहाँ है तो चाहे ऊपर में कैसी ही क्रियायें चेष्टायें हो ज्ञान है तो बंध नहीं ज्ञान नहीं तो बंध है। तो ये साधु मुनिनाथ उत्तम पात्र सदा अध्ययन में रह रहते हैं। अध्ययन से एक तो श्रद्धा की पुष्टि ज्ञान का विकास और आत्मस्मरण की उमंग ये तीन बातें चलती हैं। कोई केवल एक बात ही समझने के लिए पढ़ रहा हो तो वह इस लाभ को पा नहीं सकता है। जो संसार से भयभीत होकर अर्थात् संसार भावों से हटने की इच्छा से और अपने सहज स्वभाव में लगने की भावना से स्वाध्याय करता है रस उनको मिलता है। तो अध्ययन करने से तो गुरुराज का जो स्मरण होता है, उत्तम तत्त्व को समझने के समय जिसने ग्रन्थ रचे हैं। उनके प्रति अतिशय भक्ति जचती है। गुरुभक्ति का लाभ अध्ययन करने से अज्ञान अंधकार दूर होता है। और ज्ञान विकास होता है। सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है। अध्ययन करने से जो अविकार सहज स्वरूप में उमंग दिलाने वाले वचन अध्ययन में आते हैं। तो सर्व विभावों से हटकर इस सहज स्वरूप में मग्न होने की उमंग बनती है। तो ऐसी महिमा जहाँ देखी गई है वह मुनि उत्तम पात्र कहा जाता है।

**णवि जाणइ जिण—सिद्ध—सरुवं तिविवेण तह णियप्पाणं ।**

**जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ।।108।।**

**यथार्थ प्रभु स्वरूप व आत्मस्वरूप जाने बिना तपश्चरण की संसार भ्रमण हेतुता**— जो पुरुष त्रिविधि तत्व विधि की परख से जिनेन्द्र भगवान को सिद्ध भगवान को और अपने स्वरूप को निहारता है वह तो ज्ञानी है और जो इन बातों को नहीं निहार सकता है वह कितना ही तीव्र तप करे फिर भी इस लम्बे संसार में वह भटकता ही रहता है। कैसे समझना प्रभु को और अपने आत्मा को? लोक में तीन प्रकार के आत्मा होते हैं। भगवान को कहते तो सब हैं, पर अन्तरात्मा बहिरात्मा और परमात्मा की परख से प्रभु की पहिचान करना यह है वह ज्ञान कि जिस ज्ञान के होने पर तपश्चरण भी ज्ञानवृद्धि में सहायक होता है, कैसे जानना? हे प्रभु, हे सहल परमात्मा, हे शरीर सहित भगवान और शरीर रहित भगवान, तुम परमात्मा हो। परम आत्मा। परम मायने उत्कृष्ट। उत्कृष्ट आनन्द। उत्कृष्ट फलित अर्थ हैं, सही अर्थ है परा या विद्यते यस्य सः परमः जहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मी जगत में पायी जाती है उसको परम कहते हैं। उत्कृष्ट लक्ष्मी जगत में है क्या? ज्ञान लक्ष्मी, लक्ष्मी नाम धन आनन्द का नहीं है, लक्ष्मी कहो लक्ष्म कहो लक्षण कहो सबका एक ही अर्थ है आत्मा का लक्ष्म आत्मा का लक्षण शाश्वत् चैतन्य स्वरूप उसका जो विकास है उसे कहते हैं लक्ष्मी। ज्ञान विकास का ही नाम लक्ष्मी है। अन्य का नाम लक्ष्मी नहीं।

**लक्ष्मी शब्द का यथार्थ तृष्णालुओं द्वारा बनाया गया अर्थ**— किसी जमाने में यह बात खूब जानते थे लोग कि लक्ष्मी तो निर्विकार ज्ञानविकास को ही कहा करते हैं और उस लक्ष्मी की आराधना में साधु संत पुरुष रहा करते थे। और वही उत्कृष्ट मिलन था। उत्तम वस्तु वही है सो वह ज्ञानविकास लक्ष्मी उत्तम है, मंगल है, शरणरूप है। यह तो ध्यान रहा कि हाँ है कोई लक्ष्मी उत्तम, मंगल, शरणभूत मगर उसमें से ज्ञान को खिसका दिया और ज्ञान की जगह जो प्रिय लगा उसे रख दिया। तो बात तो वही की वही रही। पहले लोगों को यह ज्ञान लक्ष्मी मंगल, उत्तम, शरण लगती थी, अब ज्ञान तो खिसक गया है और ज्ञान की जगह धन आ गया है तो वाक्य पही है। आज धन लक्ष्मी मंगल लोकात्तम और शरण लगने लगी और उस ज्ञान लक्ष्मी की मुद्रा भगवान की मुद्रा में निरखते थे क्योंकि ज्ञानलक्ष्मी वहाँ प्राप्त हैं और ज्ञानलाभ लेने के लिए परमात्मा के स्वरूप को ही निरख रखते थे। सो नकल तो वही है। अब भी पहले ज्ञान लक्ष्मी को भगवत मुद्रा निरखते थे तो अब धन लक्ष्मी को चार हाथ वाली खूब बढ़िया साड़ी पहने गहने से लदी एक मूर्ति के रूप में निरखते थे। पहले लोग प्रभु के मुख से दिव्य ध्वनि के रूप में ज्ञानलक्ष्मी हमें मिल रही है ऐसा ध्यान रखते थे। तो आज उसकी स्त्री रूप लक्ष्मी बनाकर उसके हाथ से रुपये टपकाते हुए दिखाते हैं, इस तरह से आराधना करते हैं। नकल तो न छोड़ा मगर उद्देश्य भूल गए।

**कल्याण लाभ के उपाय में अन्तरात्मत्व का महत्व**— परमात्मा के सम्बंध में यह जाने कि यह तो है परमात्मा उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी के विकास वाले और। परमात्मा हुए किस तरह? अन्तरात्मा बनकर। अन्तरात्मा बनने में हमको लाभ है। जैसे छहढाला में बताया है कि “बहिरात्मा हेय जानि, तजि अन्तरात्मा हूजे, परमात्मा को ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजे।।” अन्तरात्मा नहीं है तो बड़ाप्पन तो रहेगा नहीं और अंतरात्मा की ही विशेषता बने अन्तरात्मा का ही ध्यान बढ़े तो उसमें परमात्मतत्व प्रकट होता है। हे प्रभो मैं बहिरात्मा था, बाहर की चीजों को मैं आत्मसर्वस्व समझता था, पर आप के चरणों के प्रसाद से अर्थात् ज्ञान दर्शन गुण की प्रसन्नता से मेरे को अन्तरात्मत्व प्रकट हुआ और ऐसा ही आपने प्रकट करके परमात्मपद पाया तो मुझमें आपकी भक्ति के बल से ऐसा बल प्रकट हो कि इस अन्तरात्मत्व के तथ्य की बात उत्कृष्टता से निभाऊँ, अपने आप में मग्न, होऊँ और इसको भी व्यतीत कर परमात्मा स्वरूप पाऊँ। जिन और सिद्ध है परमात्मास्वरूप और यह मैं आत्मा

अन्तरात्मस्वरूप हूँ बहिरात्म स्वरूप था। बहिरात्मा तो हेय चीज है, अन्तरात्मा होना उपाय है, परमात्मा होना भला है। तो जो ऐसी तीन प्रकार की विधियों से जिन सिद्ध के स्वरूप को जानता है और निज आत्मा को जानता है, वह तो संसार से पार होता है जो इन तीन को नहीं जानता वह कितने ही तप करे तो भी दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।

**आत्महित प्रयोजन विधि से तत्त्व ज्ञान का महत्व—** लाभ तो विधि पूर्वक जानने का है। आपको किसी से मिलना था और आपको मिल भी गया पर आप इस तरह से नहीं जान पाये कि जिससे यह काम कराना है वह यह ही है तो आपके लिए मिलना न मिलना बराबर सा ही तो रहा। जो प्रयोजन का परिचय है उस प्रयोजन के परिचय के नाते तो नहीं आप समझ सके। तो वह क्या मिलना रहा? एक समय ही चूके। तो भगवान को जानने का प्रयोजन क्या? बस द्रव्य, गुण का यथार्थ परिचय। द्रव्य से प्रभु और मैं एक हूँ। समान हूँ। वस्तु में अन्तर नहीं होता। चेतन द्रव्य मैं, चेतन द्रव्य प्रभु। गुणों से सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज आनन्द, सहज शक्ति सहज चारित्र गुण, सहज श्रद्धा गुण जो मुझमें हैं वह सभी जीवों में हैं, सो प्रभु में हैं। शक्ति की अपेक्षा भी मुझमें और प्रभु में अन्तर नहीं और इसी कारण “मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान” मगर एक बात का अन्तर है, पर्याय का अन्तर है। पर्याय जो मुझमें चल रही है, इस संसार में चल रही है वह द्रव्य में फूट बैठालने वाली नहीं है। मगर जिसको उसका अन्तर नहीं ज्ञात है उसने तो अपने में फूट बैठाली, यही तो अज्ञान कहलाता। वही तो इस लोक में भ्रमण करने वाला कहलाता। तो पर्याय का अन्तर है। “अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान” अन्तर यह है कि प्रभु वीतराग है और यहाँ पर राग का फैलाव है। मैं रागी नहीं हूँ किन्तु यहाँ राग का वितान है। औपाधिक भाव है। अब जो बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार की विविधता के परिचय पूर्वक जो प्रभु को और अपने आप को समझता नहीं है वह पुरुष कितने ही तीव्र तप करले तो भी उसका उपयोग अपने स्वरूप की ओर न होने से और बाह्य अर्थ के दूर होने से यत्र तत्र भ्रमण करता है, पाप का बंध करता है और दीर्घ संसार में वह भटकता है।

**णिच्छयववहारसरुवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।**

**जं कीरइ तं मिच्छारुवं सव्वं जिणुद्धिट्ठ ।।109 ।।**

**संसार के सकल संकटों से छूटने का उपाय रत्नत्रय तथा निश्चय विधि से निर्णय की प्रक्रिया—** संसार के समस्त संकटों से छूटने का उपाय आत्मा का सही अनुभव, आत्मा के स्वरूप का सही ज्ञान और आत्मा के स्वरूप में लीन हो जाना अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। तो जो पुरुष निश्चय और व्यवहार स्वरूप से रत्नत्रय को नहीं जानता है वह पुरुष कुछ भी कार्य करे वे सब मिथ्यारूप होते हैं। निश्चय क्या और व्यवहार क्या? निश्चय कहते हैं वस्तु को इस विधि से निरखने को कि एक ही वस्तु निरख में आये और तो कुछ भी निरखा जाय उस वस्तु की ही बात देखी जाय, दूसरे पदार्थ की दृष्टि न रहे, यह कहलाती है निश्चयनय की विधि से जानकारी। तो निश्चयनय से क्या जाना जाता है? एक ही पदार्थ, जैसे आत्मा जाना जा रहा तो उसमें तीन ढंगों में जाना जायगा। कोई भी पदार्थ आत्मा का स्वभाव जानना, आत्मा की शुद्ध परिणति जानना, आत्मा की अशुद्ध परिणति जानना, आत्मा की अशुद्ध परिणति क्या है? राग द्वेष क्रोध, मन, माया, लाभादिक के यह हैं आत्मा की अशुद्ध परिणति, और आत्मा की शुद्ध परिणति क्या है? सम्यग्दर्शन केवल ज्ञान, अनन्त आनन्द, यह है आत्मा की शुद्ध परिणति और आत्मा का स्वभाव क्या है? जो शुद्ध परिणति के समय भी रहे



अशुद्ध परिणति के समय भी रहे सदा रहे, अनादि अनन्त काल तक तो स्वरूप रहे वह कहलाता है स्वभाव।

**उदाहरण पूर्वक निश्चयनय का स्पष्टीकरण**— जैसे जीव में खोज करो, जीव का स्वभाव क्या है? सिर्फ ज्ञान स्वरूप। सहज ज्ञान, उसमें और विशेषतायें मत सोचिये कि सही जान रहे, उल्टा जान रहे, या इसको जान रहे, उसको जान रहे, यह कुछ नहीं सोचना है। केवल एक अनादि अनन्त स्वरूप ज्ञानमात्र, जैसे पुद्गल में स्वभाव क्या है? रूपशक्ति, मूर्त शक्ति। अब रूप को अगर काला, पीला, नीला वगैरह देखें तो वह फिर स्वभाव न रहा, वह हालत हो गई। स्वभाव है मात्र सहज रूप शक्ति। यद्यपि रूपशक्ति बिना किसी हालत में नहीं रह सकता उसकी कोई हालत को होनी ही चाहिए तो रहो हालत, पर हालत हो न देखकर केवल शक्ति का ही देखे तो वह कहलाया स्वभाव देखना। जैसे एक्सरा मशीन (हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र) न तो रोम ग्रहण करता, न चाम, न खून मांस मज्जा आदिक, सीधे यह हड्डी को ही जताता है ऐसे ही ज्ञान में सामर्थ्य है कि वह ज्ञान किसी पर्याय को न देखे सिर्फ शक्ति को देखे और भी दृष्टान्त देखिये मनुष्य, बालक, जवान और बूढ़ा ये चार बातें समझ में आती हैं। बालक एक हालत है। जवान एक हालत है, बूढ़ा एक हालत है और मनुष्य किसका नाम है? वह एक पदार्थ जो बालपन में भी था, जवानी में भी था, बुढ़ापे में भी है और सदा इस जीवन में है, वह तो है मनुष्य पर बालक, जवान, बूढ़ा इनका समय नियत है। इतने समय तक बालक, इतने समय तक जवान और अमुक समय बूढ़ा। मगर मनुष्य तो आदि से अन्त तक है उस भव में मायने। जब से है तब से मनुष्य। जब तक है तब तक मनुष्य जैसे कोई कहे कि एक मनुष्य लावो तो अब वह जवान लाये तो, बालक लाये तो, बूढ़ा लाये तो उसकी आज्ञा सही मान ली तो मनुष्य सभी हैं। तो ऐसे ही जीव तो है सदा ज्ञानस्वरूप वह ज्ञान शक्ति तो सदा है और उस जीव की जो हालत है वह समय समय पर हुआ करती है तो बात यह कह रहे हैं कि एक ही द्रव्य को एक ही पदार्थ की बात उस ही पदार्थ में देखें तो यह कहलाया निश्चय से देखना। औपाधिक स्थिति में भी निश्चयनय के प्रकाश का अन्तः प्रकाशन जैसे खड़ा है और उसकी छाया जमीन पर आ गई तो यह निर्णय करना है कि यह छाया किसकी है? तो छाया जिन प्रदेशों में है जिस पदार्थ में है उस पदार्थ में देखें तो यह निश्चयनय से देखना कहलाया। और इस दृष्टि में उत्तर आयेगा कि यह छाया पृथ्वी की है पृथ्वी की परिणति है यह तो हुआ निश्चयनय से उत्तर और व्यवहारनय से चूँकि आदमी खड़ा है तब छाया हुई है तो आदमी का निमित्त पाकर छाया हुई है यह कथन व्यवहार का है निश्चय में आदमी का नाम न लिया जायेगा। पृथ्वी छाया है जैसे एक दर्पण को देख रहे हैं और पीठ पीछे चार बालक खड़े हैं तो उस दर्पण में चारों बालकों का प्रतिबिम्ब पड़ता है अब बताओ वह फोटो, छाया, प्रतिबिम्ब किसका है? जब यह पूछा जाये तो निश्चय से क्या बताया जाये कि यह फोटो छाया जिस आधार में है जिसका परिणमन है उसकी यह छाया है मायने दर्पण की है वह छाया हालत और चूँकि वह नैमित्तिक है औपाधिक है पर अपने स्वरूप में नहीं तो बताना होगा कि उन चार बालकों का सामना पाकर दर्पण में वह फोटो आयी तो यह हुआ व्यवहारनय का उत्तर तो जान तो दोनों ही चाहिए मगर उसमें से कोई एक का ही हठ पकड़ ले तो वह असत्य होगा। जैसे कोई कहे कि इस दर्पण में फोटो है दर्पण की फोटो है देखिये बात तो ठीक कही जा रही तो दूसरा तो बहुत दूर खड़ा है वह अपने में काम करेगा, मगर जो निमित्त नैमित्तिक भाव को मानते ही नहीं और यह ही कहो कि जब दर्पण में छाया आनी थी आ गई जब जिसका जो होना है सो होगा, बात यह भी सही है कि जिसका जिस समय जो कुछ होना है सो होगा।

**निमित्तनैतिक भाव का निराकरण करके वस्तुस्वातन्त्र्य के एकान्ताशय में विरुद्धता**— यदि इस आशा से कहे कोई कि दूसरा निमित्त कुछ नहीं है? पदार्थ में पर्याय भरी हैं तो समय समय पर क्रम से निकलती जाती हैं इसमें दूसरे की कोई बात नहीं है। निमित्त का भी खण्डन करें तो यह मिथ्या है। क्यों मिथ्या है कि निमित्त माने बिना, निमित्त का सन्निधान पाये बिना अगर ये विकार के काम हो गए ये विकार सदा रहेंगे फिर अभी तो निमित्त पाकर हुए हैं इसलिए ये मिट सकते हैं इसके स्वभाव में नहीं हैं। यह ज्ञान करने से विकार हटने की उमंग रहती है किन्तु जब यह ही स्वीकार कर लिया जाएगा कि दर्पण में हुई, जब होनी थी हुई दर्पण की ही बात है निमित्त न माने तो वह विरुद्ध पड़ जाता है और हैं दोनों ही बातें। जैसे हम दर्पण को ही देख रहे और दर्पण को ही देखकर हम सब बात बताते जा रहे इसने हाथ हिलाया, यह लड़का यों खड़ा, इसने टाँग उठाया, इसने जीभ चलाया यों सारी बात बताते जा रहे और हम एक भी लड़के के न देखे तो दर्पण ही देखे तो इसने हाथ हिलाया, यह लड़का यों सारी बात बताते जा रहे और हम एक भी लड़के को न देखें सिर्फ दर्पण ही देखें तो दर्पण को ही देखकर दर्पण की छाया का वर्णन किया यह बात तो सही है मगर वहाँ कोई ऐसा निर्णय बना ले कि इसमें दूसरे की क्या आवश्यकता? दर्पण में आया है अपने आप आया है तो यह मिथ्या हुआ कि नहीं। तो निमित्त भाव भी है और वस्तु स्वातन्त्र्य भी है दोनों का परस्पर विरोध नहीं है तो ऐसा निश्चय से वस्तु का परिचय कीजिए। व्यवहार से वस्तु का परिचय किया जा चुका।

**मोक्ष व मोक्ष के अनुरूप मोक्ष साधन**— अब प्रकृत में चलो मोक्ष मार्ग की बात कही जा रही। मोक्ष मार्ग है रत्नत्रय। तीन रत्न। तीन रत्न कौन? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा का स्वभाव है ऐसा जो पदार्थ जैसा है उस प्रकार का श्रद्धान बने मैं आत्मा स्वयं सहज क्या हूँ उसकी श्रद्धा बने यह तो हुआ सम्यग्दर्शन और जिसमें अनुभव जगा है उसका ज्ञान सही ज्ञान है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान हुए बाद फिर अविकार स्वरूप में मग्न होना यह है सम्यक्चारित्र। तो इन तीन का समुदाय मोक्ष का उपाय है। देखिये जो भी बात होती है। तो जिस विधि से होनी है उस विधि से हुआ करती है। जैसे लौकिक काम देखो भोजन जिस विधि से बनता है वही विधि अपनाते हैं, भोजन बन जाता है। दुकान, आफिस आदि जिस विधि से होते हैं उस विधि से करने होते हैं, वे भी ठीक चलने लगेंगे। तो मोक्ष का मोक्ष हो जाना अर्थात् आत्मा सिर्फ अकेला ही रह जाय इसका नाम है मोक्ष, न शरीर का साथ न कर्म का साथ, किन्तु आत्मा केवल वही एक मात्र सत्ता में रहे, यह ही चाहिए ना, तो इसके पाने की विधि क्या है? क्या होना है? केवल सिर्फ मैं आत्मा ही आत्मा रह जाऊँ, यह अभिलाषा की जा रही है। इसी का दूसरा नाम है मोक्ष। मैं सब सम्पर्कों से, सर्व परभावों से हटकर केवल रह जाऊँ, तो मोक्ष मायने क्या है कि है आत्मा मात्र आत्मा ही आत्मा रह जाऊँ, दूसरे का मुझ में बंधन न रहे, यह है मोक्ष। इस मुक्ति की यदि चाह है तो उसका उपाय यह है कि वर्तमान में स्वरूप दृष्टि से अपने आप को अकेला निरख ले तो पर्याय में अकेला हो जायगा।

**दृष्टि के अनुसार सृष्टि का स्पष्टीकरण**— जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि होती है। यदि हम अपने को मोही शरीरवान देखें तो मोह और शरीर ये मिलते ही रहेंगे और अपने को पर समय रहित केवल अकेला ज्ञानप्रकाश मात्र ऐसा ही देखते रहेंगे तो ऐसी ही शुद्ध पर्यायें मिलती रहेंगी। दृष्टि के अनुसार सृष्टि होती है। जैसी हमारी नजर बनेगी वैसा ही हमारा भविष्य बनेगा। तो मुक्ति पाने के लिए इस ही समय अपने भीतर स्वरूप दृष्टि करके अकेला निरखना है। यदि हम यहाँ अकेला निरख पायें तो हम अकेले हो सकेंगे और यहाँ तो हम अकेला निरख न सकें और दूसरे पदार्थ रूप अपने को मानते रहे तो कैवल्य

नहीं होने का। जिस काम की जो विधि है उस ही विधि से कोई चले तो उस काम की सिद्धि होती है। तो इस केवल आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और इस ही में रम जाना सम्यक्चारित्र है। तो निश्चय रत्नत्रय क्या? केवल आत्मा में ही आत्मा की बात निरखना। यह आत्मा अपने पर दृष्टि दे रहा है, अपने में अपनी सहज शुद्ध अवस्था निरख रहा है। यदि यह दृष्टि अपने सहज स्वरूप को कुछ क्षण निरखता रहे तो इसको केवलज्ञान की शुद्ध परिणति होगी। तो आत्मा को आत्मा में निरखना, आत्मा में लीन होना यह कहलाता है निश्चयमोक्षमार्ग। यह 7 तत्व की बात सीखना, आत्मस्वरूप का चिंतन करना, मनन करना, देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा रखना और श्रद्धानुसार अपना जीवन चलाना यह सब है एक व्यवहारी की बात।

### **निश्चय व्यवहार विधि से रत्नत्रय के अनभिज्ञ पुरुषों की क्रियायों में**

**वैपरीत्य**— जो मोक्षमार्ग को इन दोनों विधियों से नहीं जानता, व्यवहार के क्रियाकाण्ड करके संतुष्ट हो जाय कोई कि मैंने तो जीत लिया सब काम, तो वह धोखे में है। अपने आप के स्वरूप का बोध हुए बिना मोक्षमार्ग नहीं चल सकता। तो जड़ में यदि अज्ञान है तो जितनी भी क्रियायें की जायेंगी वे सब मिथ्या बनती चली जायेंगी। जैसे मान लो साग छौंकने वाली कई पत्तीली एक पर एक रख कर किसी कोने में लगाना है तो वे कैसे लगायी जायेंगी? उनमें पेंदी तो होती नहीं सो उनमें से सबसे नीचे रखी जाने वाली पत्तीली औंधी या सीधी जिस तरह से रखी जायगी ठीक उसी तरह सब पत्तीली उस पर रखी जा सकेंगी तो ऐसे ही आत्मस्वरूप का सही निर्णय बोध हो जाय तो उससे जो कुछ बन पड़ेगा वह आत्महित के प्रयोजन से चलेगा। और, यदि आत्मा का श्रद्धान नहीं है, सम्यक्त्व नहीं है तो वह पुरुष जो कुछ भी करे वह सब मिथ्या ही करेगा। जैसे जिस पुरुष को यह श्रद्धा है कि यह शरीर ही मैं हूँ, अन्य कुछ मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति हो जाय तो वह सब असत्य असत्य ही कल्पनायें करता चला जायगा। जिसने माना कि शरीर मैं हूँ तो वह दूसरे को मानेगा कि यह मेरा अमुक नातेदार है, यह धन सम्पदा है, यह मेरे काम आने की चीज है। इस तरह वह सब मिथ्या ही कल्पनायें करता चला जायगा।

**अज्ञान अवस्था में प्राणियों की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन**— यदि भेद विज्ञान हो गया, आत्मा के अविकार सहज स्वरूप का अनुभव हो गया तो उसका उपयोग बाहरी पदार्थों पर न टिकेगा, क्योंकि उससे अपना भला ही नहीं दिख रहा। सर्व पदार्थों से भिन्न समझ रहे तो उसका उपयोग अब किसी बाहरी पदार्थ पर न टिकेगा और उत्सुकता होगी कि मैं अपने आप के स्वरूप में ही रमूँ। देखिये ज्ञानमय भाव बने तो सारी क्रियायें ज्ञान वाली बनती चली जायेंगी और अज्ञानमय भाव बने तो सारी क्रियायें अज्ञान की चलती जायेंगी, जैसे किसी पुरुष पर भ्रम हो गया कि यह मेरे खिलाफ है, विरोधी है दुश्मन है और वह चाहे कुछ नहीं है, यह बात अगर एक ख्याल ही बन गया कि यह तो मेरा विरोधी है, बैरी है, खोटा है तो अब उसका उठना बैठना चलना, देखना आदिक सारी क्रियायें इसी रूप में दिखेंगी कि देखो है ना यह विरुद्ध! कैसा हमको देख रहा है, अगर मुस्कराये नहीं तो समझते कि देखो यह मुझसे कितना बैर किए है और अगर मुस्करायें तो लगता कि देखो यह मेरी मजाक उड़ा रहा। यों सारी बातें उसे खिलाफ खिलाफ नजर आयेंगी तो ऐसे ही आत्मा के बारे में जिसको मिथ्याज्ञान हुआ कि शरीर ही मैं हूँ उसकी सारी कल्पनायें चलेंगी। मेरा दुनिया में यश फैले, मेरा नाम चले, मेरी परम्परा रहे, मैं कुछ यहाँ अपना खम्भा गाड़ जाऊँ, बड़े बड़े अक्षरों में अपना नाम लिखा जाऊँ, यों कल्पनायें जगती हैं। अरे मरकर न जाने कहाँ से कहाँ जन्में, उसके लिए फिर यहाँ का क्या? यहाँ बड़ा परिश्रम

करके बहुत-बहुत धन संचय कर लिया, बड़ा मकान बनवा दिया, सब कुछ बहुत बढ़वारी कर दी, पर मरे के बाद उसका यहाँ है क्या कुछ? उसका यहाँ कुछ भी नहीं है।

**स्वरूपात्मत्वबुद्धि व पर्यायात्मत्व बुद्धि के प्रभाव का दिग्दर्शन**— जब शरीर में आत्माबुद्धि होती है तो शरीर के ढंग से ही सारी कल्पनायें बनेंगी। दूसरे की कुशलता पूछेगा तो यों पूछेगा कि भाई तुम्हारी तबियत ठीक है ना? बच्चे लोग मजे में हैं ना, यों सब बातें पूछता जायेगा और अगर उसकी दृष्टि अपने आप के यथार्थ ज्ञान स्वरूप की बन गई तो अपने मित्र से एक बार यह भी पूछेगा कि आपको अपने आत्मा में प्रसन्नता रहती है या नहीं। आपको अपने आत्मा की सुध चलती रहती है या नहीं? उसको यों ही दीखेगा। जो अपने आपके स्वरूप में अपने सहज ज्ञान तत्व को निरख सकता, निश्चय व्यवहार की गति ही नहीं जानता उसको आत्मा की उपलब्धि नहीं। हाँ तो निश्चय से मोक्षमार्ग क्या हुआ? आत्मा के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा, इस ही स्वरूप का ज्ञान और इस ही स्वरूप में आचरण, यह है निश्चय से रत्नत्रय। निश्चय बताया था कि एक हो ही देखना, उस एक में ही देखना, उस एक की ही बात देखना, यह है निश्चय तो अपने आत्मा को देखे, ज्ञान स्वरूप देखे और ज्ञानस्वरूप अनुभव करें तो यह है उसका मोक्षमार्ग, और जो ऐसा नहीं कर सकता वह बाह्य पदार्थों को मानता कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, उसको सिद्धि नहीं।

**प्रयोग के योग्य कुछ प्रयोग का अनुरोध**— मोटे रूप से एक यह ही बात विचारें कि इस लोक में मोह करने से जीव को क्या लाभ मिलेगा? खूब आशक्ति से, अज्ञान से दूसरे जीवों को अपनायें तो उससे इस जीव को मिलता क्या है? रही एक यह बात कि दुनिया तो समझ लेगी, अरे दुनिया ही खुद फंदे में फंसी है वह स्वयं अभी समर्थ नहीं है, उसको देखकर क्या लाभ? जो बनावट से धर्मपालन करता है उसके अन्दर में धर्म की गंध नहीं आती। और यह बनावट कायम कब तक रहेगी? कभी न कभी भंडाफोड़ हो ही जायगा, और न भी हो तो इसके लिए कोई लाभदायक बात नहीं, इसके लाभ ही बात तो यही है कि जगत के सारे पदार्थ असार जानकर उनमें चित्त ही न फसायें, उनका ध्यान ही न रखें और जो अकेला रहेगा ऐसे अपने अकेले स्वरूप को निरखना, तो ऐसा जो केवल अपने आत्मा को देखता है वह निश्चयरत्नत्रय का जानकार है और समझा जीव अजीव आश्रव, जीव में कर्म का आना आश्रव, जीव में कर्म का बँधना बँध, जीव में कर्म न आ सकें सम्बर, जो पहले जीव में कर्म बँधे थे वे झड़ जायें सो निर्जरा। ये कर्म बिल्कुल झड़ चुके लो मोक्ष हो गया, इस तरह समझा तो है कुछ, मगर यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है क्योंकि अनेक बातें हैं सोची तो जा रही, सही मगर सही सोचने पर भी यदि अनेक बातें हैं तो वह निश्चय में नहीं है। निश्चय में तो एक अद्वैत केवल ज्ञान स्वरूप अंतस्तत्व यह ही दृष्टि में हो तो वह है निश्चयनय का कदम और भेद कर करके जितना जो कुछ भी जाना जा रहा है वह सब है व्यवहार की बात। तो देव की श्रद्धा, शास्त्र की श्रद्धा गुरु की श्रद्धा तत्व की श्रद्धा यह सब है व्यवहार और एक अपने स्वयं सिद्ध ज्ञान को स्वयं समझ लेना यह है सच्ची श्रद्धा। जब कभी देश की स्वतंत्रता का नारा लगता था तो लोग कहते थे कि “स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्धा अधिकार है पर यहाँ तो देखिये अणु में प्रत्येक जीव में, प्रत्येक पदार्थ में स्वतंत्रता वस्तु का स्वरूप है अनादि अनन्त ओर स्वरूप है तो वस्तु की स्वतंत्रता उस स्वरूप के अधिकार में है। तो निश्चय से अपना स्वरूप निरखे। व्यवहार से सर्व विधियों से आरे अपने से ज्ञान मात्र पाने का अनुभव करें तो यह ही है मोक्षमार्ग। जो इसे नहीं जानता वह पुरुष जो कुछ भी करेगा वह सब मिथ्यारूप ही होगा।

**कि जाणिरुण सयक्त तच्चं किच्चा तवं च किं वहुल।**

**सम्मविरोहि विहीण णाणतव जाण भववीयं।।110।।**

**सम्यक्त्व बिना विपूल ज्ञान की भी भववी जरूपता**— आत्मकल्याण के लिए सर्वधान ओर प्रथम परिणाम है सम्यक्त्व विशुद्धि सम्यग्दर्शन होना, जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है वह सम्पूर्ण तत्वों को भी जान जे तो भी उससे क्या लाभ? जीव अजीव, आश्रव, वंघ, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन 7 तत्वों के बारे में अर्द्धलोक मध्यलोक अधोलोक तीन लोक की रचना के बारे में (भूतकाल वर्तमान काल भविष्य काल) व्याकरण, वेद आदिक अनेक ग्रन्थों में निपुण भी हो जायें तो भी सम्यक्त्वयरहित जीव को इससे कुछ भी लाभ नहीं हैं वर्तमान में लौकिक राज्य पद आदिक विषयों में जो बड़े चढ़ें हैं और जिनकी महिमा का प्रताप तुरन्त खूब जाना जा रहा है वहाँ इस बड़प्पन से भी क्या लाभ हैं यदि आत्मतत्व का सम्यक अनुभव न बने इसका कारण यह है कि जीव तो नित्य हैं वह तो माता नहीं हैं किन्तु एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। जैसे यहाँ परिणाम किया। ओर मिथ्यात्व का परिणाम तो सबसे महान पाप परिणाम हैं। आत्मा की स्वतंत्रता का बोध नहीं वस्तुओं की स्वतन्त्रता का बोध नहीं, वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता का बोध नहीं तो वहले बड़ा पाप है, अज्ञान में रहने वाले जीव पाप कर्म का ही बंध करने हैं तो मरण के बाद उनकी गति सही कैसे हो सकती? तो सम्यक्त्व अगर है तो उसका सारा भविष्य बढ़िया ओर सम्यग्दर्शन नहीं तो सारा अंधेरा ही अंधेरा हैं।

**सम्यक्त्वविहीन पुरुषों के तप की भी भवबीजरूपता**— लोग अपनी शान्ति के लिए नाना तरह का यत्न करते हैं विषय साधन संचय करें नाना तपश्चरण करें सो कठिन परिधान यत्न तो कर डालतें हैं पर जो सुगम स्वाधीन यत्न है उसके लिए उमंग ही नहीं रहती है। सम्यक्त्वविहीन पुरुष का कायक्लेश भी परीधान चेंष्टा है। इस ही तो कहते है मिथ्यात्वका उदय उल्टा रास्ता तो सही जय रहा है और सही रास्ते ही निगाह भी नहीं हैं तो जिसको आत्मा की भलाई का सही मार्ग नहीं विदित है और विषयों में यह पदार्थों में कल्पनायें लगाने का शरीर का धर्म के नाम पर कष्ट ही देते रहने का अशक्त होने का उपाय ही सही जय रहा है उन पुरुषों का लौकिक भी निष्फल है और नानाकायक्लेश भी निष्फल हैं। सम्यक्त्वविहीन जीवों का ज्ञान व तप भी लाभ दायक नहीं हैं रचना कहाँ है इस उपयोग को कहाँ फिट कहालाना हैं? लक्ष्य का तोपता नहीं है और लक्ष्यविहीन जैसे कभी एक कुत्ता चिल्लाये तो दूसरे भी चिल्लाने लगते। उन दूसरे कुत्तों को पता भी नहीं कि किस बात पर चिल्ला रहे, ऐसे ही अज्ञानी जन धर्म के नाम पर भी तप भी कर रहे कुछ भी कर डालते पर उनको यह पता नहीं कि हम यह कर किसलिये रहे है। वहिरंग तपका भी पता क्या है? ओर जब परिचय नहीं है अपने लक्ष्य का अपने सत्य स्वरूप का कि इस तरह के स्वरूप कि तरह के स्वयं में अपने उपयोग को फिट करना हैं। इसका जिसे मान ही नहीं है तो उपयोग तो उपयोग तो बाहर यन्त्र तन्त्र रमा करेगा। वाहय तपश्चरण तो एक विशुद्ध वातावरण हैं जिसमें जीव शुद्ध तत्व की दृष्टि कर सकता हैं तो जो सम्यक्त्वारहित पुरुष हैं उनको बहुत बहुत तप भी हो तो भी उसके लक्ष्य का परिचय न होने से उससे लाभ नहीं बल्कि यें सब संसार के बीज ही बनते हैं।

**वयुगुण्सीलपरीसीजयं च चरियं तवं छडावसयं ।**

**ज्ञानल्लयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीय ।।111।।**

**सम्यक्त्वरहित पुरुष के बतों की भी भवबीजरूपता**— जैसे वस्त्र मलिन हो या काला नीला हो तो उस पर ऊत्तम रंग नहीं चड़ता ऐसे ही जिसका उपयोग मलिन है। मिथ्यात्व से वासित हैं उस पर व्रत तप आदि का भी रंग ठीक नहीं ठहरता। यद्यपि व्रत को कोई बाह्य विधि से पालो तो भी उसमें कुछ परिणाम श्रुम ओर कुछ विशुद्ध रह जाते हैं

मगर मुक्ति का प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता। भले ही स्वर्ग गति मिल जाय, मेरा भूमि मिल जाय लेकिन कर्म कैसे कहते हैं और वास्तविक आनन्द कैसे मिलता है इस पर उनका रंच भी अधिकार नहीं रहता। व्रत अनेक प्रकार के होते हैं। पाक्षिक श्ररण का व्रत अष्टमूक्त गुण का पालन श्रावक का व्रत निरविचार मूल गुण का फिर प्रती पावक बारह व्रतों का पालन पावक के बाद महाव्रत समिति गुप्ति का पालन। ऐसे व्रत नाना प्रकार के होते हैं वह उनका पालन है पर जिनके सम्यक्त्व नहीं है उनका यह ध्येय ही नहीं बनता कि मैं तो आत्मा में रमने का वातावरण पाने के लिए इन व्रतों को पाल रहा हूँ। हे व्रत मैं तुमको तब तक पाल रहा हूँ जब तक तुम्हारे प्रसाद से मैं अपने विशुद्ध स्वाव में न रम जाऊँ ऐसे लक्ष्य अज्ञान में नहीं बन पाता। तो जो सम्यक्त्व से रहित पुरुष हैं। उनके व्रत मन के ही बीज हैं। जैसे अज्ञानियों का पुण्य दुर्गतिक का ही कारण बनता है। वह कैसे पूर्वभव में पुण्य कार्य बना पुण्य बंध हुआ और बन गए राजा सेठ तो उस भव में यह अन्याय करेगा अपने में धमण्ड लायेगा उसमें नम्रता कि व्रति न बनेगी तो उससे जो पाप का बंध होगा उसका फल है दुर्गति। नरक जाए विकलमय बने दुर्गति होती है तो अज्ञानी का पुण्य भव का बीज है। तो जिस को सम्यक्त्व नहीं है उनके ये व्रत आदिकभव के बीज बनते हैं। इसी प्रकार व्रतों को पुष्ट करने वाले गुण श्रावकों के लिए शील तीन गुण व्रत चार शिक्षा व्रत और मुनिराज के लिए उत्तर गुण और इनका पालन भी होवे और वह है सम्यक्त्व से रहित तो ऐसे बड़े गुणों का पालन भी भव का बीज है। मोक्ष का मार्ग नहीं है। जैसे पशु पक्षी विजयों में लगते हैं और मनुष्य जो पढ़े लिखे होते हैं साहित्य की कला जानते हैं। बोल चाल वाणी जिनको मिली है तो पशु तो साधारण भाव से भोगों को भोगते पर ये मनुष्य अपने उस ज्ञान के बल से जो कि राग रंग में इनसे उस के तीव्र पाप का बंध होते हैं तो ऐसे ही समझिये जैसे दुकान पर बैठे और वहाँ इच्छा तो होती ही है कि आज मुनाफा होना चाहिये। तो कर लेता है नफा मगर मंदिर में आकर धर्मायतन में आकर पूजा यात्रा आदि करके उन साधनों की इच्छा बनाये तो इसमें विशेष पाप होता है, कहने के लिए तो यह है कि वहा मंदिर गया, मात्रा उसने की, तो कुछ अच्छा ही तो हुआ मगर दुकान पर बैठकर जो आंकाक्षा होती है उसमें जितना पाप धर्म के एवज में संसार साधनों की इच्छा करना, इसमें उससे भी अधिक पाप होता है तो ऐसे ही समझिये कि जो पुरुष सम्यक्त्व से तो रहित है और बहुत व्रत तप आदिक का पालन करता है तो चूँकि उसका आशय खोटा है, वह संसार के सुख के उद्देश्य से ही कर रहा है, इसलिए उस भाव का बीज बनता है, इतना अन्तर है कि सुधरने का अवसर है, कोई मंदिर में आता है अपनी मनोकामना द्वारा तो तत्काल तो वह ज्ञान जगे, चित्र बदल जाय सही आशय बन जाये तो उसको वातावरण ही है। जैसे कोई धनी पुरुष बड़ा कंजूस है, न अपने खाने में खर्च कर सकता, न किसी के उपकार में खर्च कर सकता तो उसका धन तो पत्थर की तरह है, न उसको लाभ है, न दूसरों को लाभ है, परन्तु सामर्थ्य तो है यह कि कभी उसकी सुमति जगे तो वह सदुपयोग कर सकता है। तो इस वातावरण की सम्भावना की दृष्टि से इन धर्म कार्यों को कुछ ाला कह लें मगर उनका जो तात्कालिक प्रभाव है वह तो भव का बीज है। और पाप का बंध करने वाला है। तो जिस पुरुष के सम्यक्त्व नहीं है उसके ये व्रत गुण शील ये सब भव के बीज बनते हैं।

**सम्यक्त्वविहीन पुरुषों के परीषजय व चरित्र की भी भववीजरुपता—** इसी प्रकार परीषह बिजाय, यह भी बहुत भावना साध्य बात हैं उपद्रव आये, उपसर्ग हो परीसह हो और उनका प्रितकार न चाहे, किसी से बदला लेना न चाहे, यह तो उत्तम बात है, किन्तु एक सुख के बाद मरे को अगले भव में इन्द्रपद मिलेगा, राज्य पद मिलेगा, मोक्ष सुख

को भी कभी मुख से कहले मगर सोचता उसे भी इसी तरह है कि जैसे यहाँ लोगों को सांसारिक सुख मिल रहे हैं इससे और भी अधिक सुख होगा। जाति वह यही समझता है। तो ऐसे इन सुखों की वाञ्छा रखसकर जो परीषह सह लिए जाते हैं। किसी ने गाली दी तो सुन लें, उसका जवाब न दें और अपने आप में समता से सहले, अगर ऐसा न सहेंगे तो संसार के सुख न मिलेंगे तो ऐसे परीषह को सहने वाला पुरुष भी सम्यक्त्व से रहित है। तो वह परीषह विजय भी भव का बीज है। इसी तर चारित्र सराग चारित्र, सागर चारित्र और अनगर चारित्र अनेक प्रकार के जो आचरण हैं इन आचरणों को भी कोई कर रहा, मगर एक लोकेषणा से, इससे इस लोक में बड़ी ख्याति होगी, नाम होगा, लौकिक सुख मिलेगा, यह धर्म है, यह चारित्र है, इससे स्वर्गादिक सुख मिलते हैं। आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है और सांसारिक बातों का ही ध्यान है। तो ऐसे आशय वाले चारित्र का भी भली भाँति पालन करे तो भी वह भव का बीज है। एक बार ऐसा भी हो हो सकता है कि ज्ञानी पुरुष का जो चारित्र है वह सहज है। उसमें वह अधिक विकल्प करके नहीं पालता, किन्तु सम्यक्त्व के और आत्मरुचि के प्रताप से उनको क्रिया प्रायः सहज हो जाती है, उनसे भी अधिक चरित्र ज्ञानी पाल सकता। जो देखने में बाहरी बात है उसमें जरा भी दोष न आये ऐसी कमर कसकर अज्ञानी पालता है चारित्र, मगर जिसके मूल में आशय खोंटा है, सांसारिक सुखों के लिए ही जिन्होंने यह सब चाहा है उसको यह चारित्र भव का बीज बनता है।

**सम्यक्त्वविहीन पुरुष को तप की भी भव बीज रूपता—** 12 प्रकार के तप लौकिक दृष्टि से तो बड़े ऊंचे तपस्वी कहलाते हैं। हर एक का चित्त कह उठता है कि इसकी साधना बड़ी ऊंची है। कभी कोई विरोधी से चर्चा करे तो उत्तर यह ही मिलता कि हम से तो अच्छे हैं ही। जिसका तप बाहर में विशेष दिखता है, बहुत अनशन कर रहे हैं, रस परीत्याग भी खूब चल रहा है, गर्मी सर्दी की बाधा भी सह लेते हैं। लेकिन प्रयोजन ही जिसे न विदित हो कि तपश्चरण कर क्यों रहा हूँ, मुझे वास्तव में इसका फल क्या चाहिए? कुछ नहीं चाहिए। तो ज्ञानी जीव भी तप क्यों करता है? ज्ञानी जीव इच्छा से तप नहीं करते, अर्थात् ऐसा तप मैं सदा करता रहूँ ऐसी भावना नहीं है तप में, किन्तु वह परिस्थिति है ऐसा कि जिसमें इस तरह की उपेक्षा करने और तप करना एक आवश्यक बन गया है, किसके लिए आवश्यक बन गया है कि मेरा वातावरण ऐसा ही रहे कि जिससे मैं अपने अविकार सहज ज्ञान स्वरूप में उपयोग को सुगमतया लगा सकूँ? यह भावना है उनकी जिनको अपने लक्ष्य का पता है। कोई पुरुष कसी गली में बड़ी तेजी से चल दे और यह मन में कोई उद्देश्य ही नहीं कि मुझे जाना कहाँ है तो उसके चलने का क्या फल है? जैसे को साम के समय नाव में बैठकर खुदनाव चलाये और चंद्रमा चल चलकर कुछ दूर बसे पश्चिम की ओर ही गया तो नाव वाला सोचता कि मैं बहुत दूर चला गया हूँ देखो चन्द्रमा को मैंने पीछे कर दिया इतना भी तेज सोच रहा हो, पर रात्रि व्यतीत होने पर जब देखता है कि नाव तो हमारी उसी किनारे पर है, जहाँ की तहाँ ही है। वह सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ? वहाँ कोई विचारक देखता है तो उसकी समझ में आया कि खूँटे से नाव बँधी है, इसने खूँटे से नाव को तो खोल ही नहीं है। किनारे पर नाव रहती है और नाव के कड़े से रस्सी खूँटे से बाँध दी जाती है तो वह नाव वही रहती है। तो मोह मिथ्यात्व के खूँटे से बँधा हुआ है जीव, उस खूँटे से तो निकलता ही नहीं है और धर्म के नाम पर प्रवृत्ति और आचरण बहुत तेज किया गया है लेकिन फल क्या होता है कि जहाँ था वहाँ ही रह गया। तो सम्यक्त्व हीन पुरुष का तप भी भव का बीज है।

**अज्ञानी जनों के षडावश्यक कर्मों की भी भवबीजरूपता—** छः आवश्यक होते हैं अपने विशुद्ध प्रभावों की प्रगति के लिए। मुनियों के भी छः आवश्यक हैं, श्राव को के भी छः आवश्यक है। सो छः आवश्यकों को खूब तो बोला जाय बड़े नियम से, बड़े उत्साह से छः आवश्यक बोल रहे हैं मगर आवश्यक क्या चीज है और यह किस लिए किया जाता है इसका कुछ परिचय ही नहीं है। करते आर्य सो कर रहे हैं, उनका यह ही मंत्र है, दूसरे ज्ञानियों की क्रियायें को देखकर कि तुम जपा सो हम जपा स्वाहा, और कुछ अधिक नहीं मालूम। वह कर रहे हैं और उससे उनका लोक में वंश चल रहा है तो वही हमको करना है। सुखशान्ति के लिए यह ही करना होता है, ऐसा ध्यान बन गया, पर मुझे अविकार सहज ज्ञान स्वरूप में मग्न होना है यह ध्यान में ही नहीं है तो उनको ये बड़ी रुचि के छः आवश्यक कर्तव्य भी भव के बीज बनते हैं। क्योंकि उन सभी कर्तव्यों में इस अज्ञानी का ध्येय रहता है सांसारिक सुख का लाभ, विषयों के सम्पर्क और भोगोपभोग के सुख के सिवाय अन्य कुछ आनन्द का या सहज ज्ञान का ज्ञानी को परिचय ही नहीं है। तो उसकी ओर वह मुड़े ही कैसे? तो जो सम्यक्त्व से रहित पुरुष है उनके छः आवश्यक कर्तव्य भी भव के बीज बनते हैं।

**अज्ञानी जनों के ध्यान व अध्ययन की भी भवबीज रूपता—** अज्ञानी जनों का ध्यान और अध्ययन भी संसार का बीज बनता है, क्योंकि ध्यान बढ़ायेंगे तो अज्ञानीजन मिथ्यात्व का पोषक ही ध्यान बना पायेंगे। अध्ययन करें तो उसके अर्थ भी विषय पोषण जैसे ही वैसे करेंगे, क्योंकि उपदेश तो कुछ होता है मगर आशय आदि सही है तो उस उपदेश से वह सही लाभ पाता है और आशय मगर गंदा है अज्ञान भरा है तो उससे वह कुछ लाभ नहीं पाता मोक्षमार्ग का। तो जो सम्यक्त्व से रहित पुरुष है उसका ध्यान और अध्ययन भी भव का बीज बनता है। बहुत पुरानी बात है कि अजैर्यष्टं व्य एक होई ऋचा जिसका अर्थ तो सीधा यह है कि जो उत्पन्न न हो ऐसे धान्य का यज्ञ करे, पर पर्वत ने जोकि गुरु का पुत्र था उसने अर्थ लगाया कि अज मायने तो बकरा होता है, उसकी कुछ उसी ओर ही सुध थी। उसमें ही कुछ उनका स्वार्थ था, अनर्थ कर दिया। बहुत सी चर्चायें होती हैं ऐसी, निश्चय की व्यवहार की, तो चर्चायें कुछ हैं मगर आशय खोटा है तो जिस तरह स्वच्छंद वृत्ति हो, विषयों में फर्क न आ पाये उस तरह से उसका अर्थ लगाता है और अगर आशय अच्छा है तो जैसे आत्महित बने उस तरह से उनका अर्थ लगाता है। तो जिसके आत्महित का भाव नहीं, आत्मा के सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव नहीं उसका तो ध्यान करना और अध्ययन करना यह भी संसार में मलने का कारण बनता है, क्योंकि वह उस ध्यान और अध्ययन में अपने दोष को पुष्ट करने का ही अर्थ करेगा, दोष से बचने का अर्थ नहीं लगा सकता। तो सम्यक्त्व हीन पुरुष ध्यान अध्ययन भी करें तो भी वह संसार का बीज होता है। तो प्रधान बात हुई सम्यक्त्व। मैं अकेला क्या हूँ इस को पहिचान लेना सम्यक्त्व है। इस पुदुगल शरीर कर्म को साथ लेकर जो उसका मायारूप बनता है तो वह मैं वास्तविक नहीं हूँ, किन्तु इन बाह्य सम्यकों से रहित यह मैं अकेला किस स्वरूप में हूँ, उस स्वरूप का अनुभव बने उसे कहते हैं, सम्यग्दर्शन तो सम्यक्त्व इस जीव, का शरण है, मित्र है, गुरु है, देव है, सर्वस्व है, यह ही हमारा शरण है। तो सुख शान्ति के लिए जो अन्य अनेक उपयों के श्रम किए जाते हैं तो वह अधिक अन्य श्रम न बनकर एक सुगम स्वाधीन अपने आप में बसा हुआ उपाय भी तो करके देखलें। ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हों मैं अन्य को न जानूँ। इस जाननहार अपने अतस्तत्व को जानूँ, ऐसा उपयोग तो लगा दे। बाह्य पदार्थों का ख्याल हटा दें, पास परम विज्ञान से बैठें तो अपने आप ही निजज्ञान



स्वरूप का इसे अनुभव बनेगा। उस एकत्व विभक्त आत्मस्वरूप का अनुभव बने उससे संसार के सारे संकट टल जाते हैं।

**खई पूया लाहंसक्काराइं किमिच्छसे जोई।**

**इच्छसि जइ परलोचं तेहिं किं तुज्झ परलोग्यं ॥112॥**

**परलोक के इच्छुकों का ख्याति भावनात्माग का कर्तव्य**— हे योगी यदि तू परलोक की चाह करता है तो फिर वह ख्याति पूजा लाभ सत्कार आदिक को क्यों इच्छा करता है। क्या इसके द्वारा तुझे परलोक प्राप्त हो सकेगा? परलोक मायने उत्कृष्ट लोक। पर शब्द का उत्कृष्ट अर्थ है। यदि तू भविष्य में उत्कृष्ट लोक चाहता है तो तू ख्याति आदिक की चाह मत कर। उत्कृष्ट लोक स्वयं यह सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा है। इसका श्रद्धान हुए बिना वह ज्ञान वृत्ति जग ही नहीं सकती। जिसके होने पर इसको उत्कृष्ट लोक प्राप्त हो, क्योंकि ख्याति का भाव तब आता है जब देह में आत्म बुद्धि होती है। देह को निरखकर माने कोई कहे कि मैं यह हूँ जब ही वह लोक में ख्याति की भावना रख सकेगा। जो यह समझता है कि मैं तो सहज ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ और यहाँ ही उसका उपयोग गया, इसमें ही वह रम रहा उसे ख्याति की क्या चाहे? सो हे योगी आदि तू उत्कृष्ट लोक की चाह करता है, अपना भविष्य उत्तम चाहता है तो ख्याति की चाह को छोड़ दे। ख्याति कहते हैं प्रसिद्धि को, नाम वरी को मेरा नाम बने। नाम की ऐसी आकांक्षा कि कोई फोर्स भी बने तो नीचे नाम रहना चाहिए ताकि लोग नीचे तुरन्त देखलें अगल बगल भी नहीं, पर यह ध्यान में नहीं रहता कि जितने भी अक्षर हैं उन सब में श्रुतज्ञान की स्थापना है मानने वाले को सब कुछ है, न मानने वाले को कुछ नहीं। कोई श्रुत स्कंध सिद्धि यंत्र आदिक होते हैं तो उनमें स्वर कज्जन लिखे जाने हैं। प्रत्येक अक्षर से सिद्धका नाम बनता है, इस कारण से प्रत्येक अक्षर से सिद्ध का नाम बनता है, इस कारण से प्रत्येक अक्षर में पूज्यता पायी जाती है। जैसे दो चार बातें तो प्रसिद्ध ही हैं। अ से अशरीर मायने सिद्ध भगवान, स से सिद्ध, म से मुक्त, न से निरज्जन, क से कर्म रहित, यों कितने ही अर्थ लगाते जावों, जितने भी अक्षर हैं, वे सब सिद्ध के नाम के आदि अक्षर हैं, यही कारण है कि सिद्ध यंत्र में स्वर व्यज्जनों का प्रयोग किया गया है। सिद्ध पूजा में पढ़ते हैं ना ऊध्साधोरयुतं सविन्दुसपरं ब्रह्मस्वरावेष्टितं इत्यादि जितने बगह्न स्वर हैं वर्म क, ख, ग, घ, ङ, आदिक अन्तस्थ आदिक सब अक्षर उसमें पाये जाते हैं। तो एक एक अक्षर प्रभु के नाम के वाचक हैं। नीचे नाम हैं और हिन्दी में नाम है जो कि शास्त्र की एक लिपि भाषा है मूल लिपि ब्रह्मी लिपि जिसे ऋषय देव ने चलाया था उसके अक्षर लिखे हों तो उस पर पैर रखकर कैसे जाप? मगर ख्याति में यह भी सुध नहीं रहती और सम्भव है कि ऐसा जानते भी न हों। प्रयोजन यह है कि जब ख्याति का भाव चित्त में आता है तो देह में आत्मबुद्धि रहती है। जहाँ देह में आत्मबुद्धि है वहाँ आन्तरिक सहज ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। तो यदि उत्कृष्ट लोक चाहते हो तो ख्याति की चाह छोड़ो।

**परलोक क इच्छुकों स्वपूज्यभाव परिहार का कर्तव्य**— पूजा की चाह छोड़ो, मेरे को लोग पूजें ऐसा पूजन का भी भाव छोड़ें। यह ग्रन्थ मुनिराज के प्रति बोधन के लिए है प्रायः पर इसमें श्राव को का भी वर्णन आया। उसके बाद साधुवों के लिए उपदेश है। और अन्त में उपसंहार जब करेंगे तो मिला जुला उपदेश होगा। तो यहाँ साधुवों के सम्बोधन के लिए कह रहे हैं कि हे योगी यदि तू परलोक की चाह करता है, परलोक मायने मरण नहीं, परलोक मायने अगली गति नहीं किन्तु उत्कृष्ट लोक। अगली गति तो है मगर वह उत्कृष्ट हो तो कहते हा कि परलोक को निहारो, पहले लोग परलोक को सिधारे ऐसा लिखा करते थे। किसी की मृत्यु होने पर लोगों को सूचना देने के लिए परलोक को सिधारे अर्थात्

उत्कृष्ट लोक को गए, फिर देव लोक को सिधारे, वह उत्कृष्ट तो न रहा। उत्कृष्ट में तो और ऊंचा नाम हो सकता, फिर चलते-चलते देवलोक, स्वर्गवास और अब देहान्त कहा जाने लगा। तो वहाँ जो परलोक शब्द का पहले प्रयोग होता था। वह कुछ अगली गति मात्र से प्रयोजन न रखता था किन्तु उत्कृष्ट लोक को गये, यह अर्थ हुआ। तो हे योगी यदि तू उत्कृष्ट लोक चाहता है तो पूजा का विकल्प छोड़ दे क्योंकि यह भी विकल्प आता है तो देहात्म बुद्धि होने पर आता है। जब यह जाना शरीर को निरखकर कि यह मैं हूँ, यह मैं योगी हूँ, मुनि हूँ, ये लोग भक्त हैं, उपासक हैं, इनको इस तरह पूजना चाहिए और अपने आप में पूजा का अहंकार जगता है। लेकिन इन विकल्पों में सहज ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की सुध नहीं रहती। तो हे योगी यदि तू परलोक को चाहता है तो पूजा का विकल्प छोड़।

**परलोक के इच्छुकों का लाभ सत्कारादि भावनापरिहार का कर्तव्य—** इसी प्रकार कह रहे हैं कि परलोक के चाहने वाले योगियों को लाभ और सत्कार आदिक का भी विकल्प छोड़ना चाहिए। लाभ में क्या है? कोई इष्टा वस्तु हो, आहार आदिक हो, उसकी चाह होना या जैसा जो कुछ अन्य वस्तुओं की आवश्यकता समझे ग्रन्थ आदिक और भी वस्तुवें उनके लोभ की इच्छा रखे, यों पर वस्तुओं के लोभ का विकल्प रखा जायेगा तो वह परवस्तुओं में ही तो उपयुक्त रहेगा। आत्मा का जो सहज अविकार चित्रकाश है उसमें तो भाव न जगेगा इसलिए हे योगी यदि तू परलोक की चाह करता है तो लाभ और सत्कार आदिक का विकल्प छोड़। सत्कार किसे कहते? मन, वचन, काय से ऐसी चेष्टा करना कि वह दूसरों को रुचे उसे कहते हैं सत्कार। यदि उत्कृष्ट लोक की वाञ्छा है तो उत्कृष्ट लोक मायने आत्मा की पवित्रता। लोक कहीं बाहर है क्या? परलोक कहीं बाहर है क्या? आत्मा का सब कुछ आत्मा में है। यही यह लोक है, यही परलोक है, आत्मा आत्मा का ही साथी है। आत्मा आत्मा के साथ ही रहा आया। आत्मा आत्मा के साथ ही रहेगा। इसका ठिकाना अन्यत्र नहीं है। अपने में ही कुज्ञान बसाकर भ्रान्ति बसाकर अपने आप को हैरान किया जाता है और अपने आप में भ्रान्ति दूर करके एक ज्ञान स्वभाव से रुचि करके अपने आप में ही आनन्द पाया जाता है, तो इसका यह लोक और परलोक इस आत्मा से दूर ही नहीं है। यह आत्मा ही लोक है, यदि ऐसी उत्कृष्टता चाहिए हो मायने सही दृष्टि बने, कषायें दूर हों, आनन्द का लाभ लें यदि ऐसा सहज आनन्द का लाभ चाहिए हो तो हे योगी तू सत्कार आदि के विकल्पों को छोड़। उनकी क्यों इच्छा करता है? क्या उनके होने से तुझे उत्कृष्ट लोक प्राप्त हो जाएगा? कभी न प्राप्त होगा, क्योंकि उनकी चाह है अज्ञानमय दशा और अज्ञानमय दशा रहने पर आत्मा की सद्गति नहीं हो पाती। यदि तू उत्कृष्ट लोक चाहता है तो इन सबका विकल्प छोड़। विकल्प छोड़कर यदि सहज ज्ञान स्वभाव आत्मा में उपयोगी रहेगा तो ये सारी बातें जो संसार में कुछ ऊंची मानी जाती हैं वे यों ही प्राप्त होंगी और ज्ञानी है तो ये सब प्राप्त होते जायें तो भी उनमें विकल्प न रहेगा। ऐसो तू अपने आपके निर्विकल्प स्वरूपकी दृष्टि कर, जिसके प्रसाद से तेरा कल्याण होगा।

**कम्मादा—विहाव—सहावगुणं जो भाविऊण भावेण।**

**जिय सुद्धप्पा रुच्चइ तस्य य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥113॥**

**आत्मविभाव व आत्मस्वभाव की भेदभावना निर्वाण का प्रथम सोपान—** मुक्ति का सबसे पहले का कदम क्या है? जो मोक्ष चाहता है, मोक्षमार्ग में चलना चाहता है उसका प्रारम्भिक कदम है सम्यग्ज्ञान। अपने स्वभावका और परका व परभाव का सही ज्ञान करना, स्वभाव का ज्ञान कैसे? मैं सहज चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। जो मैं अपने आप हूँ बिना किसी पर उपाधि के हूँ, सहज हूँ वह मैं स्वयं यह ज्ञान मात्र हूँ सहज ज्ञानमात्र। एक तो

ज्ञान की तरंग ज्ञान की वृत्ति क्योंकि परिणमन बिना वस्तु रहती ही नहीं है, पर वह परिणमन जिस वस्तु से प्रकट होता है वह वस्तु सहज किस प्रकार है उसके निरखने से स्वभाव का परिचय होता है। तो आत्मा के स्वभाव का ज्ञान होना और इसके अतिरिक्त अन्य का अन्य रूप से ज्ञान होना बस यह ही है मोक्ष का बीज। अब देखिये मोक्ष पाने के लिए शान्ति धाम पाने के लिए जो पौरुष करना है वह सब पौरुष अपने ज्ञान रूप है, उसमें पर वस्तु की आधीनता नहीं कि मेरे पास ऐसा कुटुम्ब हो जब मैं धर्म में लग सकूँगा या इतना आनन्द हो तब मैं धर्म कर सकूँगा। कैसी भी स्थिति हो, विपत्ति की स्थिति हो, उपसर्ग की स्थिति हो, दरिद्रता की स्थिति हो, ज्ञानी जीव किसी भी स्थिति में उद्विग्न नहीं होता, क्योंकि उसे अपने शान्ति का श्रोतभूत निज परमात्म तत्व प्रकट हो गया है। मैं यह हूँ सहज अविकार। तो ऐसे अपने सहज स्वभाव का ज्ञान हो और पर पदार्थ का, परभाव का ज्ञान हो वह पुरुष मुक्ति को पायगा। पर पदार्थ क्या? मेरे आत्मा को छोड़कर शेष सब अनन्त आत्मायें मेरे लिए पर हैं। समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे लिए पर हैं, धर्म अधर्म आकाश काल ये मेरे लिए पर हैं, और परभाव क्या? कर्म विपाकज भाव। कर्म को छोड़कर शेष द्रव्य के संबंध उसके विकार के लिए निमित्त नहीं होता। जो ऐसा ख्याल बन रहा प्रायः लोगों का मेरी कषाय में निमित्त बाह्य पदार्थ है सो मेरी कषाय में निमित्त, मेरे सुख दुःख में निमित्त कोई भी बाह्य पदार्थ नहीं है, किन्तु उस जाति का कर्मोदय, यह सांसारिक सुख भी मेरे कार्य का निमित्त है, और कर्म सब ध्वस्त हो जायें तो वह है आत्मा का स्वाभाविक अवस्था का निमित्त। हाँ तो कर्म को छोड़कर शेष अन्य द्रव्य का संबंध इस आत्मा के विकार का निमित्त नहीं है, हाँ आश्रयमूत है, कुछ पदार्थ जिनको नो कर्म कहा, सहायक कहा, पर उसके किसी भी प्रकार के भाव में विकार में निमित्त कर्मोदय को छोड़कर अन्य कुछ नहीं हैं। तो कर्म विपाक होने पर आत्मा में जो कर्म विपाक रस का प्रतिबिम्ब होता है वह कहलाता है परभाव। जैसे किसी माँ का लड़का बहुत सुशील है, पर एक दो मित्रों के साथ वह कुछ तास वगैरह खेलने लगा है, आवारा हो गया है तो जब लोग कहते हैं कि तुम्हारा लड़का तो तास खेलने लगा, आवारा हो गया तो माँ उत्तर देती है कि मेरा लड़का आवारा नहीं है, मेरा लड़का दोषवान नहीं है। यह दोष तो उस लड़के का है जिस मित्र की सोबत कर रहा हो, उस मित्र पर थोपती है कि ये सब विकार दोष उस दूसरे बालक के हैं, मेरे बालक के नहीं हैं। तो उसकी दृष्टि क्या है कि मेरा बालक तो शुरु से, स्वभाव से गुणी है और उस दूसरे की सोहबत से इसमें यह अवगुण आया सो उस अवगुण को परसंग से आया हुआ जानकर कहती है माँ कि मेरा पुत्र तो निर्दोष है। तो ऐसे ही अपने आत्मा को देखिये अपना आत्मा सरसतः स्वभावतः स्वयं अकेला रहकर स्वयं अपने आप की परिणति से यह दोषवान नहीं है यह तो यह है। इसकी वृत्ति चलती है, इसकी अपने आप स्वयं जो परिणति चलेगी। उसमें विकार हा काम नहीं। रागद्वेषादिकका इसमें आभास नहीं। ये आये हैं तो अन्य प्रकार के जो कर्म हैं याने आत्मा तो चेतन है और चेतन से विपरीत जो कर्म हैं उन कर्मों के उदय से यह फोटो है, ये विभाव हैं, ये परभाव कहलाते हैं, सो आत्मा के स्वभाव का और परभाव का सही ज्ञान होना यह प्रथम कर्तव्य है।

**मुमुक्षुओं का प्रारम्भिक प्रकाश के बाद का कर्तव्य**— कल्याण चाहने वाले पुरुषों का फिर सही भेदविज्ञान हो करके फिर निज शुद्ध आत्मा रुचना बस यह नियम से निर्वाण का कारण है। मैं के निर्णय में इसका सारा भविष्य निर्भर है। मैं क्या हूँ यह जैसा निर्णय में आयगा उसेक अनुसार इसकी परिणति बनेगी। यदि बाहरी रूपक, बाहरी सम्बंध, बाहरी वृत्तियाँ उनको निरखकर माना जाय कि मैं यह हूँ तो उसको पाप बंध है और दुर्गति का वह पात्र है, और जिसने अपने आप को विशुद्ध एक ज्ञान प्रकाश रूप में देखा तो वह पुरुष

इस ज्ञान प्रकाश की आराधना करता हुआ अपने आपको पा लेगा और यह निर्णय में भी प्राप्त कर लेगा। तो निज शुद्ध आत्मा की रुचि के सब महत्व हैं। मैं क्या हूँ इसके निर्णय पर सारा भविष्य टिका हुआ है। पर्याय को निरखकर कषायों को निरखकर उन रूप अपने को मान डाला तो संसार में ऐसा ही जन्म मरण करते रहना होगा। और समत पर द्रव्यों से अछूता जिसके स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं हो सकता भले ही पदार्थ में पदार्थ का प्रवेश हो मगर स्वरूप में स्वभाव में किसी का प्रवेश नहीं होता। कठिन एक क्षेत्रावगाह भी हो जाए पर अन्य वस्तुओं का अपने स्वरूप में प्रवेश नहीं है। ऐसा जो निज शुद्ध आत्मा है वह जिसको रूच जाता है उसका नियम में निर्वाण होता है।

**मूलुत्तुरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को।**

**आसवबंधणसंबर णि ज्जर जाणेइ किं बहुणा।।114।।**

**द्रव्यकर्म नोकर्म व भावकर्म से विवित्त अन्तस्तत्त्व के द्रष्टार्क ज्ञान में समीचीनता—** आचार्य देव यहाँ कहते हैं कि बहुत बात करने से लाभ क्या है? एक समस्त पर पदार्थों से निराला अपना ज्ञानस्वभावमय आत्मा अपने उपयोग में दृष्टि में होना चाहिए। कैसा देखे अपने को? अभी तो मूल उत्तर कर्म प्रकृतियों से निराला है। मूल कर्म 8 ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये 8 कर्म पुद्गलमय है। पुद्गल ही हैं, कार्माण वर्गणा जाति के स्कंध है। उन कर्म पुद्गलों से निराले अपने आपको देखे वह है ज्ञानी। जैसे दर्पण के आगे कोई वस्तु आ जाय तो उस वस्तु के अनुरूप दर्पण में प्रतिबिम्ब हो जाता है, उस प्रतिबिम्ब का आधार उस समय दर्पण है, वह दर्पण से निराला नहीं है। अगर स्वरूप दृष्टि से देखा जायेगा तो दर्पण दर्पण के स्वरूप में है, फोटो दर्पण में आकर भी दर्पण का स्वरूप नहीं है, दर्पण की उस काल की परिणति होने पर भी दर्पण का स्वरूप नहीं है। दर्पण तो अपने आप में जैसा कि वह अकेला पर संबंध बिना हो सकता हो वह है दर्पण का स्वरूप। तो ऐसे ही आत्मा का स्वरूप है स्वच्छ ज्ञान, केवल जानना, ज्ञान प्रकाश, चित्प्रकाश। अहो कैसा अद्भुत अनुपम पदार्थ है यह जिसकी उपमा किसी भी पदार्थ से की नहीं जा सकती। चैतन्य है, चित्प्रकाश रूप है, निरन्तर जानन देखन प्रतिभासमय है, सो इस विवित्त स्वरूप को निरखे, द्रव्य कर्म से निराला निरखे, शरीर से निराला देखे तो वह पुरुष है वास्तविक ज्ञाता। और उसने इस तत्त्व को जाना। जैसे आगम में पाप कर्म का भी स्वरूप बताया है मगर उसके जानने की विधि क्या है कि यह हेय है, इस तरह से पाप का स्वरूप जाने ऐसे ही इस आत्मा में बहुत से द्रव्यभाव उत्पन्न होते रहते हैं। आकार भी बदलते। कषाय विकल्प भी बदलते, पर ये सब परिवर्तित होने पर भी आत्मा का जो शाश्वत स्वरूप है वह सदैव रहता है। तो वह आत्मस्वरूप मूल कर्म से निराला है। और उत्तर प्रकृतियों से निराला है, भाव कर्म से भी निराला है यह सहज परमात्मतत्त्व। भाव कर्म क्या? रागद्वेष विकार, कषाय विकल्प, जो जो कर्मोदय का निमित्त पाकर होता है या कर्म जो उदीर्ण। आदिक दशाओं का निमित्त पाकर होते हैं वे कहलाते हैं परभाव। सो उन पर भावों से निराला भाव कर्म से निराला यह जीव अब भी है, उस निराले अंतस्त्व की आराधना से ही तो मुक्ति प्राप्त होती है। निरालापन प्राप्त होता। तो कल्याण मार्ग में बढ़ने के लिए एक अपना यह अंतस्तत्त्व ही एक सहज मार्ग है।

**अन्तस्तत्त्व के ज्ञाता के आस्रवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान—** जो पुरुष इस द्रव्य कर्म से, भाव कर्म से रहित तत्त्व को निरखता है उसी ने समझिये कि भाव आश्रव बंध संवर, निर्जरा तत्त्व के रहस्य को जाना, और जो इस तत्त्व को भूतार्थ विधि से देखता है

उस पुरुष का निर्वाण होता है। वह पुरुष ज्ञाता होता है। वह पुरुष अन्तरात्मा है, ऐसा निश्चय से जानना। आत्मा को तो सब जानते हैं। जो अज्ञानी हैं वे जान रहे हैं, पर वे जान रहे हैं अन्य पदार्थ रूप में तो जानना किसे चाहिए? आत्मा को कि यह मैं आत्मा स्वतंत्र स्वयं परिपूर्ण समस्त परभावों से निराला ज्ञानमात्र हूँ। ऐसी अभेद विधि से अपने आत्मा का कोई ज्ञान करता जाय तो उसको निर्वाण निकट है। तो बहुत कहने से क्या फायदा? एक ऐसा ही अपने आप को देखें कि मैं जो सहज सत् हूँ वह स्वयं सत् हूँ और अन्य समस्त द्रव्यों से निराला हूँ उस रूप अपने आप का अनुभव किया जाय, मैं यह हूँ। इसके प्रताप से निर्विकल्प दशा मिलती है और ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ने की सुगमता मिलती है यह सर्व परभावों से निराले अपने ज्ञानमात्र स्वरूप के कल्याण का प्रारम्भिक उपाय है।

**विसयविरक्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।  
वहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा।।115।।**

**विषयविरक्तों की मोचन व विषयाक्तोंसत्तों का बन्धन—** जो विषयों से विरक्त हैं वे योगी तो कर्म से छूट जाते हैं किन्तु जो विषयों में आशक्त हैं वे कर्म से नहीं छूटते। विषयों से विरक्त किसके हो सकती है सही मायने में? जिसके विषय रहित निज सहज ज्ञान स्वभाव में यह ही मैं हूँ और इस सहज ज्ञान स्वरूप की वृत्ति होती है इसका ही मैं कर्ता हूँ और जो ज्ञान की वृत्ति होती है उसका ही मैं भोगने वाला हूँ, इस तरह जो अपने ज्ञान स्वभाव में अहं प्रत्यय रखता है, जो इस निज ज्ञायक स्वरूप को अपनी सम्पत्ति विभूति मानता है, जो इस ज्ञान के परिणमन को अपना कर्म मानता है और इन सब को करने वाला स्वयं इस तरह की प्रतीति रखता है याने उपयोग को सर्व विधियों से अपने आपके स्वरूप में रचाता है वह पुरुष सही मायने में विषयों से विरक्त हो सकता है। अन्यथा किन्हीं स्थितियों में विषय इच्छाओं को दबा कर रह जाय कोई तो वह कहीं उखड़ पड़ता है। किसके विषय इच्छानुसार नहीं उखड़ सकते? वह है तत्त्वज्ञानी पुरुष। तो तत्त्वज्ञान के बल से निर्विषय अपने सहज हित की भावना के बल से जो विषयों से विरक्त होते हैं वे योगी कर्म से छूट जाते हैं किन्तु जो विषयाशक्त हैं, विषयों में लीन हैं वे पुरुष कर्म से नहीं छूटते। विषयों में लवलीन कौन होता है? जिसको विषय रहित अपने आपके स्वरूप का परिचय नहीं। मैं वास्तव में क्या हूँ, केवल सहज ज्ञानज्योति मात्र। जानन ही जिसका काम है, जानन ही जिसका भोग है, ऐसे अविकार सहज ज्ञान स्वरूप में जिसको आत्मतत्त्व का परिचय हुआ है वह तो विषयों से विरक्त होता है, और जिसे इस आत्म तत्त्व का परिचय नहीं है तो उपयोग कहीं न कहीं रमेगा। उसको यदि अपना घर नहीं देते, अपने घर का कोई द्वार नहीं खाले कर रहते तो इस उपयोग को कहीं न कहीं रमे बिना चैन ही नहीं पड़ती उपयोग तो रमेगा। अब तक निज घर तो रमने के लिए मिला नहीं तो यह बाह्य पर पदार्थों में रमेगा। तो जो मूढ़ है, पर्याय को ही आत्मा मानते हैं वे पुरुष विषयाशक्त होते हैं, सो विषयाशक्त योगी कर्मों से छूट नहीं सकते।

**कर्मों से छूटने के लिये प्रारम्भिक उपाय बहिरात्मा अन्तरात्मा व परमात्मा के तथ्य का सुपरिचय—** कर्मों से छूटने के लिए प्रथम कर्तव्य यह है कि बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद को जान लिया जाय। बहिरात्मा जो ज्ञायक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य भावों में यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करे वह है बहिरात्मा। वह क्या हैं? अन्य अन्य समस्त पुद्गल द्रव्य। मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। यह लगा हुआ शरीर मुझसे अत्यन्त भिन्न है। जगत के समस्त पुद्गल मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश

द्रव्य और काल द्रव्य इन सब से मैं निराला हूँ। ऐसे सबसे निराले अपने ज्ञान स्वभाव को जो न पहिचान सके और तब होगा क्या कि इस देह को ही यह मैं हूँ ऐसा मानता रहे वह कहलाता है बहिरात्मा। बहिरात्मा होने में लाभ नहीं है, हानि है। तृष्णा बढ़ेगी, कषाय बढ़ेगी, अपने आपकी सुध नहीं है। जो देह को और विषय को एक समान मानता है वह बहिरात्मा है। जो कर्म विपाक के प्रभाव से प्रतिबिम्ब होता, फोटो होता उपयोग उस रूप परिणम जाय याने उपयोग उसे यह मैं हूँ ऐसा मान बैठे तो वह है बहिरात्मा। बहिरात्मा होकर ही तो अनादि से संसार में भ्रमण करते चले आये। जिस भव में गए उस भव को ही अपना सर्वस्व मानने लगे। आज मानो धनिक है, सेठ है, विद्वान हैं और मरकर बने कोई खोटी गति के जीव मानो कुत्ता ही बन गए। अब उस कुत्ते से मनुष्योचित भावना वासना पौरुष कहाँ से चलेंगे? तो जिसको हम मानते हैं कि यह मेरा सर्वस्व है, इस पौद्गालिक टाठ को अपना टाठ माने तो भव बदल जाने पर उस जीव के लिए यहाँ कुछ न रहा उपयोग में तो भी अनादि काल से यह जीव बहिरात्मा होकर चारों गतियों में भ्रमण कर रहा। अन्तरात्मा, जो समस्त पर और परभावों से निराला ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व को निरखता है और उस ही में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करता है वह पुरुष, वह जीव अन्तरात्मा है, और जो परम आत्मा है, उत्कृष्ट आत्मा, वीतराग आत्मा, अपने ज्ञान स्वरूप में मग्न होने वाला आत्मा, वह परमात्मा है।

**दुर्लभ मानव जन्म में मिले हुए श्रेष्ठ मन का सदुपयोग करने का**

**अनुरोध—** इस संसार में भटकते भटकते आज दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया, इसका महत्व इस ही से आँक लीजिए कि आज ऐसा मन मिला है कि जिसके बल से हम कल्याण के मार्ग में लगे तो यह मन उसमें मदद देता है और यदि न चाहें आत्मकल्याण तो, अन्य बातों में लगेगा। तो यह है एक अपूर्व अवसर कि जहाँ हम अपने आत्मा के सहज स्वरूप को जानें और इसही सहज स्वरूप में अपना अनुभव बनायें तो वह पुरुष कर्मों से छूट जाता है। छूटेगा तो सब जो इस भव में मिला पर मरने पर छूटा तो वह छूटा नहीं कहलाता। वह तो होता ही है एक कोई घर में वृद्ध आदमी था, उसके दो चार लड़के भी थे, मगर उस वृद्ध को इतनी तृष्णा थी कि वह दुकान की अथवा तिजोरी की चाभी खुद लिए रहता था। वह किसी को नहीं देता था। बहुत वृद्ध हो गया और मरणहार हो गया उसको भी भान हो गया कि अब इस शरीर को छोड़कर जायेंगे तो उस समय बेटों से बोलकर कहता है कि बेटो लो यह तिजोरी की चाभी, तो बेटे कहते हैं कि दादा जी मुझे न चाहिए, तिजोरी की चाभी, आप ही अपने साथ लेते जाइये। अब मरने पर कहीं चाभी साथ जाती। तो मरने पर तो छूटेगा, मगर विवेक इस बात में है कि अपने ज्ञान बल के प्रयोग से सही बात जानते रहें। वे समस्त बाह्य पदार्थ मुझ से अब भी छूटे हुए ही हैं। उसमें मेरा कुछ नहीं लगा है। मैं अमूर्त ज्ञान स्वरूप आत्मा सब से निराला हूँ। मेरा किसी पदार्थ से कोई संबंध नहीं, ऐसा इन बाह्य पदार्थों से छूटा हुआ निरखें तो वह पवित्र आत्मा है। ज्ञान की ही तो बात है और ज्ञान ही से हम सुधर सकते, ज्ञान ही से हम उल्टे बन सकते। ज्ञान की ही सही वृत्ति होना कल्याण का उपाय है।

**सम्यग्ज्ञान के लिये उमंग की प्राकृतिकता—** भैया, जो सही बात है उसके जानने में क्यों आलस्य करते? इस जीव की आदत है कि सच सच जाने। प्रयोजन हो तो न हो तो पर सच्चा जानने की भावना रहती है जीव की। ऊपर से कोई हवाई जहाज उड़ रहा हो तो देखे बिना नहीं रहते। अरे भाई क्यों देखते हो? क्या उस जहाज में बैठना चाहते हो? क्या उस जहाज को रोक कर यहाँ नीचे लावोगे? क्या प्रयोजन है? जा रहा जहाज ऊपर, पर देखे बिना नहीं रहा जाता। ऐसा क्यों? तो जीव की आदत है यह कि जो कुछ

हो सो जान लेवे कि है क्या? प्रत्येक पदार्थ ज्ञान में आता है शुद्धज्ञान हो तो, तो सत्यज्ञान के लिए आलस्य क्यों? सोच लीजिए कि क्या इन बाह्य पदार्थों में मेरी सत्ता कुछ बसी हुई है? कौन सा नाता है कि जिससे यह चीज आपकी कहलाये, यह ही निर्णय बनाओ। लोक व्यवहार में व्यवस्था जरूरी है कि यह घर इसका है, यह घर इसका है। व्यवहार में व्यवस्था है, पर वस्तु स्वरूप की ओर से देखो तो आपका आपके ज्ञान स्वरूप के अलावा कुछ है भी क्या लोक में? कुछ नहीं है। तो कैसा ज्ञानस्वरूप मैं हूँ उसको ही तो परखना है अन्तरात्मा हो जायगा। तो कल्याण के लिए प्रथम कदम है बहिरात्मा और परमात्मा का भेद समझ लेना। जो पर पदार्थ को कर्म के उदय को, और रागादिक विकल्पों को अपना स्वरूप मानता है वह है बहिरात्मा और जो इससे निराले केवल सहज ज्ञान स्वरूप में ही यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करता है वह है अन्तरात्मा। अन्तरात्मा होने में विलम्ब नहीं है फिर तो मुक्ति निकट काल में है और सम्यक्त्व होने का या कल्याण पाने का बिल्कुल सीधी बात है कि अपना जो अपने आप अपने ही सत्त्व से जो चीज हो सकती हो वही होवे। तो बहिरात्मा और अन्तरात्मा में बहिरात्मा क्यों बनें। अन्तरात्मा बनना चाहिए और चित्त में सदा सिद्ध प्रभु का ध्यान क्योंकि आत्मा की अंतिम पवित्र विशुद्ध अवस्था सिद्ध भगवान की परिणति है। सो चित्त में ऊँ नमः सिद्धेभ्यः अनन्त आनन्द जो बाह्य पदार्थों से विरक्त है आशक्त होकर क्या पा लेंगे? पञ्चेन्द्रिय होकर विषयों के लोभी होकर पा क्या लेंगे? तो उस ओर से तो दृष्टि छोड़े और अपने आपका जो सहज स्वरूप है उसमें आत्मा का अनुभव करें सब संकट दूर होंगे।

**ज्ञानस्वरूप में मग्न होने पर सकल संकटों का पार्थक्य—** कोई बड़ी नदी में एक कछुवा रहता था, पानी के अन्दर रहता था तो उसका एक दिन भाव हुआ कि उस पानी के ऊपर अपनी चोंच निकाल कर थोड़ा आराम ले लूँ, सो पानी से बाहर अपनी चोंच करके वह तैरने लगा। थोड़ी ही देर में क्या देखा कि चारों ओर से अनेकों पक्षी उसकी चोंच को चोंचने लगे, वह बेचारा कछुवा कभी पूरब दिशा की ओर भागता तो कभी पश्चिम दिशा की ओर, सभी तरफ वह हैरान होकर भगता फिरता, बड़ा दुःखी हो रहा था। पर कोई विवेकी उसे समझा दे कि रे कछुवे तू क्यों व्यर्थ ही दुःखी हो रहा? अरे वेरे में तो एक ऐसी कला है कि यदि तू उस कला का उपयोग करले तो ये एक भी संकट न रहेगा। क्या है वह कला कि पानी के अन्दर कोई दो चार अंगुल में अपनी चोंच को डुबा भर ले, फिर वे सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड़ कर सकेंगे? यदि यह समझले वह कछुवा और अपनी चोंच के पानी के अन्दर डुबा ले तो बस उसके सारे संकट एक साथ खतम, ऐसे ही हम आप संसारी प्राणी अपने उपयोग रूपी चोंच को बाहर में निकाले हुए इस संसार रूपी समुद्र में भ्रमते फिर रहे हैं, जिससे सैकड़ों प्रकार के संकट सामने खड़े हैं। कभी कोई संकट कभी कोई, कहीं चोर बदमाश सता रहे, कहीं सरकारी कानून हैरान कर रहे। कहीं नाते रिस्तेदारों की ओर से अनेक व्यंगात्मक बातें सुनने में आ रहीं कहीं पड़ोसियों की ओर से अपनेक उपद्रव ढाये जा रहे, क्या एक संकट है? पर इसे कोई समझा दे कि रे मूर्ख तू क्यों व्यर्थ में दुःखी हो रहा है? अरे तेरे में तो एक ऐसी कला है कि जिस कला का यदि प्रयोग करे तो ये सारे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। क्या है वह कला कि अपने ज्ञानरूपी समुद्र में अपनी उपयोग रूपी चोंच को डुबा ले ऐसा किया नहीं कि सारे संकट एक साथ समाप्त। फिर वे बाहरी उपद्रव इस जीव का कुछ बिगाड़ न कर सकेंगे।

**कषाय संकट के विनाश होने पर सकल संकटों का अभाव—** ये क्रोध, मान, माया लोभादिक कषायें इस जीव के संकटों की मूल हैं। जहाँ अपने निज आत्म प्रदेशों में तत्वों में, अपने निर्विकल्प निस्तरंग ज्ञानसागर में डुबो देवे तो ये सारे संकट एक साथ

ध्वस्त हो जाते हैं, और अपना जो भीतरी ज्ञान चक्षु है उसको साथ लिए हुए अपने इस ज्ञान सरोवर में मग्न रहता है। सारे संकट दूर हो जाते हैं। जैसे पानी कछुवा डुबकी लगा गया तो चारों ओर से आये हुए पक्षी उसको चोंच चोंट न सके, वह तो जल के अन्दर मग्न हो गया, ऐसे ही जो उपयोग इन बाह्य समागमों के ख्याल छोड़कर जो मात्र ज्ञान स्वभाव का आलम्बन लेने के लिए भीतर गया है, अभेद हुआ है उसको अब संकट कहाँ से हों। तो ये बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जो जानता है वह छूटता है कर्म से। परमात्मा हुआ वह पुरुष जिसकी दृष्टि में यह सहज ज्ञान स्वभाव सदा रहता है, तो ऐसे इस ज्ञान स्वभाव की उपासना के बल से योगीजन विषयों को छोड़ देते हैं। इससे अधिक कहने से लाभ क्या? बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा के भेदों को जानकर विषयों से विरक्त होना चाहिए।

**णियअप्पणाणज्ञाणज्झायण—सुहामियरसायणप्पाणं ।  
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ।।116।।**

**बहिरात्मत्व का प्रसार—** इससे पहली गाथा में यह बताया था कि बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद को जानो बहुत कहने से क्या प्रयोजन? देखिये धर्म मार्ग में लगने वाले को सर्वप्रथम यह तो जानना ही चाहिए कि बहिरात्मा कौन, अन्तरात्मा कौन और परमात्मा कौन? इन शब्दों से ही इसका अर्थ ध्वनित हो जाता है। बहिरात्मा, बाहरी पदार्थों को आत्मा मानना उसे कहते हैं बहिरात्मा। जो अपना स्वरूप है उस सब को अपना आत्मा समझना बहिरात्मा है। यह बात संसार में लेने की है, पूर्ण अकल्याण की है, बाहर की चीज क्या क्या है? चेतन अचेतन परिग्रह, देह और कर्म, और भीतर चलो तो रागादिक भाव कर्म, और भी सूक्ष्म देखिये तो जो अपूर्ण विकास है वह भी परभाव है। जैसे पूर्ण विकास हुआ क्यों? वह हुआ है परद्रव्य के विपाक का निमित्त पाकर। क्षयोपशम भी है तो आखिर कहाँ तो देशघाती का उदय है। गुणस्थान 14 बताये गए, जिसमें 13 गुणस्थान आश्रव के कारण हैं। सुनते हुए थोड़ा बोझ लगता होगा कि कहीं 13वाँ गुणस्थान या 11वाँ 12वाँ गुणस्थान जहाँ वीतराग है वहाँ भी आश्रव बताया है। तो देखिये गुणस्थान को दोष दृष्टि से देखिये—गुणस्थान आत्मा का स्वरूप नहीं है, पर ये बने हैं तो कोई दोष रह गया इस कारण बने हैं 13 वें गुणस्थान में भले ही आत्म विकास है, केवल ज्ञान है। सर्व कुछ होकर भी यह 13वाँ गुणस्थान योग की वजह से बना है, मोह के कारण से तो 12 गुणस्थान हैं और योग के निमित्त से दो गुणस्थान हैं। 13वाँ और 14वाँ मगर 14वाँ है योग रहित 13वाँ है योग सहित, तो जो योग सहितपना है उसके कारण आश्रव है और इस विधि से कर्मों के भी ये ही नाम पड़ जाते हैं जो ये 13 गुणस्थान हैं। यद्यपि प्रकृतियों के नाम अलग अलग दिए गए हैं 148, पर उनके भेद प्रभेद, विकास अनुभाव इन सब को निरख कर बताया गया है कि 13 गुणस्थान आश्रव के कारण हैं। मूल में मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार आश्रव के हेतु भूत है पर 13 गुणस्थान इन चार के ही विस्तार हैं, मतलब यह है कि इनमें उस कमी को देखना कि किस कारण यह कमी है और कमी है तो आश्रव है।

**बहिरात्मा अन्तरात्मा व परमात्मा का संक्षेप में अनुदर्शन—** भैया बहुत उच्च बात न देखें तो इतना तो देखना ही चाहिए कि ये कुटुम्बादिक चेतन परिग्रह अन्य धन सम्पत्ति, अचेतन परिग्रह और देह यह भी अचेतन परिग्रह, कर्म अचेतन परिग्रह और रागादिक भाव चिदाभास जिसे निश्चय से अचेतन कहा है उस रूप अपने को जो मानता है उसको कहते हैं बहिरात्मा और जो इस रूप अपने को नहीं मानता, केवल सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा का जो निरुपाधि शाश्वत स्वभाव है उसमें ही यह मैं हूँ, ऐसा जो अनुभव करता है उसे कहते हैं अन्तरात्मा और इस ही ज्ञायकस्वभाव के अनुभव की दृढ़ता के बल



से जो आत्मा में परम विकास होता है उसे कहते हैं परमात्मा। तो ये तीन भेद जानना प्रत्येक धर्मार्थी को आवश्यक है।

**बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा का तथ्य जाने बिना व्यवहार धर्मप्रयोगों को असफलता—** तो यदि बहिरान्तः परमात्मत्व तथ्य न जाने फिर पूजा का क्या अर्थ? मन्दिर जाने का का मतलब? स्वाध्याय का क्या प्रयोजन? जाप का क्या मतलब? ये सब अर्थहीन हैं, निरर्थक हैं। यदि इतना भी बोध नहीं है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा व परमात्मा क्या कहलाते तो ये सब बातें भले ही थोड़ा पुण्य बाँध देवें मगर संसार से मुक्त होने का उपाय नहीं बन सकता, और पुण्य ही पुण्य में कौन सा तथ्य है कितनी ही बार पुण्य किया होगा, कितने ही बार राजा महाराजा हुए होंगे, देव भी हुए होंगे पर उस पुण्य से पूरा पड़ा क्या! पुण्य तो ज्ञानी को सहज मिलता है। ये किसान भुस के लिए गेहूँ नहीं बाते खेती नहीं करते, खेती करते हैं अन्न उत्पन्न करने के लिए जो अन्न उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करेगा उसको भुस न मिलेगा क्या? अरे उसको भुस तो मिल ही जायगा, पर उसकी दृष्टि उस भुस पर नहीं होती। भुस के लिए वह खेती नहीं करता। खेती करता है अन्नोपार्जन करने के लिए। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष पुण्य बाँधता है मगर वह पुण्य के लिए अपनी वृत्ति नहीं कर रहा। वह तो मोक्ष मार्ग में चल रहा। मोक्ष का आधारभूत जो ज्ञायक स्वरूप है उसका लक्ष्य कर रहा। उसकी ही भक्ति में रह रहा। अब उसके पुण्य बाँधता है तो वह भुस की तरह। उसका आदर नहीं है ज्ञानी के कि इस पुण्य को वह बड़ा महत्व दे सके। वह यह नहीं सोचता कि इस पुण्य से मैं सुखी हो जाऊँगा, संकटहीन हो जाऊँगा, पर होता है, पुण्य बाँधता है। जैसे कोई पुरुष ट्रेन से पुरुष बम्बई जा रहा हो तो उसका लक्ष्य तो बम्बई पहुँचने का है, टिकट भी बम्बई का है, उसका उपयोग भी बम्बई की ओर लगा है, मगर बीच के सैकड़ों स्टेशनों से गुजरे बिना वह बम्बई तो नहीं पहुँच सकता। वे स्टेशन तो मिलते ही हैं। तो ऐसे ही जो मोक्ष का अर्थी पुरुष है, मुक्त स्वभाव रूप जो आत्मा का शुद्ध स्वभाव है उसकी दृष्टि रखता है और उस समय उसके मन वचन काय योग की वहज से पुण्य बाँधता है, पर पुण्य में ज्ञानी को आस्था नहीं। तो इस तरह बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भेद जिनको ज्ञात नहीं है उसकी पूजा जाप स्वाध्याय, व्रत तप आदिक को जो भी धार्मिक क्रियायें की जा रही हैं उनसे लाभ क्या मिलता उनको सो तो बताओ?

**धर्म का त्वरित फल लाभ—** धर्म का फल है शान्ति। पुण्य का फल मिलेगा बहुत देर में और धर्म का फल मिलेगा तुरन्त। आज पुण्य बाँधा, देव आयु बाँधी तो उसका फल मिले बहुत दिनों बाद, इस जीवन में पुण्य का फल मिलना बहुत कठिन है। इस भव में पुण्य किया जाय, उसका फल आगे कभी मिलेगा मगर धर्म अभी किया जाय जो उसी समय मिलेगा फल। धर्म का फल है शान्ति और धर्म नाम है विकार रहित अपना जो स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसमें यह मैं हूँ इस प्रकार का अनुभव होना यह है धर्म, यदि कोई इस ज्ञानमात्र भाव की उपासना में है तो क्या उस समय वह अशान्त है? उसे तो तत्काल शान्ति है और भविष्य में शान्ति की धारा बहेगी। इससे पहले की गाथाओं में बताया है—बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। इसके भेद को जरूर जानो। जब यह मैं हूँ कुछ तो उसके ही तो दशायें हो सकती है, या तो शुद्ध परिणति में चले या अशुद्ध परिणति में चले। अशुद्ध परिणति में चलेगा तो वह बहिरात्मा संसार में रुलने वाला अज्ञानी है। शुद्ध परिणति में चलेगा तो वह ज्ञानी है, अंतरात्मा है और शुद्ध परिणति में चलते रहने का आखिर अंतिम फल क्या होगा कि यह वीतराग शुद्ध आनन्दमय अपना पद पा लेगा।

**बहिरात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन—** पूर्व गाथा में जो यह संकल्प किया गया था कि इन तीन भेदों को जानना आवश्यक है। उसमें अब यहाँ बहिरात्मा का स्वरूप कह रहे हैं। कौन है बहिरात्मा? जो निज आत्मा के ज्ञान, ध्यान अध्ययन के सुखामृत रसायन का पान छोड़कर इन्द्रिय के सुखों को भोगता है वह है बहिरात्मा। इन्द्रिय का सुख कल्पित है, असार है, उसकी मान्यता आनमय है और अपने आत्मा का ज्ञान ध्यान अध्ययन बने तो उस आनन्द की कोई उपमा नहीं दी जा सकती। सांसारिक सुखों की तो उपमा चलती है, कोई पूछे कि अमुक मिठाई में कैसा आनंद है? तो वह दूसरी किसी मिठाई का नाम लेकर कहता है कि उस अमुक मिठाई जैसा उसमें आनंद है और और भी सांसारिक सुखों के लिए उपमा बन सकती किन्तु अपने इस अविकार ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान श्रद्धान आचरण इस ही में उपयोग, इस ही अंतस्तत्त्व रमण यदि हो सके तो उसके अलौकिक आनंद है। उस आनन्द को तो यह जीव ग्रहण करता नहीं, उसकी तो सुध लेता भी नहीं और बाह्य अक्षय सुखों की महिमा बताता है। इन्द्रिय सुखों को भोगता है, ये सब बहिरात्मापन के लक्षण हैं धन्य हैं वे आत्मा जिनको सांसारिक सुख सुहाता ही नहीं है। एक निज अंतस्तत्त्व का ज्ञान ध्यान बने वहाँ ही उपयोग रहे केवल यह भी भावना बनाना है। पर अज्ञानी जीव एक तो सुध ही नहीं अपनी और बाह्य इन्द्रिय सुखों में रमता है। यह बहिरात्मा का लक्षण है।

**किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदमिव चारुसुहं ।**

**जिम्भसुहं दिट्ठपियं जह तह जाणक्खसोक्खं कि ।।117।।**

**इन्द्रियज सुखों की कष्टफल स्वरूपता—** इससे पहले की गाथा में बताया है कि बहिरात्मा इन्द्रिय जन्य सुखों को भोगता है, तो वे सुख कैसे हैं उसका वर्णन इस गाथा में किया है। ये इन्द्रिय जन्य सुख, संसार के सुख ऐसे हैं कि जैसे कोई किंपाक फल को खाकर उसमें मौज मानता है, किंपाल फल होता है कोई विषफल जो कि ऊपर से बहुत सुहावना लगता है और उसको खा ले कोई तो मृत्यु हो जाय। तो जरा मीठा होने से उसके स्वाद में आकर उसके लोभी बनकर उस विषफल को कोई खा ले तो जैसे यह एक असार काम है, अथवा विष से मिले हुए लड्डू कोई खाले तो वह असार काम है इसी तरह ये सभी इन्द्रिय जन्य सुख ये मात्र दृष्टि प्रिय हैं। तत्काल कुछ मन को रमाने वाले हैं, किन्तु ये सब संसार के क्लेशों को बढ़ाने वाले हैं।

**इन्द्रियज सुखों की दुःखफलरूपता का उदाहरण पूर्वक समर्थन—** एक बार कोई चार डाकू कहीं से दो लाख का धन चुरा कर लाये। वे रात को किसी जंगल में ठहर गए। जब कुछ प्रभात हुआ तो उनमें यह सलाह हुई कि अब धन तो बँटेगा ही पर धन बँटने से पहले बाजार से खूब मिठाईयाँ मंगा कर खाईं जायें, बाद में धन बाँट लेंगे। सो उनमें से दो चोर तो पास के नगर से मिठाई खरीदने गए और दो चोर उस धन की रखवाली करने के लिए रह गए। अब मिठाई खरीदने जाने वाले दोनों चोरों के मन में आया कि इस मिठाई में विष मिला कर उन दोनों को खिला दिया जाये वे दोनों मर जायेंगे तो हम तुम दोनों को एक एक लाख का धन मिल जायगा, नहीं तो आधा आधा लाख ही मिलेगा। सो वे तो चले विष मिली बहुत सुन्दर मिठाई लेकर और इधर धन की रखवाली करने वाले दोनों चोरों ने सलाह किया कि हमारी ओर जो हो उसे हम गोली से सूद कर देंगे और तुम्हारी ओर जो हो उसे तुम गोली से सूट कर देना। वे दोनों मर जायेंगे जो हम तुम दोनों एक एक लाख का धन बाँट लेंगे। ठीक है। आखिर दो चोर तो विषभरी बड़ी सुहावनी मिठाई लेकर चले और दो चोर अपनी अपनी बंदूक तान कर बैठ गए। जब पास

में आ गए तो दोनों चोरों को गोली से सूट कर दिया। वे तो मर गए अब शेष बचे दोनों चोरों ने आराम से बैठकर उस विषभरी मिठाई को खा लिया तो वे भी मर गए। सारा का सारा धन ज्यों का त्यों पड़ा रह गया। तो यहाँ दृष्टान्त में यह बात कह रहे कि जैसे बड़े सुहावने मोदक हों पर उनमें मिला हुआ हो विष तो उनके खाने का फल मृत्यु है खोटा है। भले ही खाने में मधुर लगे व देखने में भी बड़े सुहावने लगें, पर उनके खाने का फल अत्यन्त कटुक है। उनका फल विनाश है, ऐसे ही जो ये इन्द्रिय जन्य सुख है ये देखने में भले ही बड़े सुहावने लगें, भोगने में भी भले ही बड़े सुखद प्रतीत हों पर इनका फल अत्यन्त कटुक है। जो उन विषय सुखों में आशक्त है, जिनकी खोटी भावना है वे पुरुष अपना घात करते हैं, संसार में रुलते हैं। तो जो इन्द्रिय सुखों का प्रेमी है वह पुरुष बहिरात्मा है बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी मोही, मूढ़ किन्हीं भी शब्दों से कहो, जन्म मरण की परम्परा को बढ़ाने वाला दुःखी जीव है।

**देहकलत्तपुत्तमित्ताई विहावचेदणा रूवं ।**

**अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।118।।**

बहिरात्मा पुरुष कौन है उसका और भी वर्णन किया जा रहा है। जो शरीर स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक को अपने रागादिक भावों को आत्मस्वरूप मानता है वह जीव बहिरात्मा है। लगता तो ऐसा होगा कि पुत्र को कौन मानता है कि यह मैं हूँ? उसको तो कह देता है हर कोई कि यह मेरा पुत्र है पर यह मैं हूँ, ऐसा कौन बोलता है। फिर आत्मस्वरूप मानने का अर्थ क्या? स्त्री को मेरी तो कोई कह दे पर यह मैं हूँ ऐसा कौन कहता है? फिर इसको आत्मस्वरूप मानने की बात क्यों कही जा रही है? सो भाई भीतर का आशय देखो, पुत्र स्त्री की बात तो पीछे रहो, अगर घर की या दुकान की जरा सी ईंट खिसक जाती है तो वहाँ तो ईंट खिसकी और यहाँ इसका दिल खिसक जाता है। ऐसा ही कुछ संबंध है कि वहाँ बाह्य पदार्थ यों खराब हो तो यह भी गंदा बन जाता, दुःखी हो जाता। मान लो कुछ चल रहा दुकान गोदाम या कुछ भी चीज तो इसके मायने क्या हैं कि उसने अपना आत्मस्वरूप मान रखा है। अगर भिन्नता का ज्ञान हो तो किसी भी स्थिति में यह सम्यग्ज्ञानी जीव दुःखी नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान का ही यह प्रताप है कि उसे अब आकुलता नहीं हो सकती। नरकगति का भी सम्यग्दृष्टि जीव हो, सम्यग्दृष्टि नार की और भी नारकी कुछ लड़के भिड़ते रहते हैं, अगर कोई उस सम्यग्दृष्टि नारकी पर प्रहार कर रहा है तो यह भी करता है। इतना सब कुछ होने पर भी वह अन्तर में निराकुल है। क्योंकि वह अविकार ज्ञानस्वरूप को मानता है कि यह मैं हूँ और एक देवगति का जीव ऊंचा भी देव हो, स्वर्गवासी भी देव हो, जिसके अनेक देवियाँ हैं, बड़ा सुख है और वह उन देवियों में आशक्त है तो वर्तमान शान्ति की श्रद्धा देखो तो उस देव से वह नारकी भला है। अच्छा नरक गति के जीव तो सम्यक्त्व पा लेंगे मगर भोगों में आसक्त मनुष्य अज्ञान में ही रहेगा, वह सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। तो अज्ञानी मनुष्य तो ज्ञानी नारकी से भी निम्न पदमें है। भोगासक्त होना महा पाप का काम है और उसकी प्रेरणा अज्ञान देता है। यह ही मैं हूँ, यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मेरा कल्याण है। सब बाहरी बाहरी पदार्थों में ही बुद्धि रहती है। और ज्ञानी जीव गृहस्थी में भी रहता है, दुकान धंधा काम काज भी सब कर रहा है, भोगों को भी भोग रहा, अनेक प्रकार के झंझट भी चल रहे मगर कहीं भी उपयोग थोड़ी देर भटक जाय, किन्तु आता है वह अपने स्वरूप की ही ओर। मैं हूँ यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप। तो बहिरात्मा की बात कह रहे हैं। यह बहिरात्मा जीव शरीर कलत्र पुत्र मित्र और रागादिक विभाव, परभाव इन सब को आत्मस्वरूप मानता है, हुवाता है, अपने आपको मानता है ऐसा पुरुष, यह है बहिरात्मा।

इन्दियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं ।  
 बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।119।।

**मूढमति का इन्द्रिय विषय सुखादि में रमण—** जो इन्द्रिय विषय सुख आदिक में रमते हैं वे तत्त्व को नहीं प्राप्त करते और ये इन्द्रिय सुख, ये बाह्य समागम, यह पर पदार्थों का लगाव, यह बहुत दुःखरूप है, ऐसा यह चिंतन ही नहीं करता, यह है बहिरात्मा का लक्षण। लोक में चूँकि बहिरात्माओं की संख्या अधिक है, इनमें खुद भी कमजोरी है अपना आचरण बनाने में और चूँकि ऐसा ही लोगों को दिख रहा है इसलिए ये भी अपना आचरण दूषित रखने की जो उमंग रखे रहते हैं और चूँकि अन्तरात्मा बिरले ही हैं सो उनका समर्थन कौन करेगा? जिसको जो प्रिय है वह उसी का ही तो समर्थन करेगा। ज्ञान और वैराग्य का स्वरूप ही जो नहीं समझते ऐसे ये संसार के बहुसंख्यक पुरुष ज्ञान का समर्थन कैसे करेंगे? तो ज्ञानी को अपने आपके विश्वास में खड़ा रहना पड़ता। कि दुनिया की ओर दृष्टि दें और उनसे कोई प्रेरणा की आशा रखे तो यह बात कठिन सी है, असम्भव सी है, तत्व ज्ञानी तो खुद के ही ज्ञान बल पर खड़ा रहता है और कुछ थोड़े बहुत ज्ञानी जन मिलते हैं तो वे ही उसका अनुमोदन कर पाते हैं। तो बहिरात्मा इन्द्रिय विषय सुखादिक में मोहित रहते हैं।

**बहिरात्मावों को संसार बद्धक प्रवृत्तियाँ—** यदि आपस में मिलेंगे बहिरात्मा तो कभी क्या यह बात भी पूछ सकते हैं कि आपको आत्मा का सुध रहती है ना, कुछ आनन्द आत्मा का कभी-कभी पा लेते हो ना...वे यह कैसे पूछें? वे तो पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ही बात करेंगे। खाने पीने की ही बात बतायेंगे आराम से ठाठ से रहने की बात करेंगे। मगर अपने आप पर कुछ दया तो करना है। जिस में अपने आत्मा की रक्षा, हो केवल उसका ही भाव रखियेगा। संसार में जिसने शरीर पाया है जिस पुण्योदय से मनुष्यभव मिला है वह उतना है ही कि यह भूखा प्यासा तड़फ कर न मरेगा, उसे योग मिलेगा ही फिर किसलिए बड़ी-बड़ी आशायें और तृष्णायें रखना कि मैं इतना धनिक बनूँ इतना संग्रह करूँ, यह किसलिए किया जाता है। दो रोटी और दो कपड़ों के सिवाय और आपके क्या काम आता है शरीर की दृष्टि से? और आत्मा की दृष्टि से तो केवल एक अपने आत्म स्वरूप का ध्यान, मैं हूँ यह अविकार ज्ञानस्वरूप। इसका अनुराग, इसकी भक्ति, इसकी सुध पुण्य बंध अतिशय पूर्वक करती है और मोक्ष मार्ग की धारा बनाये रहती है। मगर इसका ज्ञान बहिरात्मा को कहाँ? वह तो विषय सुखों में ही रमता है। वह तत्व का लाभ नहीं ले पाता। यह सारा जंजाल, यह सारा संग दुःखरूप है ऐसा चिंतन जो नहीं करता। ऐसी बातें जहाँ पायी जाती हैं वह बहिरात्मा है और बहिरात्मा की स्थिति बड़ी दयनीय है। इस स्थिति को छोड़कर अन्तरात्मा होने का ही उपदेश आचार्यों ने किया है।

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेइ तत्थ रुई ।

तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय विसएसु होइ मई ।।120।।

**अमेध्योत्पन्न कीट की अमेध्य में रुचि की तरह बहिरात्मावों की बहिरिन्द्रिय विषयों में रुचि की निन्दा व मन को वश करने का उपाय—** बहिरात्मा याने मोही जीव की रुचि का वर्ण चल रहा है। जैसे विष्टा में उत्पन्न हुआ कीड़ा विष्टा में ही राजी होता है उस ही प्रकार बहिरात्माओं की बाह्य इन्द्रिय विषयों में ही रुचि होती है। यह अज्ञान एवं विषय रुचि ही जीव लोक का विघात करने वाला है। देखिये—मन बाह्य विषयों में क्यों रमता है? उसका कारण यह है कि रमने का जो उत्तम स्थान है अंतस्तत्त्व, उसका इस मूढ को परिचय नहीं है। यह मन बाहर-बाहर भ्रमता है तो

इसके संयत करने का उपाय क्या है? उपाय तो केवल एक है अपने अविकार स्वभाव का, इस ज्ञानस्वरूप का अनुभव परिचय होना, मन को वश करने का लोग अनेक उपाय तलासते हैं और सोचते भी हैं मगर यह मूलतः वश होगा तो एक अविकार ज्ञान स्वभाव के अनुभव से ही होगा। दूसरा उपाय कोई अमोघ नहीं है कि मन वश हो जाय, बाकी दबाना है। एक घटना है कि एक कोई सन्यासी 24 घंटे की अपनी समाधि की बात दिखलाता था। एक बार वह राजा के दरबार में पहुँचा और कहा महाराज हम समाधि लगाते हैं तो राजा ने कहा अच्छा ठीक है, तुम हमारे सामने समाधि लगाओ, फिर हम तुम्हें मनमाना इनाम देंगे। वहाँ समाधि लेने का क्या मतलब था कि जमीन के अन्दर गड्ढा बनाकर घुस जाना और ऊपर से मिट्टी से गड्ढा बंद करा देना ताकि श्वास लेने के लिए हवा कहीं से न मिले तो वहाँ उस सन्यासी ने अपनी समाधि लगाने के पहले ही सोच लिया कि हमें राजा से क्या इनाम लेना है। क्या सोच लिया कि राजा के घुड़साल में एक बहुत ही सुन्दर काला घोड़ा था, उसे लूंगा। सो वह समाधि में आया, गड्ढा खोदा गया, ऊपर से मिट्टी डाल दी गई। अब जो समय था समाधि से निकलने का उस समय सन्यासी निकला तो उसने निकलते ही कहा लावो काला घोड़ा। तो इसके मायने क्या कि उस समाधि के समय बराबर 24 घंटे उसके मन में वही काला घोड़ा बसा रहा। तो कहने को तो समाधि हुई पर मन पर विजय प्राप्त नहीं हुई। मन पर विजय हो ही नहीं सकती अज्ञानी द्वारा यदि कोई लोभ की बात हो कि मुझे स्वर्ग मिलेगा यदि इस तरह से घर को छोड़ दे, तो भले ही वह मन मार कर तपश्चरण भी करे, घर भी छोड़ देगा, पर मन का संयम न बन सकेगा, परिवर्तन हो जायगा मन के विषय का।

**मन को वश करने का अमोघ उपाय मात्र अविकार सहज ज्ञान स्वभाव में आत्मत्व की प्रतीति—** मन को वश करने का एक ही उपाय है कि अपने आत्मा का सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव बने मैं क्या हूँ क्या अनुभव बने, सहज मैं चैतन्य प्रकाश मात्र हूँ अमूर्त अलक्ष्य स्वतः सिद्ध ज्ञानमात्र जिसकी कोई पहिचान ही नहीं है ऐसा यह ज्ञान द्वारा लक्ष्य में आ सकने योग्य चैतन्यमात्र यह मैं हूँ, जिसमें विकार का कही अवकाश ही नहीं है अपनी ओर से अपने स्वरूप से, ऐसा अविकार सहज ज्ञानस्वभाव मैं हूँ इसके अलावा अनेक उपाय बताये जाते हैं। भीट पर एक बिन्दु लगा दें और लगातार उस भीट को ही देखता रहे और नेत्र की पलक गिरावे मत, निरखता ही रहे, ऐसा करके देख लीजिए। मन तो बदल जायगा, किसी एक में लग जायगा, लेकिन मन वश नहीं है, उसका भी ज्ञान सिवाय कोई उपाय नहीं है कि मन वश हो सके। अब लोग बहुत सी क्रियाओं में प्रयोग करते हैं मन को वश करने का, सो क्रियायें ग्रन्थों में बहुत लिखी हैं और कभी-कभी हम उन क्रियाओं को पढ़ भी लेते हैं, पर उनमें हमारा चित्त नहीं लगता, न उन पर हम अधिक निगाह रखते, ध्यान नहीं देते उन का, हमारी तो केवल एक ही दृष्टि रहती है कि अपने में अन्तः प्रकाशमान अविकार ज्ञानस्वभाव को देखें, उसमें सर्व सिद्धि है और इन्द्रिय मन ठीक विधि से वश हो जाते हैं वही प्रयोग करना चाहिए।

**मन को वश करने का मौलिक उपाय व तात्कालिक उपाय—** देखिये इस जीव को अनादि काल से एक अज्ञान संस्कार सताये रहता है, सो ज्ञानी होकर कई भी बार विचरित भी होंगे अपनी स्वरूप दृष्टि से मगर स्वरूप दृष्टि का जिसमें एक लक्ष्य बनाया है और उसके सिवाय अन्य कुछ भी उपाय इसके प्रयोजन में नहीं हैं। अन्य कुछ व्यवसाय इसके लक्ष्य में नहीं हैं तो वह पुरुष पुण्य है पवित्र है और वह अवश्य ही सफल होगा, पर दृष्टि बना एक ही हो कि मेरे को तो अपना सहज स्वतः स्वरूप समझना है, फिर अन्य उपाय बहुत से हैं जैसे किसी बच्चे को हुचकी आती है तो उसकी हुचकी बंद करने को

कोई लड़का उस पर ऐब लगाकर बोलता है कि तू ने ऐसा क्यों किया याने एक ऐसे अचम्भे में डाल देवे तो उसका उपयोग बदल जाता। हुचकी बंद हो जती, अगर कोई योग है तो एक दो मिनट बाद फिर होने लगता तो ऐसे ही मन को वश करने के उपाय बहुत लोगों ने अनेक बताये हैं और स्पष्ट ही है। शुभोपयोग में लक्ष्य लग जाय तो मन अशुभोपयोग से हट जायगा। मन वश करने का एक ही तो प्रयोजन है लोगों के चित्त में कि पाप कार्यों में मन न लगे, अशुभ विचारों में मन न लगे तो शुभोपयोग के कार्यों में आ जाये। अब कोई चाहे कि हम तात्कालिक वश भी न चाहे और समूल वश भी न चाहें और मात्र बिना प्रयोग के ही मन वश हो जाय तो यों तो वश नहीं होता। मौलिक उपाय तो अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि है, यह स्वरूप किस अलौकिक आनन्द का धाम है? जो यहाँ वैभव है सो क्या बाहर कहीं है अपने आपका आनन्द कल्याण पवित्रता सर्वस्व अपने आप में ही है अपने से बाहर अपना कहीं कुछ नहीं है ऐसा जिसका सम्यक् निर्णय बना, सानुभव निर्णय बना उसका मन वश में है।

**ज्ञानी की इन्द्रियविषयों से विरक्ति व अज्ञानी की इन्द्रिय विषयों में आसक्ति**— सम्यक् ज्ञानी होकर भी पूर्व संस्कार वश उसे कुछ प्रवृत्ति करनी पड़े तो वह एक औषधि सा ही समझकर प्रवृत्ति करता है पर मन उसका भी वश में है। यदि मन वश न हो तो अविरत सम्यग्दृष्टि का या गृहस्थ देशसंयम का फिर मिथ्यादृष्टि की तरह आशक्ति सहित क्यों नहीं वृत्ति बनती? तो अब जैसे जैसे निज ज्ञान स्वभाव पर दृष्टि करने की दृढ़ता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे मन वश होता जाता है। तो जिसको यह वाञ्छा है कि ये सांसारिक समागम ये सब दुःख के मूल हैं इन में मन को नहीं फंसाना है तो मौलिक कर्तव्यों से चलना चाहिए। अपने सहज स्वरूप का परिचय बनाये, उसके लिए ध्यान अध्ययन चर्चा उपदेश और गुरु सत्संग इन सब उपयों से उस अनुभूति की प्राप्ति करें। तो यह कला बहिरात्मा जीव में नहीं है, इसी कारण यह बहिरात्मा बाह्य इन्द्रिय सुख में प्रवृत्ति करता है, सो जैसे विष्टा में उत्पन्न हुआ कीड़ा विष्टा में ही रमता है ऐसे ही बहिरात्मा जीव बाह्य इन्द्रिय विषयों में ही रमता है।

**सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइभिण्णभावमई ।**

**भुंजइ णियप्परुवो सिवसुहस्तो दुमज्झिमप्पो सो ॥१२१॥**

**ज्ञानी का स्वप्न भी भोग की अनुत्सुकता**— बहिरात्मा का वर्णन करके अब कुछ अन्तरा का वर्णन किया जा रहा है, अन्तरात्मा का अर्थ है अंतः आत्मा। अपने अन्तः स्वरूप को जिसने आत्मारूप से माना है याने ज्ञानी सम्यग्दृष्टि। कितने ही ज्ञान कर लिए जायें और कितने ही व्रत चारित्र कर लिए जायें, पर एक इस सहज ज्ञान स्वभाव में हो ऐसी अनुभूति, वह सब असफल है। तो यहाँ अन्तरात्मा की अन्तर्वृत्ति बतला रहे हैं कि यह अन्तरात्मा स्वप्न में भी विषयों का उपयोग नहीं करता, आशक्ति नहीं, ज्ञानदृष्टि बन गई, उसके संस्कार अब ज्ञान के ही बनते हैं। भले ही पूर्व संस्कार कुछ पदवी तक इस ज्ञानी को भी सतायें लेकिन उनसे विरक्त ही रहता है और इस विरक्ति के कारण मानसिक संस्कार नहीं बनता जो स्वप्न भी इस प्रकार आया करे। भले ही जागृत दशा में चौथे पंचम गुणस्थान वाले यथायोग्य पुरुषों को धनार्जन के काम में और बाह्य चेष्टाओं में लगना पड़े मगन वहाँ भी विरक्त रहता है। इस जागृत दशा में तो कुछ बने पर स्वप्न में चूक नहीं बनती ज्ञानी के क्योंकि स्वप्न में खोटा दर्शन उन्हीं प्राणियों के होता है जो खोटी बातों का संस्कार बनाये रहते हैं। पर ज्ञानी जीव संस्कार नहीं बनाता, पर पूर्व संस्कार वश कर्म

उदय में आयें तो उसको घर में रहना पड़ता। गृहकार्य अनेक करने होते मगर यह उन सबसे भी विरक्त है। तो यह ज्ञानी जीव स्वप्न में भी विषयों को नहीं भोगता।

**देहादिभिन्नभावमति आत्मा का निजात्मा रूप का उपभोग व सहजानन्द रमण**— ज्ञानी का तो देहादिक से भिन्न भाव है ऐसी उसकी बुद्धि बनी है देह निराला, मैं आत्मा निराला इतना सब कुछ निरखने पर भी कि जीव निकल जाने के बाद इस देह को जला दिया जाता है। घर के परिवार के लोग उस मृतक को घर में रखना पसंद नहीं करते। इतनी तो प्रकट बात है कि जीव निराला देह निराला। लेकिन अपने पर खुद नहीं की जाती, यह बात दूसरे के प्रति झट समझ में आ जाती कि अमुक जीव चला गया या मृतक शरीर ही रह गया। उस मृतक शरीर को घर में कोई नहीं रखता। रखकर भी करें क्या? वह तो सड़ कर बदबू देगा। लोगों को कष्ट देगा। उसके प्रति किसे रुचि रहती है इतना तो स्पष्ट दर्शन है, पर जैसे इस दूसरे का हुआ कि यह जीव चला गया, शरीर पड़ा रहा ऐसा हमको भी तो होगा। उस शरीर से मैं अत्यन्त निराला हूँ ऐसा अनुभव क्यों नहीं किया जाता? सम्यग्ज्ञान बिना, सत्पथ पर चले बिना जैसे अब तक अनन्त भव खोया वैसे ही यह भव भी खोने में ही जायगा। उसका लाभ भी न हुआ और ज्यों के त्यों रह गए, तो देहादिक से अपने आत्मा को भिन्न समझने की अन्तरात्मा की बुद्धि रहती है। यह अन्तरात्मा अपने आत्मस्वरूप को भोगता है। मैं ज्ञान को ही भोग पाता हूँ, ज्ञान सिवाय और कुछ नहीं भोग पाता। भोग भोगते समय भी यह जीव भोगों को नहीं भोगता, किन्तु उस प्रकार की परिणति ज्ञान से भोगता है। जीव में सामर्थ्य ही नहीं कि वह किसी पर पदार्थ को भोग सके, पर पर की जगह है, जीव जीव की जगह है, यह पर में क्या कर सकता है अपने में ही कर सकता जो कुछ करे। तो यह ज्ञान का परिणमन कर रहा, ज्ञान को ही भोग रहा है अन्य को नहीं। यह एक वस्तु सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त को जान चुका वह बुरे ज्ञान को भी नहीं भोगता किन्तु ज्ञान की सही वृत्ति को भोगता है, यह अन्तरात्मा ज्ञानी की पहिचान है। यह तो आत्मीय कल्याणमय सुख में ही रमता है ऐसा यह भव्य आत्मा अर्थात् अंतरात्मा एक पवित्र जीव है।

**मलमुत्तघडव्वचिरं वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ।**

**पक्खालिय सम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण पुण्णो वि।।122।।**

**जल से धोये गये भी मल मूत्रपूर्ण घट की तरह अज्ञान कर्म से दुर्वासना की संभवता**— जिस प्रकार मल मूत्र से भरा हुआ घड़ा हो और कोई उस मल मूत्र को फेंक दे, उसे खूब पानी से धो भी डाले तो भी बहुत काल से मल मूत्र भरा होने से उस घड़े को बहुत साफ करने पर भी दुर्गन्ध होने के कारण अपनी दुर्गन्ध की वासना को छोड़ता नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानामृत रूपी सम्यक्त्व जल से आत्मा को धो लेने पर भी ज्ञापनी मनुष्य अपनी पूर्व वासना को सहसा नहीं छोड़ सकता। समाधि तंत्र में बताया है कि इस ज्ञान भावना से जब तक खूब साता रहे, निरन्तर खूब साता रहे अन्यथा ये पूर्व भव के संस्कार उखड़ेंगे तो ये इसको सम्यक्त्व से भी गिरा सकते हैं, इस कारण सावधान होकर एक ही लक्ष्य रखना चाहिए कि मैं अपने को अविकार सहज ज्ञानस्वभाव रूप में ही निरखूँ। मैं यह ही हूँ अन्य नहीं हूँ यह पर्याय बन तो गई और इस समय यह स्थिति भी है पर यह उसका स्वरूप लाभ नहीं, स्वरूप की बात नहीं है, यह औपाधिक है, माया रूप है। यह आत्मा का सहज स्वरूप नहीं। तो ज्ञानी हुआ मायने उसने अपने सहज ज्ञान स्वभाव का परिचय पाया तो उसका कर्तव्य है कि समय समय पर अपने उस सहज ज्ञान स्वरूप की उपासना बनाये रहें।

**सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कंहं वि अणुहवइ ।  
केणा वि ण परिहारइ वाहिविणासणट्ठभेसज्जं ।।123।।**

**व्याधिविनाशन औषधि की तरह ज्ञानी का उपभोग—** यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी कभी किसी प्रकार इन्द्रिय सुख को भी अनुभवता है मगर इस प्रकार भोगता है जैसे कि व्याधि के विनाश के लिए कोई दवाई को खाता है तो जैसे जिसको रोग हुआ तो वह दवाई को किसी प्रकार छोड़ नहीं पाता, दवाई खाना ही पड़ता है ऐसे ही पूर्व विपाक कर्म आये तो ज्ञानी भी है, सम्यग्दृष्टि भी है तो भी वह किसी पदवी में चौथे गुणस्थान में या पंचम गुणस्थान का गृहस्थ भोगों को भी विषयों को भी छोड़ नहीं पाता मगर समझता है ज्ञानी अपनी उस स्थिति का प्रतिकार और अन्तः अनुभव बनाता है एक निज सहज ज्ञान स्वरूप का, जैसे पहले समय में बहुत सी महिलायें कुवें पर पानी भरने जाया करती थीं तो दो दो तीन तीन घड़े अपने सिर पर रख लेती थीं एक दो घड़े अपने काँख के दबा कर या हाथ में लटका कर ले जाया करती थी। वे चलते हुए में बातें भी करती जाती थीं, सिर भी मटकाती थीं मगर उनका लक्ष्य देखिये कि अपने उस कलश का संतुलन बनाये रहने को एक क्षण भी नहीं भूलतीं। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष घर में रहता हुआ अनेक प्रसंगों में अनेक आचरण करता है, मगर अपने उस ज्ञान स्वरूप की प्रतीति को एक क्षण भी नहीं तजता और तब वह व्याधि के विनाश के लिए औषधि लेने की तरह उन सब स्थितियों से निपटता है, ऐसी घटना होने पर प्रशंसा किसकी है? अन्तः प्रकाश मान ज्ञान स्वभाव की दृष्टि को प्रशंसा है। प्रशंसा अविरत की नहीं है। अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में प्रशंसा के योग्य सम्यक्त्व है अविरत नहीं हुआ करता। तो सभी पदवियों में धर्म का मूल उपाय आलाम्बन के योग्य केवल एक निज सहज ज्ञानस्वभाव है। मैं यह हूँ, इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में अपने आप के सत्व का जिसको जितना दृढ़ निर्णय और अनुभव है वह उतना ही मोक्षमार्ग में बढ़ा हुआ है।

**किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।  
भजि भज्झिमपरमप्पा बत्थुसरूवाणि भावाणि ।।124।।**

**अन्तरात्मत्व के उपाय से वहिरात्मत्व को छोड़कर परमात्मत्व के भजने का उपदेश—** हे भव्य जीव, तुम बहिरात्मा स्वरूप को छोड़ो, इन समस्त विकारों को छोड़ो याने विकार को पकड़कर मत रहो। बहिरात्मा सम्बन्धी समस्त भावों को छोड़कर यथार्थ अतरात्मा बनो और परमात्मभावों का मनन करो। “बहिरात्मा हेय जानि तजि अन्तर आतम हूजे।” पहला कदम तो यह है कि बहिरात्मापन को तो छोड़ो और अन्तरात्मत्व पद को ग्रहण कीजिए। उसके बाद का पुरुषार्थ यह है कि “परमात्म को ध्याय निरन्तर जो निज आनंद पूजे।” उस परमात्मस्वरूप का ध्यान करें जो आत्मीय आनन्द को पूजता है, प्राप्त कराता है तो यही बात इस गाथा में कही जा रही है कि बहिरात्म तत्व सम्बन्धी सर्व भावों को तज दो तो सर्व भाव क्या? अचेतन वैभवों में अपने उपयोग को फंसाना। परिवार चेतन परिग्रह में उपयोग का लगाना। कर्मोदय के सान्निध्य में उपयोग में उन कर्मवियाक रसों का प्रतिफलित होना, उस कर्म रस छाया का लगाव रखना ये भी समस्त भाव हैं जो बहिरात्मपना पुष्ट किया करते हैं। सो हे भव्य जीव बहिरात्मा संबंधी समस्त भावों को छोड़कर यथार्थ अन्तरात्मा बनो और परमात्मस्वरूप का भजन करो। वस्तु स्वरूप देखो यथार्थ जानो, पर को यथार्थ जानने की विधि यह है कि अपने आप पर के संबंध बिना जो कुछ भाव हो वह है उस वस्तु का सर्वस्व। स्कंधों में भी देखो जो ये दिख रहे हैं ये परमार्थ स्वरूप नहीं है। इन में जो एक अणु है एक एक अणु ये सब परमार्थ स्वरूप है। अपने



आपके बारे में विचार करें कि जो ये देहधारी मनुष्य पशु पक्षी आदिक दिख रहे ये कोई परमार्थ नहीं क्योंकि यह तो चेतन अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थों के मेल से आकार बना है। उसमें एक को ही निरखिये तो परमार्थ स्वरूप का अवलोकन होगा। सो परमार्थ स्वरूप को देखिये तो यह माया सब ढल जायगी। उपयोग में केवल परमार्थ रूप स्व और परमार्थ स्वरूप ही पर रहेगा, सो ऐसे इकले इकले पदार्थों को निरखिये, वहाँ मोह का कोई अवकाश नहीं रहता और जहाँ मोह की वृत्ति न जगे वह अपने इस आत्मीय आनन्दरस को वह भोगता ही है, तो इस प्रकार बहिरात्मन को छोड़कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान करके अपने आप का कल्याण करना, ऐसा यहाँ उपदेश किया है।

**चउगइं संसारगमणकारणभूयाणि दुक्खहेऊणि ।**

**ताणि हवे बहिरप्पा बत्सु सरूवाणि भावाणि ॥१२५॥**

**बहिरात्मा के दुःख हेतु रूप भाव मूर्तिपना—** नरक तिर्यञ्च, मनुष्य देव इन चार गतियों के भ्रमण करने के कारणभूत जितने भी दुःख के कारण हैं वे सब बहिरात्मा के भाव हैं। बहिरात्मा का अर्थ है बाहर के भावों में अपना सत्त्व स्वीकार करना। यह ही सबसे बड़ा भारी अज्ञान है। जीव जो भी दुःखी है वे इस अज्ञान से दुःखी है। लोक में धन मिल जाय क्या उससे दुःख मिटता है? लोक में कोई बड़ा देश पद मिल जाय, क्या उससे कष्ट मिटता है? अथवा नाना प्रकार के विषयसाधन मिल जायें क्या उससे कष्ट मिटता है? कष्ट है अज्ञान। अज्ञान हटे और आनन्द धाम ज्ञानघन अविकार निज सहज स्वरूप की अनुभूति बने वहाँ कष्ट नहीं रहता। इसके लिए अपने ही भावों में से बड़े त्याग की आवश्यकता है। बाह्य त्याग की बातें नहीं कर रहे। बाह्य त्याग हो जाना तो साधारण बात है। जिसके अन्दर विभावों का त्याग हो गया उसके लिए बाह्य का त्याग तो अत्यन्त सुगम है। त्याग चाहिए यहाँ कि मैं चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। इस मुझ में जो भी अड़चन मलिनता विभाव विकार होते हैं वे मेरे स्वरूप से नहीं होते। मेरे स्वरूप की कला ही नहीं है ऐसी कि निज में अपने आप सहज विकारभाव हो जाय ऐसा सहशु शुद्ध ज्ञानभाव का परिचय न होने से बहिरात्मा के सबभाव दुःख रूप हैं।

**कर्मविपाक रस का उपयोग में प्रतिफलन—** यह सब कर्मानुभाग की छाया है। जैसे यह जीव इतने पदार्थों को निरखता है तो इसका आकार पड़ा ना भीतर। जिसे कहते हैं ज्ञेयाकार। तो जैसे ये बाह्य पदार्थ ज्ञेयाकार होते ऐसे ही अन्दर जो कर्मविकार होते हैं अपनी स्थिति पर कर्म में से उसका अनुभाग खिलता हुआ जो यहाँ से जाता है तो उस खुले हुए कर्म का ज्ञेयाकार यहां बना। अन्तर इतना है कि हम बाह्य ज्ञेयाकारों को जब जानें उपयोग लगायें तब हुआ। अगर यहाँ हम उपयोग न लगायें न जावें तो भी यह ज्ञेयाकार झलकता है। बाह्य ज्ञेयाकारों में फोटो आता, इन ज्ञेयाकारों से उपयोग का आलम्बन हो जाता और अन्दर में कर्मरस के ज्ञेयाकारों से आच्छन्न हो जाना इन दो में अन्तर इतना है कि हम कर्म रस को जाने या न जाने, वहाँ तो ऐसा निमित्त नैमित्तिक भाव है कि कर्म विपाक रस उदय में आया कि उसको प्रतिफलित होना ही पड़ेगा। बाह्य ज्ञेयाकारों में हम उपयोग बसाते हैं तो यह ज्ञेयाकार झलकता है। अगर बहिरात्मा की और परमात्मा की एक होड़ लगाते हो तो यहाँ होड़ देख लीजिए। परमात्मा के ज्ञान में तीन लोक अलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ अवश होकर उनको झलकने पड़ते हैं। परमात्मा कहीं जानने की चाह नहीं करता, किन्तु वहाँ ऐसा ही सहज योग है कि समस्त लोक अलोक के पदार्थों को झलकना पड़ता है। तो हे बहिरात्माजन तुम भी परमात्मा से शान के साथ कहो कि मुझमें भी जो कर्मानुभाग विपाकरस उदित होते हैं उनको भी मुझमें झलकना

पड़ता है। हम उन्हें जाने अथवा न जाने, अर्थात् बुद्धि पूर्वक हम उनको समझकर झलकायें या न झलकायें ऐसा कहलाता है। यह निमित्त नैमित्तिक योग।

**निमित्त नैमित्तिक भाव के यथार्थ परिचय से विकार भावों को हटा सकने की उमंग**— अब यहाँ एक शंका की जा सकती है कि जब ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है तो कर्म उदय में आयेंगे। यहाँ रागभाव बनेगा फिर स्वयं होगा उदय योग। राग भाव बनेगा तो इसको छूटने का मौका ही न मिलेगा। तो समाधान देखिये पहली बात तो यह जानें कि मुझमें उठने वाले ये विकार भाव नैमित्तिक है, औपाधिक हैं मेरे मात्र स्वरूप की कला नहीं है, परिणमा तो यह जीव है विकार भाव रूप, मगर कर्म विपाक कर्म अनुभाग का निमित्त उपाकर हुआ है अतएव यह नैमित्तिक है और नैमित्तिक है इसलिए ये हट सकते हैं। अगर स्वरूप में से उठे होते, स्वरूपतः हुए होते तो ये मिटाये न जा सकते थे। चूँकि ये औपाधिक हैं, पर भाव हैं। निमित्त पाकर हुए हैं अतएव ये मिटाये जा सकते हैं। पहली उमंग तो यह लें निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय से साथ ही यह समझना कि निमित्त मेरी परिणति नहीं करते अगर ऐसा करते होते तो मेरा कुछ वश न था तो ऐसी कायरता भी न सोचना। निमित्त मुझमें विकार परिणति नहीं करता, इस कारण से मेरा वश चल सकता है यह उमंग लावें वस्तुस्वातंत्र्य के ज्ञान से और निमित्त नैमित्तिक भाव के ज्ञान से यह उमंग लाइये कि चूँकि ये नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं इसलिए ये हटाये जा सकते हैं।

**नदी प्रवाह कम होने पर नदी पार कर लेने के अवसर की भाँति कर्मानुभाग मंद उदित होने पर संसार पार कर लेने के प्रारंभिक उद्यम के अवसर का लाभ**— अब दूसरी बात देखिये कर्म का बंध होता है तो जैसे मानो अबसे 100 साल पहले हुए थे और हुए थे मानो एक लाख वर्ष के लिए तो आबाधा काल का थोड़ा समय छोड़कर बाकी जितना एक लाख वर्ष है, उन सब समयों में एक समय का बँधा हुआ कर्म बट जायगा। जैसे जैसे दूर दूर का समय है कर्म परमाणु थोड़े-थोड़े मिलेंगे पर उनमें अनुभाग शक्ति अधिक अधिक पड़ेगी इसका बटाव भी देखिये कैसा वैज्ञानिक है आखिर वैज्ञानिक भी तो यह देखते हैं कि जितने सूक्ष्म स्कंध होंगे उतना ही उसमें सामर्थ्य होगा। यहाँ भी यह ही क्रिया प्रक्रिया है। एक समय में बँधे हुए कर्म सारी स्थिति के समयों में बट जाते हैं। तो आगे-आगे कर्म परमाणु कम मिलते हैं, पर शक्ति अधिक होती जाती है। अच्छा उसके एक मिनट के बाद के बँधे हुए कर्म वे भी बट गए लाखों वर्षों तक, उसके बाद के तीसरे चौथे आदिक समयों में बँधे हुए कर्म वे भी बँट गए। अब किसी समय अनुभाग शक्ति सामर्थ्य विपाकरस कितना होगा कि उन सब बची हुई शक्तियों का अनुपात जो बैठेगा वह उदय में होगा। जैसे 10 औषधियों की लेकर एक गोली बनाया, उसमें कोई औषधि टंडी प्रकृति की होती कोई गर्म प्रकृति की, कोई वायु विनाशक, कोई कैसी ही, पर गोली में क्या अनुभाग आयगा? जो खायगा सो, वह एक-एक दवाई वाली बात न आयगी, उसका मिलकर जो अनुभाग बैठेगा वह सामर्थ्य होगा। तब ही तो वैद्य अगर कहता है कि ये 8 चीजें हैं इनका काढ़ा बनाकर पीलो, तो क्या ऐसा करता है कि एक एक चीज का काढ़ा बना ले 8 अलग अलग कटोरियों में और उन्हें पीता रहे तो उसमें वह बात नहीं आ सकती, तो ऐसे ही जो अनुपात में अनुपात हुआ वह कर्म विपाक में होता है तो ऐसा अवसर आता है कि जिस समय वह अनुभाग बहुत ही हीन सामर्थ्य में हुआ और मिला मन तो उनकी बुद्धि चलती है। विवेक चलता है और जहाँ एक बार रास्ता तो मिला फिर यह ज्ञान बल उन कर्मों को निर्बल करने का निमित्त होता चला जाता है, यह दूसरी बात हुई।

**अविकार सहज ज्ञानस्वभाव के अनुभाव से प्राप्त ज्ञान बल का महत्व—** अब तीसरी बात देखिये इस जीव में अनेक भव भव के बँधे हुए कर्म उदय में आ रहे। बहुत से कर्म उदय में आ रहे मगर इसका बिगाड़ है मोहनीय कर्म के उदय में मानो वीर्यान्तराय का उदय है। ताकत कम है बनी रहे, उसका क्या नुकसान है, अगर मोहनीय कर्म का प्रबल उदय न हो तो उसका क्या नुकसान है? रहो नाम कर्म के उदय में शरीर कुरूप मिल गया बेढंगा मिल गया, बौना मिल गया, जैसा चाहे मिल जाय, मोहनीय कर्म का तीव्र उदय न हो तो उसका कोई नुकसान नहीं। जीव का नुकसान है मोहनीय कर्म के विपाक से। उस मोहनीय कर्म के विपाक का जो प्रतिफलन होता है जीव में उस प्रतिफलन में अगर उपयोग लगे तब तो उसको विडम्बना बढ़ती हैं और प्रतिफलन हो और उपयोग उसमें न लगे तो विडम्बना नहीं बढ़ती। तो जब ज्ञानी ने एक बार अविकार सहज ज्ञानस्वरूप अनुभव पाया तो अब उसमें इतना बल आया कि जब कभी वह सबसे हटाकर अपने अविकार सहज ज्ञान स्वरूप में ले जायगा। अनुभूति प्रतीति और इस स्थिति के बल से जब उन कर्म विपाक में उपयोग न लगेगा तो वह अव्यक्त होकर खिर जायेगा उससे बल यह मिलता है और यह जीव कर्मों का ध्वंस कर अपने कैवल्य को पा लेता है यह भी भाव अन्तरात्मा का है।

**आत्मज्ञान के अभाव में आत्मविडम्बना—** जिसने अन्तस्तत्त्व का भाव नहीं पाया वह जगत में कोट्याधीश भी हो तो भी दरिद्र है क्योंकि संतोष की कुँजी तो उसे नहीं मिली। बाहरी साधनों में वैभवों में संतोष माने मौज माने यह तो उसका अज्ञान है। संतोष रखा कहाँ? और यह ही कारण तो है कि कोई मनुष्य कभी मौज मानता है तो थोड़ी देर में कष्ट मानता है। ज्ञानी पुरुष का यह निर्णय है। वह समझता है कि कष्ट है क्या? बाह्य पदार्थ है, उनका परिणमन है बाह्य जीव है, उनकी कषाय के अनुसार परिणमन है उनका उनमें परिणमन है वे मेरे में नहीं आते और फिर उस अमूर्त ज्ञान मात्र अविकार चैतन्य स्वरूप। इसमें पर के प्रवेश का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसमें किसी का दखल नहीं है पर अज्ञानी जीव दखल देता रहता है। इसे कहो इकतरफा बुराई जैसे कहते हैं ना पार्श्वनाथ और कमठ में कई भवों के झगड़े में देखो तो कमठ इकतरफा क्रोध करता रहा। पार्श्वनाथ के जीवन तो कभी क्रोध नहीं किया और कमठ का जीव जिस जिस भव में गया उस उस भव में क्रोध करके उसको कष्ट पहुँचाया तो ऐसे ही यहाँ देखिये ये बाहरी पदार्थ कोई भी मुझ में बुराई न करेंगे कर ही नहीं सकते उनका सामर्थ ही नहीं। किसी भी बाह्य पदार्थ का मुझ में प्रवेश ही नहीं। मैं ही खुद अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर बाह्य पदार्थों को विषय बनाकर कल्पनायें करके विरोध करते हैं तो दो के प्रसंग में याने ज्ञान और एक बाह्य ज्ञेय इन दो के प्रसंग में यह ज्ञान वाला जीव ही इकतरफा बुराई कर रहा है दूसरा पदार्थ कुछ भी बुराई नहीं कर रहा है।

**बहिरात्मा की चतुर्गति दुःख हेतुभूत अज्ञान भावमयता—** यहाँ बतला रहे कि यह बहिरात्मा जीव उन उन सब भावों स्वरूप है। जो जो भाव चार गति रूप संसार में भ्रमण करने के कारण होते हैं। जैसे किसी ने पूछा कि हमको धर्म तो बताओ क्या है? तो आप उसे प्रभु के पास लावो ओर दिखाओ कि यह बैठा है धर्म वह धर्म स्वरूप है अच्छा वह न मिले तो किसी ज्ञानी साधु के पास जावो और बता दो कि यह बैठा हुए धर्म। और कोई पूछे कि पाप किसे कहते? तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा पर संकेत करके बता दें कि यह है पाप। अज्ञान ही महा पाप है जैसे सरोवर भरा है पर उसके ऊपर एक कोई चादर बिछा दे एक कल्पना करो कि थोड़े जल में सही थोड़ा उसके ऊपर कोई कपड़ा डाल दें तो अब वह नहाये कहाँ? अन्तर तो जरा सा है पर नहा नहीं सकते तो ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान सरोवर है और उसके ऊपर भ्रम की चादर पड़ी है तो मगर भ्रम की चादर

आड़े आने से अब यह उपयोग अब यह आत्मा इस ज्ञान सरोवर में स्नान नहीं कर पाता। कितना अन्तर है मूल में। क्या अन्तर हैं? हाथ में कोई चीज लिए हो सोने की अंगूठी ही सही और ख्याल आ जाये कि अंगूठी भूल आये। बस इस ख्याल ने इस उपयोग को ऐसा आच्छन्न कर दिया कि वह दूसरे जगह जगह तलसता है संदूक भी खोलेगा तो वह दूसरे हाथ से ही खोलेगा, कभी उसी हाथ से भी खोले तो मुट्टी बाँधे ही खोलेगा। उस अज्ञान ख्याल से ऐसा दब गया है कि वह ऐसी सुध नहीं कर पाता कि उस मुट्टी को खोलकर देखे कि इसमें बँधा क्या है? ऐसे ही जिसको आत्मा के सहज स्वरूप का ख्याल नहीं है भूल गया अपने को है खुद और खुद को भूल गया तो यह जगह जगह ढूँढता है पर ऐसा अपने आप में अपने भीतरी प्रकाश का खेल नहीं देखता है कि आखिर जो जाननहार है वह कौन है? बाह्य पदार्थों से जानेगा, उमंग से जो जानेगा उन में बल पूर्वक जानेगा पर जाननहार कौन है? यह जीव पर भ्रम छाया है तो उसकी हालत क्या होगी? दुःख रूप। अज्ञान बसा है तो उससे ये सब कार्य ओटोमैटिक चल रहे। पशु पक्षी बने ममता करे प्रीत करे हाय हाय करें दूसरे के ध्यान में अपने आप को आकुलित करें यह सब विडम्बना होना ओटोमैटिक है। जब ऐसा ही योग है तो होता ही है सो जितने भी दुःख भाव हैं वे सब बहिरात्मा के भाव है।

**मोक्खगइगमण कारणभूयाणि पसत्थ पुण्णहेरुणि ।**

**ताणि हवे दुविहप्पा वत्थसरूवाणि भावाणि ॥126॥**

**मोक्षगतिकारणभूत व प्रशस्त पुण्यभावों का प्रताप—** पहली गाथा में बताया था कि जो जो दुःख रूप भाव हैं वे सब बहिरात्मा के भाव हैं। अब यहाँ बतला रहे हैं कि जो मोक्ष गति के लिए गमन में कारण भूत है याने जिन भावों में होते हुए मोक्ष में गमन होता है और जो प्रशस्त पुण्य के हेतुभूत हैं और वे अन्तरात्मा और परमात्मा के वस्तु स्वरूप से कहे गए हैं देखिये प्रशस्त पुण्य इसकी परम्परा मोक्ष साधक भावों से जुड़ाकर लौटाती है मगर ऐसा प्रशस्त पुण्य का बंध पुण्य की चाह से नहीं होता किन्तु अविकार सहज ज्ञान स्वरूप उपासना की दृढ़ता होते हुए भी जो राग शेष रहता है शुभराग, पंच परमेष्ठी संबंधितराग वह प्रशस्त पुण्य बंध का कारण बनता है देखिये राग पुण्य बंध का कारण नहीं प्रशस्त पुण्या का कारण नहीं किन्तु ज्ञान विकास होते सन्ते रहने वाला राग प्रशस्त पुण्य का कारण है। कोई चपरासी फिरता रहता है तो लोग उसकी अधिक अहिमियत नहीं समझते और वह किसी अफसर या मिनिस्टर के साथ जा रहा हो तो उसका भी महत्त्व बढ़ जाता है। तो राग रागप्रशस्त पुण्य का कारण नहीं किन्तु कारण तो राग है मगर सम्यग्दृष्टि अविकार सहज स्वरूप के अनुभव वाले इस सहज स्वभाव में प्रीति रखने वाले भव्य पुरुष के जो शेष राग है वह प्रशस्त पुण्य बंध का कारण है। इसी वजह से इस गाथा में कह रहे हैं कि जो मोक्ष गमन के लिए कारणभूत है और प्रशस्त पुण्य के हेतुभूत है वह अन्तरात्मा और परमात्मा के भावात्म से कहे गए हैं याने ये अन्तरात्मा के भाव है।

**अविकार सहज ज्ञान भाव के संदर्शन में सकल संकटों का अभाव—** भैया ज्यादा उलझन की बात जरा भी नहीं है। या रंच भी उलझन का कुछ काम नहीं है सम्यग्दृष्टि का काम, ज्ञानी का काम, मोक्ष चाहने वाले का काम केवल एक ही है। अपने अविकार सहज ज्ञान स्वभाव को आत्मा रूप से स्वीकार करना इस ही रूप में अपना अनुभव करना अनुभव करने के बाद न इससे चिगा जा सके। तो ऐसी प्रतीति रखना यह बात जिसके हो गई उसकी सब समस्याओं का समाधान उसे कुछ सिखाना नहीं पड़ता कि तुम इस तरह शुभभाव करो तुम इस तरह से अमुक क्रिया करो उसकी वृत्तियाँ ही इस तरह की होती हैं। जो चरणायोग में बताया गया है। ऐसा ज्ञानी का प्रवर्तन है, चरणानुयोग के

अनुसार ज्ञानी को चलना चाहिए और ज्ञानी स्वयं सहज जिस ढंग से चलते हैं वह चरणानुयोग में मिलता है कभी यहाँ से चरणानुयोग देखें। कभी चरणानुयोग को अपने आत्मा में देखे चाहिए बस एक कला वह क्या है अपनी ही सत्ता के परके संग बिना अपने ही स्वरूपतः जो कुछ स्वभाव है उस रूप अपने को स्वीकार कर लें यह बात जिसके आजाय उसने सर्व अर्थों की सिद्धि पा ली और जिसके यह प्रतीति अनुभूति न बने वह चाहे धर्म के नाम पर कितने ही व्रत, तप, उपवास या ऊँची बात करले मरग कर्म का निर्जरण और सम्बर नहीं होता। यह तो तात्कालिक उपाय है तपश्चरण कि अशुभोपयोग मिट जाय पर मौलिक उपायों में निज सहज ज्ञान स्वरूप में अपने आत्मपने का अनुभव होना, जीवन में सब यह ही काम करना है अपने आप के अन्दर में अपने को सहज ज्ञानमात्र अनुभव करें बाहरी पदार्थों में तो बड़ी हठ हो जाती है कि मैं तो करके ही रहूँगा। जरा उस अन्तः स्वरूप की भी तो हठ बनावें कि मैं तो अपने को इस सहज ज्ञानस्वभाव रूप ही मानूँगा। सारा जगत चिल्लाये ये नाम ले लेकर पर मैं चौकूंगा नहीं। मैं तो निर्मल हूँ। शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ इसकी भी तो हठ बने जिसने यह तत्त्व पाया उसके समस्त संकट दूर हो जाते हैं।

**द्वगुणपञ्जएहिं जाणइ परसमय ससमयादिविभेयं**

**अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायदो होई ॥१२७॥**

**द्रव्य गुण पर्यायों से स्वसमय व परसमय के विभेद को जानने वाले के शिवगति पथ—नायकता—** मोक्षमार्ग पथिक कौन है इसका वर्णन इस गाथा में किया है। जो द्रव्य गुण पर्यायों के द्वारा परसमय और स्वसमय आदिक भेद वाले आत्मा को जानता है वह मोक्षमार्ग का नायक होता है। अन्तरात्मा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव पर समय स्वसमय में द्रव्य गुण पर्याय को जानता है। इस ग्रन्थ में स्वसमय तो परमात्मा को कहा जायेगा और परसमय मिथ्यात्व लेकर 14 वें गुण स्थान तक के जीवों को कहा जायेगा। तो अन्तरात्मा स्वसमय और परसमय का भेद समझता है यह भेद जाना जायेगा पर्यायों से क्योंकि द्रव्य और गुण ये तो सब जीवों में समान हैं द्रव्य है चिन्मात्र। गुणों का भेद न कर गुणों को तो द्रव्य में ही मिलाकर जो अभेद रूप को ध्रुव तत्त्व को निरखा जाता है। वहाँ द्रव्य का ज्ञान होता है तो द्रव्य दृष्टि से सर्व जीव समान हैं। चाहे स्वसमय हो या परसमय हो गुणों की दृष्टि से भी सब जीव समान हैं। गुण कहते हैं पदार्थों में सदा रहने वाली शक्तियों को। शक्तियाँ सदा रहती हैं। चाहे परसमय हो तो वहाँ भी शक्ति हैं स्वसमय हो वहाँ भी शक्ति है। तो शक्ति की अपेक्षा से परसमय और स्वसमय का भेद नहीं बनता। भेद बनता है तो पर्यायों के द्वारा बनाता है। परसमय कौन है, यह बात बहुत विस्तार से बता दी गई है। जिसका पर वस्तुओं से किसी भी प्रकार का रागद्वेष का प्रवर्तन चले वह परसमय है। अथवा जो दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप में पूर्णतया स्थित नहीं होता है वह परसमय है। तो परसमय में तरतमता बहुत है एक तो मोही मिथ्या दृष्टि जीव पर समय है। वे तो बिल्कुल ही परसमय है। वहाँ तो अंश मात्र भी ज्ञान का काम नहीं है और जो ज्ञानी हुए हैं सम्यग्दृष्टि हुए हैं वे भी जब तक वीतराग और सर्वज्ञ नहीं होते तब तक उन्हें भी परसमय कहा गया है। इस ग्रन्थ में आगे की गाथाओं में यह बात स्पष्टतया स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे कि परसमय तो परमात्मा होने से पहले तक है और परमात्मा स्वसमय है।

**स्वसमय परसमय का समीक्षण व द्रव्य गुण कृत साम्य का संदर्शन—** यद्यपि यहाँ परसमय पहिले से 12 वें गुणस्थान तक के जीवों को परसमय कहा है तो भी एक होता है दर्शनमोहकृत परसमय। एक होता है चारित्रमोहजनित परसमय। इनका अन्तर बहुत बड़ा है अन्तरात्मा ज्ञानबल से कर्म शत्रु का हनन करता रहता है मगर उसको भी चूँकि वह

अपने स्वरूप में मग्न नहीं हुआ है इसलिए परसमय कहते हैं। एक विवक्षा से देखा जाय तो परसमय तो है बहिरात्मा और स्वसमय है सम्यग्दृष्टि जन व परमात्मा और उनमें तरतमता लगायी जाये तो पूर्णतया स्वसमय है परमात्मा उससे पहिले जीव अपूर्ण स्वसमय है परसमय है यहाँ विवक्षा भेद से कुछ भी कहा जावे तो यही आता है कि जिन जीवों को वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त हुई है वे अभी अल्पज्ञानी छद्मस्थ छोटी स्थिति में हैं जिनको अभी ज्ञान स्वरूप नहीं जगा आत्मा स्वरूप का और विकार का कर्म का शरीर का स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ भेद विज्ञान नहीं जगा, वह है बहिरात्मा और मोटा परसमय तो अब भेद किस तरह से निरखना है? द्रव्य और गुण से तो समता विदित होती है सो यह भी लाभदायक है। जब स्वसमय परमात्मा अरहंत सिद्ध की तुलना करने पर अपने द्रव्य और गुण की तुलना विदित होती है तो वह भी वह उमंग लाता है मैं यह ही तो हूँ 'मैं वह हूँ जो हैं भगवान। जो मैं हूँ वह हैं भगवान।' यह द्रव्य और गुण की दृष्टि से ही तो है। कोई अंतर नहीं। वही द्रव्य है, वही गुण है वही पदार्थ है पर 'अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान।' ऊपरी के मायने व्यवहार पर्याय। पर्यायकृत अन्तर है। इस अन्तर को ऊपरी अन्तर क्यों कहा है? द्रव्य में अन्तर नहीं हैं। द्रव्य का अन्तर भीतरी अन्तर है द्रव्यतः अन्तर जीव पुद्गल में पाया जाता है। पर जीव जीव में चाहे वह कोई भी जीव हो उनमें द्रव्यतः अन्तर नहीं पाया जाता। पर्यायतः अन्तर पाया जाता है। तो यह ही ऊपरी अन्तर है कि प्रभु तो विराग हैं और यहां राग का फ़ैलाव चल रहा है तो पर्याय से ही अन्तर जाना गया।

**परमात्मा व अपरमात्मा में पर्यायकृत अन्तरतथा इस अन्तर को मेटने का स्वयं में सुगम उपाय—** यह पर्याय का अन्तर हम में और प्रभु में जो है सो प्रभु की पर्याय में तो कुछ बदलना चाहिए नहीं, वह तो स्वभाव के अनुकूल शुद्धपरिणमन है। परिवर्तन तो हम आपके है जो राग अवस्था में चल रहे हैं। बाह्य पदार्थ के विकल्प में लग रहे हैं, ये विकल्प न रहें और अपने आप के सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव ही रहे, यह स्थिति चाहिए। तो यह मिल कैसे सकता? उसका उपाय है द्रव्य और गुण की उपासना। देखो द्रव्य गुण पर्याय इन तीन का अखाड़ा जमघट कैसा सुन्दर बन रहा कि प्रभु में और मुझमें द्रव्य और गुण का अन्तर नहीं है, केवल पर्याय का अन्तर है। तो पर्याय में रहने वाला यह अन्तर मिटने का उपाय द्रव्य और गुण की उपासना है। वह उपासना कि अपने द्रव्य को देखिये अपनी शक्ति को निहारिये मैं अविकार सहज ज्ञानस्वभाव अंतस्तत्त्व हूँ। जो मैं हूँ जो अपने आपकी सत्ता में हूँ, वह तो निराबाध है और यही है उसमें विरूपता या अन्तर आने का अवकाश नहीं है। स्वरूप दृष्टि करने पर जीव संकटहीन हो जाता है। जीवों को मोहवश यह लोकव्यवहार तकलीफ़ दे रहा है। लोक व्यवहार यहाँ हमारा व्यवहार सबको प्रिय रहे, सब मुझे पर खुश रहें, सब मुझे अच्छा कहें, मेरी कहीं कोई निन्दा न हो, मुझे ही लोग यहाँ का खास बोलें आदिक जो कल्पनायें हैं, ये कल्पनायें इस परमात्मतत्त्व का घात करने वाली हैं। हाँ कोई स्थिति है, उसमें बड़े चाव से कहा जाता है कि अपना व्यवहार बड़ा सही रखना चाहिए और सही ढंग चलना चाहिए। कोई व्यवहार में कमी न रहे, सबके अनुकूल रहें ठीक रहें, देखिये लोग यह बात सुनकर बड़े खुश होते हैं। इसके बाद उच्च विचार अगर परमार्थ से देखा जाय तो यह कषायाश्रित विचार है। जिसने अविकार ज्ञानस्वभाव की उपासना की उसका अभेद अनुभव किया उसकी निगाह में व्यवहार का महत्व न रहा, उसका लोक में व्यवहार होता ही सही ढंग का। जो अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना में आया है और वह जिसे रुचिकर लगा है वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा लालच इनके भाव को पसंद भी करेगा क्या? उसका व्यवहार तो सही होगा ही। मगर व्यवहार मुझे करना है सही व्यवहार रहे, ऐसी वाञ्छा जो उसके लिये

कलंक है। जो परमार्थ चिन्मात्र का रुचिया है और उस ही में मग्न होना चाहता है उसके लिये जानबूझकर उपयोग गड़ाकर व्यवहार करना एक यह विडम्बना सी लगती है। हाँ बात फिर झट व्यवहार पर आ जायेगी। क्योंकि इस ज्ञान स्वरूप में डूबने का, उसको दृष्टि में लिए रहने का हम लोगों को अभ्यास नहीं है। जब परमार्थ स्वरूप में मग्न होने का अभ्यास नहीं तो यह उपयोग बाहर ही तो कुछ करेगा। जब यह उपयोग बाहर कुछ करता है तो वहाँ विवेक जरूर चाहिए कि हमारे प्रयत्न हमको अपने स्वरूप के दर्शन का अपात्र न बना दें यह विवेक चाहिए।

**ज्ञानियों के अन्तर्दर्शन की लौकिक जनों को अनभिज्ञता—** अज्ञानियों की श्रद्धा चक्षु से यदि देखें तो ज्ञानी जीव लौकिक जनों की दृष्टि में अटपट है, क्योंकि वह तो अपने आप के स्वभाव में ही मग्न होने की धुन रखता है, मगर जिस तरह के लौकिक काम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि चाहता है उस तरह का काम वहाँ देखा नहीं जाता। उनकी निगाह में कुछ उनकी बुद्धि की तुलना में वे हल्के हैं मगर जाननहार पुरुष की स्थिति यह है कि तत्त्व को जानने वाला गूंगा, बहिरा, और आलसी बन जाता है जिसने अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव पाया और उस अनुभव में सहज आनन्द का अनुभवन भी पाया उसको अब बाहर क्या चाहिए? इसलिए वह बोले क्यों? उसे कभी बोलना भी पड़ता तो वह बोलता हुआ भी बोल नहीं रहा। तत्त्व ज्ञानी पुरुष गूंगा बन जाता है। लोग क्या कहते हैं किस ढंग के लोग हैं किसने मेरी निन्दा की, किसने मेरी प्रशंसा की, क्या हो रहा है। बाहर में क्या स्थितियाँ चल रही हैं बात आती है मगर वह सुन ही नहीं रहा है। वह सुन रहा है अपने ब्रह्मस्वरूप की अन्तः प्रेरणा की आवाज। बाहर की आवाज उसके सुनने में नहीं आती। तत्त्व पुरुष तो बहिरा बन गया। तत्त्वज्ञ पुरुष आलसी बन गया। कितना आलसी? उतना आलसी कि वह अपनी आँख की पलकों को बंद करने और उठाने में भी आलस कर रहा है इतनी भी उसके लिए एक उमंग नहीं चल रही है आँखे खोले तो, आँखे बंद तो करे। जैसा है वैसा बना रहे इतना आलसी बन गया यह तत्त्व ज्ञानी पुरुष। फिर उसके हाथ पैर की क्रियाओं की तो बात ही क्या कही जाय? अर्थात् वह निष्क्रिय स्वरूप की भावना करता है। ऐसा अविकार सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव यह ही अमृत है, इस अमृत का जिसने पान किया उसकी दुनिया निराली बन जाती है।

**ज्ञानी संतों की अलौकिकी वृत्ति—** संतजन कहते हैं कि मुनियों की अलौकिक वृत्ति है देह के भेष का नाम मुनि नहीं है किन्तु अविकार ज्ञानस्वभाव की उपासना में जिसकी दृढ़ता बन गई है उन ज्ञानियों का नाम मुनि है और वे ज्ञानी मुनि अलौकिक वृत्ति वाले होते हैं। मोटी-मोटी बात तो थोड़ी यह भी जान सकते हैं। गृहस्थ बैठकर खाते, मुनि खड़े होकर खाते ऐसी उल्टी वृत्ति ज्ञानियों की होती है गृहस्थों का अनेक लोगों के बिना मन नहीं लगता किन्तु ज्ञानी का इन अनेक लोगों में मन ऊब जाता। कैसी उल्टी चाल चल रहा यह ज्ञानी? अज्ञानी जन उस ज्ञानी को कैसा अच्छा देखेंगे? उल्टा-उल्टा सोचेंगे। अज्ञानियों से उल्टे ही चल रहे हैं। अज्ञानीजनों को इन्द्रिय के विषय रुचिकर लगते हैं अमुक खेल देखा, अमुक भोजन बनाया, अमुक खाया ये कैसी फूल मालाये हैं? जैसा मिला खाकर चल दिया न मिला तो चल दिया। जरा सी विधि में गड़बड़ी हो गई तो भाग गए। अरे ऐसी ऐंठ क्यों करते हो ज्ञानी हम अज्ञानी जन तो खूब खाते हैं। तुम क्यों उल्टे-उल्टे चल रहे। ज्ञानी की दुनिया निराली है। ज्ञानी के हृदय को, ज्ञानी के सद्भाव को अज्ञानी जन पहिचान नहीं सकते। यह सारा अन्तर आ कैसे गया? केवल एक कला के कारण। उसने अपने सहज स्वरूप का अनुभव कर लिया है। आत्मीय सहज आनन्द का अनुभव बन गया है।

**ज्ञानियों के विपरीत समझ की अशक्यता**— ज्ञानी को कोई उल्टा उल्टा समझाये तो उसकी समझ में उल्टी समझ न आयेगी। जिसका भ्रम मिट गया है उसको कोई बहकाये तो वह बहक कैसे सकेगा? जिसको स्व और पर का स्पष्ट निर्णय है आनन्द और कल्पना का। उसको कोई बहकाये तो कैसे बहक सकता? जगत के इन समस्त ब्राह्म्य पदार्थों का लगाव क्लेशरूप है। कोई पुरुष छोटी ही उम्र में घर छोड़कर विरक्त होता है तो परिवार के लोगों की समझ में नहीं आता। उनको यह भ्रम हो जाता है कि कुछ इसके दिमाग में कमी तो नहीं है। कोई स्कू ढीला तो नहीं हो गया। उनकी समझमें ही नहीं आता कि यह बिल्कुल ठीक काम कर रहा है। ज्ञानी की अलौकिक वृत्ति है और वह सब है प्रताप किसका? द्रव्य और गुण के सही स्वरूप के अनुभव का। सारा भेद सारी दुनिया सब इस पर्याय के अन्दर से ही तो उलझी हुई है। यही तो ममता है, सब पर्याय का आश्रय किए हुए है। इस कारण से ये संसार में सब जीव दुःखी होते जा रहे। जन्मते हैं, मरते हैं और कष्ट पाते हैं, क्योंकि इन्होंने पर्याय का आश्रय लिया है। ज्ञानी जीव में अभेद या प्रधानरूप से तो द्रव्य का आश्रय किया है और जब कभी वह भेद में नहीं टिकपाता तो गुण का आश्रय करता है। कभी किसी परिस्थिति में पर्याय की भी बात करता मगर वे बाह्य वचन और बाह्य क्रियाओं से मन अन्ततत्त्वों में ही पड़ा है। ज्ञानी का एक धुन की बात है। जिसके यहाँ कोई इष्ट गुजर गया अब उसको कोई सनीमा की बात कहे कि चलो सनीमा देखने तो बताओ उसके मन में क्या बात आयेगी? वहाँ सनीमा की बात उसको ना भायेगी अभी एक माँ जी न बताया था कि एक बकरे को कोई मुसलमान खूब सजा धजा कर मारने के लिए लिये जा रहा है। उसे फूलों से रंगों चाँदी के वस्त्रों से इन सब से बहुत बहुत सजाया। वह बकरा सब बात समझ गया आखिर संज्ञा जीव तो है ही। तो उसके घर के लड़के को उस बकरे से बहुत प्यार था सो वह लड़का उस अवसर पर बकरे से चिपट गया और केला खिलाने लगा बकरा अपना मुख केले की तरफ करे ही नहीं इधर उधर अपना मुख घुमाता फिरे। उसे केला सुहाये ही नहीं क्योंकि उसका उपयोग इस ओर लगा था कि अब मेरी मृत्यु होने वाली है। देखिये जिसको फाँसी पर लटकाया जाता है। उससे फाँसी देने से पहले पूछा जाता है तुम्हें कौन सी चीज खाने की इच्छा है किससे मिलना है तो वह कुछ भी नहीं चाहता क्योंकि वह जानता है कि अब मेरी मृत्यु होने वाली है। उसे किसी चीज में उमंग न आयेगी। तो ऐसा ही समझिये कि जिन ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुषों को अपने अविकार सहज ज्ञान और आनन्द का अनुभव हुआ है उसे उसे अब कोई कितना ही बहकाये पर वह किसी भी बात से बहक नहीं सकता क्योंकि उसकी दृष्टि अपने अन्त चित्प्रकाश की धुन में लगी है।

**आत्मा की सहज कला का सहज संदर्शन**—देखिये ज्ञानीपन की बात कोई बनाने से नहीं आती। अज्ञानीजन ज्ञानियों की बाह्य वृत्ति आदि नकल कर लें, पर उस नकल से ज्ञानी को जो सहज आनन्द मिलता है वह तो न मिल पायेगा। क्योंकि ज्ञान कला उसने प्राप्त नहीं की। समयसार सुपुष्पसुमालया सहजकर्मकरेण विशोधया, परमयोगबलेन बशीकृतं सहजसिद्धमहं परिपूजये। सिद्धपूजा भवाष्टक का कोई सा भी पद ले लो द्रव्य का तो वहाँ एक संबंध बनाया गया है। गृहस्थों का दिल रखने के लिए। वह तत्त्व तो यह है कि यह जो समयसार की पुष्पमाला याने समयसरकी कला जो कि सहज क्रिया रूप हाथ से ही शुद्ध बनती है उस माला को कोई बनायेगा तो सही इस समयसार माला को बनायेगा कौन? यही और यह पूजने किसको जा रहा है यह अपने सहज स्वरूप को अपने आप अपनी सत्ता से जो सत् है ऐसा जो अविकार सहज ज्ञान स्वरूप है उसको पूजने जा रहा है। अरे वह तो भाग रहा है यह भीतर का भगवान यह तो यहाँ खड़ा ही नहीं होता है। यह



तो इससे कही भाग कर छुप गया है। नहीं नहीं परमयोगके बलसे वह वंशीभूत हुआ है। वह उसकी ज्ञान दृष्टि से बंध गया है। भगवान जायगा कहाँ? ऐसा अपना अन्तः विराजित प्रकाशमान शाश्वत सहज सिद्ध इस समय देव को मैं पूजता हूँ। यह ही पूजने वाला यह ही पुजने वाला इसी के ही कारण से यह पुजने वाला और पुजकर भी फल जो मिला वह यही फल है और इस दृष्टि से ही वह सब निकल रहा है और यहाँ ही विराजा है। इसका बाहरी कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं। तो ऐसे अविकार सहज स्वरूप को जिसने जाना है और पर्याप कृत भेद को स्वसमय परसमय आदि का भेद समझा है वह पुरुष तो मोक्षमार्ग में गमन करने के लायक है अग्रणी होता है याने वह अन्तरात्मा है। बस सर्व सकटों की औषधि एक है। जैसे घर के बाहर निकले तो सब लोग सताने लगे तो उसका उपाय है घर में घुस जाए किवाड लगा ले। यह उपयोग अपने घर से बाहर जब निकालता है। तो ये पन्वेन्द्रिय के विषय ये पूर्वबद्ध कर्म के विपाक जब ये सताते लगे हैं तो यह ही उपाय है कि वहाँ से हटकर अपने घर में आवो गुप्त होवो।

**बहिरंपमेयं परसमयं भण्णए जिणंदेहि ।**

**परमप्या सगसमयं तम्भेयं जाण गुणट्ठाणे ।।128।।**

**परसमय की वहिरन्तरात्मभेदता व स्वसमय की परमात्मरूपता**— अनन्तर पूर्व गाथा में बताया था कि जो जीव द्रव्य गुण पर्यायों के द्वारा परसमय और स्वसमय के भेद को जानता है वह मोक्षमार्ग का नायक होता है। याने मोक्षमार्ग में गमन करने वालों में अग्रणी है। तो अब इस गाथा में बहिरात्मा और परमात्मा का स्वसमय और परसमय में अन्तर्भाव बताते हुए उस ही का वर्णन कर रहे हैं। कुन्दकुन्दा चार्य देव यहाँ इस गाथा में बतला रहे हैं कि जिनेन्द्र देव ने बताया है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा ये दो भेद परसमय कहलाते हैं और परमात्मा स्वसमय कहलाता है और इसको गुणस्थान के अनुसार आगे की गाथाओं में बताया जायेगा। यहाँ विचारणीय बात है कि कुछ लोगों में यह प्रसिद्धि बन गई कि जहाँ सम्यदर्शन हुआ व्रत भी वहीं हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि ही रहा तो वह स्वसमय कहलाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन से विशुद्धि जगी है आत्मा में पवित्रता आयी है लेकिन इसके दोष भी तो बहुत चल रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य दोष और गुण से भरा है। यदि अपने दोषों पर दृष्टि करे कि मैं इतनी गलती में हूँ तो इससे भला मार्ग पायेगा या अपने गुणों पर दृष्टि करे कि मेरे में तो गुण ही गुण हैं उससे भला मार्ग पायेगा। थोड़ा इस सम्बन्ध में विचार करके तो देखें। हम आप लोग विचारने की आदत वाले हैं और इस परिस्थिति में हैं कि अपने पाये हुए गुणों पर दृष्टि देवें तो इसके अहंकार बन जाता है और भला मार्ग तो पायगा ही कैसे? और यदि अपनेआपके दोषों पर दृष्टि देते हैं कि मेरे में इतने दोष हैं तो वह नम्र रहेगा गुणों के बढ़ाने के लिए उत्सुक रहेगा ओर दोष के टालने का प्रयत्न करेगा। तो सम्यग्दर्शन से पायी हुई विशुद्धता के कारण उसे स्वसमय कहा जाता है चौथे गुणस्थान से लेकर जो ज्ञानी जीव हैं उनके तो चारित्रमोह के उदय से पर पदार्थ में जितना रहा व्यवहार कर रहा वह दोष ही तो है। उन दोषों की निगाह से उसे परसमय कहते हैं। तो एक दृष्टि से हम सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष को स्वसमय भी कह सकते, पर समय भी कह सकते।

**स्वदोष निरीक्षण से प्रगति प्रेरणा तथा शाश्वत गुणमय अनुभव से प्रगति**— अब जरा यह तो विचारों के स्वसमय भी कह देने या अपने आप में स्वपना समझलेने से वह उन्नति पायेगा या अपने में जो दोष शेष हैं उन दोषों पर दृष्टि रखकर अपनी उन्नति पायगा। अपने अपने अनुभव से यह ही विचार सकते हैं गुणों पर दृष्टि दें तो

उससे वहीं रम जाता है और उसमें एक अहंबुद्धि बन जाती है कि मैंने खूब किया, ऐसा जानकर इतने में ही संतुष्ट हो जाता है और दोषों पर दृष्टि दें तो यह दोष है ये मिटने चाहिए। इनके मिटने का उपाय बनाता है उस ओर दृष्टि जायेगी। तो निष्कर्ष यह निकला कि अगर अपने गुणों को विचारना चाहते हो तो सही शाश्वत समीचीन आत्मा के स्वभाव गुण को विचारना यह बीच बिचौना जो कुछ तरक्की सी हुई है ज्ञान गुण का विकास या कुछ व्रत तप कर लेना या कुछ सामायिक आदिक व्रत क्रियाकर लेना इतने मात्र को गुण का जानकर और उन गुणों को निरखकर अपने में संतोष पाता है तो वह धोखे में है वह आगे उन्नति नहीं पासकता है हाँ यदि आत्मा के उस शाश्वत गुण का चिंतन करे कि यह हूँ मैं सहज ज्ञान स्वरूप जो ज्ञान अपने आप अपने ही सत्त्व से अपने ही स्वरूप से तीन लोक अलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जान सकने वाला है। ऐसा यदि अपने शाश्वत गुणों पर दृष्टि दे तो इससे लाभ मिलेगा। मोह दूर होगा कषायें दूर होगी मगर थोड़ा बहुत तो कुछ अन्य छोटे जीवों की अपेक्षा तरक्की सी लग रही है और इसी को ही गुण मान बैठें तो यह यहीं का यहीं रह जायेगा आगे नहीं बढ़ सकता। तो यहाँ आचार्यदेव ने यह बताया है कि जिनेन्द्रदेव ने यह कहा कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भेद तो पर समय के है और परमात्मा स्वसमय हैं।

**सर्वजीवों में स्वसमय पर समय तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा का विभागी करण—** जो दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थिर होने से स्वको ही एक रूप से अनुभव कर रहा है उसे कहते हैं स्वसमय और जो अपने आप के स्वरूप को तो अनुभव नहीं कर रहा किन्तु अनादि अविद्या के कारण परको ही एक रूप से मान रहा है। वह है पर समय। इस लक्षण की दृष्टि से जैसे कि समयसार में बताया है स्वसमय और परसमय का लक्षण देखने चलते हैं तो परसमय तो हुआ मिथ्यादृष्टि जीव और स्वसमय हुए भगवान। अब ये बीच के गुणस्थान न तो स्वसमय में आरहे न परसमय में आरहे हैं। तो क्या ऐसा ही है? ऐसा तो नहीं है। जीव या तो स्वसमय होगा या पर समय होगा समय मायने आत्मा के हैं। जो अपने आत्मा में मग्न होता है उसे कहते हैं स्वसमय और जो परभाव में परतत्त्व में पदार्थ में मग्न होता है उसे कहते हैं परसमय। तो चौथे गुणस्थान से 10वें 11वें 12वें गुणस्थान तक यह भाव करता है मगर स्वसमय की अपूर्णता पूर्णता के भेद बनावें तो कह लो स्वसमय। पर क्यों बनातें ऐसा भेद? एक ही तरह का निरखें कि मुझे स्वसमय होना है। ऐसी अगर आशय की बात है तो बहिरात्मा परसमय हुआ और अन्तरात्मा भी 12वें गुणस्थान तक परसमय ही रहे यह इस ग्रन्थ में यहाँ बताया जा रहा है। हाँ परसमय बताने पर भी इतना अन्तर जानना कि बहिरात्मा में भी तर्तमभाव है और अन्तरात्मा में भी तर्तमभाव है बहिरात्मा तो पहले गुणस्थान तक हैं और अन्तरात्मा चौथे गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक है और परमात्मा 13वां 14वां गुणस्थान वाले और सिद्ध भगवान में परमात्मा कहलाते हैं। अब उन अन्तरात्माओं में भी जघन्य अंतरात्मा तो अविरत सम्यदृष्टि है और मध्यम अन्तरात्मा 5वें गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक हैं। यह सब निरखने का प्रयोजन क्या है? अपने आपके स्वरूप की सम्हाल होना। अपने मार्ग की सुध होना। मुझे अभी कितना मार्ग चलना है। इस समय में किस जगह पड़ा हुआ हूँ। उस ओर दृष्टि बने ये सब उमंगें इस तत्त्व के परिचय से मिलती हैं।

**मिस्सोत्ति बाहिरण्या तरतमया तुरिय अतरप्पजहण्णा ।**

**सत्तोत्तिमज्झिमतंर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ।।**

**स्वसमय परसमय के प्रसंग में त्रिविध आत्माओं का निरीक्षण—** मिश्र गुणस्थान तक याने मिथ्यात्व गुणस्थान, सादासन सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन गुणस्थानों में बहिरात्मा हैं मगर क्या तृतीय गुणस्थान वाले प्रथम गुणस्थान की तरह निपट बहिरात्मा हैं। इसमें तार्तम्य है। मोटे बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि जीव हैं और उनसे मंदता लिए हुए द्वितीय गुणस्थान और उससे भी अधिक मंदता लिए हुए तृतीय गुणस्थान हैं। ये तीनों बहिरात्मा कहलाते हैं। इन तीन गुणस्थानों में अशुभ परिणाम अशुभोपयोग की बात बतायी जाती है। उस अशुभोपयोग में भी गुणस्थान के अनुसार तार्तम्य है मगर हैं मैं अशुभोपयोगी और चतुर्थ गुणस्थान से लेकर शुभोपयोग ही चलता है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि मिश्र गुणस्थान तक तो बहिरात्मा है और चौथे गुणस्थान वाला जघन्य अन्तरात्मा है और इससे ऊपर 7 तत्त्व मायने 5वें से लेकर 11वें गुणस्थान तक तरतमता को लिए हुए मध्यम अन्तरात्मा होते हैं। यह विषय ऐसा है कि जैसा मूड बनाया और जिस दृष्टि से देखा थोड़ा बहुत मध्यम उत्तम की बात बताने में कमी वेसी की बात कही जा सकती है।

**जघन्य मध्यम व उत्तम अन्तरात्मा का विप्लेशीकरण—** यहाँ बतला रहे कि जघन्य अन्तरात्मा तो अवित सम्यग्दृष्टि है, जिसके कोई व्रत नहीं है व्रत लेने के भाव भी नहीं होते। यद्यपि यह त्रस जीवों की हिंसा नहीं कर रहा, यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अनर्ग वृत्ति नहीं कर रहा मगर पाप का त्याग करने के लिए संकल्प बना लेना और गुरु समक्ष व्रत को ग्रहण करना, यह बात अभी यह चतुर्थ गुणस्थान वर्ती नहीं कर पाया है। तो ये तीन हैं बहिरात्मा और चौथे गुणस्थान वाला है जघन्य अन्तरात्मा याने अन्तरात्माओं से छोटे दर्जे का अन्तरात्मा और 5वें से 11वें गुणस्थान तक भव्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। इस मध्यम अन्तरात्मा में बहुत आपस में तार्तम्य है। 5वें गुणस्थान वाले में प्रत्यारव्यानावरण कषाय चल रही है और जहाँ 11वें गुणस्थान में कषायों का उपशमन तो है मगर कषाय का सत्ता में सद्भाव है और उसका उपशमन का समय पूरा हो रहा है। तो ये कषायें उमड़ती हैं और इसकी नीचे गिरना पड़ता है। यह मध्यम अन्तरात्मा है और उत्तम अन्तरात्मा क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव हैं जहाँ कषायें बिल्कुल नष्ट हो गईं। वीतरांग दशा है। कषाय उमड़ने की भी संभावना नहीं है और वह अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञानी परमात्मा बनेगा तो ये क्षीण कषाय गुणस्थान वाले जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं और प्रभु अरहंत देव परमात्मा। ये परमात्मा हैं और इनको यहाँ स्वसमय बताया है।

**सम्यग्दृष्टि का आत्म विकास के लिये पौरुश—** ज्ञान हो गया सम्यग्दृष्टि जीव के, मगर इसकी विवशता तो देखो, यह तज नहीं सकता, कुछ न कुछ सम्पर्क चलेगा। बाह्य पदार्थों का संचय, लोगों का समागम, सब के प्रति व्यवहार यह आवश्यक सा है, जैसे वह पुरुष कैसे स्वसमय कहलायगा? एक तो है सन्तुष्ट रहने की आदत रखने वाला और एक है प्रगति की भावना रखने वाला। दो तरह के जीव होते तो उनकी प्रकृति अलग अलग हो जाती है। कुछ थोड़ा बहुत ऊपरी व्रत धर्म क्रिया की और उसमें संतुष्ट हो गए, अपने को कृतार्थ मानने लगे। हम खूब कर रहे हैं, सब कुछ ठीक चल रहा है। तो ऐसी इस अपनी क्रिया में ही संतुष्ट होने वाले जीव ये उन्नति नहीं कर पाते और एक प्रगति की भावना रखने वाले यह उन्नति करते हैं। अपने दोषों को निरख निरख कर, उन दोषों का उपमर्दन करके उनको मूल से नष्ट करना चाहते हैं। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया एक एक पूनी को, छोटे छोटे उस कपास पिण्ड को देख देखकर, निरख निरख कर उसे तांते के पास ले जाकर धुनता रहता है। उस समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि रुई का कोई भी हिस्सा बिना धुने न रह जाय, उसके धुनने में देर लगती है। तो ऐसे ही प्रगति की भावना वाले ज्ञानी पुरुष अपने आप में दोषों को ढूँढता है और दोषों के परिहार की शुद्ध

सही भावना बनाता है। तो यहाँ स्वसमय और परसमय का यह विभाग बतलाया है कि स्वसमय तो परमात्मा अरहंत देव हैं।

**मूढत्तय सल्लत्तय दोसत्तय दंडगारवत्तयेहिं।**

**परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो होई।।130।।**

**मूढत्रय रहित योगी की प्रिवगति पथ नायकता के वर्णन के प्रसंग में देव**

**मूढता का निरूपण—** शिवगति का पथनायक कौन होता है, यह इस प्रकरण में पूर्व की भाँति बताया जा रहा, जो तीन मूढताओं से परिमुक्त हो जाता है वह योगी मोक्ष पथ का नायक है। तीन मूढतायें हैं देवमूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता। देवमूढता का अर्थ है कि जो यथार्थ देव है उसको देव न मानकर रागी द्वेषी जीवों में देवपने की कल्पना करके उनकी भक्ति में रहे वह देवमूढता है। मूढजनों के कितने की देवता बन गए। कुछ के तो नाम नियत से हैं और कुछ ऐसे अनियत से हैं कि जो चाहे नाम कह डालो। पत्थर इकट्ठे हों कहीं रास्ते में उन्हें देखकर उस पर एक पत्थर फेक देना ताकि उस देवता की वृद्धि होती रहे वह पत्थर उनका देवता हो गया। बेल के पेड़ होते हैं, उनमें लोग प्रायः कुछ कपड़े का एक लम्बा चिथड़ा सा फँलाकर बाँध देते हैं। बस वह चिथड़ा देव हो गया। लोग वहाँ से निकलते और वे अपने अपने चिथड़े भी बाँध देते। तो देव के चारित्र पसंद करते हैं मोहीजन कि जिनमें राग की बात आती है। चोरी की बात आये, राग की बात आये, द्वेष की बात आये। जैसे भगवान ने उसकी मदद किया, उसका विनाश किया, उसको अपने साथ ले गए। उसे बरबाद कर दिया। उसे यों अभिशाप दे दिया। न जाने कितनी ही तरह की कथायें देव के विषय में प्रसिद्ध कर रखी हैं। अरे दे तो सब एक समान हैं। उनमें रागद्वेष की वृत्ति नहीं होती। जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह कहलाता है देव। तो ऐसे वीतराग सर्वज्ञ में देवत्व तो माने नहीं और शस्त्रधारी को स्त्री पुत्र रखने वाले को, युद्ध करने वाले को, कितने ही ऐसे प्रसंगों में रत पुरुष को देव माने तो यह है देवमूढता।

**गुरुमूढता—** जो संसार शरीर और भोगों से विरक्त हैं, सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व में रमने की धुन रख रहे हैं वे कहलाते हैं गुरु, पर मोही जीवों ने न जाने किस किसमें गुरुपने की कल्पना कर ली है। जो भभूत रमार्ये, शस्त्र लें जटा रखाये या नाना प्रकार के काय क्लेशों को कर रहे, अपनी गद्दी रखते। महल मकान जायदाद के अधिकारी भी बने हुए हों, गाँजा, सुल्फा आदिक अनेक प्रकार के व्यसनों में रत हों, ऐसे पुरुषों को प्रायः लोग गुरु मानकर सेवा भक्ति किया करते हैं। वे गुरु नहीं है, उनमें मोह बन गया है लोगों का कि ये गुरु हैं। यह ही तो गुरुमूढता है।

**लोकमूढता की हैरानियाँ—** लोकमूढता लोक में जैसी धर्म के कार्यों में प्रसिद्धि कर दी हो उसमें कुछ विवेक न करके उस ही मार्ग पर चले वह कहलाती है लोकमूढता जैसे किसी नदी में स्नान कर रहे और स्नान करके दो सीढ़ी और ऊपर पैर रख कर आये और किसी ने प्रतिकूल बोल दिया तो झट आग बबूला हो गये। तो बताओ कहाँ गई वह पवित्रता? किसी पर्वत से गिर गए। किसी समुद्र में नहा लिया या और और प्रकार की क्रियायें कर डाला। कैसे कैसे पर्व मनाये जाते हैं कि जिनमें सर्वज्ञ और वीतराग के स्मरण का संबंध ही नहीं है। तो यह सब कहलाती है लोक मूढता। लोक मूढता सिखाने वाले गुरु भी हैरान हो जायेंगे। एक ऐसी ही घटना है कि कोई सन्यासी कमण्डल लिए नदी में स्नान करने जा रहा था तो रास्ते में सोचा कि कमण्डल कहाँ रख दें। तो उसकी बुद्धि में यह बात आयी कि इस नदी का जो यह सब रेत है उसके बीच किसी जगह एक गड्ढा सा बनाकर कमण्डल रख दें। सो उस कमण्डल को बालू से ढाँक दिया। और वह दी में नहाने

चला गया। उस सन्यासी को धूल का ढेर लगाते हुए कई लोगों ने देख लिया था सो देखने वाले लोगों ने समझा कि यहाँ कोई देव रहता है तभी तो सन्यासी ने बालू का ढेर लगाया। सो वहाँ उन लोगों ने भी अपने बालू के ढेर लगाये, अन्य मुसाफिरों ने भी अनेक ढेर लगा दिया। अब कमण्डल वाला सन्यासी नहाकर आया तो अब कमण्डल कहाँ देखे वहाँ पर बहुत से ढेर लग गए।

**लोक मूढ़ता का एक चित्रण तथा मूढ़त्रय रहित योग की आशा—** अब उधर से निकला कोई दूसरा सन्यासी उसके हाथ में था एक लड्डू। वह लड्डू उसके हाथ से छूटकर एक जगह गिर पड़ा। वहाँ पर पड़ा था गोबर या मल। वह लड्डू उससे भिड़ गया पर उस सन्यासी ने उसे उठाकर पोंछ कर अपने पास रख लिया अब रख तो लिया पर उसको इस बात की शंका बनी रही कि कहीं मुझे इस गंदी जगह से लड्डू उठाते हुए किसी ने देख न लिया हो, सो उसने उस गंदी जगह को ढांकने के लिए उस पर कुछ फूल बिखेर दिया। वह विष्टा उन फूलों से ढक गया। अब देखने वाले लोग यह नहीं समझ पा रहे थे कि यहाँ कोई गंदी चीज पड़ी थी। उसे देखकर उधर से आने जाने वाले लोगों ने यह समझा कि यहाँ पर कोई फुल्लन देवी है सो लोगों ने उस पर फूल डालना शुरू कर दिया। कुछ ही देर में वहाँ पर फूलों का बहुत बड़ा ढेर लग गया। तो वहाँ पर किसी विवेकी पुरुष ने सोचा कि हमें देखना चाहिए कि इन फूलों के ढेर के अन्दर क्या चीज है जिस पर फूलों का इतना बड़ा ढेर चढ़ रहा है। उसने हिम्मत की क्योंकि मिथ्यारूढ़ि को दूर करने में बड़ी हिम्मत की आवश्यकता है। तो उन फूलों को अलग किया तो क्या देखा कि वहाँ वह विष्टा उनका देवता पड़ा था (हँसी)। तो कितनी ही रूढियाँ ऐसी होती हैं कि जिन पर लोग कुछ विचार नहीं करते जैसी परम्परा चली आयी है उस परम्परा के अनुसार वृत्ति बना लिया करते हैं। तो यह देखना कि जिन क्रियाओं का सम्बंध, जिस पर्व का सम्बंध, जिस क्षेत्र का सम्बंध सर्वज्ञ वीतराग ज्ञान स्वरूप आत्मा से जुटा हुआ है वह तो है धर्म की बात और जहाँ वीतराग सर्वज्ञ देव की स्तुति से नहीं जुटा है वह धर्म सही नहीं है। चाहे वह कितना ही कुछ करे इस तरह की अगर बुद्धि नहीं है तो उसके लिए वह धर्म नहीं है। तो जो पुरुष तीन मूढ़ताओं से रहित होता है। वह मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है वह अन्तरात्मा कहलाता है।

**त्रिपाल्य परिमुक्त योगी की प्रावगति पथनायकता—** कल बताया गया था कि जो तीन मूढ़ताओं से मुक्त है वह योगी शिवगतिपथका नायक है। अब कह रहे हैं कि तीन शल्यों से परिमुक्त योगी मोक्षपथ का पथिक है वे शल्य तीन हैं (1) मिथ्यात्व, (2) माया और (3) निदान। मिथ्यात्व शल्य तो स्पष्ट है। जहाँ मिथ्यात्व है, पर द्रव्य में अहंकार अनुभव है, पर वस्तु को अपने की मान्यता है, जहाँ स्वभाव और परभाव का भेद नहीं ज्ञात है, ऐसी अज्ञान स्थिति को कहते हैं मिथ्याशल्य शल्य नाम इसलिए रखा कि जैसे कोई अभी पैर में या कहीं काँटा चुभ जाय तो उसकी शल्य रहती है दुःख होता है। तो उस शल्य की तरह जहाँ शल्य बनी रहे याने ये तीन काँटे हैं मोक्षमार्ग में जाने वाले के लिए। दूसरी शल्य है माया। मायाचार कपट बहुत बुरी कषाय है। जहाँ कपट है वहाँ धर्म का लेश भी नहीं है। मन में और है। वचन से और कह रहे, करेंगे कुछ और ऐसी जो कुछ बुद्धि है, वासना है जहाँ कि वह चतुराई समझता है वह कपट है और कपट का बड़ा खोद्य फल है। जो कपट से परिमुक्त है वही मोक्ष पथ का नायक है। तीसरा शल्य है निदान। आगे के लिए कोई ऐसी वाञ्छा करना, धर्म कार्य करना, मैं आगे इन्द्र होऊँ, राजा होऊँ धनिक होऊँ, ऐसी आशा को निदान करते हैं। इस अज्ञानी जीव को अपने आनन्द निधान निज तत्त्व का परिचय नहीं है इस कारण इन बाहरी पौदगलिक भावों को तरसता रहता है उस बेचारे को

यह पता नहीं कि राजा बनकर क्या मिल जायगा? जीव को शान्ति है सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न हुए संतोष में। धनी बन कर क्या मिल जायगा? धन के प्रसंग में उस ओर ही उपयोग बनाये रखने में अहंकार दुर्बुद्धि और असंतोष आदि सभी ऐब आ जाते हैं और मुक्त होने पर सब छूट जाते हैं पर इस ज्ञान का अपने तत्त्व की सुध न होने से वह बाह्य पदार्थों में रमा करता है। इन तीनों शल्यों से जो मुक्त है वह ही योगी मोक्षमार्ग का पथिक होता है।

**ज्ञानी के किंकर्तव्यविमूढता का अभाव—** एक कवि ने कहा है कि “यौवनं धन संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।” याने ये चार चीजें जवानी, धनसम्पदा, प्रभुता और अज्ञान इनमें से एक एक हो तो वह भी अनर्थ करने वाली है, फिर चारों मौजूद हैं उसके अनर्थ का, विनाश का तो कहना ही क्या है। तो इन तीन शल्यों से सहित प्राणी ऐसी ही विडम्बना में पड़ते हैं पर ज्ञानी जीव इन तीन शल्यों से मुक्त हैं। उसको अपने मार्ग का प्रकाश मिला है। वह किंकर्तव्यविमूढ नहीं बनता। मुझे क्या करना चाहिए? कैसे मेरा भला हो? यह उसको शंका नहीं है। उसे स्पष्ट प्रकाश प्राप्त है कि मुझे यह करना चाहिए। अपने आप के स्वरूप में रमना चाहिए। और दूसरों का जो भाव हो सो करें। मुझ राम को तो यही करना है, ऐसा स्पष्ट निर्णय है ज्ञानी जीव को तो यों जो तीन शल्यों से मुक्त है वह योगी मोक्षमार्ग का पथिक है।

**दोषत्रयमुक्त योगी की प्रािवगति पथनायकता—** जो तीन दोषों से मुक्त है वह योगी अन्तरात्मा है। मोह राग द्वेष और इन दोषों में केवल आकुलता ही मिलती है। ज्ञानी मोह से तो रहित होते ही हैं। ज्ञानी नाम ही उनका है जिन्होंने मोह को नष्ट कर दिया। मोह अर्थात् अज्ञान। पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता न जान सके और एक का दूसरे में संबंध स्वामित्व जानना तो ऐसा ज्ञान जहाँ बसा है वही तो मोह है, ऐसा अज्ञानी कहीं ज्ञानी कहला सकता है? प्रत्येक ज्ञानी मोह से तो रहित होता ही है, उसने और स्पष्ट बता दिया। अब किसी ज्ञानी के रागद्वेष चलते भी हैं तो उन राग द्वेषों में राग न होने से वे राग द्वेष इनके कहे नहीं जाते। कर्मों के उदय हैं ऐसा बानक बनता है, पर इनके उन विकार भावों से प्रीति नहीं है। तो यह जीव इन तीन दोषों से रहित है, जो मोक्षमार्ग का पथिक हो रहा। राग में राग न होने से राग की वेदना को भोगता हुआ भी वह राग का ज्ञाता कहा जाता है, कर्ता नहीं कहा जाता जिसमें राजी हो उसका यह जीव कर्ता बनता है। तो यह ज्ञानी तीनों दोषों से मुक्त है।

**दण्डत्रय परिमुक्त योगी की प्रािवगति पथनायकता—** ज्ञानी सम्यग्दृष्टि योगी पुरुष तीन दण्डों से रहित है। तीन दण्ड कहलाते हैं मन, वचन, माया। मन की प्रवृत्ति, उमंग वचन की प्रवृत्ति उमंग, काय की प्रवृत्ति उमंग ये तीन दण्ड हैं। दण्ड पा रहा है मनोयोग, वचन योग, काय योग, इसका जो दुष्टा प्रवर्तन है वह इस जीव के लिए दण्ड है, पर होगा कोई मूर्ख ऐसा कि दण्ड पा रहे हैं। दण्ड में लग रहे हैं और उस ही में खुश हो रहे हैं। मन, वचन काय की प्रवृत्तियों में ही अपना कर्तव्य पालन समझते हैं। इससे होता क्या है कि मन के इस प्रवर्तन से इसका परिपूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। परिपूर्ण ज्ञान निरपेक्ष है। असहाय है, स्वाश्रयसिद्ध है, वह मन के बेग वाले पुरुषों को कैसे प्राप्त हो सकता ऐसे ही वचन और काय के बेग वाले पुरुषों को परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, इसी कारण तो योगी पुरुष मन, वचन, काय को वश में करके केवल एक ज्ञानबल से ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व को निहारता रहता है जो यह विशुद्ध चैतन्य पिण्ड चिद्धति प्रकाश प्रतिहास मात्र स्वतः सिद्धः अंतस्तत्व है यही मैं हूँ और इस अंतस्तत्व की वृत्ति जयवंत हो। अन्य कुछ करने की भावना ज्ञानी की नहीं है। तो यह ज्ञानी तीन दण्डों से रहित है।

**गारवत्रय परिमुक्त योगी की प्रीवगति पथनायकता**— योगी पुरुष जो मोक्षमार्ग का पथिक है वह तीन गारवों से रहित है। गारव मद को कहते हैं। ऋद्धिगार, रसगारव और सातगारव। कोई मुनि कोई ऋद्धि पा लेंगे थोड़ी बहुत। खास ऋद्धियों में तो घमंड होता ही नहीं पर कुछ छोटी छोटी मोटी बात मिल गई तो उसका अहंकार बनता कि मैं ऋषि हूँ इनमें मैं प्रधान हूँ, सही हूँ, यह है ऋषिगारव। रसगारव किसी योगी को भोजन रसपूर्ण मिलता है और लोगों की भी ऐसी ही भावना है, आकर्षण है। बताओ कुछ ठीक लगता क्या कि संग में तो बहुत से लोग हैं उन्हें नहीं पूछा जा रहा, पर उनमें से एक को पूछा जा रहा? ठीक तो नहीं लगता और इसी प्रकार तो उसे अपने आप में रस लोभ का घमंड बन जाता है। सातगौरव जिसकी सेवा बहुत होती हो, जो बहुत साता में, सुख में, आराम में रहता हो, जिस पर लोगों का ऐसा आकर्षण बना हो वह उस साता का गौरव करता है। उसके चित्त में घमंड आता है कि मैं बहुत श्रेष्ठ हूँ। लोगों की मुझ पर बहुत अधिक भक्ति है। मेरे को साता सुख शान्ति के लिए क्षणमात्र में साधन जुटा दिया करते हैं। ऐसी अपनी पायी हुई साता की स्थिति में योगी घमंड करता है। तो जो ऐसी साता ऋद्धि इस आदिक में घमंड करता हो वह योगी नहीं है। इन तीनों गारवों से जो रहित है वह ही योगी मोक्ष मार्ग का नायक है।

**रयणत्तय करणत्तयजोगत्तय गुत्तित्तयविसुद्धेहिं ।**

**संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई ।।131 ।।**

**रत्नत्रय से युक्त योगी की प्रीवगति पथनायकता**— अन्तरात्मा का यह प्रकरण चल रहा है। मोक्षमार्ग का पथिक कहो, अन्तरात्मा कहो, उसके वर्णन में कह रहे हैं कि जो इन बातों से संयुक्त है वह योगी मोक्षमार्ग का पथिक है। यह विधि रूप से वर्णन चल रहा है। जो रत्नत्रय से युक्त है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीन गुणों की जहाँ विशेषता है वह है मोक्षमार्ग का पथिक। सम्यग्दर्शन में अपने आत्मा के सहज अविकार ज्ञानस्वरूप में यह मैं हूँ ऐसी प्रतीति रहा करती है। जितने भी पदार्थ होते हैं संसारी जीवों के उन प्रवृत्तियों की दिशा का मूल है श्रद्धान जिसका जिस ढंग का श्रद्धान होता है उसकी उस माफिक प्रवृत्तियाँ होगी। तो जिस अपने अविकार सहज स्वरूप में आत्मत्व का श्रद्धान है उसकी सारी प्रवृत्तियाँ इस आत्मविकास से संबंध रखती हुई होंगी। जिसका श्रद्धान सही है उस का सम्यग्ज्ञान है। जिसका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है उसकी क्रिया सम्यक्चारित्र है। वह क्रिया आयगी अन्तः क्रिया, जो बाह्य पदार्थों से तो उपेक्षा कराये और अन्तस्तत्व की ओर ले जाय। वही तो चारित्र है। तो ऐसा रत्नत्रय से युक्त योगी मोक्षमार्ग का नायक है।

**करणत्रय से तथा गुप्तित्रय से युक्त योगी की प्रीवगति पथनायकता**— करणत्रय से युक्त योगी शिवगति पथनायक है। यह करणत्रय मोक्षमार्ग में प्रगति करने वाला है। तीन कारण होते हैं। आत्मा की विशुद्धि में बढ़ाने के लिए। वे करण क्या है? अन्धः करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। करण मायने साधकतमभाव। साधन जहाँ ये तीन परिणाम हुए तो जिस प्रयोजन के लिए हुए उसकी सिद्धि हो जाती है। यह परिणाम कई कामों के लिए हुआ करता है। सम्यक्त्व पाने के लिए, चात्रि पाने के लिए और भी कार्य बीच में आते हैं। अंतःकरण करना, अनन्तानुबंधी को बिल्कुल बदल देना, ऐसे बहुत से कार्य हैं जिनमें तीन करण दो करण आया करते हैं। तो जो इनक रणों से युक्त है वह योगी मोक्षमार्ग का नायक है। जो तीन गुप्तियों से युक्त है—(1) मनोगुप्ति, (2) वचनगुप्ति और (3) कायगुप्ति, इन तीन गुप्तियों से जो संयुक्त है वह पुरुष मोक्ष मार्ग का नायक है। मन जिसके पूर्ण वश है। कैसा ज्ञान प्रकाश जगता है योगियों के कि ज्ञान प्रकाश जिस

तरह मनको हुक्म करता, बैठाता रहता, चिंतन करता, मनके वश योगी नहीं, किन्तु योगी के वश में मन है, वचन पर वश करना तो बहुत ही आसान है। थोड़ा ज्ञानबल चाहिए भीतर में थोड़ा ज्ञानबल के कारण आनन्द का अनुभव होना चाहिए कि उसके वचन वश हो जाते। कम बोलना, हितकारी बोलना, प्रिय बोलना ये तत्काल भी शान्ति करते हैं और भविष्य में भी शान्ति मिलती है तो जो इन तीन गुप्तियों से युक्त है और विशुद्ध परिणामों से युक्त है वह पुरुष मोक्षमार्ग का नायक होता है।

**बहिरम्भंतरगंधविमुक्तो सुद्धोवजोयसंजुतो ।**

**मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ।।132।।**

**बाह्याम्यन्तर ग्रन्थविमुक्त योगी की प्रीवगति पथनायकता**— जो पुरुष बहिरंग अन्तरंग परिग्रह से विमुक्त है वह मोक्ष मार्ग का पथिक है। दो ही तो रास्ते हैं—संसार में रुले या मोक्ष में पहुँच जाय। जब इन दो रास्तों में से जो रास्ता रुचे उस पर चलना आसान है। संसार मार्ग का रास्ता तो प्रायः रोज ही मिला जीवों को कभी कभी यह जीव परेशान होकर भले ही कह बैठे कि संसार में कुछ नहीं है, असार है, विडम्बना है मगर यह कुछ शोक में आकर कह रहा कुछ भीतर की बुद्धि से नहीं कह रहा, कुछ ऐसा ही कहने में वह अपनी चतुराई समझ रहा। उसे रुच रहा भीतर में वही सब। एक कोई बुढ़ा बाबा अपने घर के सामने चबूतरे पर अधिकतर बैठा करता था। उसके घर 4-6 नाती पोते भी थे, सो प्रतिदिन वे नाती पोते उसे बहुत हैरान किया करते थे। कहीं सिर पर चढ़ना, कहीं मूछ पकड़ना, कहीं हाथ पैर झकझोरना तो वह बूढ़ा बाबा अपने उन नाती पोतों से बहुत तंग आ गया था, क्योंकि रोज रोज उसकी यही हालत हुआ करती थी। एक दिन वह बूढ़ा अपने उसी चबूतरे पर बैठा हुआ रो रहा था। वहाँ से निकला एक सन्यासी उस सन्यासी ने उस बूढ़े बाबा से रोने का कारण पूछा तो उसने रोने का कारण यह बताया कि महाराज हमारे नाते पोते हमें बहुत हैरान करते हैं। तो सन्यासी बोता क्या हम तुम्हारा यह दुःख मेंट दें। दृहाँ हाँ मेंट दीजिए, आप की बहुत बड़ी कृपा होगी। देखिये उस बूढ़े बाबा ने समझा कि शायद सन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे कि फिर से नाती पोते हमें तंग न करेंगे बल्कि हमारे चरणों में लोटते फिरेंगे पर सन्यासी ने क्या कहा। बाबा जी आप घर छोड़ दीजिए और हमसे साथ चलिये बस तुम्हारा यह दुःख दूर हो जायगा। तो सन्यासी की इस प्रकार की बात सुनकर वह बूढ़ा बाबा बहुत झुंझलाया, बोला कि अरे हमारे नाती पोते हमारे ही रहेंगे, हम उनके बाबा ही रहेंगे, तुम तीसरे कौन आ गए बीच में फूट डालने वाले? इतनी बात सुनकर सन्यासी आगे बढ़ गया। तो बात यह कर रहे कि जिस बात से ये जीव दुःखी होते जाते उनको ही अपनाते जाते। एक घर के काम की ही बात नहीं, प्रत्येक कार्य की यही बात है। तो जहाँ इन बाहरी बातों में रुचि लगी है वह है संसार का मार्ग और मोक्ष का मार्ग क्या है? मोक्ष में रहेगा यह जीव अकेला, विकसित पूर्ण अनन्त आनन्दमय, अनन्त ज्ञानमय, उससे बढ़कर कुछ वैभव नहीं है। जीव की ऐसी शुद्ध स्थिति बनती है कि अनन्त काल तक यह ही स्थिति रहती है। तो जिसको केवल रहना है उसको अब भी यहाँ अपने कैवल्य स्वरूप को निरखना चाहिए। कैवल्य के आश्रय से केवल बनेंगे, अद्वैत के आश्रय से अद्वैत बनेंगे। तो ऐसे ये दो मार्ग हैं। संसार मार्ग तो परिग्रह में आसक्त रहना है, मोक्ष मार्ग है परिग्रह से उपेक्षा करना और शुद्ध ज्ञान स्वरूप को निहारना। तो जो योगी बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों से विमुक्त है वह मोक्ष मार्ग का पथिक है।

**भुद्धोपयोग संयुक्त योगी की प्रीवगति पथनायकता**— जो योगी शुद्धोपयोग से संयुक्त है वह मोक्ष मार्ग का नायक है शुद्धोपयोग उसे कहते हैं जहाँ रागद्वेष रंच न रहें और यहाँ ज्ञान की बर्तना ही चल रही है, जानन जानन चल रहा है। कोई पुरुष शहर में



सड़क से जा रहा वह सैकड़ों पुरुषों को देख रहा है और चलता जा रहा है कि ये सब लोग जा रहे हैं और वहाँ ही कोई परिचय का आ जाय, मानों ससुराल का आदमी दिख जाय तो झट उससे गले से गले मिलने लगते हैं। तो जानते नहीं क्या कि रागद्वेष रहित जानन क्या कहलाता है और रागद्वेष में लिप्त हो क्यों रहे? इसका पता तो है मगर ऐसा ही ऊपरी पता है। जो रागादिक विकारों से निराला ज्ञानी है, जिसको निज अंतस्तत्व का अनुभव जगा है। वही पुरुष ज्ञानवृत्ति कर सकता है। बाकी तो सामने कोई वस्तु नहीं है तो बड़ी शान्ति से बैठे हैं। यह भी एक कठिन बात है, मगर शान्ति तो मूल में है ही नहीं और जो शुद्धोपयोग है, रागद्वेष रहित ज्ञान की बर्तना है, यह जिसे प्राप्त हुआ है वह तो मोक्षमार्ग का प्रगतिशील नायक है। जिन योगियों का उपयोग शुद्धोपयोग नहीं है वे शुभोपयोग भी करते हैं और मुनि ही कहलाते हैं और वह शुभोपयोग एक पात्रता बनाये रखता है मगर शुद्धोपयोग में जो पायगा उसकी प्रतीति रहती है। तो जो योगी शुद्धोपयोग से युक्त है वह मोक्ष पदका नेता है।

**मूलोत्तर गुणसमृद्ध योगी की प्रीवगति पथनायकता—** जो योगी मूलगुण और उत्तर गुणों से पूर्ण है वह मोक्षमार्ग का नेता है। साधु के मूल गुण 28 बताये गए हैं। 5 इन्द्रिय के विषयों का निरोध, छः आवश्यक कर्तव्यों का पालन, स्नान का त्याग, दंतमंजन का त्याग भूमि पर सोना, वस्त्र का त्याग, केशों का लुञ्ज करना, एक बार शुद्ध भोजन करना, खड़े खड़े भोजन करना, 5 महाव्रतों का पालन, 5 समितियों का पालन ये साधुओं के मूल गुण हैं। इनकी विराधना नहीं है, इनका पालन है। और उत्तरगुण कहलाते हैं विशेष साधना। रात्रिभर ध्यान करना, कायोत्सर्ग से ध्यान करना, वर्षाकाल, शीतकाल, ग्रीष्मकाल की साधनायें करना, तपश्चरण करना ये सब उत्तरगुण कहलाते हैं। तो जो मूलगुण और उत्तरगुणों से परिपूर्ण हैं वे योगी मोक्षमार्ग के नायक हैं। यहाँ अन्तरात्माओं की तारीफ बतायी जा रही है। कि वे इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप के अभिमुख रहा करते हैं।

**जंजा इजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं ।**

**सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साइए साहू ।।133।।**

**सम्यक्त्वारोधना का उपदे—** अन्तरात्मा का वर्णन करके अब आदेश उपदेश रूप में कहा जा रहा है कि आत्महित चाहने वाले भव्य पुरुष आत्महित के लिए सम्यक्त्व का चिंतन, मनन, श्रवण और साधना करना चाहिए। यह सम्यक्त्व जन्म बुढ़ापा मृत्यु दुःख रूपी दुष्ट सर्पों के विष का नाश करने वाला है। यह सम्यक्त्व अष्टांग सहित निर्दोष और जन्म बुढ़ापा आदिक सर्व बिडम्बनाओं को नष्ट करने वाला है। देखिये नष्ट तो होते हैं चारित्र के प्रताप से किन्तु चारित्र बनता है सम्यक्त्व के होने पर। इस कारण मौलिक बात तो सम्यक्त्व की रही। सम्यग्दर्शन का ही यह सब माहात्म्य है कि जो यह जीव आत्मविकास में प्रगति करता हुआ कर्मों का नाश कर लेता है। यह अष्ट कर्म ही जीव के लिए कलंक हैं। इन कर्मों का जंब तक बंधन सम्बंध रहता है तब तक यह जीव संसार दशा में रहता है। कर्मों से रहित हुआ कि अनन्त काल के लिए पवित्र शुद्ध अवस्था प्राप्त हुई। संसार की गतियाँ, जन्म मरण करते रहना यह तो इस जीव के लिए कष्ट ही कष्ट है। सर्व कष्टों से बचने का कितना सुगम उपाय है कि अपने स्वरूप को जाने और अपने स्वरूप मात्र को ही अपना सर्वस्व माने और इस ही को निरख कर संतुष्ट हों। सुगम बात है। स्वाधीन बात है और इतनी सुगम महान बात के लिए इस जीव को उमंग नहीं आती है तो यह सब मोह विषधर का डसा हुआ जीव है, नहीं तो अपनी बात स्वाभाविक बात तो तुरन्त समझ में आना चाहिए। अनादि से लेकर अब तक इस जीव ने अपने स्वरूप की सम्हाल नहीं की। अब मनुष्य हुए, श्रेष्ठ मन पाया, विवेकजगा तो अब अपने विवेक से ऐसा दृढ़ निश्चय वाला

बनना है कि मुझे तो मेरे स्वरूप की उपासना के सिवाय और कुछ न चाहिए। बाकी बाहर सब धोखा ही धोखा है जहाँ सम्यक्त्व का प्रकाश हुआ वहाँ इसको सद्बुद्धि बनती संयम होता, आत्मा चरित्र बनता और सर्व कर्मों से मुक्ति मिलती है। इस कारण हे भव्य जीव इस सम्यक्त्व का चिंतन कर मनन कर सम्यक्त्व का जो विषय है आत्मश्रद्धान, पदार्थों का सही श्रद्धान, उस पर दृढ़ता लाइये, उस सम्यक्त्व की वार्ता का श्रवण कीजिए और सम्यक्त्व की साधना बनाइये—

**किं बहुणा हो देविंदाहिंद णरिंङ्गणहरिंदे हिं ।**

**पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाव सम्मगुणं ।।134 ।।**

**सम्यक्त्व गुण का प्रभाव—** इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि बहुत कहने से अब क्या लाभ? जो परमात्मा देवेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र गणधरेन्द्र से पूज्य हैं सो यह सब बात सम्यक्त्व गुण का प्रभाव जानो। संसार में रुलते हुए इस जीव को कौन सहाय होता है? एक सम्यग्दर्शन। पथ दिख जाय फिर जो चलते बन सकेगा और जिसकी आँखें अंधी हैं, पथ दिखता ही नहीं है उनसे तो चलना भी क्या बने? और पथ न दिखने से भीतर की उलझन भी कैसे मिटे? तो ऐसे ही सम्यग्दर्शन से अपने आत्मस्वभाव का अनुभव कराकर पथ दिखा दिया कि हे भव्य जीव यदि शाश्वत शान्ति चाहते हो तो शान्त स्वरूप सहज ज्ञानमात्र इस अंतस्तत्व में उपयोग को मग्न करो, रास्ता दिखा दिया। अब बार बार इस ही का अभ्यास बने, तो यह चरित्र अपने आप में आ जायगा। बहुत बात कहने से फायदा क्या? एक इस सम्यक्त्व गुण का प्रताप समझिये कि परमात्मपद प्राप्त होता है।

**सम्यक्त्व का मूल महत्व व प्रभाव—** जब गाड़ी कहीं रुक जाती है तो थोड़ा चलना तो चाहिए। स्टार्ट तो हो, फिर आगे बेग बन जायगा, गाड़ी अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जायगी, तो सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ किया तो मोक्षमार्ग ने दर्शन कराया और अनुभव सहित दर्शन कराया। सम्यग्दर्शन हुए बाद कोई भी इस जीव को बहका नहीं सकता जैसे कोई स्वादिष्ट भोजन किये बाद उसको उसकी प्रतीति अनुभूति तो बनी है ऐसे ही निज सहज अविकार ज्ञानस्वरूप की अनुभूति होने पर और उस ही के कारण सहज आनन्द का अनुभव होने पर फिर इसको कौन बहका सकता? एकदम स्पष्ट समझ तो लोगों के यह होती कि यह हूँ मैं ज्ञानानन्द घन अंतस्तत्व। उस ही सम्यक्त्व गुण का प्रताप है कि इससे उत्तरोत्तर उन्नति चली संयम प्राप्त किया। मुनिव्रत वस्तुतः निभाया और घातिया कर्म मल को दूर कर यह भव्य जीव परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। तो जिसके प्रताप से ऐसा त्रिलोक पूज्य पद प्राप्त होता है उस सम्यक्त्व का प्रभाव जानकर अपने लिए इस ही को हितकारी जानकर सम्यक्त्व का यत्न करना चाहिए। सम्यक्त्व के यत्न में अध्ययन कीजिए, चर्चा कीजिए केवल एक आत्महित की दृष्टि से और जो अपना सहज स्वरूप अनुभूत हो उसका एकाग्र ध्यान कीजिए तो सम्यक्त्व के प्रताप से जो जो प्रभाव आवष्यक हैं वे सब मिलते बढ़ते चले जायेंगे।

**भुत्तो अयोगलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोवमो यज्जे ।**

**भुंजइ जे दुस्सीला स्तपिंडं असंजतो ।।135 ।।**

**अज्ञता में दुश्प्रवर्तन—** जिन जीवों का आत्मा के सहज अविकार स्वरूप का अनुभव नहीं बना, ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी कुछ बुद्धि पाये तो भी उनका दुरुपयोग ही किया। पञ्चेन्द्रिय के विषयों में अज्ञानी जन आशक्त होते हैं। वे नाना प्रकार से मांस आदिक अभक्ष्य भोजन भी करने लगते हैं। उनके चित्त में दया नहीं रहती। केवल एक अपने इन्द्रियविषयों की साधना ही इष्ट है, यज्ञ में बलिका रूप बना दिया, अग्नि की शिखा

में पशुओं को होम दिया, अनेक प्रकार से धर्म का रूप बनाकर और अन्य अन्य भी घटनाओं को मांस पिण्ड को खाते हैं वे जीव असंयमी हैं, अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। देखिये सबसे पहले जीव दया आती है। धर्म मार्ग में जो बढ़ते हैं उनको प्रथम जीव दया आनी चाहिए और जीव दया वास्तव में उसके होती है जिसने अपने जीव के समान समस्तजीवों को जाना है और स्वरूप दृष्टि से जाना है। तो वह तो मोक्षमार्ग का भी रास्ता भूल गया है जिसको कि अपने स्वरूप का दर्शन नहीं है वह फिर दूसरे जीवों पर दया नहीं कर सकता। वह अज्ञानी है और असंयमी है।

**उवसमई सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए तस्स।**

**परिवटंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ।।136 ।।**

**मिथ्यात्व का आघात—** कदाचित इस जीव को कुछ सुविधा भी मिले ज्ञानार्जन आदिक की तो भी वर्तमान अवसर्पिणी काल के दोष से, मिथ्यात्व के उदय से प्रेरित हुए इस जीव के सम्यक्त्व का उपम हो जाता है, सम्यक्त्व नहीं हो जाता और कषाय पुनः उत्पन्न हो जाती। कुछ झलक आयी, कुछ बात सीधी हुई तो वह भी उससे चिग जाता है। काल का परिवर्तन होता हो रहता है मगर मनुष्यों के उत्थान और पतन को देखकर काल के परिवर्तन की बात उपचार से है। इस काल में जीव इस ढंग से होते हैं यह बात तो युक्त है मगर काल में दोष आया है सो बात नहीं। काल तो अपनी शुद्ध प्याय को लिए हुए होता है। एक एक समय होना काल द्रव्य की शुद्ध प्याय है और घड़ी घंटा महीना वगैरह जो लोग मानते हैं वे तो सही समयों का जो समुदाय है उसमें कल्पना की जाती है। तो इस काल में लोगों में ह्रास दिख जाता है। इसे कहते हैं अवसर्पिणी काल और देखो ऐसा योग हुआ कि यह बना हुंदावसर्पिणी काल। एक तो अवसर्पिणी काल में प्रकृत्या ही लोग पतन की ओर चलते हैं और उसमें अनेक अवसर्पिणी आदि के गुजरने के बाद हुंदावसर्पिणी आता है। तो आज के इस अवसर्पिणी काल को हुंदावसर्पिणी काल कहते हैं। धन्य हैं वे जीव कि जो ऐसे काल में, ऐसे क्षेत्र में अपने आप के सहज स्वरूप की दृष्टि बनाये रहते हैं पर जो मिथ्यात्व से प्रेरित है उनके कषाय बराबर उत्पन्न होती रहती हैं। कषाय ही इसकी एक फौकरी है। रात दिन चौबीसों घंटे यह कषाय वृत्ति चलती ही रहती है।

**होनहार का आधार अहं प्रत्यय—** यह जीव स्वरूपतः चैतन्य प्रकाशमान है। लेकिन इसका अनुभव आनन्द न पाने से यह जीव बाह्य पदार्थों में यह मैं हूँ, ऐसी बुद्धि बनाता है। वास्तव में मैं हूँ के निर्णय से संसार और मोक्ष का फैसला हो जाता है, अविचार सहज स्वरूप में मैं हूँ ऐसी अनुभूति करने वाले के तो आत्मविकास में प्रगति चलती है और विकार में रागद्वेषादिक भावों में मैं हूँ ऐसा अनुभव करने से इसके रागादिक वृत्ति जगती है, तो मैं हूँ का निर्णय करना है, यह अपने को लाभदायक है। मैं क्या हूँ, जो स्वतः होऊँ, पर पदार्थ का संबंध पाकर निमित्त पाकर जो कुछ बात बनती है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ। तो ऐसा अपना मैं का निर्णय करने पर तो मोक्षमार्ग मिल जाता है और उल्टा निर्णय बने, देह को ही माने कि यह मैं हूँ जो लोग दिखे उनको ही माने कि ये सब वास्तविक हैं। तो जो विपरीत रूप माने वह संसार में रूलता है और जो अपने को सही रूप में स्वीकार करे तो वह संसार भ्रमण से हट जाता है। निमित्त नैमित्तिक भाव सर्वत्र मिलेगा। और निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूप में ही परिणमता है, यह स्वतंत्रता भी देखेंगे। तो अपने परिणमन की स्वतंत्रता देखने से तो कायरता दूर होती है। कि अब मैं क्या करूँ? कर्म ही करते हैं जो करते हैं। मुझे तो भोगना ही बदा है...ये कायरताये में नहीं करती। और निमित्त नैमित्तिक भाव जान लेने से अंदर एक उमंग उठती है कि ये राद्वेषादिक भाव औपाधिक हैं, मिथ्या हैं, शीघ्र हट सकने वाले हैं तो जो कुछ विकृ

ति हो रही, जो अपनी आप की विडम्बना चल रही है वह सब कर्मोदय का निमित्त पाकर चल रही है। मैं तो सहज ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में विडम्बना नहीं है, पर निमित्त पाकर विडम्बना बन ही रही है। सो बाह्य पदार्थों को छोड़कर निज सहज ज्ञानस्वभाव में उपयोग को मग्न करें तो यह सब विडम्बना रूप हो जाता है।

**गुण—वय—तव—सम—पडिमा—दाणं—जलगालणं अणत्थमियं ।**

**दंसण—णाण—चारित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ।।137 ।।**

**श्रावक की 53 क्रियावों में आठ मूल गुण, बाहर व्रत व बाहर तप—** यह रयणसार ग्रन्थ अब कुछ की गाथाओं के बाद पूर्ण होने वाला है। तत्त्वस्वरूप के बारे में काफी वर्णन हो चुका था, किन्तु अब कैसे प्रयो 'गृहस्थ बनायें कि धर्म कार्य में सफल हो सकें, उस विधि से इस गाथा में बताया है कि श्रावक के 53 गुण होते हैं। 53 क्रियायें वे कौन सी हैं? आठ मूलगुण मद्य मांस मधु का त्याग, पंच उदम्बर फलों का त्याग, ये 8 चीजें अभक्ष्य हैं, बुद्धि को बिगाड़ने वाली हैं। निर्दयता को बढ़ावा देने वाली है इनमा त्याग गृहस्थ श्रावक के रहता ही है। मद्य तो चीजें सड़कर बनती है और मद्य पीने में अनेक जीवों की हिंसा होती है और मद्य से बेसुधी भी होती है। यह बहुत अनर्थ की चीज है। इसका त्याग विवेकी गृहस्थ के रहता ही है। मांस जीव के घात से उत्पन्न होता है और मांस हुए बाद उस मांस में निरन्तर असंख्याते जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मांस अभक्ष्य है। मधु त्याग, शहद मक्खियों का बमन और मल है और उसमें अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो लोग शहद तोड़ते हैं उसमें अनेक हिंसायें हो जाती हैं, और वह वस्तु ऐसी है कि उसमें निरन्तर जीवोत्पत्ति होती रहती है। तो यह मांस अभक्ष्य है। जैन शासन में उत्पन्न हुए लोगों के अष्टमूल गुण के विरुद्ध प्रवर्तन भी नहीं है और कदाचित किसी ने मद्य, मांस, मधु का प्रयोग किया हो तो उस बेचारे को जैन शासन की महिमा ज्ञात नहीं है। तो मद्य मांस मधु का त्याग और पंच उदम्बर फलों का त्याग ये श्रावक के 8 मूल गुण हैं। उदम्बरबड़ पीपर ऊमर कटूमर पाकर आदिक बताये गए हैं, पर लक्षण से यह जानें कि जिस पेड़ में फूल तो आयें नहीं और पेड़ की साखाओं में ही फल लग जाये तो ऐसे फल उदम्बर कहलाते हैं। इनका त्याग हो, बारह व्रतों का पालन हो। 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षा व्रत, इनका वर्णन आ चुका है और 12 प्रकार के तपों में श्रावकों की शक्ति के अनुसार जो बन सकता है वह करता है इस तपश्चरण को। तपश्चरण के रहने पर यह उपयोग खोटी जगह नहीं आता है। यह अपने विशुद्ध भावों को ही अनुभवता है। तो 12 प्रकार के तप ये श्रावकों की मूल क्रियायें हैं। श्रावकों की 53 क्रियावों में ये सब बातें बतलायी जा रही हैं।

**श्रावक की 53 क्रियावों में समतापरिणाम, एकादशी प्रतिमा, दान, जलगालन अनस्तमित भोजन, दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना व चारित्राराधना—** समता परिणाम श्रावक की 53 क्रियावों में हैं। पूर्ण समता तो ऊपर के गुणस्थानों में आती है फिर भी लोक व्यवहार माफिक उसके समता परिणाम हुआ ही करता है। कोई अपराध करे तो उसको क्षमा कर देना, ऐसी अपने स्वभाव की रुचि बने, वह समता भाव है। श्रावक की 53 क्रियावों में 11 प्रतिमायें हैं ये संयम में बढ़ते हुए जीव के दर्जे हैं। दान—यह श्रावक की 53 क्रियावों में हैं प्रतिदिन दान करना चाहिए जो व्यापारादिक से किसी प्रकार से पाप उत्पन्न किया है तो उसके दूर करने का उपाय यह ही उन बाह्य पदार्थों का त्याग कर देना है जिसको उपयोग में लेकर यह जीव अनर्थ विकार करता चला आ रहा। जलगालन—यह श्रावक की क्रियावों में है। जल छानकर पीना। कहीं भी जा रहे हैं। जल छानकर कैसे पिया जा सकेगा कि अपने पास छन्ना गिलास वगैरह साधन रखें। तो जल

छान कर पीना, यह श्रावकों की 53 क्रियाओं में है और अनस्तमित याने सूर्य का अस्त न हो पाये उससे पहले ही दिन में भोजन कर लेना। इस अनस्तमित को बुन्देलखड़ में अन्थो कहते हैं। यह इसका बिगड़ा रूप है। संक्षिप्त शब्द है अनस्तमित भोजन। यूर्यास्त से पहले भोजन कर लेना अनस्वमित अथवा अन्थो शब्द के अतिरिक्त कोई ऐसा संक्षिप्त शब्द नहीं जो यह बात जाहिर करे कि दिन में भी भोजन करना श्रावक का कर्तव्य है, फिर जो शब्द लगाते हैं लोग—जैसे व्यालू करलो, खाना खालो मगर उन सबका अर्थ अनस्तमित नहीं। रात्रि में भोजन करने को भी व्यालू कहते हैं, खाना शब्द तो किसी भी समय खाने को बोलते हैं। पर श्रावक की 53 क्रियाओं में सूर्यास्त से पहले भोजन कर लेना क्रिया बताया है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र, इनका आदर होना, इनके प्रति शक्तिअनुसार चलना, ये सब मिलकर श्रावक की 53 क्रियायें होती हैं। वे 53 क्रियायें क्या हुई? 8 मूल गुण, 12 व्रत, 12 तप, समता, 11 प्रतिमा, दान, जलगायन, अनस्तमित भोजन और दर्शन ज्ञान चारित्र की क्रियायें, ये सब श्रावक की 53 क्रियायें कहीं गई हैं।

**णाणेण ज्ञाणसिज्झी ज्ञाणा दो सव्वकम्मणिज्जरणं ।**

**णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।138 ।।**

**मोक्षोपाय में ज्ञान का मौलिक महत्व एवं ज्ञानाभ्यास के लिये प्रेरणा—** ज्ञानाभ्यास कितना आवश्यक है यह बात इस गाथा में बतायी गई है संसार के समस्त दुःखों से दूर होना है याने मोक्ष पाना है तो निर्जरा चाहिए पहले, तब कर्मों का निर्जरण होता रहेगा और वह भी सम्बर पूर्वक कर्म झड़ते-झड़ते कभी सभी कर्म नष्ट हो जायेंगे और जब सब कर्म नष्ट हुए तो मोक्ष मिला। तो मोक्ष पाने के लिए निर्जरा आवश्यक है। निर्जरा के बिना मुक्ति नहीं मिलती और निर्जरा होती है ध्यान से, याने पहले तो यह मन आत्मस्वरूप की ओर सुगमता से लग जाय और फिर जहाँ अनुभूति होती है वहाँ मन की वृत्ति नहीं रहती। केवल उपयोग ही अपने आपके स्वरूप में स्थिर हो जाय ऐसी स्थिति से निर्जरा होती है, सो यह स्थिति ध्यान की ही तो है, तो ध्यानसिद्धि चाहिए और ध्यान की सिद्धि होती है ज्ञान से। जब स्वरूप का ज्ञान हो, जिस ओर अपना उपयोग रमाना हो उस तत्व का ज्ञान हो तब ही तो उपयोग रमेगा। तो ध्यान की सिद्धि ज्ञान से हुई और निर्जरा की सिद्धि ध्यान से हुई और मोक्ष की सिद्धि निर्जरा से हुई। तब मूल में कर्तव्य क्या रहा? ज्ञानाभ्यास, द्रव्य, गुण पर्याय। इस विधि से ज्ञान बढ़ावें और फिर अपने में द्रव्य गुण पर्याय की विधि से अपने में निरखिये यह सर्व सिद्धि का कारण है ज्ञानाभ्यास। इस कारण मुक्ति के अभिलाषियों को अर्थात् आत्मकल्याण चाहने वालों को ज्ञान में अभ्यास अपना बढ़ाना चाहिए।

**कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।**

**सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ।।139 ।।**

**तप संयम वैराग्य के साध श्रुतभावन के कर्तव्य का अनुरोध—** तप संय और वैराग्य से आत्मकल्याण का लाभ होता है। तप मायने इच्छानिरोध, संयम अर्थात् उपयोग का आत्म स्वरूप में संयत हो जाना और वैराग्य मायने परभावों से विरक्त होना, ऐसा तप संयम और वैराग्य इन से आत्महित होता है। तप किसके होता है? जो व्यक्ति साधक कुशल हैं, पदार्थों के स्वरूप से जो अनभिज्ञ है। पुरुषों के तप बनता है तो कुशल पुरुषों के तप बनता है और निपुण पुरुषों के संयम बनता है। जो ज्ञानाभ्यास द्वारा बने हैं, जब चाहे अपने आपके स्वरूप की ओर लग गए, उसमें संयत हो गए ऐसा कोई निपुण पुरुष हो उसके संयम बनता है और जो कषायों का शमन करने में तत्पर हो, जो क्षमाशील हो,

शान्तिप्रिय हो, कषायों के शमन की ओर वृत्ति जगे उस पुरुष के वैराग्य होता है, तो ये तीनों ही बातें तप, व्रत, संयम और वैराग्य श्रुतभावना से हुआ करता है, अर्थात् श्रुत का अभ्यास, आगम के अभ्यास से ये तीनों बातें मिलती हैं, इस कारण आत्महित के इच्छुक पुरुषों को श्रुताभ्यास की भावना करना चाहिए। श्रुताभ्यास का प्रयत्न करना चाहिए, श्रुताभ्यास में निरन्तर रहना चाहिए जीव को शान्ति है सम्यग्ज्ञान से समस्त पर पदार्थों से निराला विभक्त अपने आप जो सहज स्वरूप है उसमें दृष्टि जिसकी है उस पुरुष को कोई शंका नहीं है उस पुरुष को कहीं भी भय नहीं उस पुरुष को कहीं शल्य नहीं। जहाँ अपने स्वरूप दृष्टि से चिगे वहाँ ही इसको बंधन है, आकुलता है संसार भटकना है, तो यह स्वरूप दृष्टि की दृढ़ता करने के लिए क्या पौरुष करना, वह है श्रुतका अभ्यास, आगम का ज्ञानार्जन।

**कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंच संसारे ।**

**हिंडदि ण लहइ सम्मं संसारब्भमणपारंमो ।।140।।**

**संसारी जीव का मिथ्यात्वस्वरूप से पंच संसार में अनन्तकाल परिभ्रमण—**

अनन्त काल व्यतीत हुआ मिथ्यात्व के स्वरूप से तन्मय रहने में इस जीव का और यही कारण है कि अनन्त काल यह पंच संसार में भ्रमण करता रहा। संसरण का नाम संसार है अर्थात् भ्रमण। जन्म लेना और मरण करना यह ही जहाँ बना रहता है उसे कहते हैं संसरण। यह संसरण अनादि काल से जीव का चला आया है। उस अनादि काल का परिचय बताने के लिए पंच परिवर्तन की बात कही गई है। एक परिवर्तन का ही बहुत समय है फिर ऐसे तो अनन्त परिवर्तन हो गए जीव के, जब से यह संसार में है याने आदि ही नहीं है। सत् है चला आया है कितना पुराना बूढ़ा है यह जीव ने संसार में जनम मरण करके खोया और जब भी जिस भव में गया उस भव में जो संग प्रसंग मिला उसको ही इसने अपना सब कुछ मान डाला और यही अटक इस जीव को संसार में रोके हुए है। यदि सर्व पदार्थों से विभक्त होकर केवल अपने आप के स्वरूप में रहे तो इस जीव को संकट न रहेगा। करना यह ही होगा। यदि होनहार भला है तो यह जीव अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप को पाये बिना संसार में अनादि से रुलता चला आया। अब उस अनन्त काल का समय जानने के लिए पंच परिवर्तन की बात सुनिये।

**पंच संसार परिवर्तनों में क्षेत्रसंसार परिवर्तन का दिग्दर्शन—** (1) द्रव्य परिवर्तन, (2) क्षेत्र परिवर्तन, (3) काल परिवर्तन, (4) भाव परिवर्तन, और (5) भव परिवर्तन ये पाँच परिवर्तन हैं इनमें द्रव्य परिवर्तन और भाव परिवर्तन पीछे सुनिये, पहिले क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन व भव परिवर्तन की बात सुनिये ये सुगममतया समझ में आजायेंगे। क्षेत्र परिवर्तन क्या कि जैसे मानो जब से एक परिवर्तन की बात मानी है यह जीव इस लोक के ठीक बीच में अतीव छोटा शरीर लेकर उत्पन्न हुआ, मायने निगोद जैसा जीव, एकेन्द्रिय जैसा। ठीक बीच कहाँ है लोक का? इ समेरु पर्वत की जड़ में उसके ठीक बीचों बीच नीचे। वह बीच भी क्या एक प्रदेश का है या दो प्रदेश का है? नहीं वह बीच 8 प्रदेश का है। इस लोक में प्रदेश हैं तो अनन्त, मगर समान संख्या वाले हैं। 2, 4, 6, 8, 10, यों बढ़ते जावों, दो दो अनगिनते होकर भी उनकी गणना समान में पहुँचती है और यह समान संख्या पूर बसे पश्चिम में, दक्षिण से उत्तर में और ऊपर से नीचे में सब ओर से समझना है और है समान संख्या तो बीच क्या पड़ेगा? जैसे मानो अंगुल से छोटा कोई माप नहीं है और कोई कपड़ा 8 अंगुल है तो बीच क्या पड़ेगा? दो अंगुल और 9 अंगुल है तो बीच एक अंगुल पड़ जायगा, चार अंगुल एक और चार अंगुल दूसरी ओर। अगर समान अंगुल है तो बीच में दो अंगुल कहलायगा। यह लोक समान संख्या वाला है जब एक ओर से निरखें तो

8 प्रदेश बीच कहलायेंगे और ऐसे ही ये आत्मा है, ये भी समान संख्या वाले हैं हैं तो लोक प्रदेश प्रमाण ना? तो सबसे छोटी अवगाहना जिसमें भी असंख्यात प्रदेश होते हैं, छोटी अवगाहना लेकर कोई जीव उस स्थान पर पैदा हो, जो लोक का ठीक बीच है याने मेरु पर्वत का नीचा स्थान, सो वहाँ के 8 प्रदेश पर इस अवगाहना के बीच के आठ प्रदेश रहे ऐसे मध्य में जन्म लिया हो एक बार मिला जन्म फिर उस अवगाहना में जितने प्रदेश हैं उतनी बार उतनी ही अवगाहना लेकर वहीं जन्में। अब लो असंख्यात बार वहीं जन्में, और यह कोई नियम तो नहीं है कि मरे के बाद तुरन्त वहीं जन्में। लोक में कहीं भी जन्म मरण करता रहे वह गिनती में नहीं है। जब कभी फिर जन्में मरे उतनी ही अवगाहना लेकर तो वह दो नम्बर पर आयगा ऐसे ही असंख्यात बार तो उसी जगह जन्म लिया फिर कोई एक दिशा चुन लीजिए उसके बाद के एक प्रदेश पर और बढ़कर जन्म ले फिर एक एक प्रदेश चल चल कर जन्म ले अब देखो कोई ऐसा नियम तो नहीं कि ठीक उसके बाद के प्रदेश पर ही वह जन्म ले। कहीं भी जन्म ले, वह गिनती में न आयगा इस परिवर्तन में। तो ऐसे एक ओर बढ़ते गए, सारे प्रदेशों पर जन्म ले लिया, दूसरी ओर बढ़े ऐसा चारों तरफ क्रम क्रम से जन्म ले लेकर जब सारे प्रदेशों में जन्म हो जाय। कितना बड़ा लोक है? 343 घनराजू प्रमाण। वहाँ के सर्व प्रदेशों में जन्म हो ले इस विधि से तब उसे कहते हैं एक क्षेत्र परिवर्तन। यह एक पर क्षेत्र परिवर्तन है। ऐसे ऐसे अनन्त क्षेत्र परिवर्तन हो गये संसार भ्रमण में इस जीव के।

**संसार काल परिवर्तन का दिग्दर्शन**— काल परिवर्तन थोड़ा समझ लीजिए जैसे जब से हमें परिवर्तन शुरू समझना है वहाँ से दिखिये मानों कोई जीव उत्सर्पिणी काल के पहले समय में जन्म ले फिर मरकर किसी अन्य उत्सर्पिणी काल के दूसरे समय में जन्म ले तुरन्त तो लगातार के उसी के दूसरे समय में जन्म होना असम्भव है। अन्य उत्सर्पिणी आने पर हो भी सके पर बड़ा कठिन है। कहीं भी जन्म मिले। फिर उत्सर्पिणी का दूसरा समय आया। उस समय जन्म न हो अन्य समय में जन्म हो तो वह गिनती में नहीं। इस क्रम से उत्सर्पिणी के दूसरे समय में, तसरे समय में ऐसे ऐसे क्रमशः सारे उत्सर्पिणी के समयों में जन्म मरण हो जावे। और इस विधि के क्रम से और उत्सर्पिणी व्यतीत हुए बाद अवसर्पिणी में जन्म होवे ऐसा एक कल्पकाल में इस विधि से जन्म हो ले उसे कहेंगे एक काल परिवर्तन। ऐसे ऐसे अनन्त परिवर्तन व्यतीत हो चुके इस जीव को संसार में भ्रमते हुए।

**भवपरिवर्तन का दिग्दर्शन**— भव परिवर्तन भी समझिये। कोई जीव जघन्य स्थिति की आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। जघन्य स्थिति है नरक में 10 हजार वर्ष की कम से कम इससे अधिक है सागरों की याने इतने समय तक जीव को नरक में नार की होकर रहना होगा? जो नरक में जायगा। कम से कम स्थिति होगी तो 10 हजार वर्ष की। नरक में जन्म लेने से अब 10 हजार वर्ष में जितने समय होते हैं उतनी ही बार इस ही स्थिति को लेकर जन्म ले लेवे। नरक में नरक के बाद तो जन्म होता नहीं, अन्य भवों में जन्म लेकर नरक में आयेंगे और फिर भी वही स्थिति पाये सो नियम नहीं अनेक बार बार नारकी हो ले असंख्यात बार मगर पास वाली एक समय अधिक वाली आयु न पाये तो वह गिनती में नहीं। ऐसे 10 हजार वर्ष के समय बराबर 10 हजार की स्थिति लेकर जन्म ले, फिर 10 हजार वर्ष एक समय की स्थिति लेकर जन्म ले, फिर 10 हजार वर्ष एक समय की स्थिति के जन्म, फिर इसमें समय बढ़ बढ़ कर 22 सागर तक ही स्थिति में जन्म हो जाय तो एक नरक भव परिवर्तन है। ऐसे सब गतियों के परिवर्तन हैं। सिर्फ नव ग्रैवेयक से ऊपर के आयु वाले देवों में परिवर्तन न लगेगा, क्योंकि वे अतिनिकट भव्य हैं।

**द्रव्य परिवर्तन व भाव परिवर्तन का निर्देश**— द्रव्य परिवर्तन में कोई द्रव्य ग्रहण किया अगृहीत। बहुत बार याने ऐसे अनेक बार अगृहीत ग्रहण कर ले तो एक बार गृहीत अनेक बार अगृहीत ग्रहण कर कर एक एक गृहीत करे ऐसा अनन्त बार गृहीत ग्रहण हो तो एक मित्र जो ग्रहण भी है, नहीं भी है, ऐसे इनके 9 फेरों में उन परमाणुओं को ग्रहण कर ले उस काल को कहते हैं द्रव्य परिवर्तन। भाव परिवर्तन में भावों की बात है हल्के भावों से जन्म लिया फिर उसमें एक डिग्री और अधिक करे और अधिक करे, ऐसा कषाय योग ये सभी साधन बन जायें वह है भाव परिवर्तन। तो इस जीव ने अनादि से लेकर अब तक यों अनेक परिवर्तनों द्वारा संसार घूमा सो क्यों घूमा? मिथ्यात्व के वश होकर।

**आत्म प्रतीति से क्षणों की सफलता**— अपने आत्मा के स्वरूप परिचय बिना जीवन बेकार। मनुष्य हुए का क्या लाभ? जीते रहे, खाते रहे, उमर बढ़ती है, मरण होता है, दूसरा जन्म होता है, ऐसा मनुष्य भव पाने पर और यहाँ अगर कुछ चिंता न रहे, इतना वैभव पाया कि गुजारा चलता रहे अथवा कुछ बड़ा कहलाये, तो सबकी सार्थकता है अपने आत्मस्वरूप के परिचय और अनुभव में। यह नहीं हुआ सो मिथ्यात्व के वश होकर यह जीव इस पंच संसार में भ्रमण कर रहा। इसने सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया। संसार परिभ्रमण का निवारण सम्यक्त्व से होता है। मार्ग ही न दीखे शान्ति का तो उस पर चले कैसे? पाये कैसे? तो ऐसे ही सम्यग्दर्शन ने शान्ति का मार्ग दिखा दिया। शान्ति का उपाय कहीं बाहर नहीं है। अपने ज्ञान के द्वारा अपने ही सहज ज्ञान स्वरूप को देखें, उसमें वह उपयुक्त होकर सहज आनन्द रस का पान करे पता पड़ जाता कि शुद्ध होने का, अष्ट कर्म से रहित होने का सदा के लिए अनुकूल रहने का मार्ग बस यही है कि यह उपयोग अपने सहज अविकार ज्ञानस्वरूप में रमा करे। जिसको सम्यक्त्व हुआ उसके संसार परिभ्रमण नष्ट होता है। इस जीव ने सम्यक्त्व नहीं पाया इसलिए अनन्त काल तक संसार में भ्रमण कर रहा। जब तक सम्यक्त्व न पायेगा। तब तक यह संसार में परिभ्रमण करता रहेगा।

**सम्मदंसणसुद्धं जाव दुलभदे हि ताव सुही।**

**सम्मदंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही।।141।।**

**सम्यग्दर्शन के होने पर ही जीव को भान्ति स्वरूप के लाभ की संभवता**— यह जीव जब तक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त करता तब तक दुःखी रहता। जिन जीवों का भला होनहार है उनको ही ज्ञान तत्व से प्रेम होता है और ज्ञान तत्व से जिसको प्रेम होता है वह इस ज्ञान स्वभाव के खतिर इसकी उपासना में, इस के प्रसार में अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित कर सकता है त्याग कर सकता है। और यहाँ तक कि वह तो प्राण जाने को भी कुछ बुरा नहीं तकता। प्राण जायें मगर सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय तो यह अमर है। आत्मा तो अमर है ही पर आत्मा के अमरपने का ज्ञान हो जाय सो उपयोग में अगर हो गया। उपयोग में अमर होने को अमर कहते हैं। वैसे तो प्रत्येक पदार्थ अमर है, अविनाशी है, सदा रहेगा। मूलतः नष्ट न होगा, मगर ऐसे अमर का क्या करे कि खुद का पता नहीं। घर में धन गड़ा है और घर में किसी को पता ही नहीं है और घर के लोग बड़ी गरीबी में रह रहे हैं, गुजारा भी मुश्किल से चल रहा है तो अब घर में गड़ी हुई निधि का क्या करें? उनके लिए तो वह सब निधि बेकार है ऐसे ही आत्मा में अनन्त आनन्द और ज्ञान बसा हुआ है, इसके लिए इसकी पूरी समृद्धि है। जिसको आत्मा में संतोष न हो सके उसे तो कहीं भी संतोष न होगा। संतोष होता ही नहीं किसी दूसरे का। संतोष का स्थान है अपना आत्मा। आत्मपरिचय बिना शान्ति संतोष हो ही नहीं सकता। अपनी अपनी बात विचारो। दूसरे का क्या देखना? जिसका जैसा होनहार है उसकी वैसे ही वृत्ति भावना



जगती है। अपने आपके सुधार की बात निरखिये अपना सहज अन्तः स्वरूप दृष्टि में रहे यह ही है सम्यग्दर्शन। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त होता तब तक वह दुःखी रहता है और सम्यग्दर्शन का लाभ हो तो यह जीव सुखी होता है।

**सुख दुःख का मौलिक आधार ज्ञानवृत्ति**— सुख और दुःख एक ज्ञान की वृत्ति में है। कैसा ज्ञान करें कि सुखी हो जायें और कैसा ज्ञान करें कि दुःखी हो जायें। ये तो सब दुःख सुख ज्ञान की कला पर निर्भर है। ज्ञान की ही चाल पर सुख और दुःख चलते हैं। सो दुःख से हटना है सुख में लगना है तो अपने ज्ञान में सही चाल बनाना चाहिए जिसमें रागद्वेष न उठें जिसमें किसी प्रकार की मुग्धता न आये ऐसा अपना ज्ञानभाव करना चाहिए उस ज्ञानभाव में जो वृत्तियों का निर्णय बना लेता है वह दुःख की वृत्तियों को त्यागता है और शान्ति की वृत्तियों को अपनाता है। कोई कितना ही सुखी नजर आ रहा हो उसका भी तो कितने ही मोह में माना गया अनिष्ट हो चुका है। उनका ख्याल करें दुःखी हो जायें। कोई कितना ही दुःखी हो मगर सुख का धाम, शान्ति का स्रोत यह ज्ञान स्वरूप तो निरन्तर सदा रहता है। अपने इस स्वरूप की ओर दृष्टि करे तो उसको दुःख कहाँ ठहर सकता है? जिन्हें सुख चाहिए दुःख न चाहिए उनको अपने ज्ञान स्वरूप की सम्हाल करनी है रही एक यह बात कि जैसे लोग एक समस्या रख सकते हैं सामने कि कमाना, खाना, पीना और बात, अरे ये तो मिलेंगे ही। इनका तो उदय है इसके साथ। जहाँ मनुष्य भव पाया वैसी बुद्धि बनेगी। वैसा पौरुष होगा। गुजारा चलता रहेगा, वह तो अपने आधीन बात नहीं। जो भी स्थिति हो उसी में गुजारा कर लेने का कौशल चाहिए। तब उस चिंता से छूटें और फिर निरन्तर धुन रहना चाहिए, अविकार सहज ज्ञानस्वरूप में यह मैं हूँ इस अनुभव की धुन रहनी चाहिए। जिनको ऐसा अन्तर्दर्शन है उनको तो सुख शान्ति है, जिनको अन्तर्दर्शन नहीं है वे तब तक दुःखी ही रहते हैं तो दुःख से हटने के लिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का पौरुष करना चाहिए। उसके लिए ज्ञान, चर्चा, ध्यान इन सभी उपायों को अपनाना चाहिए।

**किं बहुणा वयणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्तविणा।**

**सम्मत्तेण संजुत्तं सव्वं सोक्खेव जाण खु।।142।।**

**सम्यक्त्व के बिना सर्वदुःखमयता व सम्यक्त्व सहित की सर्वसौख्यमयता**— सम्यक्त्व की महिमा के सम्बंध में कह रहे हैं कि अधिक वचन बोलने से क्या लाभ है? इतने से ही समझ लीजिए कि सम्यक्त्व के बिना सब कुछ दुःख रूप है। जिस जीव के सम्यक्त्व नहीं है वह क्या करेगा? किसी भी बाह्य पदार्थ को उपयोग में लेकर अभेद बुद्धि बनाकर किसी बाह्य पदार्थ के ही बारे में मनन करेगा, वचन बोलेगा, शरीर से प्रवृत्ति करेगा, सो यह सब दुःख रूप ही है। जहाँ उपयोग अपने स्रोत स्थान अंतस्तत्त्व से चिग कर बाहरी पदार्थों में रमा वहाँ इसको कष्ट ही कष्ट है। जैसे मछली अपने जल स्थान को तज कर किसी के द्वारा भी प्रेरित होकर बाहर गिर पड़े, जल रहित स्थान में आ जाय तो वह तड़फ तड़फ कर अपना विनाश करती है, ऐसे ही यह उपयोग अपने स्रोत स्थान ज्ञानसमुद्र को तज कर बाह्य जगह रागद्वेष की भूमि पर बाह्य पदार्थों के विषयों में उपयोग गिर पड़े तो यह उपयोग अपने आत्मा का विनाश विधात करता है तो ज्यादा कहने से क्या लाभ? एक सम्यक्त्व के बिना सर्व दुःख रूप ही हैं और जब निश्चय सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ याने यह आत्मा अपने सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव कर ले, सम्यक्त्व पा ले तो फिर सब सुख ही सुख जानना। क्योंकि अब ज्ञान अपने स्वरूप की ओर आया अपने शान्तिधाम अंतस्तत्त्व की ओर लगा तो वहाँ सब शान्ति ही शान्ति वर्तेगी। तो यह जानकर कि सब कुछ एक सम्यक्त्व का ही प्रातप है। सम्यक्त्व से ही सर्व सुख का मार्ग मिलता है तो एक इस सम्यक्त्व को धारण करो। सम्यक्त्व लाभ के लिए तत्व का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

जब इस मनुष्य के पास मन है, बुद्धि है और यह बाहरी बातों में उपयोग लगाता है। तो ऐसी स्थिति वाले इस मनुष्य को तत्व का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग कुछ बाह्य वैभव पाकर बाह्य में ही रमते रहते हैं। वे चाहे पुण्योदय से अपने को बड़ा महान समझ लें सुख शान्ति वहाँ नहीं है। शान्ति तो सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर ही संभव है।

### णिकखेवणयपमाणं सददालंकारछंदलिहयाणं ।

णाडय पुराणकम्मं सम्मविणा दहिसंसारं ।।143।।

**सम्यक्त्व के बिना निक्षेपपरिचय में भी दीर्घ संसार—** सम्यक्त्व यदि नहीं है तो चाहे ज्ञान के बारे में क्रियाओं के बारे में, चारित्र आदिक के बोध के बारे में कितना ही बढ़ा चढ़ा हो जाय पर सम्यक्त्व न होने से वहाँ संसार ही संसार है जन्म मरण ही है। वहाँ मोक्ष का मार्ग नहीं है। ज्ञान में निक्षेप, नय, प्रमाण खूब समझ लीजिए और जिसके आधार से बड़ी तत्व चर्चायें चलती हैं। निक्षेप मायने लोक व्यवहार। नाम निक्षेप। किसी भी वस्तु का नाम रखो कुछ भी व्यवहार नहीं बन सकता। नाम के बिना कुछ चल नहीं सकता। किस को पुकारोगे क्या चीज मँगाओगे? न परमार्थ में कोई तीर्थ प्रवृत्ति चलेगी न लोक व्यवहार चलेगा इसलिए नाम तो पहले जानना जरूरी है। देखिये रागद्वेष नहीं है तो कहीं अड़चन नहीं और अगर मोह रागद्वेष वर्त रहे हैं तो एक नाम ही इतनी बड़ी अड़चन है कि जिसके कारण पर्याय बुद्धि बनती है। कर्म का आश्रव होता है हर एक मनुष्यों के नाम है न? तो हर एक कोई अपने नाम के अक्षरों में बड़ी रुचि रखता है। उससे अपना बड़ा महत्व समझता है। तो इससे कर्मों का आश्रव है ना। और जितने कर्मों के आश्रव हैं उपाय हैं उनमें अभेद का विषय बौद्धग्रन्थों में तो नाम को बताया है। सारा सिलसिला नाम से चलता है जैन शासन में पर्याय बुद्धि के बताया है कि जिसमें सब गर्भित हो जायगा उसमें नाम भी आयगा। नाम को मानना कि यह मैं हूँ यह मेरा नाम है देह को मानना कि यह मैं हूँ यह मेरा देह है तो आश्रव का मूल है देहात्मबुद्धि सो सम्यक्त्व नहीं है। तो कोई ज्ञान भी विशेष करले तो उसे ज्ञान में ज्ञान विकल्प में चलेगा। स्थापना निक्षेप क्या है कि किसी भी चीज में तत्व की स्थापना करना जैसे मूर्ति में भगवान की स्थापना करना मूर्ति स्वयं भगवान तो नहीं हैं। भगवान तो अब देवालय में विराजे हैं पर उनकी स्थापना है इससे लोक व्यवहार चला। द्रव्य निक्षेप आगे पीछे कि बात को वर्तमान में जोड़ना इसके बिना भी व्यवहार नहीं चलता। जिसका संकल्प किए हुए हैं उसका नाम पहले से ही लेना चाहिए अथवा जो बात गुजर गयी है उसको वर्तमान में ही लेना चाहिए ऐसा यह द्रव्य निक्षेप है। जैसे दिवाली आयी उस दिन भगवान महावीर मोक्ष गये बताओ आज गये क्या किस जगह से गए उनको तो हजार वर्ष से कुछ अधिक ही हो गए मगर लोग आज का नाम लेते हैं। कोई पहले कोतवाल था कुछ भी रहा रिटायर हो गया या स्थगित हो गया अब भी उसे कोतवाल कहना इसके बिना व्यवहार नहीं चल रहा। नाम लेते ही हैं भाव निक्षेप है जैसा है वैसी ही बात उस ही क्रियामें कहना जैसे पूजन करते समय पुजारी शब्द बोलना अन्य समय नहीं।

**सम्यक्त्व के विना नयप्रमाणविशयकज्ञानवितर्क में भी दीर्घ संसार—** नयों का भी बहुत बड़ा विषय है। द्रव्य दृष्टि से वस्तु नजर आती है ध्रुव। पर्याय दृष्टि से वस्तु नजर आती है विनश्वर। इसी तरह एक अनेक, तो उन नयों में पदार्थ का परिचय पाना यह नय अज्ञान है और समग्र पदार्थ गत धर्म का बोध करना प्रमाण है। तो नय निक्षेप प्रमाण आदि का बहुत बड़ा ज्ञान भी सम्यक्त्व के बिना दीर्घ संसार रूप है क्योंकि सम्यक्त्व नहीं है तो उस ज्ञान से अहंकार बढ़ेगा। अपनी उस वर्तमान पर्याय में रमेगा। उसको लाभ नहीं है।

**सम्यक्त्व के बिना भाब्दालंकार छन्द नाटक पुराण आदि परिचय में भी दीर्घसंसार—** सम्यक्त्व के बिना लौकिक कला भी बहुत पा ले जैसे शब्दालंकार छंदशास्त्र नाटक पुराण आदिक का ज्ञान करले तो भी सम्यक्त्व न होने से चिरकाल इसका संसार में ही भ्रमण होता है। सबसे पहले उसके अलंकार काव्य रचना ये लोक में ऊँचे ज्ञान माने जाते हैं। जैसे जब कभी कवि सम्मेलन कोई कराता है। तो उसमें कई हजार रुपया लोग खर्च कर देते हैं। उस समय तो कविजन सबका मन खुश कर देते हैं कोई हँसी की बात, राग की बात या जो बात मोहियों को चाहिए उसके अनुकूल वे कविजन बात कहेंगे तब ही तो इनाम मिलेगा। यह क्या है? शब्द और शब्दालंकार। यह लौकिक ज्ञान है। जिसका लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मगर सम्यक्त्व यदि नहीं है तो उसमें अहंबुद्धि ही तो रही। सुनने वाले ने पर्याय बुद्धि का पोषण किया। कहने वालों ने पर्याय बुद्धि का पोषण किया तो संसार सबने बढ़ाया यदि सम्यक्त्व नहीं है और ज्ञान वाली कविता हो, ज्ञान की बात हो तो वह कहाँ सुहाती? उसके सुहाने वाले बहुत अल्प है तो उन बहुसंख्या वालों को प्रसन्न करें या आपको प्रसन्न करें? बहुसंख्या को प्रसन्न करते हैं तो शब्दालंकार आदिक से मोह पुष्ट करने वाली बात ही तो आयी। तो सम्यक्त्व बिना यह सब दीर्घ संसाररूप है। छंदशास्त्र आशुकवि भी हैं जो कि तुरन्त ही छंद बना लेते हैं। मौका पाकर जो घटना है उसी का काव्य बना लें पर यह भी एक परिज्ञान है रहो परिज्ञान और इस दुनिया में चाहे कुछ पंथ भी पाले लेकिन सम्यक्त्व के बिना ये सब बातें दीर्घ संसार के कारण हैं। नाटक पुराण, शास्त्र वगैरह इनका भी ज्ञान होता है मगर प्रायः करके कोई रागबर्धक बातें ही बातें लाते ज्ञानी पुरुष कम है और ज्ञान से संबंध रहे ऐसा नाटक लोग कम करते हैं क्योंकि बहुसंख्या में लोग मोहीजन हैं। सो एकदम सीधा तो नहीं कुछ ज्ञान की बात उनके गले उतर सकती है तो अनेक कलाओं से यह भी चलता मगर सम्यक्त्व अगर नहीं है। तो ज्ञान भी दीर्घ संसार के कारण हैं। सम्यक्त्व यदि है तो उसके लिए सब भला ही भला है सम्यक्त्व भाव नहीं है तो उसके लिए सर्व क्रियायें विडम्बना रूप हैं।

**बसदी पडिमो वयरणे गणगच्छे समयसंघजाइकुले ।**

**सिस्स पडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे ॥144 ॥**

**पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।**

**यावच्च अट्टरुद्धं तावण मुंचेदिणहु सोक्खं ॥145 ॥**

**इच्छा की आत्मनन्द विघ्नरूपता—** जब तक इस जीव को संसार के पदार्थों की इच्छा है तब तक वह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। संसार में पदार्थ क्या? घर में रहता हो तो उसके लिए उसके ढंग की और घर त्याग दिया हो तो उसके लिए ढंग की। पर कोई भी बाह्य पदार्थ हो। बाह्य पदार्थ में उनकी अभिलाषा रखना यह मोक्ष सुख का बाधक है। अभिलाषा भी दो प्रकार की होती हैं एक मिथ्यात्व में होने वाली इच्छा और एक परिस्थितिवश की जाने वाली इच्छा और उनके भेद से फिर विपत्ति विडम्बना, बंधन में भी फर्क आ जाता। जो मिथ्यात्व सम्बंधी इच्छा है वह तो होती है इस ढंग से कि यह चीज मुझे सदा मिलती रहे और जो परिस्थिति वश होती है वह इस ढंग से होती है कि मैं इससे कब छूटूँ। मेरी यह इच्छा कब टले और इच्छा भी करते जाते हैं याने वैराग्य होते हुए भी परिस्थितिवश कुछ चाह करनी पड़ती है और एक मोहवश पदार्थ में ही आशक्त होकर रमकर उसकी चाह की जाती है तो विशेषकर यह मिथ्यात्व वाली चाह है और मोक्ष सुख में बाधक तो सभी चाहें हैं। यहाँ तक बताया है कि 'मोक्षोयस्य आकांक्षा न मोक्षडपि गच्छति'

अर्थात् उस मोक्ष के विषय में जो भी इच्छा रख लेवे जिस समय जो भी भाव चल रहे हैं उस समय वह पुरुष मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

**मुमुक्षु मुनियों के हृदय में समता व आत्ममग्नता का महत्व—** मोक्ष प्राप्ति तो ज्ञान स्वरूप में ज्ञान के मग्न हो जाने में है। वहाँ इच्छा का कहाँ काम है? सो सभी इच्छाओं को लेना फिर भी मिथ्यात्व संबंधी इच्छाओं को तो महा विष समझना उससे संसार के सारे संकट बढ़ते हैं। यह मनुष्य जीवन तो बड़ी दुर्लभता से पाया है यह बिल्कुल बेकार हो जाता है तो बाह्य पदार्थ की इच्छा करना मोक्ष में बाधक है। वे क्या क्या बाह्य पदार्थ हैं? वसतिका श्रावकों के, साधु संतों के ठहराने के लिए कोई वसतिका बनवाये। किसी ढंग का कमरा सा छायादार कोई स्थान तो साधुजन वहाँ ठहर कर उसमें रमें या ऐसी वसतिका की इच्छा बनाये तो उनको मोक्ष का बाधक है साधुओं को तो बताया है कि छोटे गाँव में एक दिन कस्बा जैसी जगह में 3 दिन और बड़े नगरों में 5 दिन रहे। यह किसलिए विधान है कि किसी बाह्य पदार्थ में उसका मोह न बस सके और कोई ऐसी अनुकूल वसतिकाओं की मन में वासना बनाये रहे तो वह मुनिपने से च्युत है उसे क्या है चाहे केवल हो चाहे श्मशान हो उसके लिए समान बल्कि उपयोगिता की दृष्टि से उनको महल से श्मशान अधिक ठीक है भाव विशुद्धि होना सुगम स्वाधीनता होना खैन मुनि की दृष्टि में सर्व पदार्थ समान हैं।

**वसतिका प्रतिमोपकरणगणगच्छविशयक ममकार के त्यागे बिना भान्ति की असंभवता—** मुनिजन वसतिका में मोह नहीं करते। जो इनकी इच्छा करेगा वह मोक्ष को नहीं पा सकता और उपकरणों में जो अपनी वृत्ति को निभाने के लिए साधनभूत रखे गए हैं, कमण्डल, पिछी, शास्त्र वगैरह। तो उन उपकरणों में जिनकी इच्छा है। जिनको मोह जगता है वे भी मोक्ष सुख को नहीं प्राप्त कर सकते। इस कारण को सुनकर साधुओं से तो अपने योग्य शिक्षा लेना और गृहस्थजन इतनी शिक्षा लें कि जो कुछ भी प्राप्त है मकान, कुटुम्ब आदि जो जो कुछ भी है वे सब मेरे हित की चीज नहीं है। मिले हैं और गृहस्थी में उनसे काम पड़ता है, यह तो बात एक अलग है, मगर ये बाह्य पदार्थ मेरे आत्मा का भला करदे, यह बात इन में नहीं है। तो यहाँ विशेषतया साधुओं को दृष्टि में रखकर कहा जा रहा है कि जो इन पदार्थों में आकांक्षा रखता है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता और किस किस में इच्छा करता? गणताक्ष में। मुनियों का संघ है तो उस संघ में इच्छा रखना कि मेरा संघ बढ़े। बढ़ा हुआ संघ होगा तो मेरे विषय में लोग प्रशंसा करेंगे कि इनका बहुत बड़ा संघ है अथवा उसमें जो आज्ञाकारी हैं या जो अपनी सेवा में विशेष लगे हैं उनके प्रति विशेष राग बनना, इच्छा बनाना यह भी गणताक्ष की इच्छा है। जब तक ऐसी वृत्ति है तब तक मोक्षसुख का लाभ नहीं है।

**श्रमणसंघ जाति कुल प्रीशय प्रतिप्रीशय विशयक ममकार त्यागे बिना भान्ति की असंभवता—** इसी प्रकार शास्त्रसंघ में विद्यार्थी जनों में जो संघ में बढ़े हों या जो जो भी वहाँ रहते हुए में संघ में इच्छा होवे, उनमें रागभाव होवे तो वहाँ मोक्ष सुख का लाभ नहीं हो सकता। मोक्ष सुख तो होगा ही, मगर उस काल में वह आत्मीय अनुभव का आनन्द नहीं ले पाता, ऐसे ही जाति कुल में खुद की जाति अपनी जाति कुल को देखकर मैं ऐसे घर में पैदा हुआ मेरा उच्च कुल है और उस कुल में इच्छा बनाये, उसमें अपना महत्व माने, यह विकल्प जब तक है तब तक सत्य आनन्द नहीं हो सकता। कुछ ऐसी प्रकृति है मनुष्यों की कि जो जिस कुल में पैदा हुआ है वह उस कुल को ही महान समझता है। अगर विशेष रूप से कोई कुल नीचा है और उसमें भी पैदा हो तो भी ऐसा

ढंग सोचेगा कि जिससे यह जाहिर करेगा कि सबसे अच्छा कुल तो मेरा है। तो जो ममता का साधनभूत है उस जाति कुल की इच्छा रहे तो उसे भी मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता। तो शिष्य प्रति शिष्य छात्रों में खुद के पढ़ाये गए शिष्य और उन शिष्यों द्वारा पढ़ाये गए शिष्य वे प्रतिशिष्य, ऐसे छात्रजनों में इच्छा राग होना सो मोक्ष सुख में बाधक है, क्योंकि त्यागी व्रती साधुसंतजनों को एक ज्ञान का ही तो कार्य पड़ा है। वहाँ पढ़ने वाले भी होते। पढ़ने वाले शिष्यों के प्रति राग चलता हो तो वह मोक्ष सुख का बाधक है।

**पुत्र प्रपौत्रादि विशयक मम कार के त्यागे बिना भान्ति की असंभवता—** इसी तरह पुत्र और पोते आदि में राग भाव हो तो वह आत्मा का विघात करने वाला भाव है। यहाँ इस प्रकरण में बहुत सी बातें साधुओं का लक्ष्य लेकर कही गई हैं। पुत्र पौत्र में गृहस्थों को मोह होता है, राग होता है, यह बात तो सब जानते हैं। मगर किसी साधु के भी तो पुत्र पौत्रादिक के प्रति रागबन सकता है। किसी ने पुत्र पौत्रादिक छोड़ दिया। अपना भेष दिगम्बर मुद्रा का रख लिया, पर भीतर के मन को कोई क्या करे? अगर उस साधु को किसी पुत्र पर, पौत्र पर या पुत्री पर कोई स्नेह भाव हुआ, मानो साधु है और सोचे कि हमारी अमुक मुन्नी अमुक जगह है उसे देख आये कि वह बीमार है या क्या है। उसकी जरा भी व्यवस्था बनाये, वहाँ ही दृष्टि गई तो वह एक राग है। वहाँ अगर धर्मात्मा के नाते से उसकी सेवा का भाव रहा तब तो बाधा नहीं पर प्रायः करके वहाँ धर्म के नाते मात्र से नहीं, किन्तु यह अपनी अपनी बात है, इन जीवों में राग जाता है। कभी कोई पुत्र दर्शन के लिए आये तो उसे देखकर खुश हो जाना, यह आया है, मिला है, ऐसी भीतर में वासना बनाना एक विष है। जहाँ पुत्र पौत्रादिक में लोभ जगे, इच्छा जगे, राग जगे वहाँ मोक्ष सुख का कोई अवकाश नहीं है।

**वस्त्र पुस्तकादि विशयकममकार त्यागे बिना भान्ति की असंभवता—** ऐसे ही वस्त्रों में राग जगे तो वह भी मोक्षसुख में बाधक हैं नग्न मुद्रा है फिर भी ऐसा भाव बनावे कि अजी तौलिया से इस शरीर को पोछा ही तो है पर उसमें एक चित्त बस गया तो यह कोई विधि वाली बात बन गई। लोगों को भी इतराज नहीं है। इच्छा हो गई अथवा मैंने यह मुद्रा क्यों ली? अच्छा तो इस भेष में था, अब मुझे ब्रह्मचारी बनकर रहना है। या अन्य कुछ बनकर रहना है। इस प्रकार एक परिग्रहसंबंधी बात जगना यह इस जीव के लिए आत्मीय आनन्द में बाधा देने वाली बात है। ऐसे ही वस्त्रादिक में यह वस्त्र बढ़िया सजाओ, देखने में अच्छा लगे...तो यह भाव भी आत्मीय आनन्द में बाधक है। इसी तरह पिछी में आसन आदिक में इच्छा जगे, लोभ जगे, ममता बने तो जब तक ऐसे आर्त और रौद्र के परिणाम चलते हैं जीव के तब तक वह मोक्षसुख को नहीं पाता। जिसे विशुद्ध आत्मीय आनन्द पाना है, सदा के लिए संसार के संकटों को मेटना है तो उसका बस एक ही कार्य है कि बाह्य पदार्थों को भिन्न जानकर उनसे ममता त्यागे और अपने आप के स्वरूप में मग्न होने का उपाय बनावे पौरुष करे वह उपाय और पौरुष है सम्यक्त्व। 'सम्यक्त्व नहीं' है तो अटपट वृत्तियाँ जगती हैं। सो अपने हित में सम्यक्त्व का एक प्रधान अवलम्बन है, सो ज्ञान ध्यान अध्ययन द्वारा सम्यग्दर्शन के भावों को प्राप्त करना चाहिए।

**आर्त्तरौद्रध्यान के त्यागी के ही भान्ति की संभवता—** जब तक यह जीव आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को नहीं छोड़ता है तब तक शान्ति को नहीं प्राप्त कर सकता। आर्त्तध्यान में कष्ट होता है। रौद्रध्यान में मौज होता है किन्तु रौद्रध्यान का मौज आर्त्तध्यान से भी खतरनाक है मुनियों के कोई आर्त्तध्यान हो सकता है पर रौद्रध्यान संभव नहीं है। ये दोनों ही ध्यान संसार के कारण हैं। आर्त्तध्यान चार प्रकार के होते हैं—(1) इष्ट का वियोग होने से होता है। दुःखमयी ध्यान, अनिष्ट का संयोग होने से होता है दुःखमयी ध्यान। इन

दोनों में दुःख कब होता है। जब कि इष्ट का वियोग होने पर उस इष्ट के संयोग की मन में आशा रहती है अनिष्ट संयोग होने पर दुःख का रूप कैसे बनता है कि उसके अनिष्ट का वियोग होने की मन में वासना रहती है। तो ऐसे ये दोनों दुःख उत्पन्न करने वाले ध्यान हैं। वेदना प्रभाव में शारीरिक वेदना रहती है, निदान में आशा और इच्छाकृत पीड़ा रहती है। ऐसे आर्त्तध्यान में शान्ति सम्भव नहीं। रौद्र ध्यान में भी शान्ति संभव नहीं। हिंसा करके करा कर अनुमोदना में मौज मानना, चोरी करके कराकर अथवा चोरी का समर्थन करके मौज मनाना, ऐसे ही परिग्रह का संचय करके कराकर अथवा करने वाले का समर्थन करके मौज मानना ये सब रौद्र ध्यान है इस दुर्ध्यान में रहते हुए शान्ति कभी संभव नहीं है इस कारण मुनिजनों के रौद्र ध्यान तो होता ही नहीं है। कदाचित् निदान को छोड़कर शेष तीन आर्त्तध्यान सम्भव हैं सो वह भी बड़ी सम्हाल करता हुआ निकल जाता है, तो इन दो गाथाओं में यह बताया गया है कि जब तक कोई इच्छा है, प्रसंग है तब तक इस जीव को सुख शान्ति नहीं हो सकती।

**मिहिरो महंधयार मरुदो मेहं महावणं दाहो।**

**वज्जो गिरिं जहा विणसिज्जइ सम्मं तहा कम्मं।।149।।**

सम्यक्त्व भाव इस जीव का सर्वस्व शरण है। जीव का घन सम्यक्त्व है। जीव को चाहिए क्या? शान्ति। शान्ति है आत्मा के निज का भाव जो बात जहाँ नहीं हो सकती। बालू में तैल नहीं है तो बालू को कितना ही पेला जाय वहाँ से तैल निकलना असंभव है। अगर आत्मा में शान्ति का स्वभाव न होता तो यहाँ शान्ति का प्रकट होना संभव ही नहीं। यह शान्ति इस चेतन का धर्म है। किसी बाहरी पदार्थ से शान्ति निकलकर आयी हो ऐसा नहीं है। सो जैसे सम्यक्त्व भाव होता है वैसे ही इसके कर्म दूर होने लगते हैं। कर्म में और जीवभाव में निमित्त नैमित्तिक योग है। जैसे पुद्गल में खूब दृष्टगत होता है निमित्त नैमित्तिक योग। गैस में हवा भर दी जाय तो वह गैस अच्छी जलती है और उससे हवा निकल जाय तो वह बुझ जाती है। क्या है वहाँ? निमित्त नैमित्तिक योग। अग्नि ठीक जलती है तो उस पर रोटी अच्छी सिकती है और अगर अग्नि ठीक ठीक नहीं जलती तो रोटी यों ही कच्ची धरी रह जाती है। तो यह क्या है? निमित्त नैमित्तिक योग। तो ऐसे ही जीवभाव में और कर्म का निमित्त नैमित्तिक योग है। जीव का भावों का स्नेह लगा तो कर्मबंध होता है। और अपने स्वभाव में रुचि रखे तो कर्मबंध नहीं होता। खुद की कला, खुद की कुशलता, खुद में बनी हुई है, मगर यह जीव मोह मुग्ध होने के कारण उसका प्रयोग नहीं जानता। इस जीव का सर्वस्व है सम्यग्दर्शन।

**सम्यक्त्व की अतुल महिमा**— कोई कहे कि इस सम्यग्दर्शन की कितनी महिमा है। क्या इस देश के राजा महाराजा बराबर महिमा है? अरे तीनों लोक का सारा पुद्गल का ढेर सामने आ जाय तो भी इस सम्यग्दर्शन की बात को रंच भी नहीं पा सकता है कोई। धरा क्या है किसी बाहरी पदार्थ में? बाह्य पदार्थों का संग प्रसंग यह जीव के लिए अशुभ मार्ग का रास्ता है। वहाँ लगाव इस जीव का अहित है। स्वरूप कहाँ है? खुद का खुद में लगाव कौन करेगा? खुद ही। इसकी विधि कौन बतायगा? खुद ही। संतोष भी खुद ही पायगा। कैसा यह स्वाधीन विहार है अपने आप में कि जिसमें किसी पर पदार्थ द्वारा कुछ बाधा ही संभव नहीं है। यदि अपने स्वभाव की रुचि में दृढ़ रहे तो बाह्य पदार्थ तो अपने आप में अपना ही परिणमन करके रह जाते हैं। उनकी मुझ में कोई दखल नहीं है। ये सब बातें सम्यक्त्व के प्रकाश से आती हैं। तो सम्यक्त्व के समान इस जीव का कोई भी मित्र नहीं है, गुरु नहीं देव नहीं, सम्यक्त्व ही इसका सर्वस्व है। ये बाह्य विषय पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ इनका लगाव लोग शान्ति के लिए ही तो करते हैं, मगर जैसे वेदनीय का

उदय शहद (मधु) लपेटी तलवार चाटने के समान बताया है ऐसे ही समस्त इन्द्रिय का संग प्रसंग मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने की तरह है। जैसे कि पुरुष को मधु का स्वाद छोड़ा नहीं जा पाता, चाटता रहता तो उसका परिणाम यह होता कि उसकी जीभ कट जाती है, ऐसे ही यह मोही जीव इन बाहरी पदार्थों से इष्ट अनिष्ट की कल्पना करके इष्ट पदार्थ को ग्रहण करता है, सो वह लगाव, वह विभाव इस आत्मा का घात करने वाला है। पर सम्यक्त्वहीन मोही पुरुष इस तथ्य को नहीं समझ पाते।

**सूर्य प्रकाश द्वारा महांधकार प्रक्षय की तरह एवं वायु द्वारा मेघ विलय की तरह सम्यक्त्व भाव द्वारा—** सम्यक्त्व होने पर कर्म का ऐसा विनाश होता है जैसे सूर्य के प्रकट होने पर महान अंधकार का विनाश होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश है उदय है, सक्षमता है, वहाँ अंधकार नहीं ठहर सकता ऐसे ही जहाँ सम्यग्दर्शन है, आत्मा के सहज अविकार स्वभाव का अनुभव हुआ है वहाँ अब मोहान्धकार नहीं ठहर सकता। मोह ही एक विडम्बना है। महती विपत्ति है। इस जीव पर मोह के सिवाय और कोई भी विपत्ति नहीं है। उस विपत्ति का उस अंधेरे का सूर्यवत यह सम्यक्त्व विनाश कर डालता है। जैसे तेज वायु मेघों को उड़ाकर हटा देती है ऐसे ही यह सम्यग्दर्शन इन कर्म वर्गणाओं को छिन्न भिन्न करके हटा देता है। खुद खुद में खुद को खुद की प्रतिभास कला से जाने देखे, यहाँ रम जाय इतना ही तो कर्तव्य है जो बात इस जगह से सरल सस्ती नजर आती है। वह तो है कठिन और मंहगी और जो अपने आप की बात, धर्म की बात, कठिन, मंहगी, असंभव सी दिखती है वह है अत्यन्त सुगम स्वाधीन। पर ज्ञान नेत्र पर से यह रंग विरंगा मिथ्यात्व का चश्मा तो हटे, फिर स्पष्ट अपना अहित नजर आयगा।

**अग्नि द्वारा महावनदाह की तरह सम्यक्त्वभाव द्वारा कर्म बिना—** सम्यग्दर्शन होते ही यह विकार यह लगाव यह मोहान्धकार ये सब हट जाया करते हैं जैसे अग्नि बहुत बड़े बनको भी जला देती है। ऐसे ही यह सम्यक्त्व रूप अग्नि इन कर्म ईधनों को भष्म कर देती है। बात कितनी सी जानना है। बाहर के इस फैलाव से तुलना कीजिए। तो इस फैलाव के आगे अपने आप को मध्य केन्द्र का परिचय ऐसा लगेगा जैसे बहुत केन्द्रित व्याप्य थोड़ी सी ही बात की गई है। अगर इसका प्रताप फैलता है तो इतना महान कि अष्ट कर्मों का विध्वंस होता है लोकालोक का ज्ञाता बनता है। जैसे महावन के सामने अग्नि का जरा सा भी कण ऐसा लगता है कि जैसे क्या दम है, क्या चीज है उस अग्नि के कण में मगर वह अग्नि का कण कहीं कूड़े में ठीक फिट बैठ जाय तो उसका प्रसार इतना बड़ा होता है कि वह महावन भी जलकर खाक हो जाता है। ऐसे ही यह सम्यक्त्व है। अपने जीवन में एक यह दृढ़ निर्णय करके तो रहे कि मेरा हित, मेरा मित्र, मेरा सर्वस्व यह सम्यक्त्व भाव है। रंच भी शंका न रहे इस बात में तो उसका उद्धार होगा। घर के कुटुम्ब के अथवा मित्र संघ के किसी भी पुरुष को देखकर रंच भी यह भाव से विघटे कि मेरा तो मात्र उस ही अंतस्तत्व की प्रसिद्धि है। शरीर लगा है। घर में रहते हैं। कार्य सब करने होते हैं तो यह लोक व्यवहार है या शब्द विराग होने पर भी बोलना चाहिए, बोलना पड़ता है, लेकिन अंतरंग में यह श्रद्धा हो कि मेरा तो मात्र मेरा यह ज्ञान स्वभाव ही शरण है, सर्वस्व है। मेरा स्वरूप मुझ पर अप्रसन्न न रहे, मेरा स्वरूप मुझ पर प्रसन्न रहे फिर मेरे को कोई चिन्ता नहीं। मेरा स्वरूप प्रसन्न रहे के मायने मेरे उपयोग में मेरा यह ज्ञान स्वरूप सहज अविकार जैसा स्वयं है। वहाँ विराजा रहे। तो यह सम्यक्त्व भाव, जैसे अग्नि महान बन को जला देती है। ऐसे ही यह भाव इस कर्मवन को विनष्ट कर देता है।

**बज्र द्वारा पर्वतों के भेदन की तरह सम्यक्त्व भाव द्वारा कर्मों का विनाश**— जैसे बज्र पर्वत का भेदन कर देता है, प्रसिद्धि ऐसी है कि ऐसा बज्र तो इन्द्र इसमें आरूढ़ है और वह बज्र पर्वत का विध्वंस कर देता है ऐसे ही इन्द्र के आयुध इन्द्र के पास रहने दो, यहीं देख लो, कैसा प्रयोग है हथियार है कि पर्वत को पत्ते की तरह उड़ा देते हैं। तो होती है कोई पर्वत विनाशक चीजें वे ही पर्वत के लिए बज्र हैं, जैसे बज्र महान पर्वत को भी पत्ते की तरह विखरा देता है ऐसे ही यह सम्यक्त्व भाव अनादि काल की परम्परा से चले आये हुए इन कर्मों को विनष्ट कर देता है। कर्मों को पर्वत बताया गया है। भेत्तारं कर्मभूतां याने कर्म पहाड़ के भेदने वाला है। जहाँ द्रव्य कर्म भिदे, भाव कर्म भिदे वहाँ निर्मलता बढ़ती ही जाती है, सो आत्मा का द्रव्य कर्म के भेदने पर तो अधिकार है नहीं, क्योंकि जीव भिन्न द्रव्य है, कर्म भिन्न द्रव्य है, एक द्रव्य का दूसरे पर अधिकार नहीं, मगर यह अपने भाव कर्म को तो भेद सकता है और भेदना क्या? किसके द्वारा भेदना? प्रज्ञा द्वारा, भेद विज्ञान द्वारा। भेद विज्ञान से इन विकारों को स्वभाव से भिन्न जाना तो उस ही ज्ञान से जिस ज्ञान की कला भेद विज्ञान है उस ही ज्ञान से भिन्न किए गए आत्मस्वरूप का ग्रहण किया जाता है। तो इस आत्मस्वरूप के उपादान की विधि से ये भावकर्म नष्ट हो जाते हैं। भावकर्म के विघटते ही इन द्रव्य कर्मों में भी आफत आ जाती है। ये भी तितर बितर होकर अन्त में नष्ट हो जाते हैं। तो इन सर्व कर्मों का विनाश करने वाला मौलिक भाव यह सम्यक्त्व भाव है। इन कर्माधीन प्राणियों को सम्यक्त्व लाभ का हर सम्भव उपायों से यत्न करना चाहिए।

**मिच्छंधयार रहियं हियय मज्झम्मिय सम्मरयणदीवकलावं ।**

**जो पज्जलइ स दीसह सम्मं लोयत्तयं जिणुद्धिट्ठ ।।147।।**

**मिथ्यान्धकार रहित हृदय में सम्यक्त्वरत्नदीप को प्रज्वलित करने वाले की सर्वलोक प्रकाशकता**— जो भव्य जीव अपने हृदय के मध्य में सम्यक्त्व रत्न रूपी दीपक को जलाता है, जैसे दीप प्रकाश में अंधकार नहीं रहता, ऐसे ही सम्यक्त्व रत्न रूपी दीप समूह को जो अपने अंदर प्रकाशित करता है वह पुरुष तीनों लोकों को भली भाँति देखता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है दर्पण पर यदि प्रकाश नहीं है, उजेला नहीं है तो दर्पण में सामने वाली चीज प्रतिबिम्बित नहीं होती, ऐसे ही अपने आत्मा में यदि सम्यक्त्व प्रकाश नहीं है तो यहाँ तीन लोक तीन काल के पदार्थ भी प्रतिबिम्बित नहीं हो सकते। आत्मा के विकास में दो बातें हुआ करती हैं (1) परिपूर्ण ज्ञान और आत्मीय सहज स्वाधीन आनन्द। एक बार कोई यह कह सकता है कि मुझे परिपूर्ण ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं। ज्ञान चाहे मुझमें मत जगे, सारे विश्व को जानने से मुझे मिलेगा क्या? मैं आनन्द जरूर चाहता हूँ, ऐसा कह सकने वाले कुछ लोग हो सकते हैं और इसमें कोई बुराई की बात नहीं है ऐसा भी चाहो तो चाहो कि मुझे इस सारे विश्व के ज्ञान से कुछ प्रयोजन नहीं, पर सही आनन्द का अनुभव मेरे को रहे, मुझे कल्पित मौज न चाहिए ऐसा सोचना विवेकियों के बन सकता है, किन्तु ऐसा कोई नहीं सोच सकता कि मेरे को आनन्द चाहे मत मिले मेरे को चाहे कितना ही कष्ट हो, पर मैं तो सारे लोक का ज्ञाता होना चाहता हूँ। कोई पुरुष भावुक जोश वाला पुरुष कोई ऐसा भी कह सकता कि मैं तो सारे कष्ट सहलूंगा मगर मैं तो इस विज्ञान को, इस समस्या को मैं जानकर ही रहूंगा। चाहे मुझे कितना ही कष्ट हो मगर भीतर का प्रयोजन देखो तो यह तो उसके कहने की ही बात है, किन्तु किसी तथ्य के प्रयोग जानने की बात सुख प्राप्त करने के प्रयोजन से ही है। कोई जानकर



ही सुखी होता है ऐसी ही उसकी दशा है तो आनन्द पाने का प्रयोजन सब जीवों के उपयोग में होता है।

**आनन्द विलास की ज्ञान विलासा विनाभाविता**— आनन्द की जो परिपूर्ण स्थिति है जो कभी मिटे नहीं, जिसमें रंच भी असारता नहीं। शुद्ध आत्मीय अध्रुवता से रहित जैसा है वैसा ही सदैव रहने वाला उत्कृष्ट यह आनन्द विलास, ज्ञान विलास के जगे बिना होता नहीं है। ऐसा ज्ञान का और आनन्द का योग है, साफ ही जो पुरुष ज्ञान की वृद्धि को ललचाता रहेगा उसके न आनन्द जगेगा और न ज्ञान विकास होगा, और जो पुरुष आत्म तत्व को जानकर केवल आत्मस्वरूप के ज्ञान में मग्न रहेगा, बाहरी पदार्थ के जानने का विकल्प ही नहीं है। मात्र निज सहज स्वभाव में उपयुक्त है तो उसका ऐसे अपने केन्द्र में मग्न होने का फल यह होगा कि वह सारे विश्व को जान लेगा। जन्य में बहुत ऊंची कूद वह पुरुष करता है जो जमीन पर जितना अधिक गड़कर उठाता है ज्ञान का विलास भी उस पुरुष के इतना महान होता है जो अपनी इस आत्मभूमि में नियन्त्रित होता, गड़ जाता है, मग्न होता है और जहाँ ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान विलास है वहाँ ही आत्मा का अनुपम सहज आनन्द का विलास है। तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, ये दोनों सहचर हैं। सो इनके प्राप्त करने का उपाय अपने आत्मा में सम्यक्त्व रत्न दीपक का प्रकाश पा लेना है। उत्तम समाधि एक चेतन का उत्तम विलास है। ज्ञान में ज्ञान स्वरूप ही समाया हो, ऐसी समता की स्थिति जिनके होती है उनके प्राणायाम धारणा आसन आदिक जो जो भी नियम समाधि के बताये हैं वे सहज होते हैं और जिनको इस ज्ञान बीज का परिचय नहीं है वे प्राणायाम कर करके सारी जिन्दगी हैरान होंगे फिर भी उनको समाधि प्राप्त नहीं होती। अपने में सम्यक्त्व का प्रकाश लायें। मैं सहज ज्ञानमात्र हूँ यह ही मेरा सर्वस्व है। मैं इस प्रतीति से कभी भी चलित न होऊंगा।

**पवयणसारध्मासं परमप्पज्झाणकारणं जाण।**

**कम्मखवणणिमित्तं कम्मखवणे हि मोक्ख सुहं।।148।।**

**सहजात्म स्वरूपोपयोग के अभ्यास का अनुरोध**— मोक्षसुख किसे प्राप्त होता है इसका उपाय इस गाथा में बताया है। मोक्ष सुख मिलता है कर्म का क्षय होने पर, उनमें इसका मुख्य बाधक है मोहनीय कर्म और इस आत्मानुभव में बाधक है घातिया कर्म और कर्म पात्र दुःख का बीज है। ऐसा सामान्य स्वरूप देखकर विचारा जाय तो अष्टकर्मों के समूह का नाश होने पर वह परम सुख प्राप्त होता है। और कर्मों का नाश कैसे होता है? कर्मों के क्षय का निमित्त कारण है ज्ञान और ध्यान परमात्मा स्वरूप का ध्यान कर्म क्षय का निमित्त कारण है ओर परमात्मा के ध्यान के लिए क्या उपाय करना? सो कहा है लक्षण सार का अभ्यास याने आगम में जो सार तत्व है उनका अभ्यास करना उनको जानना और उनकी ओर दृष्टि बनाये रहना यह है परमात्मा के ध्यान का कारण। परमात्मा है आत्मा का अविकार सहज ज्ञान मात्र स्वरूप और जब तक इसको दृष्टि में न लिया जाय तब तक ध्यान कैसे बने? और दृष्टि में तब ही लिया जा सकता है जब कि इसका परिचय हो तो इस अंतस्तत्त्व का अभ्यास बनाना परमार्थ ध्यान का कारण है इस प्रकार हे भव्य जीव यदि संसार के संकटों से छूटकर परम सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अपने आप के स्वरूप में अन्तः प्रकाशमान उस ज्ञान ज्योति के दर्शन का प्रयत्न करें। अपने को एक मात्र ऐसा निरखना कि मैं अविकार ज्ञानमात्र हूँ ऐसा भाव रखना होगा अपने को अविकार ज्ञान ज्योति मात्र निरखने में इस अंतस्तत्त्व का ध्यान बनता है और यह अपना ही सुगम स्वाधीन उपाय है। इस कारण शान्ति के लिए इस अपने परम ब्रह्म स्वरूप की जानकारी का अभ्यास बढ़ावें।

**परमात्मध्यान के कारणभूत प्रवचनसाराभ्यास की विशेषता—** यह जीव उपयोग स्वरूप है ज्ञान स्वरूप है और इसका कहीं न कहीं उपयोग लगता है तो बस इस उपयोग के लगने के विषय का ही सही निर्णय बनाना है कि कैसा उपयोग लगाया जाय कि यह जीव सुखी रहे? यह जीव उपयोग लगाने के सिवाय अन्य कुछ करता ही नहीं है। हर जगह किसी भी स्थिति में हो भरपूर घर में हो अकेले घर में हो बड़े घर में हो कुटुम्ब में हो कहीं हो देश प्रदेश सर्वत्र यह जीव अपना उपयोग करता है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता और इस उपयोग की विशेषता में ही सारा भविष्य आधारित है कहाँ उपयोग लगे कि जीव को शान्ति मिले और कहाँ उपयोग लगे कि जीव अशान्त रहे? यदि अपने अविकार सहज ज्ञान स्वरूप में उपयोग रहता है तो अशान्ति का कोई कारण नहीं है और यदि बाह्य पदार्थों में कषायादिक परभावों में उपयोग जुड़ता है तो वहाँ शान्ति का कोई अवकाश भी नहीं। तो इससे यह समझना है कि अपना उपयोग शुद्ध ज्ञान स्वरूप तत्व में रहना चाहिए यह ही कहलाता है परमात्मतत्व। परमात्मतत्व दो तरह से देखा जाता है (1) कार्यरूप परमात्मतत्व और (2) कारणरूप परमात्मतत्व। कार्यरूप परमात्मतत्व तो अरहंत और सिद्ध हैं। जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके और मात्र अपने ही ज्ञानानन्द में तृप्त रहा करते हैं वह है कार्य परमात्मा और ऐसा ही स्वभाव है सब जीवों में। अगर एक होने का जीव में स्वभाव न हो स्वरूप से यह केवल न हो तो केवल बन भी नहीं सकता तो जो केवल होने का स्वरूप है वह है कार्य परमात्मा अर्थात् सहज ज्ञानमात्र अंतस्तत्व। इन दोनों में उपयोग देना है। मुख्य तो हुआ यह निर्विकल्प अंतस्तत्व। अभेद अंतस्तत्व का उपयोग और इसमें न ठहर सके तो ऐसा फल जिसने पाया है उस कार्य परमात्मतत्वमें उपयोग जाना यह है आत्म कल्याण का उपाय सो परमात्मतत्व के ध्यान का कारण है प्रवचन सार का अभ्यास। प्रवचन मायने आगम जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रणीत और आचार्य परम्परा से चला आया जो यह प्रवचन है और इसका सारभूत जो अध्यात्मतत्व है उसका अभ्यास परमात्मा के ध्यान का कारण है।

**सर्वत्र सहज अविकार स्वयंवेदन का माहात्म्य—** हाँ तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के परिणमन का अभ्यास आगम का अभ्यास यह तो है परमात्मा के ध्यान का कारण और निज परमात्मा का ध्यान अर्थात् स्वसम्वेदन जो निज अनुभव के अभ्यास से अपने आप के शुद्ध स्वरूप का दर्शन हुआ है वह ध्यान कर्मों के क्षय का कारण है और कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। जिसे सकल निर्विकल्प ज्ञानानन्द का अनुभव चाहिए उसे तो कर्मक्षय का उपयोग बनाना होगा। कर्मक्षय का उपाय है परमात्मतत्व का ध्यान और परमात्मतत्व के ध्यान का उपाय है अंतस्तत्व के अनुभव का अभ्यास। यह कार्य बहुत सुगम है। स्वाधीन है भला चाहने वालों को रास्ता मिलता है और वैषयिक सुखों में रमने वालों को सही रास्ता नहीं मिलता है। जिसको यह निर्णय हुआ कि संसार सर्वत्र दुःखमय है न इस लोक का कोई क्षेत्र है ऐसा कि जो शान्ति का कारण हो न कोई भाव है न काल है संसार का सर्वरूप दुःख रूप है इस कारण इस कृत्रिम दुःखरूप इस संग समागम को क्यों उपयोग में बसाना। यह जो मैं आत्मा ज्ञान स्वरूप हूँ जिसका निज स्वरूपास्तित्व है उसका न कोई रिस्तेदार है न कोई पहिचाननहार। किसी का मुझसे कुछ संबंध नहीं फिर किसी को उपयोग में क्यों बसाया जाय? अपना जो सहज ज्ञान स्वरूप है अपने ही सत्व के कारण मेरे में जो स्वयं का स्वरूप स्वभाव है उस रूप ही अपने को अनुभव करना एक ही कार्य पड़ा है जीवन में इसके अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को यदि प्रमुखता दें तो वह संसार में रुलेगा। करना सब पड़ता है। सब कुछ करते हुए भी मुख्यता देना चाहिए अपने

आप के स्वरूपानुभव की इसी उपाय से संसार से पार हुआ जा सकता बाहरी सब उपाय तो संसार में रुलने के ही कारण हैं।

**धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण भावसुद्धेण।**

**परमप्यज्जाणं चेतो तेणेव खवेइ कम्माणि।।149।।**

**धर्मध्यानाभ्यास की महिमा—** जब कोई साधक भगवान आत्मा का सेवक मन, वचन, काय से आत्मा की दृष्टि से धर्म ध्यान का अभ्यास करता है तो उस ही ये परमात्मा का ध्यान चित्त में रहता है। और ऐसा अनुभवन कर्मों का क्षय करता है। यह प्रथा तो बहुत चलाया कैसी कि आठ कर्म दुष्ट हैं वैरी हैं इनका क्षय कीजिये। दुष्ट प्रकृति के लोगों ने साधु का रूप रख लिया यद्यपि ये निमित्त दृष्टि से भक्ति हैं मगर तत्व का श्रद्धान नहीं है तो ऐसा कुछ कार्य नहीं बनता कर्मों का क्षय कर्मों का नाम लेने से न होगा। किसी को कर्म समझ कर उन पर नाराज होकर कर्म का क्षय न होगा। कर्म की तो बात ही न करनी चाहिए। जान लिया कि कर्मोदय हमारे विकार भाव का कारण है। किन्तु कर्म के ऊपर दृष्टि चाहे हटाने के लिए ही जाए चाहे लगाने लिए ही जाए कर्म का आश्रयभूत बनाने से कर्म का क्षय नहीं होता। जैसे लोक व्यवहार में कोई बड़ा कठोर दुश्मन है तो उस दुश्मन से प्रेम का व्यवहार करने से भी काम नहीं बनता जो सज्जन हैं विवेकी हैं वे उपेक्षा करते हैं और उससे स्वयं रास्ता निकलता है फिर तो यह परमार्थ मार्ग की बात का प्रसंग है। कर्म का नाम लेकर कर्म को चित्त में बसा कर कर्म में हम हानि नहीं कर सकते किन्तु कर्म क्षय का उपाय है आत्मा का जो सहज ज्ञान स्वरूप है उस ही रूप में अपना अनुभव बने। बस भली मार करतार की दिल के दिया उतार। अपने चित्त से समस्त बाह्य पदार्थों को उतार दीजिए। इन कर्मों की उपेक्षा कर दीजिए और अपने आपके स्वभाव में आइये। अपने अन्दर बैठिये स्वयं रास्ता मिलता है। कर्मों का क्षय होता है तो कर्म क्षय का उपाय अपने आप की साधना है कर्म को बुरी निगाह से निरखना या दूसरों से फरियाद करना कि मेरे कर्म हटा दें मिटा दें या उन अष्ट कर्मों के ध्वंस करने के लिए मैं खूब धूप खेता हूँ किलो भर धूप खे डाला या कुछ भी उपाय कर डाले। भले ही उनमें मंद कषाय है कि शुभोपयोग बनेगा पुण्यबंध का हेतु बनेगा मगर किसी भी पर और परभाव की दृष्टि कर्म के क्षय का कारण नहीं होता सो जब साधक मन वचन काय को शुद्ध करके धर्म ध्यान का अभ्यास करता शुद्ध आत्मा के ध्यान में तो उस ही ध्यान से उस ही श्रेष्ठ ध्यान में मग्न होकर कर्मों का क्षय कर देता है। आत्मा क्षय नहीं करता कर्म का किन्तु आत्मा अपने स्वभाव में आये तो कर्म अपने आप विलीन हो जाते हैं।

**भुद्धज्ञान मात्र अन्तस्तत्व के अभेद ध्यान के प्रताप से कर्म प्रक्षय—** जो पुरुष मन से वचन से काय से भावों की विशुद्धि से धर्मध्यान का अभ्यास करता है सो इस ही उपाय से वह ध्यान में लगा हुआ पुरुष कर्मों का विनाश करता है धर्मध्यान अभ्यास मायने धर्म के ध्यान का अभ्यास करना धर्म के मायने आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह है धर्म। धर्म को दृष्टि में रखना अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टि में लेना सो ऐसा धर्मध्यान का जो मन, वचन, काय और भाव शुद्धि से अभ्यास करता है वह मोक्ष सुख पाता हैं मन वचन काय से आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करना है। मन से तो सही सही बात विचारना मैं अविकार ज्ञान स्वरूप हूँ ज्ञान जयोतिमात्र ज्ञानमय पदार्थ हूँ इसको मन से विचार करना यह मन से धर्म ध्यानाभ्यास है और इस ही अंतस्तत्व के विषय में वार्ता करना यह है वचन द्वारा धर्म ध्यान का अभ्यास और जब जब यह भाव बने इस ही परमब्रह्म स्वरूप की वार्ता बने तो उससे मन चलित न होना और शरीर से संतप्त उस तत्व की स्वीकृति कर लेना यह सब काय में धर्म ध्यानाभ्यास है। अथवा जिसके चरणों में मौलिक

धर्मध्यान का अभ्यास किया जा सकता है जहाँ वह ज्ञान बसा हो वहाँ जाय निवेदन करे सेवा करे तो यह सब काय से धर्मध्यान का अभ्यास है और मूल बात तो भाव विशुद्धि की है ही परिणामों में रागद्वेष भाव न आये किन्तु ज्ञाता दृष्टा की स्थिति रखे तो वह भाव की विशुद्धि की है ही परिणामों में रागद्वेष भाव न आये किन्तु ज्ञाता दृष्टा की स्थिति रखे तो वह भाव की विशुद्धि कहलाती हैं। सो इस प्रकार जो धर्म ध्यान का अभ्यास करता है उसके उपयोग में परमात्मा का ध्यान रहता है और जिस उपयोग में परमात्मस्वरूप का ध्यान रहता है उसके ही द्वारा यह कर्म का क्षय करता है। यहाँ दो बातें कही गई हैं कर्मों का क्षय होना यह तो कार्य बताया है और आत्मा के स्वरूप का अभ्यास रखना यह उसका कारण बताया है सो यह निमित्त नैमित्तिक योग है और इस ही निमित्त नैमित्तिक योग को उपचार भाषा में बताया गया है, तो इसमें भाव क्या लेना कि कर्म के क्षय पर इसका अधिकार नहीं। कर्म है परवस्तु और पर वस्तु के संचय पर रक्षण पर मेरा अधिकार नहीं। मेरा अधिकार तो अपने भावों को निर्मल रखने पर है सो अपने भावों को निर्मल रखना फिर स्वयं जो हो सो होगा। किस तरह कर्मक्षय होता है जो भी बात बनती है घटना में वह स्वयं हो जायेगी। अपना पौरुष तो यह है कि अविकार सहज ज्ञान ज्योति स्वरूप की दृष्टि करना।

**जिनलिंगधरों जोई विराय सम्मत्संजुदो णाणी।**

**परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होइ।।150।।**

**विराग सम्यक्त्वसंयुक्त जिनलिंग धर महात्मा की सिवगतिपथनायकता—** वास्तव में निश्चयतः आत्मा के निर्मल भाव मोक्ष के कारण हैं पर वह निर्मल भाव कैसे उत्पन्न हो और इस शरीर की क्या स्थिति रखी जाय कि जिससे हम निर्मल भाव में समर्थ हो सकें तो वह है नग्न दिगम्बर मुद्रा अर्थात् जिसको अपने आत्मा की साधना करना है उसको आत्मा के सिवाय अन्य किसी वस्तु में ममता और लगाव न रहना चाहिये। यदि अन्य तत्वों में ममता और लगाव रखा तो आत्मा का ध्यान न बनेगा सो जिसको आत्मतत्व की धुन लगी है वह पुरुष आत्मा के जानने के सिवाय अन्य वस्तु में लगाव रंच भी नहीं रखता। अब जो अन्य वस्तु में लगाव न रखे वह पुरुष अन्य वस्तुओं का संचय और प्रयोग कैसे कर सकता है? सो समग्र पर वस्तुओं का संचय मिटा लगाव मिट गया तो क्या रह गया वह? शरीर मात्र। शरीर तो कहीं छोड़ा नहीं जा सकता वह तो रहा ही रहा पर वही रहा कि बस वस्त्राभूषण या अन्य कोई वस्तुवें ये कुछ उस शरीर पर नहीं रहते। यह है आत्मतत्व के साधकों की मुद्रा। ऐसी दिगम्बर अवस्था को धारण करता है जिस के अंतरंग में वैराग्य सम्यक्त्व प्रकट हो गये हैं ऐसे साधु तपस्वी ज्ञानी पुरुष वैरागी योगी मोक्ष मार्ग के नायक होते हैं।

**मोक्षस्वरूप का परिचय—** मोक्षमार्ग मायने अपनी कैवल्य साधना का उपाय। मोक्ष मायने केवल रह जाना अथवा कहीं अन्य वस्तुओं का छूट जाना दोनों तरह से देखा जा रहा है मोक्ष का स्वरूप। विधि के रूप से तो यह है कि केवल आत्मा का रह जाना यह है मोक्ष, क्योंकि आत्मा सद्भूत वस्तु है, वह भी मिटाये मिट नहीं सकता। तब वह तो रहेगा ही। तो जो स्वयं केवल अपने आप है ऐसा मान आत्मा रह जाना इसका नाम मोक्ष है। अब निषेध मुखेन देखिये जहाँ शरीर न रहा, कर्म न रहे, विकार भाव न रहे, इन सबसे जो मुक्त जीव। जैसे किसी साफ कमरे की बात कहना हो तो यों कह लीजिए कि कमरा बिल्कुल स्वच्छ है, या यों कहो कि उस कमरे में कूड़ा करकट रंच भी नहीं है, तो एक ने 'है' की ओर से कहा, एक ने 'न' की ओर से कहा कहा तो ऐसा ही है, मोक्ष को कोई 'न' की ओर से कहता है कि शरीर नहीं, कर्म नहीं, कोई परभाव प्रसंग नहीं ऐसी अवस्था को कहते हैं

मोक्ष। तो कोई विधि मुखेन जानता है, केवल आत्मा ही आत्मा रहें, ऐसा कुछ संग प्रसंग नहीं, उसे कहते हैं मोक्ष।

**कैवल्य सिद्धि के लिये केवल की उपासना की अनिवार्यता**— उस केवल की सिद्धि करने के लिये यहाँ केवल का ही ध्यान रखना चाहिए। यदि अपने आप को केवल अकेला रखना है सर्व आगंतुको से दूर रहना है तो केवल का ध्यान बनाना चाहिए। इस केवल का ध्यान नहीं पुरुष तो बनापायेगा कि जो इस शरीर से भी एक रहेगा अर्थात् शरीर के सिवाय अन्य किसी चीज का संबंध न बनाये वह कहलाती है दिगम्बर मुद्रा और उससे मोक्ष मार्ग प्राप्त होगा। तो जो दिगम्बर मुद्रा के धारी है और जिनके वैराग्य प्रकट हो गया है वे ज्ञानी पुरुष मोक्ष मार्ग पथिक के नावक होते हैं। वैराग्य क्या कर्मोदयवश अपने आप में उठने वाले रागादिक विभाग हैं। अपना स्वरूप स्वीकार न करना और उनसे उपेक्षा करके रहना यह कहलाता है वैराग्य। बाह्य वस्तु को छोड़ देने माना का जो ध्यान रखता है वह सही मायने में सफल क्यों नहीं है पाता कि वह बाह्य वस्तु को मैंने त्याग दिया है ऐसे विकल्प में राग बनाये हुये है। अपने को विकल्प रहित रागरहित अनुभव नहीं कर पाते और कारण अपने स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुष विरक्त भी नहीं रह पाते। कोई पुरुष भावुकता में आकर बाह्य त्याग तो कर सकता है पह वह बाह्य त्याग रिक नहीं पाता। उसके अंतरंग विरक्त नहीं हुई। बल्कि अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही सुहाये अन्यसम्पर्कव जिसे विजउज न सुहाये वह योगी विरक्तन्तु शिव गतिपथ नायक कहा गयावे। मोक्ष पथ का नावक कौन है। मोक्ष के मार्ग में चलने वाला कौन होता है? तो कहते हैं कि जिन मुद्रा का धावक ऐसा योगी ही शिवगतिपथनायक है। शिव जिन मुद्रा मायने जहाँ कोई परिग्रह न रहे संग में समस्त बाह्य परिग्रहों से रहित केवल सहज ज्ञान मान अतंस्तत्त्व की उपासना वह है जिन मुद्रा का धारी जिस मुद्रा को धारण करके जिनेन्द्र बनते है प्रभु बनते है अरहंत बनते हैं उस मुद्रा का नाम है जिन मुद्रा से जिन मुद्रा का धारक योगी पुरुष वैराग्य और सम्यक्त्व से युक्त होता हुआ परम उपेक्षा का धारी यह आचार्य है कुशल है निपुण है कर्मक्षय के मार्ग में। ऐसा योगी पुरुष मोक्ष मार्ग का नेता होता है। कर्मक्षय का कारण है ज्ञान और वैराग्य। ये दोनों आत्मा के स्वरूप है। देहरूप नहीं है। अन्य किसी उदगल रूप नहीं है किन्तु यह अपने आत्मा के स्वभाव के विकास रूप है। आत्मा उपयोग स्वरूप है। यह मान जाने अपने आप को जाने निश्चय से तो यह अपने आप को ही जानता है। सर्व स्थितियों में यह पर पदार्थ को नहीं जानता पर अपने को ही जान रही हो ऐसा निर्णय बने तो वह जानना सफल हैं। जान लिया अपने को जानता ही रहता है पर परिचय नहीं है कि मैं वास्तव में अपने को जानता हूँ। तो वह तो नाम जानने कि तरह ही है विधि सिद्धान्त है इस कारण ऐसा ही हो रहा है। किन्तु इसके ज्ञान में तो यह बात आती नहीं हैं। तो जैसे भव्य जीवों के मान में यह निर्णय बना हुआ है कि मैं अपने आपाको ही जानता हूँ ओर इस तरह अपने को जानने का अनुभव भी बने यह कहलाता है ज्ञान ओर यह ज्ञान की ऐसी वृत्ति का ही नाम है वैराग्य। ज्ञान और वैराग्य के गिना आत्मा का पार नहीं हो सकता। जैसे लोग मरण से हैरान है और बातें सब अच्छी होती जाती धन भी कमाये खूब ठीक ज्ञान हो रहा कुटुम्ब भी अच्छा हो रहा। लेकिन इज्जत भी बढ़ने लगती राज्य में भी अधिकार बता लेते सब कुछ कर लेते पर इस बात में घुटना टेक देते है यह कि मरना पड़ेगा मरे बिना तो किसी की बात नहीं रहती। तो मरने से सब हैरान है ओर इस ही मृत्यु की दवा के कारण कुछ नीति रीति सही चलती रहती हैं। यदि मरण न होता तब तो न जाने कोई पुण्य वाला कोई विशिष्ट इच्छा वाला जगत में क्या कर डालता? या मरने पर कुछ साथ ले जाय जाता होता तो वह न जाने क्या जुल्म ढा देता। तो ये दो बातों से इतनी बड़ी हैरानी है एक तो

मरना पड़ता है और दूसरे मरने पर कुछ साथ नहीं जाता। अगर एक बात भी सहूलियत में हो जाय कि मरना पड़े तो भलें ही मर जाय मगर कुछ साथ ले जाया जाता तो भी यहाँ बहुत बड़ा जुल्ट ढाया जा सकता है। जैसे मनुष्य इन दो बातों से हैरान हैं ऐसे ही यह जीव इन विषय कषायों से हैरान है। विषय कषायों से वह पार नहीं पा सकता इसको त्याग करना ही ज्ञान ओर वैराग्य में आकर ही ये अपने को शान्त बना सकेंगे। कितने ही दिन जी लेवे कितने ही परिजनों का संग बना लेवे पर इस जीव का उद्धार नहीं होने का। उद्धार का उपाय तो सबसे निराला केवल अपने ज्ञान स्वरूप अंतस्तत्त्व के जानने से ही होगा। यह ही कर्म क्षय का निमित्त कहा जा रहा है सो जिन मुद्रा का धारी योगी विरागी सम्यक्त्व संयुक्त ज्ञानी शिवगति पंथ का नायक होता है।

### **काम दुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परमं लद्धों भुंजइ सोक्खं जं इच्छियं जाणं तह सम्मं।।51।।**

**सम्यक्त्व की कामधेनुवत अभीष्ट परमानंद दायकता**— सम्यग्दर्शन से युक्त पुरुष सत्य शान्ति को प्राप्त करते हैं। शान्ति तो अपना स्वरूप है और उस स्वरूप को जो ध्यान में लाता है कि मैं निराकुल क्षोभरहित केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ ऐसा जो अपने पवित्र स्वरूप को ध्यान में लाता है वह ही पुरुष तो उस केवल आत्मा से उत्पन्न हुये सुख को पाता है और जो लोग अपने अन्तः स्वरूप में उपयोग नहीं जमा पाते और बाह्य पदार्थों में इन विषयभूत पदार्थों में जो आशक्त होता है इनमें जो लिप्त होता है वह पुरुष आत्मा का ध्यान कभी भी न बना पायगा। जो पुरुष सम्यक्त्वयुक्त होता है और स्वच्छ ज्ञान स्वरूप का अनुभव करता है वह पुरुष उत्तम सुख शान्ति को प्राप्त करता है। जैसे कामधेनु अभीष्ट पदार्थ को प्रदान करती है इसी प्रकार सम्यक्त्व सहित पुरुष अभीष्ट कल्पित आनंद को प्राप्त करता है कामधेनु की इस तरह की प्रसिद्धि है कि कोई एक इस प्रकार की गाय है कि जिसका दर्शन या जिसकी सेवा करो तो जिस चीज की चाह करो उस चीज को देदे। वस्तु सिद्धान्त से ऐसा हो नहीं सकता पर कितनी ही बातें रूढि के शब्दों में बोलकर दृष्टा में आया करती है वस्तुतः तो अपने ही अनुभव से अपनी सद्गति का शान्ति का अनुभव बनता है। यहाँ दृष्टान्त में कुछ लौकिक बातें रखकर कह रहे हैं कि कामधेनु इस तरह के रसायन को प्रदान करती है ऐसे ही यह सम्यक्त्व उस मोक्षसुख के बीजरूपीध्यान को उत्पन्न कराता है।

**सम्यक्त्व की कल्पवक्षारिवत् अभीष्टफलदायकता**— जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल को देता है ऐसे ही सम्यक्त्व अभीष्ट अनन्त आल्हाद आनन्द को प्रदान करता है कल्पवृक्ष स्वयं दूसरों को कुछ दे ऐसा नहीं है पर जिस के पुण्य का उदय है सो वह जो चाहता है वह उस जगह प्राप्त हो जाता है तो ऐसे स्थान को कल्पवृक्ष कहते हैं। तो कल्पवृक्ष ने अभीष्ट तत्व प्रदान किया इसमें महिमा कल्पवृक्ष की नहीं है किन्तु अपने निर्मल भाव की है तो दूसरे पदार्थ सुख स्थान बन जाते हैं ओर अपने भाव उत्तम नहीं हैं तो दूसरे पदार्थ शान्ति के स्थान नहीं बन पाते। तो यह सम्यक्त्व कल्पवृक्ष की तरह अभीष्ट फल देने वाला है। चिन्तामणि रत्न अभीष्ट तत्व को प्रदान करता है। वास्तव में चिन्तामणि है क्या? कोई पत्थर होता है या क्या हुआ करता है। वह चिन्तामणि रत्न मिल तो जाय, चिन्तन में आये सो सब की सिद्धि हो जाय, ऐसा चिन्तामणि रत्न कोई पत्थर नहीं है। कोई हीरा जवाहरात नहीं है किन्तु यह चैतन्य स्वरूप है और इसकी दृष्टि जिसे प्राप्त है उसको सब कुछ अभीष्ट मिलता है तो निज चैतन्य स्वरूप के अनुभव में कोई वाञ्छा ही नहीं रहती। तो जहाँ कोई इच्छा नहीं वहाँ सब कुछ की प्राप्ति होना कहलाता है। इच्छा अप्राप्ति है। इच्छा का न रहना प्राप्ति है, क्योंकि किसी भी शान्ति के अनुभव के समय में इच्छा न रहे इस

कारण सुख शान्ति मिले यह तत्त्व बसा हुआ है। भोग भोगने से शान्ति नहीं मिलती किन्तु भोग भोगने की इच्छा न रहे उससे शान्ति मिलती है। तो चिंतन किसका हो? इच्छा रहित चैतन्य स्वरूप का तो चैतन्य स्वरूप का चिन्तन मनन यह ही वास्तविक चिंतामणि है। यह चिंतामणि जिनको प्राप्त हुआ है उनको सर्व अभीष्ट की सिद्धि है।

**इच्छा के अभाव का फल सौख्यलाभ—** सौख्यसिद्धि भोगों से नहीं होती परिग्रह के संचय से नहीं। मकान कोठी बना लेने से नहीं, किन्तु इच्छा न रहे उससे सुख होता है। यह रीति सभी प्राणियों की है। घटना समीक्षा करके निरखलो, धार्मिक कार्य करता हुआ या घर का कार्य करता हुआ कार्य करने के बाद जो शान्ति का अनुभव बनता है सो कार्य करने से बना या कार्य हो चकने पर इच्छा न रहे उससे बना। दो बातें सामने हैं। मोही जीव हैं, इस कारण असली बात पर तो दृष्टि जाती नहीं कि मेरे को इस समय जो शान्ति मिल रही है वह इच्छा के न रहने से मिल रही, यह तो समझते नहीं और सोचतेयों हैं कि यह कार्य किया इससे शान्ति मिली। कभी किसी की इच्छा हो कि मैं अमुक तीर्थ को जाऊं और तीर्थ पर जब तक न पहुँचे तब तक उसके आकुलता रहती है और तीर्थ स्थान पर पहुँच गए तो वहाँ शान्ति का अनुभव होता है। वह शान्ति तीर्थ पर पहुँचने से नहीं मिली, किन्तु तीर्थ पर पहुँचने पर उस की इच्छा न रही इससे शान्ति मिली। अच्छा लौकिक कामों में देख लो इच्छा हुई कि ऐसी कोई कुटी बनवा लूँ महल बनवा लूँ, तो जब तक वह नहीं बन पाता तब तक उसे बड़ा कष्ट रहता है। बन चुकने के बाद एक संतोष की श्वास लेकर आराम से बैठता है सो वह आराम वह शान्ति मकान बनने से नहीं हुई किन्तु ये अनुभव करके कि अब मेरे करने को काम नहीं रहा उससे शान्ति प्राप्त हुई है। किसी मित्र का पत्र आ जाय कि मैं 10 बजे की ट्रेन से आप के यहाँ के स्टेशन से गुजर रह हूँ, मेरे से स्टेशन पर मिल लेना। अब मित्र से अनुराग तो था ही सो पत्र के मिलते ही चित्त में काम की बात आ गई कि मित्र से मिलना है, अब आकुलता हो गई। वह सारे काम निपटाने में जल्दी मचा रहा। स्टेशन पर पहुँच गया, गाड़ी 15 मिनट लेट से आने की बात सुनी तो वहाँ बड़ा खेद माना। रोज जो नहीं खेद मानता था। गाड़ी आयी तो झट गाड़ी में इधर उधर देखना भागना दौड़ना शुरू कर दिया और जिस डिब्बे में वह मित्र दिखा उसमें घुस कर उससे गले से गले मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। इसके बाद दो चार मिनट में ही वह इधर उधर की खिड़की से झाँकने लगता कि कहीं गार्ड सीटी तो नहीं दे रहा। तो बताओ उसे मित्र के मिलने से सुख मिला क्या? नहीं, यदि मित्र से मिलने का सुख होता तो फिर वह उस मित्र से मिलता ही रहे, खिड़की से बाहर क्यों झाँकता? तो वास्तविकता वहाँ यह है कि उसे मित्र से मिलने का सुख नहीं हुआ किन्तु मित्र से मिलने का काम अब नहीं रहा इसका सुख हुआ। तो ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप को समझकर पहले से ही श्रद्धा किए हुए हैं कि मेरे को बाहर में करने का कोई काम ही नहीं है, क्योंकि यह मैं आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ कर भी नहीं सकता। बाहर में अब कुछ करने को रहा ही नहीं है। है ही नहीं। सो वह अपने में कृतार्थता का अनुभव करता हुआ आराम से बैठे, उसको शान्ति है, तो शान्ति पर प्रसंग से नहीं मिलती, किन्तु अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व की आराधना से प्राप्त होती है। जहाँ अब तक दृष्टि करते आये वहाँ अब कर दी जाय पीठ और जहाँ अब तक पीठ करते आये वहाँ अब कर दी जाय दृष्टि तो कल्याण बिल्कुल सुगम है। भव—भव में बाह्य पदार्थ की ओर दृष्टि करते आये और यह मोही अपने में थकान का अनुभव नहीं करता। सार नहीं है बाहर के मर्म में। तो जो अपने अध्यात्मस्वरूप का मनन करता है उस ज्ञानी जीव को आत्मीय आनन्द मिलता है और यही

आनन्द कर्मों के क्षय का कारण है। इस प्रकार जो अपने स्वरूप में रमता है वह योगी शिवगति पथ का नायक होता है।

**सम्मत्तणावेरग्ग तवो भावं णिरीहवित्तिचरितस्स ।**

**गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं ।।152।।**

**रयणसार से सम्यक्त्व व ज्ञान की उपलब्धि**— यह रत्नसार ग्रन्थ क्या क्या उपलब्धि देता है उसका वर्णन इस गाथा में है। यह रयणसार सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तप, भाव, निरीह वृत्ति, चारित्र गुण, शील और स्वभाव को उत्पन्न करता है। रयणसार ग्रन्थ का भी नाम है और रयणसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को कहते हैं। तो यह रत्नमय इन सब शुद्ध वृत्तियों को उत्पन्न करता है और इस रयणसार ग्रन्थ के पढ़ने से जो उमंग और ज्ञान प्रकाश मिलता है वह भी इन सब बातों को उत्पन्न करता है। जो रत्नत्रय इन सब को उत्पन्न करता है, यह तो सीधा कथन है और हय रयणसार ग्रन्थ इन सब गुणों को उत्पन्न करता है, यह उपचार कथन है जिसका अर्थ यह समझना कि रयणसार के अध्ययन मनन से उन शब्दों का भाव ज्ञात होता और उस भाव में उपयोग होने पर गुण प्रकट हुए सो दोनों ही तरह के अर्थ लगाना। यह रयणसार, यह रत्नत्रयस्वरूप धर्म सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है मायने सम्यक्त्व तो हुआ ही तब तो रत्नत्रय बना मगर सम्यक्त्व होने से रत्नत्रय की धारा चलती रहती है, वह मिटती नहीं है, प्रकट होती रहती है, यह भाव समझना और यह भाव सब में समझना। सम्यक्त्व को मिटने न दें, सम्यक्त्व में प्रगति बनायें, रत्नत्रय की वृद्धि बनायें, यह भाव लेना और रयणसार ग्रन्थ के पक्ष में यह भाव लेना कि इस ग्रन्थ को पढ़कर इसका मनन करके इस जीव में ऐसे गुण और भाव उत्पन्न होते हैं। यह रयणसार ज्ञान को उत्पन्न करता है, सब तरह की बात इससे विदित होती गई है। सम्यक्त्व के न होने पर जीव की क्या स्थिति होती है? शुभ और अशुभ भाव में जीव पर क्या प्रभाव होता है। भाव के बिना क्रियाओं का क्या मूल्य है? परमार्थ भाव ही इसका सर्वस्व है आदिक कथनों का बहुत विस्तार से वर्णन हुआ और साथ ही श्रावकों के आचरण का दान और पूजा करते रहने का गृहस्थों पर कितना प्रभाव होता है यह भी वर्णन विस्तार से हुआ और इस वर्णन से ज्ञान ही तो मिला। यह रयणसार ग्रन्थ सही ज्ञान को उत्पन्न करता है।

**रयणसार से वैराग्य व तप व भाव की उपलब्धि**— यह रयणसार वैराग्य को उत्पन्न करता है। जहाँ ऐसा निरूपण चला कि इन्द्रिय विषय और बाह्य परिग्रह परिकर में इनके सम्पर्क में इस जीव का क्या क्या अहित है और उससे इस परमात्मस्वरूप जीव का कैसा विकास रुका है। थोथी बात की अटक में आत्मा के स्वभाव का विकास रुका है आदिक वर्णन से यह भगवान आत्मा वैराग्य की शिक्षा ग्रहण करता है। तो यह रयणसार वैराग्य को प्रदान करता है। वैराग्य को प्रदान करने वाला तो ज्ञान है और वह ज्ञान मिला इस ग्रन्थ के अध्ययन मनन करने पर, इसलिए कार्य में कारण का उपचार करके बोला जा रहा है। वस्तुतः वैराग्य का जनक क्या है? ज्ञान और वह ज्ञान तो साक्षात् ही जनक है। जो ज्ञान सिर्फ ज्ञान रूप से चल रहा है आत्मा में पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जो प्रतिफलन हुआ है उसको भी नहीं अंगीकार कर रहा और उसको उपयोग में भी नहीं ले रहा, ऐसा ज्ञान तो साक्षात् वैराग्य का जनक है। तो वैराग्य का सीधा अर्थ यह है कि आत्मा में उत्पन्न होने वाले विकार से राग न रहना। जिसके उपयोग में राग नहीं है उसके बाह्य पदार्थों में मोह हो ही नहीं सकता और जिसको विकार में राग है तो वह किसी बाहरी बातों को सुनकर बाह्य पदार्थों का त्याग कर दे फिर भी वह त्यागी नहीं है, क्योंकि वह अपने में उठने वाले विकारों पर भावों का त्याग नहीं कर पाया, तो साक्षात् वैराग्य है यही कि अपने



आपके परभावों में राग न आये। सो इसका उत्पादक है यह रयणसार। मायने इस ग्रन्थ के अध्ययन मनन पर राग जगता नहीं है। यह रयणसार तप का उत्पादक है। इससे शिक्षायें मिलीं, तपश्चरण की विधि ज्ञात हुई। तपश्चरण के लिए उमंग प्राप्त हुई और तपश्चरण में लगा और वहाँ जो आत्मीय आनन्द का अनुभव किया उससे इसको तपश्चरण भी सहज बन गया। ऐसे तपश्चरण का उत्पादक यह रयणसार है और रत्नत्रय भाव का उत्साह है। यह रयणसार भाव का उत्पादक है। भावों में जो औदयिक भाव हैं वे तो सर्व संसारी जीवों में चल रहे हैं। उसमें कोई धर्म की महिमा नहीं है। बल्कि वे सब प्रायः अधर्म हैं, पररूप हैं। किन्तु जो औपशमिक क्षायिक भाव हैं और सही क्षायोपशमिक हैं जो यह परिणाम ज्ञान से उत्पन्न होता है और शुद्ध भावना के द्वारा उत्पन्न होता है। तो ऐसे ही समीचीन भावों का उत्पादक है यह रयणसार।

**रयणसार से निरीहवृत्ति की उपलब्धि**— यह रयणसार निरीह वृत्ति का उत्पादक है। वृत्ति मायने उद्यम प्रवर्तन और निरीहका अर्थ है इच्छा रहित जो व्यवहार धर्म के भी प्रवर्तन हैं उनमें भी इस जीव का राग नहीं है और बाहरी व्रततप आदिक क्रियाओं को आवश्यक कर्तव्यों को, व्रत समितिरूप प्रवर्तन को यह राग से नहीं करता, किन्तु राग के उच्छेद करने के लिए यह आवश्यक समय जानकर व्रत, तप, समिति आदिक क्रियाओं को करता है। राग उसे कहते हैं कि जहाँ यह भाव बस जाय कि ऐसी बात मेरे को जन्म जन्म में अनन्त काल तक सदैव मिलती रहे। निरीहवृत्ति, इच्छारहित प्रवृत्ति से जिस कार्य में प्रवर्त रहे हैं, उस कार्य के प्रति यह भावना वासना न हो कि ऐसा मुझको सदा मिले, खूब मिले, तो उसे बोलते हैं निरीहवृत्ति। जैसे कोई तो बड़ी उमंग और शौक से खाते हैं और कोई यह सोचकर कि खाये बिना न चलेगा। खालें, तो जैसे उनमें अन्तर है वही बात निरीह वृत्ति और मोह वृत्ति की है जैसे जब कोई इष्ट गुजर जाता है तो उस दिन भी खाना पड़ता है। खाये बिना किसी का नहीं चलता और उन्हीं दिनों यदि कोई कहे कि हम विवाह का काम करलें तो वह विवाह का काम उन दिनों बंद रखना पड़ता। विशेष गर्मी आये तो खाना पड़ता है। वहाँ समझा जा सकता है कि वह भावों से खा नहीं रहा, किन्तु खाये बिना चल नहीं सकता। तो सम्यग्दृष्टि के सबमें ही यह भी भाव, वह इन कार्यों को चाहता नहीं है, पर कार्य किये बिना सरता नहीं है। दूकान भी करता, अन्य बातें भी करता मगर वहाँ भी वह निरीह वृत्ति है और मुनिजन तो प्रकट निरीह हैं और यदि किसी के मुनि भेष होकर भी इच्छा रहते हुए भी वह मुनि ही नहीं है तो निरीह वृत्ति का होना यह ज्ञान से संभव है। सो यहाँ रयणसार ग्रन्थ निरीह वृत्ति को उत्पन्न करता है। यह कहा जा रहा है, जिसका भाव है कि इस ग्रन्थ को पढ़कर मनन कर यह ज्ञानी पुरुष निरीह वृत्ति में हो जाता है।

**रयणसार से चारित्र व गुण भील स्वभाव की उपलब्धि**— यह रयणसार चारित्र को उत्पन्न करता है, चारित्र है वीतराग भाव। जहाँ रागद्वेष कलंक रंच नहीं रहता उसे कहते हैं चारित्र। सो रयणसार ने सब मार्ग बताया, उसके उपाय की उमंग भी दिलाया। अब यह उस मार्ग पर चला और इसने आत्मस्वरूप में रमण करने की विशेष प्रगति पायी। तो यह चारित्र मिला इस रयणसार ग्रन्थ के मनन के प्रताप से अथवा रत्नत्रय के प्रताप से वह चारित्र प्राप्त हुआ। यह रयणसार गुण का उत्पादक है मूलगुण और उत्तर गुण, इनको दिलाने तक इनको पालने की प्रेरणा करें, इनका निस्तारण करें तो यह सब रयणसार में किए गए उपदेश के हृदय में उतारने का ही तो परिणाम है और रत्नत्रय भाव के लिए जो उद्यम हो रहा उस उद्यम से भी गुण की प्राप्ति होती है। यह रयणसार ग्रन्थ शीलस्वभाव को उत्पन्न करता है। आत्मा का शील है मात्र ज्ञाता दृष्टा रहना। जो आत्मा का स्वभाव है आत्मा स्वयं सत् है अपने सत्त्व के कारण यहाँ क्या बात जगती है कैसी प्रवृत्ति होती है,

वह है आत्मा का शील स्वभाव, अर्थात् मात्र ज्ञानस्वरूप परिणमन होने को कहते हैं शील और स्वभाव तो इन सब बातों को तो यह रयणसार ग्रन्थ उत्पन्न करता है।

**रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।**

**संघो गुण संघा दो समयो खुल णिम्मलो अप्पा।।153।।**

**रत्नत्रय की गणगच्छरूपता—** रत्नत्रय भाव ही गण है। जैसे गण, गच्छ, समूह, संघ ये मुनियों के एक साथ रहने के वर्ग हैं। तो यहाँ कह रहे कि वास्तव में गण क्या है? तो यह रत्नत्रय भाव ही गुण है, समूह है। इस में क्या समूह है? व्रत समिति गुप्ति आदिक अनेक प्रकार के भाव आना उनका पालन होना ये सब गण रूप कहजाते हैं। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप जो रत्नत्रय भाव है वह ही गण है। गण समूह को कहते हैं। जिसमें गणना बन जाय तो इसमें गणना अपने अभिप्राय के अनुकूल कितनी ही बनाते चले जाइये। आत्मा एक है चेतना। आत्मा में दो गुण हैं—(1) ज्ञान और (2) दर्शन। अब इतने विस्तार में डिग्रियों के अनुसार बढ़ते चले तो रत्नत्रय भाव ही जीव का वास्तव में गण है और रत्नत्रय ही गच्छ है। गच्छ का धातु से अर्थ होता है जो गमन कराये, गमन में चले उसे कहते हैं गच्छ तो यह रत्नत्रय भाव ही गच्छ है, इससे भावों में विशुद्धि में गमन होता है।

**रत्नत्रय की संघसमयरूपता—** यह रत्नत्रय भाव ही संघ है याने गणों का समूह है। गण होते हैं छोटे-छोटे। अमुक का गण है, अमुक का गण है। और वे सब गण भी इकट्ठे होकर एक संघ कहलाते हैं, तो ऐसे ही भेद और प्रभेद, आत्मा के गुणों के भेद तो हुए संघ और प्रभेद हुए गण। तो जो गुणों का समूह है सो ही यहाँ संघ है और निश्चय से यह निर्मल आत्मा ही समय है। समय शब्द का अर्थ है सम्-अय। सम मायने भले प्रकार अय मायने जाने अथवा समय मायने युगपत जो जाने और परिणमे उसे कहते हैं समय। परिणमते तो सभी पदार्थ हैं मगर यह आत्मा परिणम रहा, जान रहा, परिणमता हुआ जान रहा है इस कारण से परिणमना और जानना, ये दो ही बातें एक साथ हों उसे कहते हैं समय। तो वास्तव में समय क्या है? तो यह निर्मल आत्मा ही वास्तव में समय है। इस प्रकार इस गाथा में बताया है कि रत्नत्रय से पवित्र आत्मा में ही ये सब बातें निहारिये। ये ही गण हैं, ये ही गच्छ हैं। यहीं संघ है और यह ही वास्तविक समय है।

**गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पठइ।**

**ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुद्धिटी।।154।।**

**रयणसार के न देखने न मानने वालों की दृष्टि की समीचीनता का निराकरण—** जो पुरुष इस ग्रन्थ को देखता नहीं, इस ग्रन्थ को मानता नहीं। इस ग्रन्थ को सुनता नहीं, इस ग्रन्थ को पढ़ता नहीं वह पुरुष तो चिंतवन करता नहीं, जो मनुष्य भावना भाता नहीं वह कुदृष्टि होता है। यह प्रकृत प्रसंग होने से इस ग्रन्थ के बारे में बात कहीं जा रही है कि जो इस ग्रन्थ का अध्ययन आदि नहीं करता वह कुदृष्टि है। कुगुरु है। सदबुद्धि से रहित है। पर इस ग्रन्थ के कहने से मात्र यही अर्थ, इतना अर्थ न लगाना किन्तु तत्व प्रतिपादक ग्रन्थ, उनको जो पढ़ता गुनता नहीं है उसकी दृष्टि सही नहीं बनती। प्रथम बात कह रहे हैं कि जो इसे देखते नहीं है ऐसे कितने ही लोग हैं जिन्होंने सम्यक् शास्त्रों को देखा भी नहीं नाम तक भी नहीं जानते कि क्या-क्या नाम वाले ग्रन्थ हैं। अब देखिये बड़े-बड़े आचार्यों ने हम आप जीवों पर कृपा करके यह जानकर कि जो भव्य इस जैन परम्परा में उत्पन्न होते रहेंगे वे इससे लाभ लेंगे। आचार्यों ने खूब पौरुष प्रयत्न करके तत्व को लिखा है और यहाँ हम ऐसे आलसी हुए कि इन तत्वों के सुनने की

रुचि न जगे, उन शास्त्रों के प्रचार प्रसार के लिए भावना ही न जगे तो पढ़ना कहाँ, सुनना कहाँ। चिन्तन कहाँ रहा? तो जब से सब बातें न रहीं तो उसमें सद्बुद्धि कहाँ से उत्पन्न हो? तो जो पुरुष इस ग्रन्थ को देखता ही नहीं है उसको भली दृष्टि कहाँ से मिल सकती है? किसी ने देख भी लिया कि यह ग्रन्थ है, इतना बड़ा है, कागज अच्छा है, कैटेगरी बढ़िया है, पर उसे बाँचा नहीं, उसका मनन नहीं किया तो उसको सही दृष्टि और बुद्धि नहीं मिल सकती। तो जो इस ग्रन्थ को या ऐसे प्रतिपादक ग्रन्थों को जो समझता ही नहीं वह सही दृष्टि को नहीं प्राप्त करता।

**रयणसार के न सुनने न पढ़ने न चिंतन न भाव ने वालों की दृष्टि की समीचीनता का निराकरण—** जो रयणसार ग्रन्थ को सुनता ही नहीं वह कुदृष्टि है। सुनने के मायने प्रीति पूर्वक सुनना। यों तो कहीं शास्त्र हो रहा हो और उसी रास्ते से जा रहे हों तो शास्त्र के शब्द तो कान में आयेंगे ही, तो क्या वह सुनना कहलाया? हितकी भावना से रुचि करके एक प्रमुख साधन मानकर जो मानता है सुनना उसे कहते हैं। तो इस जीव ने इस ग्रन्थ को सुना भी नहीं तो वह कैसे सही दृष्टि वाला हो? इस ग्रन्थ को जो पढ़ता ही नहीं है उसको दृष्टि सही कैसे मिले? रत्नत्रय परिणाम क्या है, इसे वह क्या जानेगा जिसका अध्ययन इस समय रंच भी नहीं है तो जो जीव इस रत्नत्रय रयणसार को नहीं पढ़ता है वह कुदृष्टि है। इस रयणसार ग्रन्थ का जो चिंतन नहीं करता वह भी कुदृष्टि है। ग्रन्थ में क्या उपदेश भरा है उसका वाच्य क्या है वह भाव अपने में ही मिलाकर ग्रन्थ जो जो कुछ वर्णन करता है। वह बात अपने में ही मिलेगी। तो चिन्तन करने का अर्थ क्या है कि अपने में उन प्रभावों को तकना, सो जो पुरुष इस ग्रन्थ का चिंतन भी न करे वह कैसे दर्शन प्राप्त कर सकता। वह कुदृष्टि है। जो पुरुष इस रयणसार की भावना नहीं करता वह पुरुष कुदृष्टि होता है। जो तत्व कहा गया है इस रयणसार के उपदेश से, उसको भावें, अपने में डुबावें और उनकी अपने में घटावें तो उसका जो प्रयोजन है अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की भावना रखना, उस परिणाम को प्राप्त करें, जो आनन्द पा सकता है अपने भावों से, वह पुरुष सुदृष्टि होता है।

**इदि सज्जणपुज्जं रयणसारगंथं गिरालसो णिच्चं ।**

**जो पठइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं ।।155।।**

**रयणसार के पठन श्रवण व भावन से भागवत स्थान की प्राप्ति—** जो पुरुष रयणसार ग्रन्थ को निरालस होकर सदा पढ़ता है सुनता है भावना करता है वह पुरुष शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है। यह रयणसार ग्रन्थ या इसमें कहा हुआ वक्तव्यभाव यह सज्जनों के द्वारा पूज्य है। सज्जन इस तत्व की उपासना किया करते हैं। तो सज्जनों द्वारा पूज्य हैं। जो सज्जनों द्वारा पूज्य इस रयणसार ग्रन्थ का निरालस होकर सदा पढ़ना चाहिए और सुनना चाहिए। सुनने का और पढ़ने का समान ही परिणाम है। समान ही लाभ है। हाँ किसी परिस्थिति में उनकी उपयोगिता में अन्तर आता है। कभी पढ़ना अधिक उपयोगी है। कभी सुनना अधिक उपयोगी है, पर है दोनों ही उपयोगी। सो जो पुरुष निरालम्ब होकर इस ग्रन्थ को पढ़ता है और सुनता है और सुनता हुआ मनन करता है तो ऐसा पुरुष शाश्वत स्थान अर्थात् जहाँ से आत्मा कभी चलित नहीं होता उस स्थान को प्राप्त करता है। वह है शाश्वत स्थान मोक्षपद। सो आत्महित के लिए इस रयणसार की भावना मन, वचन, काय से भाते रहना चाहिए।

**निर्दोश उपदेश मनन से निर्दोश कर्तव्य पालन कर निर्दोश आनन्द पालने का अनुरोध—** इस रयणसार ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि श्रावक के 77 गुण बताये हैं— 8

मूलगुण, 12 उत्तर गुण याने व्रत, 7 व्यसनत्याग, 7 भयत्याग, 25 दोषत्याग, 5 अतीचारत्याग, 11 प्रतिमा 1 वैराग्य भावना व 1 भक्ति। श्रावकों को पूजा व दान के द्रव्य दो रंच भी नहीं ग्रहण करना चाहिए। पूज्य दान द्रव्य हरने के महोदाष बताया है। स्वाध्याय और ज्ञान साधनों में विघ्न नहीं डालने का व ज्ञान साधनों की तन, मन, धन, वचन से पूर्ण शक्त्यनुसार सेवा करने का प्रमुख उपदेश किया गया है। रयणसार में कुतप, कुलिंग, कुज्ञान, कुब्रत, कुशील, कुशास्त्र कुनिमित्त की स्तुति प्रशंसा भी करने का निषेध किया गया है। रयणसार में सम्यक्त्व के निर्दोष पालन का महान उपदेश है। सम्यग्दृष्टि का अभिनन्दन किया गया है। सम्यग्दर्शन से होने वाली सद्गति व मिथ्यादर्शन से होने वाली दुर्दशाओं का इसमें वर्णन किया गया है। परमार्थ सहज ज्ञान स्वभाव के पाये बिना व्रत तप क्रियाओं की निरर्थकता का इसमें विशेष वर्णन है। मिथ्यादृष्टियों की कुबुद्धि का विविध चित्रण किया गया है। जैसे—चाम हड्डी मॉस खण्ड का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भोंकता है ऐसे ही पापी व्यक्ति मुनि को देखकर भोंकता है, याने निन्दा करता है व ग्लानि करता है। रयणसार में धर्मध्यानी निष्परिग्रह, निःशल्य साधुओं को विशेष पात्र कहा गया है। पात्रदान करने वाले श्रावकों के भविष्य फल की बड़ी महिमा बताई गई है। विषय कषाय के आसक्तों की दुर्गति का भयावह इस ग्रन्थ में किया है। श्रावकों